न्यायाचार्य न्यायविशारद महोपाध्याय श्री
यशोविजयजी-विरचित

मूल श्लोक, श्लोकार्थ और विवेचन सहित

विवेचनकार

पन्यासप्रवर श्री भद्रगुप्तविजयजी गणिवर

❀ अनुवादक
रजन परमार [पूना]

❀ प्रेसकापी
साध्वी भाग्यपूर्णाश्रीजी
कु. चन्द्रकान्ता सघवी [वेंगलोर]

❀ प्रकाशक
श्री विश्वकल्याण प्रकाशन ट्रस्ट
कवोईनगर के पास
मेहसाना–384 002

❀ वि. स. २०४२, आसोज
प्रथम आवृत्ति, प्रति : ३०००

❀ मूल्य . ३०/–रु.

❀ आवरण . हर्षा प्रिन्टरी, बम्बई

❀ मुद्रक
सुरेख प्रिन्टर्स
मेहसाना–384 002

पूज्य वर्धमान तपोनिधि आचार्य भगवत
श्रीमद् विजय भुवनभानु सूरीश्वरजी महाराज

समर्पण

वधमान तपोनिधि न्यायविशारद
पूज्यपाद गुरुदेवश्री आचायदेवश्री
विजयभुवनभानुसूरीश्वरजी महाराजा के
कर कमलो मे
सादर समर्पित

शिशु

भद्रगुप्तविजय

सुकृत में सहयोगी

'ज्ञानसार' की इस हिन्दी-आवृत्ति में श्री आदिनाथ जैन श्वेताम्बर टेपल ट्रस्ट चिकपेट बेंगलोर के ज्ञानखाते मे से, श्री विश्वकल्याण प्रकाशन ट्रस्ट, मेहसाना को रु ४० हजार का दान प्राप्त हुआ है। हम श्री सघ के कार्यकर्ताओं की श्रुतभक्ति की अनुमोदना करते है और हार्दिक धन्यवाद प्रदान करते है ।

भाद्रपद शुक्ला - १५
वि सं. २०४२

ट्रस्टीमंडल

विषयानुक्रम

अष्टक	विषय	पेज
१	पूणता	३
२	मग्नता	१५
३	स्थिरता	२६
४	अमोह	३८
५	ज्ञान	४९
६	शम	६०
७	इन्द्रियजय	७१
८	त्याग	८३
९	क्रिया	९४
१०	तृप्ति	११२
११	निर्लेपता	१३१
१२	नि स्पृहता	१४७
१३	मौन	१६६
१४	विद्या	१८१
१५	विवेक	१९८
१६	मध्यस्थता	२१४
१७	निभयता	२३२
१८	अनात्मशसा	२४८
१९	तत्त्वदृष्टि	२६३
२०	सवसमृद्धि	२७९
२१	कमविपाक चितन	२९४
२२	भवोद्वेग	३१३
२३	लोकसज्ञात्याग	३२९

२४. शास्त्र ३४९
२५. परिग्रहत्याग ३६८
२६. अनुभव ३८७
२७. योग ४०६
२८. नियाग ४२८
२९. भावपूजा ४३६
३०. ध्यान ४५२
३१. तप ४६६
३२. सर्वनयाश्रय ४८२
विषयक्रमनिर्देश ४९१
उपसंहार ४९८

ज्ञानसार-परिशिष्ट

		पृष्ठ
१	कृष्णपक्ष–शुक्लपक्ष	२
२	ग्रन्थिभेद	३
३	अध्यात्मादि योग	५
४	चतुर्विध सदनुष्ठान	६
५	ध्यान	१२
६	धर्मसंन्यास–योगसंन्यास	१८
७	समाधि	१९
८	पाँच आचार	२१
९	आयोजिकाकरण, समुद्घात, योगनिरोध	२३
१०	१४ गुणस्थानक	२६
११	नयविचार	३२
१२	ज्ञपरिज्ञा–प्रत्याख्यानपरिज्ञा	४०
१३	पंचास्तिकाय	४१
१४	धर्मस्वरूप	४६
१५	जिनकल्प–स्थविर कल्प	४८
१६	उपसर्ग–परिषह	५५
१७	पाँच शरीर	५७
१८	बीस स्थानक तप	५८
१९	उपशम श्रेणी	६२
२०	चौदह पूर्व	६३
२१	पुद्गल परावर्त काल	६९
२२	कारणवाद	७२
२३	चौदह राजलोक	७४
२४	यतिधर्म	७६
२५	सामाचारी	७७
२६	गोचरी के ४२ दोष	७९
२७	चार निक्षेप	८१
२८	चार अनुयोग	८४
२९	दश अध्ययन	८५
३०	पैंतालीस आगम	८६
३१	[illegible]	८८

मेरा मनोमंथन

साहित्य दो प्रकार का होता है । एक प्रकार होता है मनुष्य की वासनाओ को उत्तेजित करनेवाले साहित्य का और दूसरा प्रकार होता है, मनुष्य को उद्दीप्त वासनाओं को उपशान्त करनेवाले साहित्य का ।

भीतर की दुष्ट ...पापी वृत्तिओ को उत्तेजित करनेवाला साहित्य पढ़ते समय तो मनुष्य को बहुत मीठा....मधुर लगता है, परंतु पढने के पश्चात् मनुष्य अशान्ति और उद्वेग से भर जाता है । उत्तेजित वासनाओ की पूर्ति करने हेतु वह दुनिया को अधकारपूर्ण गलियो मे भटक जाता है । जब उसकी वासनाये तृप्त नही होती है, उसकी इच्छाये संतुष्ट नही होती है तब उसका दु.ख नि सीम हो जाता है, असह्य बन जाता है । कभी वासना संतुष्ट भी हो जाती है, फिर भी अतृप्ति की आग सुलगती ही रहती है ।

वर्तमान मे मनुष्य बहुत पढता है, बहुत देखता है और बहुत सुनता है । परतु चिंतन-मनन का मार्ग भूल गया है । ऐसा कुत्सित दर्शन, श्रवण और अध्ययन हो रहा है कि जिसके फलस्वरुप मन चंचल, अस्थिर और उत्तेजित बन गया है । मनुष्य दिशाशून्य बन, अन्यमनस्क हो भटक रहा है । कैसी करूण स्थिति बन गई है मनुष्य की ?

ऐसे मनुष्यो का उद्धार करने का उच्चतम भाव करुणावत ज्ञानी पुरुषो के हृदय मे जगता है और करुणामय हृदय मे से ऐसा उत्तम साहित्य आविर्भूत होता है कि जो साहित्य मनुष्य की उन्मत्त वासनाओ को शान्त कर सकता है, और सही जीवनपथ का दर्शन कराता है ।

'ज्ञानसार' ऐसी ही एक आध्यात्मिक साहित्य की असाधारण रचना है । महोपाध्याय श्री यशोविजयजी को यह श्रेष्ठ कृति है । 'ज्ञानसार' का एक एक श्लोक, मनुष्य के जलते हुए हृदय को शान्त करनेवाला शीतल पानी है, गोशीर्ष चदन है । यह मात्र प्रशंसा करने की दृष्टि से नही लिख रहा हू, परतु मैंने स्वय मेरे जीवन मे अनुभव किया है । मैंने मेरे ही अशान्त हृदय को इस 'ज्ञानसार' के अध्ययन-मनन और चितन से शान्त किया है, शीतल बनाया है ।

ससार के असख्य पापो से मुक्त जीवन जीनेवाले मोक्षमार्ग के आराधक भी जब व्यवहारमूढ बनते है, मात्र बाह्य धर्मक्रियाओं में ही इति-कर्तव्यता मानते हैं तब उनका मन आर्तध्यान या आर्तनाद करता रहता है । 'इतनी सारी धर्मक्रियाये करने पर भी मन मे शान्ति, समता और समाधि नही आती है, कभी आती है तो टिकती नहीं है,' यह शिकायत गृहस्थो मे और साधुपुरुषो मे भी, व्यापक बनती जा रही है । पवित्र धर्मक्रियाये करने पर भी अशान्ति दूर नही होती है और समता-समाधि मिलती नही है । इस रोग का मूल कारण खोजना चाहिये और उपचार करने चाहिये । यह रोग केंसर जैसा भयानक रोग है ।

रोग का निदान और उपचार, दोनो इस 'ज्ञानसार' ग्रथ मे से मिल जाते है । तदुपरात, 'निश्चयनय एव 'व्यवहारनय' की समतुला भी जो इस ग्रथ मे है, शायद ही दूसरे ग्रथो मे हो ! दोनो नयो से अध्यात्म का कितना विशद एव हृदयग्राही प्रतिपादन किया गया है ! तभी मार्मिक बात कही गई हैं कि यदि शान्त मन से अध्ययन किया जाय तो न रहे क्लेश, न रहे सताप और न रहे उद्वेग । ग्रथकार महात्मा ने अपना शास्त्रज्ञान और अनुभवज्ञान भर दिया है इस ग्रथ मे ।

आत्मकल्याण साधने की तमन्ना से मार्ग खोजते हुए मुमुक्षु आत्मा को जब 'आचाराग सूत्र' अथवा 'सूयगडाग सूत्र' का शुद्ध मोक्षमार्ग अति कठिन और आदर्शमात्र प्रतीत होता है और 'बृहत्कल्पसूत्र' तथा 'व्यवहारसूत्र' वगैरह 'छेद' ग्रथो का व्यवहारमार्ग, वर्तमान में अष्टापद तीर्थ की भाति अदृश्य हुआ लगता है तब वह तीव्र मानसिक तनाव महसूस करता है । उस तनाव मे मुमुक्षु को यह 'ज्ञानसार' ग्रथ मुक्ति दिलाता है । मैंने तनाव अनुभव किया है और मुक्ति का आनन्द भी पाया है । यह उपकार है इस 'ज्ञानसार' ग्रथ का । वे परम उपकारी गुरुदेव हैं उपाध्याय श्री यशोविजयजी ।

'ज्ञानसार' के ऊपर मैंने यह विवेचन, मात्र लिखने की दृष्टि से नहीं लिखा है, परन्तु सहजता से लिखा गया है । लिखते लिखते जिस जो आन्तरिक आनन्द अनुभव किया है वह शब्दो मे व्यक्त नहीं कर सकता हूँ । ऐसा अपूर्व आनन्द दूसरी आत्माये भी अनुभव करें इस भावना से यह विवेचन प्रकाशित किया गया है ।

सर्वप्रथम हिन्दी भापा मे यह विवेचन वि. सं. २०२५ मे, दो भाग मे प्रकाशित किया गया था। दो भागों के अनुवादक अलग-अलग थे, इसलिये भाषा की दृष्टि से यह ग्रन्थ रसपूर्ण नही वना था। दूसरी ओर, उसकी सारी प्रतिया भी समाप्त हो गई थी।

मैं यह चाहता था कि इस ग्रन्थ का आद्योपात अनुवाद एक ही लब्धप्रतिष्ठ सिद्धहस्त विद्वान् से हो। और ऐसे विद्वान्, पूना के मेरे पूर्वपरिचित श्री रजन परमार मिल गये। हिन्दी अनुवाद के वे सिद्ध-हस्त लेखक है। अनेक किताबो के हिन्दी अनुवाद उन्होंने किये हैं। परतु ऐसे तत्त्वज्ञान के ग्रंथ का अनुवाद करना, उनके लिये भी पहला अवसर था। उन्होने पूरी लगन से अनुवाद किया...मैंने समार्जन.... सशोधन किया और वेगलोर मे साध्वी भाग्यपूर्णाश्री एवं कु० चन्द्र-कान्ता संघवी ने प्रेस कापी तैयार की। मेहसाना के सुरेख प्रिन्टर्स ने एव भावना प्रिन्टरी ने इस ग्रथ को मुद्रित किया और आज यह ग्रंथ प्रकाशित होने जा रहा है।

जो कोई आत्मार्थी साधक मनुष्य इस ग्रथ का स्वाध्याय करेगा, पुन.पुन. अध्ययन करेगा, उसको अवश्य मन की शाति, चित्त को प्रसन्नता और आत्मा की पवित्रता प्राप्त होगी। सभी आत्माये इस तरह शाति, प्रसन्नता और पवित्रता प्राप्त करें, यही मेरी निरंतर भावना रहती है।

इस विवेचन-ग्रंथ मे प्रमाद से या क्षयोपशम की मंदता से कुछ भी जिनाज्ञाविरुद्ध लिखा गया हो...उसका 'मिच्छामि दुक्कडं।'

आसोज शुक्ला–१ — भद्रगुप्तविजय
वि. स. २०४२
कोइम्वतूर [तमिलनाडु]

'ज्ञानसार'

ग्रथ के रचयिता

न्यायाचाय न्यायविशारद उपाध्याय

श्रीमद् यशोविजयजी

भारतीय सम्कृति सदव धमप्रधान रही हुई ह। चू कि धम से ही जीवमात्र का कल्याण हो सकता है और धम स ही जीवन म सच्ची शान्ति एव प्रसन्नता प्राप्त होती है। जीवा की भिन्न भिन्न योग्यतायें देखते हुए ज्ञानीपुरुषा ने धम का पालन करने के अनेक प्रकार बताय हैं।

जीवो की पात्रता के अनुसार धममाग बतान का एव उस धममाग पर चलन की प्रेरणा देन का पवित्र काय, करुणावत साधुपुरुष प्राचीनकाल से करत आ रह हैं और आज वतमानकाल म भी कर रह हैं। निष्पाप जीवन जीना, आत्मसाधना म जाग्रत रहना और करुणा से प्रेरित हो, विश्व का कल्याण करने हेतु धर्मोपदेश देना, सुदर धमग्रथो का निर्माण करना–यही ह साधुजीवन की प्रमुख प्रवृत्ति, और यही है उनकी विश्वसेवा।

विश्ववत्सल भगवान महावीर स्वामी क धमशासन म ऐसे धमप्रभावक अनक महान आचाय एव साधुपुरुष हो गय हैं और अभी इस समय तक होत रहे हैं। परतु उन सभी महापुरुषों म अपनी असाधारण प्रतिभा से विशिष्ट शासनप्रभावना की दृष्टि स और विपुल साहित्यसजन की दृष्टि से अपना विशिष्ट स्थान बनानेवाले श्री भद्रबाहुस्वामी, श्री सिद्धसेन दिवाकर, श्री हरिभद्रसूरि, श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण श्री हेमचद्रसूरि जस समय आचार्यों की पक्ति म जिनका शुभ नाम आदरभाव स लिया जाता है व हैं न्यायाचाय न्यायविशारद उपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी! जो इस ग्रन्थरत्न–ज्ञानसार के रचयिता हैं।

विक्रम की सत्रहवी शताब्दी म यह महापुरुष हो गय। इनके जीवन क विषय में अनक दतकथायें एव किवदन्तियां प्रचलित हैं। परन्तु सत्रहवी शताब्दी म जिसकी रचना हुई है उस 'सुजसवेली भास' नाम की छोटी सी कृति म उपाध्यायजी का यथाथ जीवनवृत्तान्त सक्षेप म प्राप्त होता है। उपाध्यायजी क जीवन क विषय म यही कृति प्रमाणभूत मान सकत हैं।

संक्षिप्त जीवनपरिचय :

उत्तर गुजरात मे पाटन शहर के पास 'कनोड़ा' गाँव आज भी मौजूद है। उस गाव मे नारायण नाम के श्रेष्ठि रहते थे। उनकी पत्नी का नाम था सौभाग्यदेवी। पति-पत्नी सदाचारी एवं धर्मनिष्ठ थे। उनके दो पुत्र थे: जशवत और पद्मसिंह।

जशवत वचपन से बुद्धिमान् था। वचपन मे भी उसकी समझदारी वहुत अच्छी थी। और उसमे अनेक गुण दृष्टिगोचर होते थे।

उस समय के प्रखर विद्वान् मुनिराज श्री नयविजयजी विहार करते करते वि स. १६८८ मे कनोड़ा पधारे। कनोडा की जनता श्री नयविजयजी की ज्ञान-वैराग्य भरपूर देशना सुनकर मुग्ध हो गई। श्रेष्ठि नारायण भी परिवार-सहित गुरूदेव का उपदेश सुनने गये। उपदेश तो सभी ने सुना, परन्तु वालक जशवंत के मन पर उपदेश का गहरा प्रभाव पड़ा। जशवत की आत्मा मे पडे हुए त्याग-वैराग्य के सस्कार जाग्रत हो गये। ससार का त्याग कर चारित्रधर्म अंगीकार करने की भावना माता-पिता के सामने व्यक्त की। गुरुदेवश्री नयविजयजी ने भी जशवंत की बुद्धिप्रतिभा एव संस्कारिता देख, नारायण श्रेष्ठि एवं सौभाग्य-देवी को कहा 'भाग्यशाली, तुम्हारा महान् भाग्य है कि ऐसे पुत्ररत्न की तुम्हें प्राप्ति हुई है। भले ही उम्र मे जशवंत छोटा हो, उसकी आत्मा छोटी नही है। उसकी आत्मा महान् है। यदि तुम पुत्र-मोह को मिटा सको और जशवंत को चारित्रधर्म स्वीकार करने की अनुमति दे दो, तो यह लड़का भविष्य मे भारत की भव्य विभूति वन सकता है। लाखों लोगो का उद्धारक बन सकता हे। ऐसा मेरा अन्त करण कहता है।'

गुरुदेव की वात सुनकर नारायण और सौभाग्यदेवी की आखें चूने लगी। वे आसू हर्ष के थे और शोक के भी। 'हमारा पुत्र महान् साघु वन, अनेक जीवो का कल्याण करेगा....श्रमण भगवान् महावीरस्वामी के धर्मशासन को उज्ज्वल करेगा' यह कल्पना उनको हर्षविभोर वनाती है तो 'ऐसा विनीत, बुद्धिमान और प्रसन्नमुख पुत्र गृहत्याग कर, माता-पिता एवं स्नेही-स्वजनादि को छोडकर चला जायेगा क्या ?' यह विचार उनको उदास भी वना देता है। उनका मन द्विधा मे पड़ गया।

गुरुदेव श्री नयविजयजी वहा से विहार कर पाटण पधारे। चातुर्मास पाटण मे किया।

कनोडा म जशवत वचन था । गुरुदेव की सौम्य और वात्सल्यमयी मुख-मुद्रा उसकी दृष्टि म तरती रहती ह । उसका मन गुरुदेव का सान्निध्य पाने को तरसता है । खा-पीन म और खेलने कूदन मे उसकी कोई रुचि नही रही । उसका मन उदास हो गया । बारबार उसकी आँखे भर आती थी । अपन प्यार पुत्र की उत्कट धमभावना देख माता पिता के हृदय में भी परिवतन आया । जशवत को लेकर वे पाटण गय । गुरुदेव श्री नयविजयजी के चरणा म जशवत को समर्पित कर दिया ।

शुभ मुहूत म जशवत की दीक्षा हुई । जशवत 'मुनि जशविजय' बन गया। बाद म जशविजयजी 'यशोविजयजी' नाम स प्रसिद्ध हुए ।

छाटा भाई पद्मसिह भी ससार त्याग कर श्रमण बना । उनका नाम पद्मविजय रखा गया । यशोविजय और पद्मविजय की जोडी श्रमण सघ म शोभायमान बनी रही । जस राम और लक्ष्मण !

साधु बनकर दाना भाई गुरुसेवा म और ज्ञानाभ्यास म लीन हो गय । दिन रात उनका साधनायन चलता रहा । वि स १६९९ म व अहमदाबाद पधारे । वहा उन्होन गुरुआज्ञा से अपनी अपूव स्मृतिशक्ति का परिचय देनवाले 'अवधान प्रयोग' कर दिखाये । यशोविजयजी की तेजस्वी प्रतिभा देख कर, श्रेष्ठिरत्न धनजी सूरा अत्यत प्रभावित हुए। उन्होने गुरुदेव श्री नयविजयजी के पास आकर विनती की

'गुरुदेव, श्री यशोविजयजी सुयोग्य पात्र हैं । बुद्धिमान् हैं और गुणवान हैं । य दूसरे हेमचन्द्रसूरि बन सकते है । आप उनको काशी भेजें और षड् दशन का अध्ययन करायें ।'

गुरुदेव न कहा 'महानुभाव, आपकी बात सही है । मैं भी चाहता हू कि यशोविजयजी, विद्याधाम काशी म जाकर अध्ययन करें, परतु वहां के पडित पस लिये बिना अध्ययन नहीं कराते हैं ।'

धनजी सूरा न कहा 'गुरुदेव, आप उसकी जरा भी चिंता नहीं करें । यशोविजयजी के अध्ययन म जितना भी खच करना पडेगा, वह मैं करूगा । मेरी सपत्ति का सदुपयोग होगा । ऐसा पुण्यलाभ मरे भाग्य म कहा ?'

एक दिन यशोविजयजी और विनयविजयजी ने, गुरुदेव के आशीर्वाद ले कर, काशी की ओर प्रयाण कर दिया । काशी पहुचकर षड्दशन के प्रकांड विद्वान् भट्टाचाय के पास अध्ययन प्रारम्भ कर दिया । भट्टाचार्य के पास दूसरे ७०० छात्र विविध दशना का एव धमशास्त्रो का अध्ययन करते थे । तजस्वी

बुद्धिप्रतिभा के धनी श्री यशोविजयजी ने शीघ्र गति से न्याय, वैशेषिक, साख्य, योग, मीमासा, वेदात और बौद्धदर्शन आदि का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त किया। 'न्यायचितामणी' जैसे न्यायदर्शन के महान् ग्रथ का भी अवगाहन किया। जैन दर्शन के सिद्धातो का परिशीलन तो चल ही रहा था। स्याद्वाद-दृष्टि से सभी दर्शनो का तुलनात्मक अध्ययन भी वे करते रहे। काशी के श्रेष्ठ विद्वानो मे उनकी ख्याति फैलने लगी।

वह जमाना था वाद-विवाद का। एक बार एक विद्वान् सन्यासी ने बडे आडवर के साथ काशी मे आकर विद्वानो के सामने शास्त्रवाद करने का एलान कर दिया। उस सन्यासी के साथ शास्त्रवाद करने के लिये जब कोई भी पडित या विद्वान् तैयार नही हुए तब श्री यशोविजयजी तैयार हुए। वाद-विवाद मे उन्होने उस सन्यासी को पराजित कर दिया। विद्वत्सभा विस्मित हो गई। काशी के विद्वानो ने और जनता ने मिलकर विजययात्रा निकाली। बाद मे यशोविजयजी को सन्मान के साथ 'न्यायविशारद' की गौरवपूर्ण उपाधि प्रदान की। काशी के विद्वानो ने जैन मुनि का सन्मान किया हो, ऐसा यह पहला ही प्रसंग था।

काशी मे तीन वर्ष रहकर, यशोविजयजी आग्रा पधारे। वहा एक समर्थ विद्वान् के पास चार वर्ष रहकर विविध शास्त्रो का एव दर्शनो का विशेष गहराई से अध्ययन किया। बाद मे विहार कर वे गुजरात पधारे।

उन की उज्ज्वल यशोगाथा सर्वत्र फैलने लगी। अनेक विद्वान्, पडित, जिज्ञासु, वादी, भोजक....याचक....उनके पास आने लगे। यशोविजयजी के दर्शन कर, उनका सत्सग कर वे अपने आप को धन्य मानने लगे। अहमदाबाद मे नागोरी धर्मशाला मे जब वे पधारे तो धर्मशाला जीवत तीर्थधाम बन गयी!

गुजरात का मुगल सूबा महोब्बतखान भी, यशोविजयजी की प्रशसा सुन कर उनके दर्शन करने गया। खान की प्रार्थना से यशोविजयजी ने १८ अद्भुत अवधान-प्रयोग कर दिखाये। खान बहुत ही प्रसन्न और प्रभावित हुआ। जिनशासन का प्रभाव विस्तृत हुआ।

उस समय जिनशासन के अधिनायक थे आचार्यदेव श्री विजयदेवसूरिजी। श्री जैन सघ ने आचार्य श्री को विनती की 'गुरुदेव, ज्ञान के सागर और महान् धर्मप्रभावक श्री यशोविजयजी को उपाध्याय पद पर स्थापित करे, ऐसी सघ की भावना है।'

आचार्यश्री ने अपनी अनुमति प्रदान की। श्री यशोविजयजी ने ज्ञान-ध्यान के साथ साथ २० स्थानक तप की भी आराधना की। सयमशुद्धि और आत्म-

विशुद्धि के माग पर वे विशेष रूप स अग्रसर हुए। नि म १७१८ म वे महा पुरुष उपाध्याय पद से अलकृत हुए।

अनक वर्षों की अखड ज्ञानसाधना एव जीवन के विविध अनुभवा के परिपाक स्वरुप अनेक ग्रथरत्ना का सजन व करते रहे। उन ग्रथरत्ना का प्रकाश अनेक जिज्ञासुआ के हृदय को प्रकाशित करने लगा। अनेक मुमुक्षुओ को स्पष्ट मागदशन देता रहा। अखड ज्ञानोपासना और विपुल साहित्य सजन के कारण उपाध्याय श्री यशोविजयजी विद्वाना म 'लघुहरिभद्र' के नाम स प्रसिद्ध हुए। जीवनपयत लोककल्याण का और साहित्यसजन का काय चलता ही रहा। करीवन् २५ वप तक उपाध्यायपद को शाभायमान करत हुए जिनशासन की अपूव सेवा करत रहे।

वि स १७४३ का चातुमास उन्होंने डभोई [गुजरात] मे किया और वहा अनशन कर वे समाधिमृत्यु को प्राप्त हुए। स्वगवास—भूमि पर स्तूप [समाधि मदिर] बनाया गया। आज भी वह स्तूप विद्यमान है। ऐसा कहा जाता है कि स्वगवास के दिन वहा स्तूप मे से न्याय का ध्वनि निकलता है और लागा को सुनाई देता है कभी कभी।

श्रीमद् यशोविजयजी के साहित्य का परिचय

उपाध्याय श्री यशोविजयजी ने चार भाषाओ में साहित्यरचना की है
१ सस्कृत २ प्राकृत, ३ गुजराती ४ राजस्थानी।

विषय की दृष्टि से देखा जाय तो उन्होंने काव्य, कथा, चरित्र, आचार तत्त्वज्ञान, न्याय तक, दशनशास्त्र योग, अध्यात्म, वराग्य आदि अनेक विषया पर विस्तार से एव गहराई से लिखा है। उन्होंने जिस प्रकार विद्वाना को चमत्कृत करनवाले गहन और गभीर ग्रथ लिखे है वसे सामान्य मनुष्य भी सरलता से समझ सके वसा लोकभोग्य साहित्य भी लिखा है। उन्होंने जसे गद्य लिखा है वसे पद्यात्मक रचनायें भी लिखी हैं। उन्होंने जिस प्रकार मौलिक ग्रन्थो की रचना की है वसे प्राचीन आचार्यों के महत्वपूण सस्कृत प्राकृत भाषा के ग्रथा पर विवेचन एव टीकायें भी लिखी हैं।

वे महापुरुष जसे जनधम दशन के पारगत विद्वान् थे वसे अन्य धम एव दशना के भी तलस्पर्शी ज्ञाता थे। उनके साहित्य म उनकी व्यापक विद्वत्ता एव समन्वयात्मक उदार दृष्टि का सुभग दशन होता है। व प्रखर तार्किक होने से, स्वसप्रदाय म या पर सप्रदाय म जहा जहा भी तकहीनता और सिद्धातों

का विसवाद दिखायी दिया वहा उन्होने निर्भयता ने स्पष्ट शब्दो मे आलोचना की है । ऐसे आलोचनात्मक ग्रथ निम्न प्रकार है—

अध्यात्ममतपरीक्षा, देवधर्मपरीक्षा, दिक्पट ८४ बोल, प्रतिमाशतक, महावीर जिन स्तवन वगैरह ।

उनके लिखे हुए जैनतर्कभाषा, स्याद्वादकल्पलता, ज्ञानबिंदु, नयप्रदीप, नयरहस्य, नयामृततरगिणी, नयोपदेश, न्यायालोक, खंडनखाद्यखंड, अष्टसहस्त्री वगैरह अनेक दार्शनिक ग्रथ उनकी विलक्षण प्रतिभा का सुन्दर परिचय देते हैं । नव्यन्याय की तर्कप्रचुर शैली मे जैन तत्त्वज्ञान को प्रतिपादित करने का भगीरथ कार्य सर्वप्रथम उन्होने ही सफलतापूर्वक सपन्न किया है ।

गुजराती भाषा मे उन्होने लिखे हुए सवासौ गाथा का स्तवन, देढसौ गाथा का स्तवन, साढे तीन सौ गाथा का स्तवन, योगदृष्टि की आठ सज्झाये, द्रव्य-गुण-पर्याय का रास ...जैसी गभीर रचनायें भी पुन पुन मनन करने जैसी है ।

और, उनकी समग्र साहित्य साधना के शिखर पर स्वर्ण कलश सदृश शोभते हैं योग और अध्यात्म के उनके अनुभवपूर्ण श्रेष्ठ ग्रन्थ ज्ञानसार, अध्यात्मसार, अध्यात्मोपनिषद्, पातजलयोगसूत्रवृत्ति, योगविशिकावृत्ति, और द्वात्रिशद्द्वात्रिशिका वगैरह ।

उपाध्यायजी की निर्मल प्रज्ञा और आतर वैभव का आल्हादक परिचय पाने के लिए उनके इन ग्रन्थरत्नो का अवगाहन अवश्य करना चाहिये । उन के प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध ग्रन्थो की सूची बहुत बडी है । विशेष जानकारी पाने की जिज्ञासा वालो को 'श्री यशोविजय स्मृतिग्रन्थ' और "यशोदोहन" वगैरह ग्रन्थ देखने चाहिये ।

ऐसे महान् ज्ञानी, उच्च कोटि के आत्मसाधक, सतपुरुष प्रतिभासपन्न उपाध्याय श्री यशोविजयजी की, उनके समकालीन विद्वानो ने 'कलिकाल केवली' के रुप मे प्रशसा की है । अपन भी उन महान् श्रुतधर महर्षि को भावपूर्ण हृदय से वदना कर, उन की वहायी हुई ज्ञानगगा मे स्नान कर निर्मल बने और जीवन सफल बनाये ।

— भद्रगुप्तविजय

न्यायाचार्य न्यायविशारद उपाध्यायश्री
यशोविजयजी - विरचित

ज्ञानसार

※

विवेचनकार

पन्यासश्री भद्रगुप्तविजयजी गणिवर

१ पूर्णता

जीव अपूर्ण है, शिव पूर्ण ह । अत अपूर्णता के घोर अधकार मेसे पूर्णता के उज्ज्वल प्रकाश की ओर जाने का उपक्रम करें । क्योकि समग्र धर्मपुरुषाथ का ध्येय पूणता की प्राप्ति है । यही अतिम ध्येय है, आखिरी मजिल है ।

फलस्वरुप, आत्मा की ऐसी परि-पूर्णता प्राप्त कर लें कि कभी अपूण होने का अवसर ही न आये । अपूर्णता का प्रादुर्भाव-होने की सभावना ही न रहे ।

युग-युगातर से मोह और अज्ञान की गहरी खाई मे दबी चेतना को, पूर्णता की प्रकाश-किरण आकर्षित करती रहती है ।

अपूर्ण पूणतामेति=अपूर्ण पूर्णता पाये ! ग्रथकार महात्माने कैसी गहन-गभीर फिर भी मृदु बात का सूत्रपात किया है ! एक ही पक्ति मे, गागर मे सागर भर दिया है । आत्मा की पूर्णता प्राप्त करने हेतु कर्मजन्य पदार्थो से रिक्त हो जाएँ !

ऐन्द्रश्रीसुखमग्नेन, लीलालग्नमिवाखिलम् ।
सच्चिदानन्दपूर्णेन, पूर्णं जगदवेक्ष्यते ॥१॥

अर्थ : स्वर्गीय सुख एवं ऐश्वर्य मे निमग्न देवेन्द्र जिस तरह पूरे विश्व को सुखी और ऐश्वर्यशाली देखता है, ठीक उसी तरह सत-चित्-आनन्द से परिपूर्ण योगी पुरुष विश्व को ज्ञान-दर्शन-चारित्र मे युक्त, परिपूर्ण देखता है ।

विवेचन . जिस तरह सुखी प्राणी अपनी ही तरह अन्य प्राणियो को भी सुखी मानता है, ठीक उसी तरह जो पूर्णात्मा है, वह अन्यो को स्वयं की तरह पूर्ण समझती है और उसी भांति सत्-चित्-आनन्द से परिपूर्ण आत्मा निखिल विश्व की जीवात्माओ मे सत्–चित्–आनन्द–युक्त पूर्णता का दर्शन करती है ।

यह शाश्वत् सत्य, पूर्ण सुख की परिशोध–अन्वेषण करने हेतु कार्यरत आत्मा को दो महत्त्वपूर्ण बातो को निर्देश देता है :

१ समग्र चेतन–सृष्टि मे सत्–चित्–आनन्द की परिपूर्णता का अनुभव करने के लिये द्रष्टा पुरुष के लिए सत्–चित्–आनन्द युक्त पूर्णता की प्राप्ति आवश्यक है ।

२ यदि समग्र चेतन–सृष्टि मे से राग–द्वेषादि कषायो को जडमूल से उखाड फेकना हो तो उसमे पूर्णता का अनुभव करने हेतु पुरुषार्थ [प्रयत्न) करना शुरु कर देना चाहिये ।

जब तक जीवात्मा अपूर्ण है, परिपूर्ण नही है, तब तक वह निखिल विश्व की चेतन–सृष्टि मे पूर्णता के दर्शन करने मे सर्वथा असमर्थ है । लेकिन इसके लिये वह प्रयत्न अवश्य कर सकता है । मतलब यह कि वह अपने प्रयत्न-बल से पूर्णता का अल्पाश मे ही क्यो न हो, दर्शन अवश्य कर सकता है। पूर्णता के अश के दर्शन का ही अर्थ है—गुण-दर्शन । हर प्राणी मे थोडे–बहुत प्रमाण मे ही भले क्यो न हो, लेकिन गुण अवश्य होते है । जैसे–जैसे हमारी गुण–दृष्टि अन्तर्मुख होती जाएगी वैसे–वैसे हमे उसमे गुणो के दर्शन होते जायेगे । जहाँ गुण–दृष्टि नही, वहाँ गुण–दर्शन नही । क्योकि यह कहावत है कि "जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि" । स्वर्ग के ऐश्वर्य मे आकठ डूबा देवेन्द्र जिस तरह समस्त

सृष्टि को ही सुखमय, ऐश्वर्यमय मानता है, उसी तरह गुणदृष्टि–युक्त महापुरुष (आत्मा) सकल विश्व को गुणमय ही समझता है।

प्राणी मे रही गुण–दृष्टि का जिस गति से विकास होता जाता है, उसी प्रमाण मे उसमे रही राग–द्वेषादि दृष्टि का लोप होता रहता है। फलत जीवन मे रही अशान्ति, असुख, क्लेश, सतापादि नष्ट होते जाते हैं और उसके स्थान पर परम शान्ति, मन स्वस्थता, स्थिरता और परमानद का आविर्भाव होता है।

> पूर्णता या परोपाधे सा याचितकमण्डनम्।
> या तु स्वाभाविकी सैव, जात्यरत्नविभानिभा ।।२।।

अर्थ : परायी वस्तु व निमित्त से प्राप्त पूर्णता, किसी से उधार माँगकर लाये गये आभूषण के समान है, जबकि वास्तविक पूर्णता अमूल्य रत्न की चकाचौंध कर देने वाली अलौकिक कान्ति के समान है।

विवेचन : मान लो तुम्हारे यहाँ शादी–विवाह का प्रसग है, लेकिन तुम्हारे पास आवश्यक आभूषण-अलकारो का अभाव है। उसे पूरा करने के लिये तुम अपने किसी मित्र अथवा रिश्तेदार से आभूषणादि मूल्यवान वस्तुएँ माँग लाये। परिणामत बडी सजधज व धूमधाम से शादी का प्रसग पूरा हो गया। लोगो मे बडी वाह-वाह हुई तुम्हारे ऐश्वर्य और बडप्पन की। जहा देखो वहा, तुम्हारी और तुम्हारे परिवार की प्रशसा हुई। तुम्हारी मनोकामना पूरी हुई। तुम पूर्ण रूप से सतुष्ट हो गये। लेकिन वास्तविकता क्या है? क्या तुम इस घटना मे सचमुच सतुष्ट हुए, आनदित हुए? जो शोभा हुई और बडप्पन मिला वह सही है? जिन आभूषणो के दिखावे से लोगो मे नाम हुआ, क्या वे अपने है? तुम और तुम्हारा मन इस तथ्य से भली–भाँति परिचित है कि अलकार पराये–उधार लाये हुए है और सारा दिखावा झूठा है। प्रसग पूरा होते ही लोगो की अमानत (आभूषणादि वस्तुएँ) लौटानी है। अत हम बाह्य रूप मे भले ही प्रसन्न हो, लेकिन आन्तर-मन से तो दु खी होते हैं व्यथित हो होते हैं।

ठीक उसी तरह पूर्व भव के कर्मोदय से मानव–भव में प्राप्त सौन्दर्य, कला, विद्या, शान्ति और सुखादि ऋद्धि सिद्धि भी पराये गहनो

की तरह अल्प काल के लिये रहने वाली अस्थायी है। यह सब तो पुण्य-कर्म से उधार मे पाया हुआ है। अतः समय के रहते इस उधार की पूँजी को वापिस लौटा दो तो बेहतर है। इसी मे तुम्हारी इज्जत और बडप्पन है। फिर भी तुम सचेत नही हुए, खुद ही स्वेच्छा से इसका त्याग नही किया तो समय आने पर कर्मरूपी खलपुरुष इसे तुमसे छीनते देर नही करेगा। और तब परिस्थिति बडी दुर्भर और भयकर होगी। कर्म को जरा भी शर्म नही आएगी अपनी अमानत वसूल करने मे, जगत मे तुम्हे नगा करने मे। वह कदापि यह नही सोचेगा कि 'इस समय इसे (तुम्हे) धनधान्यादि की अत्यन्त आवश्यकता है, अत छोड दिया जाए, किसी अन्य प्रसग पर देखेंगे....।' वह तो निर्धारित समय पर अपनी वस्तु लेकर ही रहेगा। फिर भले ही तुम लाख अपना सर पीटो, चिल्लाओ, चिखो अथवा आक्रन्दन करो। अतः कर्मोदय से प्राप्त ऋद्धि-सिद्धि, ख-समृद्धि को ही पूर्णता न मानो, यथार्थ न समझो। उसके प्रति आसक्त न रहो कि बाद मे पश्चात्ताप के आसू बहाने पडे।

आत्मा की जो अपनी समृद्धि है, वही सही पूर्णता है, वही वास्तविक है। उसे कोई माँगने वाला नही है। माणेक-मुक्तादि रत्नों की चमक-काति का कभी लोप नही होता। उसे कोई ले नही सकता, छीन नही सकता और ना ही चुरा सकता है।

यह निर्विवाद तथ्य है कि आत्मा की वास्तविक सपत्ति-समृद्धि है – ज्ञान, दर्शन, चारित्र, क्षमा, नम्रता, सरलता, निर्लोभिता, परम शान्ति आदि। उसे प्राप्त करने हेतु और प्राप्त सपत्ति-समृद्धि को सुरक्षित रखने के लिये हमे भगीरथ पुरुषार्थ करना है।

अवास्तवी विकल्पैः स्यात्, पूर्णताब्धेरिवोर्मिभिः।
पूर्णानन्दस्तु भगवान्, स्तिमितोदधिसन्निभ ॥३॥

अर्थ तरगित लहरो के कारण जैसे समुद की पूर्णता मानी जाती है, ठीक उसी तरह विकल्पो के कारण आत्मा की पूर्णता मानी जाती है। लेकिन वह अवास्तविक है। जब कि पूर्णानन्दस्वरुप भगवान स्वय मे अथाह समुद्र सदृश स्थिर-निश्चल है।

विवेचन : अथाह समुद्र की पूर्णता उसकी लहरो से मानी जाती है, ठीक उसी भाँति आत्मा की पूर्णता उसके विकल्पो की वजह से मानी

जाती है। लेकिन दोनो की पूर्णता अवास्तविक है क्षणभगुर, अस्थायी अल्पकालीन है, जो समय के साथ अपूणता मे परिणत होने वाली है।

धन, बल, प्रतिष्ठा, उच्च कुल और सौन्दय के बल पर जो यह समझता है कि 'मैं धनवान हू, कुलवान हू, बलवान हू और अनुपम सौदय का धनी हू।' यह सरासर गलत है। यही नही, बल्कि वह इसी को परिपूणता मान भ्रम-जाल मे उलझ गया है, वह सर्वथा मतिमद बन गया है। उसे यह ज्ञान ही कहा है कि धन, सौदय, शक्ति, सपत्ति और प्रतिष्ठा आदि अनेक विकल्प नीरी लहरे ह, तरगे हैं, जो अल्पजीवी ह साथ ही क्षणभगुर भी। थोडे समय के लिये उछलती हैं, ऊपर उठती हैं, अपनी लीला से दशक को खुश करती हैं और देखते ही देखते समुद्र के गभ मे खो जाती हैं, विलीन हो जाती हैं।

समुद्र की लहरो को आपने निरन्तर सलग्नात देखा है? तूफान और आधी को आपने लबे समय तक चलते पाया है? लहर का मतलब ही है-अल्पजीवी। जब लहरे उठती है, उछलती हैं, तब समुद्र अवश्य तूफानी रूप धारण कर लेता है और उसमे भारी खलबली मच जाती है। उसका पानी मटमला बन जाता है।

धन धान्यादि से परिपूर्ण बनने की चाह रखने वाले मनुष्यो की स्थिति इससे अलग नही है, बल्कि एक ही है। वे इष्ट-प्राप्ति हेतु भागते नजर आते है तो कभी थकावट से चूर, सुस्त! लेकिन चुप बठना तो उन्होने सीखा ही कहाँ है? जरा सी भनक पडी नही कान मे स्वाथ-सिद्धि की, दुबारा दुगुनी ताकत मे, उत्साह स, उछलते, भागते नजर आते हैं। प्रयत्नो की पराकाष्ठा म जब थक जात ह, तब पल दो पल के लिए ठिठक जाते हैं-रुक जाते है और बाद मे फिर शुरू हो जाते हैं। मनुष्य के मन मे जब बाह्य वस्तु (सुख, शान्ति, सपत्ति आदि) की प्राप्ति और प्राप्त वस्तु सजोये रखने के विचार-विकल्प पदा होते हैं, तब उसकी आत्मा क्षुब्ध हो उठती है, और अशान्ति, क्लेश, सताप, व्यथा और वेदना का यह मूर्तिमान स्वरूप धारण कर लेती है।

जब कि पूर्णानदी आत्मा प्रशात, स्थिर-महादधि सदृश स्थितप्रज्ञ और स्थिर होती है। उसमे न कही विकल्प के दशन होते हैं और न ही अशान्ति का नामो-निशान। ना क्लेश होता है और ना ही किसी

प्रकार का संताप ! न वहा अनीति-अन्याय के लिये कोई स्थान है, ना ही दुराचार, चोरी अथवा राग-द्वेष का स्थान । पूर्णानन्दी आत्मा के अथाह समुद्र मे अनन्य, अमूल्य, ज्ञानादि गुणरत्नों के भंडार, अक्षय कोष भरे पडे है । उसीमे वह स्वय की पूर्णता समझता है । गुण-गरिमा उसके अंग-अग से प्रस्फुटित होती है, दृष्टिगोचर होती है ।

जागर्ति ज्ञानदृष्टिश्चेत्, तृष्णा - कृष्णाहिजाङ्गुली ।
पूर्णानन्दस्य तत् किं स्याद्, दैन्यवृश्चिकवेदना ? ॥४॥

अर्थ : यदि तृष्णा रूप कृष्णसर्प के विष को नष्ट करने वाली गारुडी मंत्र के समान ज्ञानदृष्टि स्फुरती है, तब दीनतारूप विच्छु की पीडा कैसे हो सकती है ?

विवेचन तुम्हारे पास अपार संपत्ति, बहुमूल्य आभूषण, कीमती वस्त्र, अनुपम रूप-सौन्दर्य, सर्वोच्च सत्ता और ऋद्धि-सिद्धि के भडार नही, अत. तुम विलाप करते हो, दर-दर भटकते हो । हर दरवाजे पर अपना रोना रोकर प्रदर्शन करते हो । दीन-हीन बनकर चीत्कार करते हो । सौन्दर्यमयी पत्नी जीवन सहचरी न होने के कारण व्यग्र बनकर गली-गली फिरते हो ।

यह दीनता, व्यथा, चीत्कार, रुदन, लाचारी और निराशा भला क्यो ? आखिर इससे क्या मिलने वाला है ? दीन न बनो, निराशा को झटक दो और लाचार-वृत्ति छोड दो । इच्छित पाने के लिये, इच्छित पदार्थ व वस्तुओ को हस्तगत करने के लिये स्पृहा (अभिलाषा)-तृष्णा रखते हुए, उसकी प्राप्ति के लिये लोगो के सामने हाथ फैलाते हो. . भीख माँगते हो. . खुशामदे करते हो, यह सब छोड दो । उस पदार्थ की ओर तो तनिक देखो । अपनी दृष्टि तो डालो ! क्या तुम समझते हो कि उनकी प्राप्ति से तुम्हे शान्ति मिलेगी ? सतोष होगा ? तुम्हारा समाधान होगा ? बल्कि इससे जीवन मे अशान्ति, अप्रसन्नता, परेशानी का ही प्रादुर्भाव होने वाला है । ठीक उसी तरह प्राप्त वस्तुएँ, जैसे तुम चाहते हो, वैसे तुम्हारे पास स्थायी रूप से रहने वाली नही है, इसमे तुम्हे वास्तविक पूर्णता के दर्शन नही होगे, आशातीत पूर्णता नही मिलेगी ।

इसके बजाय अपने अन्तर्मन के पट खोलो, ज्ञान-चक्षु खोलो, और सोचो : "जगत की बाह्य जड़ वस्तुओं से मेरा कोई प्रयोजन नही है । जो भी मिलेगा, मुझे अपने कर्म से मिलेगा, उससे मुझे पूर्णत्व की प्राप्ति

होने वाली नही है । मैं अपनी आत्मिक क्षमा, विनम्रता ज्ञान, दशन, चारित्रादि गुणो से ही पूण हूँ । इन्ही गुणो की प्राप्ति से मेरी पूणता है । " हमारी यही दृष्टि होनी चाहिए । यदि इसमे कोई बाधा अवरोध पैदा होते हो, ता उन्हे पूरी शक्ति से दूर करने की चेष्टा करो । जिस तरह हमारी आँख झपक जाए, फिर भी हम उसे खोलन का बारबार प्रयास करते ह, ठीक उसी भाँति यहाँ भी सचेष्ट और जागृत रहना आवश्यक है ।

परिणाम यह होगा कि स्पृहा-तृष्णा क कारण उत्पन्न होने वाली वेदना, सताप और व्यथा तुम्हारा बाल भी बाका नही कर सकगी । कारण कि तब तुम ज्ञान-दृष्टि का महामत्र पा जाओगे और वह महामत्र कृतान्तकाल सदृश विषधर सप को भी नियन्त्रित करन का रामबाण उपाय है । उसम परम चमत्कारी शक्ति ह । इसकी तुलना मे भला बिच्छु के डक के विष की क्या बिसात ?

"मैं अपने म रह हुए गुण-रत्नो से परिपूण हूँ" यह विचारधारा ऐसी स्फटिक और अमोघ शक्ति है कि आनन-फानन म तृष्णा-अभिलाषा के मेरुपवत का चकनाचूर कर देगा । उसका नामानिशान मिटा देगी । चक्रवर्तियो की तृष्णा को धूल म मिलाने वाली अपूव शक्तिशाली ज्ञान दृष्टि, पलक झपकते न झपकते सामान्य जनो की तृष्णा नष्ट करने की शक्ति रखती है ।

पूयन्ते येन कृपणास्तदुपेक्षैव पूणता ।
पूर्णानन्दसुधास्निग्धा, दृष्टिरेषा मनीषिणाम ॥५॥

अथ जिसम (धन धान्यादि परिग्रह स) सभी सासारी जीव पूण हात हैं उसकी उपेक्षा करना ही स्वाभाविक पूणता है । तत्त्वज्ञानियो की यही *तत्त्वज्ञान के पूणानन्दमय अमृत स भीगी दृष्टि है ।*

विवेचन जब तुम्हारा ध्यान ससार के पौद्गलिक सुखो स विरक्त होकर आत्मा के अनन्त गुणो के कारण आनन्द अनुभव करने लगे, तभी तुम्हारे जीवन-व्यवहार मे आचार-विचार मे आमूल परिवतन आ जाएगा । तुम्हे एक नयी दुनिया के दशन होग ।

लेकिन इसके लिय तुम्ह अपन अन्तरात्मा के गुणो के आनन्द की अनुभूति करनी होगी । इसके बिना कोई चारा नही । और यह तभी

संभव है जब तुम दूसरो के आत्मगुणो को निहारकर प्रसन्नता का अनुभव करोगे, आनन्दित होगे। इसके लिये तुम्हे सामने वाले मे रहे हुए सिर्फ गुणो को ही देखना है, परखना है, न कि उसकी त्रुटियो को अथवा दोषो को। मतलब, आत्म-संयम किये बिना यह संभव नही है।

जब भी तुम्हारी दृष्टि दूसरे जीव के प्रति आकर्षित हो, तुम्हे उनमें रहे अनंत गुणो को ही ग्रहण करना है। उसके गुणो को आत्मसात् कर ज्यो-ज्यो तुम आनंदित बनोगे, अपूर्व आनंद का अनुभव करोगे, त्यो-त्यो उसके गुण तुम्हारी आत्मा मे भी प्रकट होते जायेंगे। परिणाम यह होगा कि इन गुणो की पूर्णता का जो स्वर्गीय आनंद तुम्हे मिलेगा, ऐसे आनंद की अनुभूति इसके पहले तुमने कभी नही की होगी। तुम्हारा मन इस प्रकार के आनंदामृत मे आकंठ डूब जाएगा और तब तुम्हे अपने जीवन के आचार-विचार तथा व्यवहार मे एक प्रकार के अद्भुत परिवर्तन का साक्षात्कार होगा।

मसलन, जगत मे रहे अनन्त जीव जिन सांसारिक सुखो को पाने के लिये रात-दिन मेहनत करते हैं, लाखो की संपत्ति लुटाते हैं, असंख्य पाप करते है, उनके प्रति तुम्हारे मन मे कोई चाह, कोई इच्छा नही रहेगी। तुम उन्हे पाने के लिये तनिक भी प्रयत्न नही करोगे, ना ही पाप भी करोगे। इस तरह तुममे इन सुखो के प्रति पूर्ण रूप से उदासीनता आ जायेगी। फल यह होगा कि फिर पाप करने का सवाल ही पैदा नही होगा। तुम इन सुखो की प्राप्ति से कोसो दूर निकल गये होगे। इनके प्रति विराग की भावना तुममे पैदा हो जाएगी। क्योकि यही सांसारिक सुख तुम्हारे गुणानन्द मे बाधारूप जो है।

जब तक इस प्रकार का परिवर्तन जीवन मे नही आये, तब तक तुम्हे चुप नही बैठना है, हाथ पर हाथ धरे निष्क्रिय नही रहना है। बल्कि अपनी गुणदृष्टि को अधिक से अधिक मात्रा मे विकसित-विकस्वर बनाते रहना है।

अपूर्णः पूर्णतामेति, पूर्यमाणस्तु हीयते।
पूर्णानन्दस्वभावोऽयं, जगदद्भुतदायकः ॥६॥

अर्थ : अपूर्ण पूर्णता प्राप्त करता है और पूर्ण अपूर्णता को पाता है। समस्त सृष्टि के लिये आश्चर्यकारक आनन्द से परिपूर्ण यह आत्मा का स्वभाव है।

विवेचन 'बाह्य घन घा्यादि की सगत करें,' उसमे परिपूण बनने के लिये, पूणता प्राप्त करने के लिये पुरुषार्थ कर और साथ ही साथ ग्रान्तरिक ग्रात्म-गुणो से भी युक्त बनें,'—यह विचार अनुपयुक्त, ग्रनुचित नही तो क्या है ? क्या परस्पर विरोधी दो विचारधाराएँ एक स्थान पर होना सभव ह ? विभावदशा और स्वभावदशा—दोनो स्थितियो मे ग्रानन्दोपभोग करना कितना विचित्र और ग्राश्चयकारक ह ? एक तरफ एक सौ चार डिग्री ज्वर मे उफनता हो ग्रार दूसरी ग्रोर मिष्टान्न-स्वाद का गुदगुदाने वाला ग्रनुभव होना जिस तरह सभव नही ह, ठीक उसी तरह जब तक बाह्य (पौदगलिक) सुख लूटन की क्रिया सतत शुरू हो, तृष्णा ग्रौर लालसा की भूख मिटी न हो, तब तक पूर्णानन्द का ग्रनुभव भी पूणतया असभव है ग्रसमीचीन है, साथ ही अनुचित है ।

जसे-जसे हमारी इन्द्रियजन्य सुखो की स्पृहा नष्ट होती जाएगी, उपभोग की भावना कम हाती जाएगी, वसे-वसे आत्मगुणा का ग्रानन्द द्विगुणित होता हुग्रा निरन्तर बढता जाएगा। मतलब, इन्द्रियजन्य सुखा की ग्रपूणता ही ग्रात्मगुणों की पूणता का प्रमुख कारण ह । बिना कारण कोई बात नही बनती । यदि हमे आत्मगुणो मे पूणान द का ग्रनुभव करना हा ता ग्रपनी तृष्णा, स्पृहा ग्रौर इन्द्रियजन्य सुखो की लालसा का त्याग किये बिना काई चारा नही है । मिठाई के स्वाद का मजा लूटना हो तो विषम ज्वर से मुक्ति पानी ही होगी । बीमारी के कारण मुँह मे एक प्रकार की जो कडवाहट आ गयी है, उसे खत्म करना ही होगा ।

ग्रात्मगुण के पूर्णानद का यह मूलभूत स्वभाव ह कि वह इन्द्रिय-जन्य सुखा के साथ रह नही सकता । ठीक उसी प्रकार इन्द्रियजन्य सुख का भी स्वभाव है कि वह ग्रात्मगुण के पूर्णानन्द की सगति नही कर सकता । न जाने यह कैसा परस्पर विरोधी स्वभाव है ?

बाह्य सुखा का परित्याग कर जब ग्रात्मा निज गुणो के पूर्णानद मे खो जाती है, तब सृष्टि दिग्मूढ बन जाती है । जिन सुखा के बिना प्राणीमात्र का जीवन अपूण है, ग्रसभव है, ऐसे सुख का त्याग कर अपूव आनद मे ग्राकठ डूबा पूणानदी जीव, विश्व के लिये ग्रद्भुत महान बन जाता है ।

परस्वत्वकृतोन्माथा, भूनाथा न्यूनतेक्षिणः ।
स्वस्वत्वसुखपूर्णस्य, न्यूनता न हरेरपि ।।७।।

अर्थ : जिन्होंने परवस्तु में अपनत्व की बुद्धि में व्याकुलता प्राप्त की है, वैसे राजा अल्पता का अनुभव करने वाले हैं, जब कि आत्मा में ही अपनत्व के सुख में पूर्ण आत्मा को, इन्द्र से भी न्यूनता नहीं है ।

विवेचन : बाह्य विषय तुम्हें लाख मिल जायेंगे, लेकिन इससे तुम्हें संतोष नहीं होगा । तुम्हें तृप्ति नहीं मिलेगी । वे तुम्हें प्रायः कम ही लगेंगे ।

जो पदार्थ तुम्हारे नहीं हैं, ना ही तुम्हारी आत्मा से उपजे हैं, बल्कि पराये हैं, दूसरों से उधार लिये हुए हैं, कर्मोदय के कारण मिले हैं, तिस पर भी मनुष्य जब उसके मोह में बावरा बन . "ये मेरे हैं । यह परिवार मेरा है । धन-धान्यादि संपत्ति मेरी है । मैं ही इसका एकमात्र मालिक हूँ ।" कहते हुए सदैव लालायित, ललचाया रहता है, तब उसमें एक प्रकार की अधीरता, विह्वलता आ जाती है और यही विह्वलता उसमें विपर्यास की भावना पैदा करती है । 'सावन के अंधे को सर्वत्र हरा ही हरा नजर आता है,' इस कहावत के अनुसार विपर्यस्तदृष्टि मनुष्य में मोह के बीज बोती है । फल यह होता है कि उसके पास जो कुछ होता है, वह कम नजर आता है और अधिक पाने की तृष्णावश वह नानाविध हरकतें करता रहता है । रहने के लिये एक घर है, लेकिन कम लगेगा और दूसरा पाने की स्पृहा जगेगी । धन-धान्यादि संपत्ति भरपूर होने पर भी उससे अधिक पाने का ममत्व पैदा होगा । मसलन, जो उसके पास है, उससे संतोष नहीं, शान्ति नहीं, सुख नहीं और समाधान भी नहीं । नित नया पाने की विह्वलता आग की तरह बढ़ती ही जाएगी । फलत. उसका सारा जीवन शोक-संताप और अतृप्ति की चिन्ता में ही नष्ट हो जाएगा । परिणाम यह होगा कि लाखों शुभ कर्म और पुण्योदय से प्राप्त मानव जीवन तीव्र लालसा में, स्पृहा में मटियामेट हो जाएगा ।

जो आत्मा का है, यानी हमारा अपना है, उसी के प्रति ममत्व-भाव पैदा कर हमें आत्म-निरीक्षण करना चाहिए । 'यह ज्ञान, बुद्धि मेरी है । मेरा चारित्र है । मेरी अपनी श्रद्धा है । क्षमा, विनय, विवेक, नम्रता एवं सरलता आदि सब मेरे अपने हैं । मैं इसका एक मात्र मालिक हूँ ।' ऐसी भावना का प्रादुर्भाव होते ही तुम्हारा मन अलौकिक पूर्णानन्द में

मरात्रोर होकर एक नये दृष्टिकोण/नवसजन की राह खोल देगा। तब तुम्हारे मे न्युनता का अशभी नही रहेगा। तुम किसी बात की कमी महसूस नही करोगे। यदि तुम्हारे पास बाह्य पदार्थो का अभाव होगा, फिर भी तुम न्युनता का अनुभव नही कराेगे। ऐसी परिस्थिति मे अगर तुम्हारे सामने एकाध राजा-महाराजा अथवा सकल ऋद्धि-सिद्ध मे युक्त स्वय देवेन्द्र आ जाय, तो भी तुम्हे किसी बात का गम दुःख नही होगा। हाँ तब तुम्हारे पूर्णानन्दस्वरूप का अनुमान कर वह स्वय मे ही शून्यता का अनुभव करे तो अलग बात है।

> कृष्णे पक्षे परिक्षीणे, शुक्ले च समुदञ्चति ।
> द्योतन्ते सकलाध्यक्षा पूर्णानन्दविधो कला ।।८।।

अर्थ कृष्ण पक्ष के क्षय होने पर जब शुक्ल पक्ष का उदय होता है तब पूर्णानन्द रूपी चन्द्र की कला विकसित होती है। खिलती है और सारी सृष्टि प्रकाशमय बना देती है।

विवेचन यह शाश्वत् सत्य है कि कृष्ण पक्ष के क्षय होते ही शुक्ल पक्ष का आरम्भ होता है, उदय होता है। फलत चन्द्रकला दिन-ब-दिन अधिक और अधिक प्रकाशित हो, विकसित होती जाती है और सारा ससार उसमे आलोकित हो उठता है। चन्द्र की पूर्णकला का दर्शन कर एक प्रकार के रोमाचकारी आनद व अपूर्व शान्ति का अनुभव करता है।

ठीक इसी तरह जब आत्मा शुक्ल पक्ष मे प्रवेश करती है, तब पूर्णानन्द की कला सोलह सिंगार कर उठती है। दिन-ब दिन उसमे परिपूर्णता आती रहती है। फलत जैसे-जैसे वह पूर्ण रूप से विकसित हो उठती है वैसे-वैसे मिथ्यात्व के दुष्ट जाल का, राहु की तातानी शक्ति का लोप होता रहता है।

काल-चक्र की दृष्टि से यहाँ 'शुक्ल पक्ष' और 'कृष्ण पक्ष' की कल्पना की गयी है और अनत पुद्गल परावर्तकाल से ससार मे भटकते जीव को कृष्ण पक्ष के चन्द्र की उपमा दी गयी है। जबकि आवागमन के फेरे लगाता, जन्म मरण के चक्र मे डूबता इतराता जीव ससार परिभ्रमण मे अर्ध पुद्गल परावर्तकाल से भी कम समय बाकी रखता है, उसे शुक्ल पक्ष के चन्द्र की उपमा दी गयी है।

आत्मा की चैतन्य–अवस्था पूर्णानन्द की कला मे जब सुशोभित होती है, तब वह शुक्ल पक्ष मे प्रवेश करता है। हमारी आत्मा ने शुक्ल पक्ष मे प्रवेश किया है या नही इसे जानने के लिये महापुरुषो ने पांच प्रकार की कसौटी बतायी है : १. श्रद्धा, २. अनुकंपा, ३. निर्वेद (जन्म से अनासक्ति), ४. सवेग (मोक्ष-प्रीति), ५. प्रशम। उपर्युक्त पांच लक्षण कम या अधिक मात्रा मे जीवात्मा मे पाये जाने पर समझ लेना चाहिए कि उसने शुक्ल पक्ष मे प्रवेश कर लिया है।

श्री दशाश्रुतस्कन्ध चूर्णि मे ससार-परिभ्रमण का एक पुद्गल परावर्त काल शेष रह जाए, तब से शुक्ल पक्ष बताया गया है। 'किरियावादी **णियमा भव्वओ, नियमा सुक्कपक्खिओ, अंतो पुग्गलपरियट्टस्स नियमा सिज्झिहिंति, सम्मदिट्ठा वा मिच्छदिट्ठा वा होज्ज।'** इसके अनुसार सम्यक्त्व न हो, फिर भी आत्मवादी है, तो वह शुक्ल पक्ष मे कहलाता है और एक पुद्गल परावर्तकाल मे ही वह मोक्षप्राप्ति का अधिकारी बनता है। मतलब, मोक्षगामी बनता है। जीवात्मा के अस्तित्व पर अटूट श्रद्धा रखे बिना आत्मगुणो की पूर्णता का रोमांचक आनद और अपूर्व शान्ति का अनुभव हो ही नही सकता।

२. मग्नता

मग्नता ! तन्मयता !
समग्रतया लीनता, तल्लीनता !
और उस मे भी ज्ञान-मग्नता !

मतलब, ज्ञानार्जन, ज्ञान-चर्चा, ज्ञान-प्रबोधन मे अपने आपको/स्वय को पूर्ण रूप से लीन कर देना ।

पूणता के शिखर पर पहुँचने का एकमेव साधन/प्रथम सोपान है – ज्ञान-मग्नता ।

आज तक विषयवासना, मोह-लोभ और परिग्रह सब कुछ प्राप्त करने की ललक मे सदा-सर्वदा खोये रहे । लेकिन क्या मिला ? अपार अशान्ति, सताप, क्लेश और कलह साथ मे उद्वेग और उदासीनता !

फलत हमे दुबारा सोचना होगा, चिन्तन व मनन करना होगा कि जिसके कारण परमानन्द का 'पिन पोइट' प्राप्त हो जाये, अक्षय प्रसन्नता और अपूर्व शान्ति के द्वार खुल जाएँ, दिव्य चिंतन की पगडडी मिल जाय और मोक्षमार्ग स्पष्ट रूप से नजर आने लगे । ऐसी मग्नता/तल्लीनता पाने के लिए हमे भगीरथ प्रयत्न करने होगे । साथ ही इन प्रयत्नो के आधारभूत प्रस्तुत अष्टक का बारबार, निरन्तर परिशीलन करना होगा ।

अत एक बार तो पठन-मनन कर देखें ।

प्रत्याहृत्येन्द्रियव्यूहं समाधाय मनो निजम् ।
दधच्चिन्मात्रविश्रांतिर्मग्न इत्यभिधीयते ॥१॥६॥

अर्थ : जो आत्मा इन्द्रियसमूह को विषयों से निवृत्त कर, अपने मन को आत्म-द्रव्य में एकाग्र/लीन बना, चैतन्य स्वरूप आत्मा में विश्राम करती है, वह मग्न कहलाती है।

विवेचन : पूर्णता के मेरुशिखर पर चढने से पूर्व ज्ञानानंद की तलहटी में जरा रुक जाओ। अपनी आँखें बन्द करो। अपनी चैतन्यावस्था का जायका लो। बाह्य पदार्थों में रमण करने वाली अपनी इन्द्रियों को निग्रहित-संयमित कर, उनमें रही शक्तियों को चैतन्य दर्शन के महत् कार्य में लगा दो। उसकी ओर प्रवृत्त कर दो। परभाव में भटकते मन की गति को रोक दो और उसे स्वभाव में रमण करने का/लीन होने का निर्देश दो।

चिन्मात्र में विश्रान्ति! मतलब ज्ञानानन्दमय विश्रांति! कैसा प्रशस्त, अद्भुत और श्रेष्ठ विश्राम गृह! अनंतकालीन भव-परिभ्रमण के दौरान ऐसा अनोखा विश्रामगृह कहीं देखने को नहीं मिला! बल्कि वहाँ तो ऐसे विश्रामगृह मिले कि उनको विश्रामगृह कहने के बजाय अशान्तिगृह अथवा उत्पातगृह की संज्ञा दें, तो भी अतिशयोक्ति न होगी! साथ ही वहाँ कलह, अराजकता, संताप और शोक के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं।

आज तक जीवात्मा ने परभाव को, संसार के पौद्गलिक विषयों को ही विश्रामगृह का लुभावना नाम देकर वहाँ आश्रय लिया है। अपने बाह्य रूप-रंग से आकर्षक बने ये विश्रामगृह सृष्टि के प्राणी मात्र पर अनोखा जादू कर गये हैं। अपनी रूप-सज्जा के बल पर इन्होंने सबको अपनी मुट्ठी में कर लिया है। फलत. आनन्द की परिकल्पना करते हुए जो जीव उसमें प्रवेश करते हैं, वे चीखते–चिल्लाते, आक्रन्दन करते बाहर आते नजर आते हैं। वहाँ सर्वस्व लूट लिया जाता है और धकियाते हुए उन्हें बाहर निकाल दिया जाता है।

ज्ञानानन्द का विश्रांतिगृह अपूर्व ही नहीं, अपितु अनुपम है। हालाँकि उसमें प्रवेश पाने के लिये जीवात्मा को प्रयत्नों की पराकाष्ठा करनी पड़ती है। भगीरथ प्रयत्न करने होते हैं। उसके लिये पौद्गलिक विषयों

से युक्त विश्रांतिगृह का क्षणभंगुर सुख ऐश्वर्य और आनंद भूल जाना पड़ता है। एक बार प्रवेश मिल जाए, फिर तो आनंद ही आनंद! सर्वत्र परमानन्द की शीतल छाया ही मिलेगी। असीम शांति की अनुभूति होगी। एक बार प्रवेश करने के पश्चाद् बाहर आने की भावना नहीं होगी और यदि निकलना भी पड़े तो शीघ्रातिशीघ्र दुबारा प्रवेश करने की आंतरिक लगन जग पड़ेगी। जहाँ ज्ञानानंद में ही पूर्ण विश्राम प्रतीत होता है और पुद्गलानंद नीरी वेठ मजदूरी की तरह बेतुका लगता है, वही तो ज्ञानमग्नता ज्ञानतल्लीनता है।

यस्य ज्ञानसुधासिन्धौ, परब्रह्मणि मग्नता ।
विषयान्तरसंचारस्तस्य हालाहलोपमः ॥२॥१०॥

अर्थ ज्ञान रूपी अमृत के अनंत, अथाह समुद्र ऐसे परमात्मा में जो लीन है उसे अन्य विषयों में प्रवृत्त होना हलाहल जहर लगता है।

विवेचन जलक्रीडा करने के लिये तुमने कभी तूफानी दरिये में छलांग लगायी है? तैरने के इरादे से किसी जलप्रवाह/नदी में कूदे हो? स्वीमींग बाथ (Swimming bath) में प्रवेश किया है? तैरने के शौकीन अथवा जलक्रीडा के रसिये को समुद्र, सरोवर, नदी या स्वीमींग बाथ में नहाने का आनंद लूटते समय यदि कोई आकर बीच में ही रोक दे अथवा उसकी क्रिया में बाधा डाल दे तब जैसे उसे जहर-सा लगता है, ठीक उसी भांति जब जीवात्मा अपने स्वाभाविक ज्ञानानन्द में सराबोर हो, पूर्ण रूप से लीन बनकर आनंद में आकंठ डूबा अठखेलियां करता हो, ऐसे प्रसंग पर यदि बीच में ही पौद्गलिक विषय घुसपैठ कर लें, तब उसे वे विषय जहर से लगते हैं। क्योंकि ज्ञानानन्द की तुलना में उसके (जीवात्मा के) लिये पौद्गलिक आकर्षण, सुख-समृद्धि आदि विषय कोई विसात नहीं रखते। पौदगलिक सुख उसे मोहपाश में बांध नहीं सकते। उसका रसभीना व्यवहार जीवात्मा के लिये नीरस और बेतुका होता है। पुदगल का मृदु स्पर्श उसमें रोमांच की लहर पैदा नहीं कर सकता। उसके मोहक सूर उसे हर्ष विह्वल करने में पूर्णतया असमर्थ होते हैं। मतलब, पौद्गलिक शब्द रूप, रस, गंध और स्पर्श के टपक पड़ने पर, टकराने से वह कंपित हो उठता

है । जिस तरह की स्थिति विषधर साप को घर मे आते देखकर होती है ।

इस तरह स्वाभाविक आनन्द मे तल्लीन आत्मा, भला क्यो कर खुद ही माया के बाजार मे पौद्गलिक विषयो की प्राप्ति हेतु जाएगी ? क्यो विषयसुख के अभाव मे दीन बन, भटकती फिरेगी ? क्यो शोक-विह्वल होगी ? और वैषयिक सुख मिलने पर सतुष्ट भी क्यो होगी ? हमे समझ लेना चाहिये कि यदि हम पौद्गलिक सुख की टोह में घूम रहे हैं, उसे पाने के भ्रम मे ससार मे भटक रहे है और उसके न मिलने पर मायूस बन जाते है, हताश हो जाते हैं, आक्रन्दन कर उठते हैं, जब कि पाने पर आनदविभोर बन नाच उठते है, तो नि:सन्देह हम अपनी स्वाभाविक ज्ञानानन्द-वृत्ति के साथ तादात्म्य साधने मे असमर्थ रहे हैं । और परब्रह्म का आनद अनुभव नही कर पाये हैं । अवश्य हमारे मे कोई कमी, त्रुटि रह गयी है ।

स्वभावसुखमग्नस्य, जगत्तत्त्वावलोकिन ।
कर्तृत्वं नान्यभावानां, साक्षित्वमवशिष्यते ।।३।।११।।

अर्थ . स्वाभाविक आनंद मे तल्लीन हुए और स्याद्वाद के माध्यम से जगत-तत्त्व का परीक्षण कर अवलोकन करने वाले जीवात्मा को अन्य प्रवृत्तियो [भावो] का कर्तृत्व नही होना है, परन्तु साक्षीभाव शेष रहता है ।

विवेचन : किसी भले सज्जन मनुष्य को दुष्टों की टोली ने अपने जाल में फसा दिया । उसे पूरो तरह से अपने खाके मे ढाल दिया । उसमे और उसकी प्रवृत्तियो मे आमूल परिवर्तन कर दिया । अपने मनपसाद सभी कुकर्म उससे करा दिये । वर्षो बीत गये इस घटना को । एक बार जाने-अनजाने वह एक परमोपकारी महापुरुष के हाथ लग गया । उन्होंने उसे दुष्ट लोगो का रहस्य बताया । उनके चगुल से उसे आजाद करा दिया और अच्छे सज्जन लोगो के हाथ सौप दिया । तब वह पीछे मुडकर अपने भूतकाल को देखता है । वेदना और पश्चात्ताप से भर जाता है । वह मन ही मन सोचता है :" सच मे तो इन दुष्कार्यों का मैं कर्ता नही हूँ ! मैं भला सज्जन होकर ऐसे अघोरी कृत्य क्या कर सकता हूँ ? यह सर्वथा असभव है, बल्कि ये दुष्कार्य तो उन्ही

दुष्टो के ही हैं । मैं तो सिर्फ उसका निमित्त बना हूँ ।" वह भूलकर भी अपने भूतकालीन कार्यों को लेकर अभिमान नही करेगा, बडी-बडी बाते नही करेगा ।

इसी तरह जीवात्मा भी युग युगान्तर से बुरे कर्मों के चगुल मे फँसा हुआ है । दुष्कर्मों ने उसमे आमूल परिवर्तन कर दिया है । स्वभाव को छोडकर विभाव मे जाने के लिये उकसाया है । साथ ही उसके हाथों नानाविध गर काम करवाये ह । इतना ही नही, बल्कि उन गर-कामा के सबन्ध मे उसमे मिथ्या अभिमान की भावना भी कूट कूट कर भर दी है । जैसे 'यह इमारत मैंने बनवायी है सारी दौलत मैंने कमायी है यह ग्रथ मैंने तैयार किया है मेरे ही बलबूते पर सबकी जिन्दगी गुलजार है ।' इत्यादि ।

लेकिन परमोपकारी विश्वोद्धारक तीर्थंकर भगवत के कारण आज उसे (जीवात्मा को) बुरे कर्मों की सही परख हो गयी है। उन्होने हमारी आत्मा को चतुर्विध सघ के हाथ सौप दिया है । फलत जीवात्मा को गुरुदेवो की अपूर्व कृपा से स्वभावदशा-ज्ञान, दर्शन, चारित्रमय आत्मस्वरूप की प्रतीति हो गयी । उसमे रहे असीम आनन्द की अनुभूति हुई । परमात्मा तीर्थंकर देवो के द्वारा निर्दिष्ट जगद-व्यवस्था और रचना समझ मे आ गयी । अब भला, वह विभावदशा मे किये गये कार्यों को किस दृष्टि से देखेगा ? वर्तमान मे भी कई बार उसे विभावदशा के वशीभूत होकर कार्य करने पडते हैं । लेकिन यह करने मे वह क्या अपना कर्तृत्व समझेगा ? नही, कभी नही । बल्कि वह हमेशा यह सोचेगा, 'मैं तो अपने शुद्ध गुणपर्याय का कर्ता हूँ, ना कि परपुद्गल के गुणपर्याय का । उसमे तो मैं सिर्फ निमित्त मात्र हूँ, ज्ञाता और दृष्टा हूँ ।

> परब्रह्मणि मग्नस्य, श्लथा पौद्गलिकी कथा ।
> क्वामी चामीकरोन्मादा, स्फारा दारादरा क्व च ॥४॥१२॥

अर्थ परमात्मस्वरूप मे लीन मनुष्य को पुद्गल सबधी बात नीरस लगती है, तब भला उसे धन का उन्माद और परम सुन्दरी के मदहोश कर देने वाले आलिगनादिरूप आवरण क्यो होगा ?

विवेचन परम आत्मस्वरूप में लीन जीवात्मा की दशा मायावी ससार के प्राकृत जीवो से—प्राणियों से बिल्कुल अलग होती है। वह प्राय आत्मा के

अनंत गुण-प्रदेश पर विचरण करने मे, उस अद्भुत/अनोखे प्रदेश के संबंध में सही जानकारी प्राप्त करने मे, उसकी अजीबोगरीब दास्ताँ सुनने और उसके अनादिकाल मे चले आ रहे इतिहास को आत्मसात् करने मे मग्न रहता है। पार्थिव/असार संसार मे आज तक उसने न देखा हो, न सुना हो और न जाना हो, ऐसा आश्चर्यकारक नजारा निहारनेमे/निकट से देखने में वह इस कदर खो जाता है कि बाह्य जड पुद्गलो का शोरगुल और कोलाहल उसे आकुल-व्याकुल कर देता है। संगीत के मधुर स्वर और सरोद उसके लिये सिर्फ हर्ष-विषाद का कोलाहल बनकर रह जाता है। नवयौवनाओ के अंग-प्रत्यंग का निखार उसके लिए धधकता ज्वालामुखी बनकर रह जाता है। मनोहारी पुष्प और इत्र आदि की सुगंधित सौरभ मे उसे सड़े-गले श्वान–कलेवर की बदबू का आभास होता है। बत्तीस व्यंजनो से युक्त भोज्य-पदार्थ उसके लिये 'रिफाईन' की गयी विष्टा से अधिक कुछ नही होते। रूपसुन्दरियों के दिल गुदगुदाने वाले मोहक स्पर्श और जगली भालू के खुरदरे स्पर्श में उसे कोई अन्तर नजर नही आता। ऐसी जीवात्मा भूलकर भी कभी शब्द, सौन्दर्य, सगीत, रस और गध की क्या प्रशसा करेगी? हर्गिज नही करेगी, ना ही कभी सुनेगी। उसके लिए दोनो नीरस जो हैं।

तब भला वह सोने-चादी के ढेर को देखकर मुग्ध हो जाएगा क्या? अरे! सोने-चादी की चमक तो उसे आकर्षित कर सकती है, जो शब्द, सौंदर्य, सगीत, रस और गन्ध का रसिया हो, लालची और लम्पट हो।

ऐसी स्थिति मे पूर्ण यौवना नारी को अपने बाहुपाश मे लेकर आलिंगन बद्ध करने की चेष्टा करना तो दूर रहा, ऐसी कल्पना करना भी उसके लिए असभव है।

कचन और कामिनी के प्रति नीरसता/उपेक्षाभाव, यह ब्रह्ममग्न आत्मा का लक्षण है और यही ब्रह्ममस्ती का मूल कारण है।

तेजोलेश्या–विवृद्धिर्या साधोः पर्यायवृद्धितः।
भाषिता भगवत्यादौ, सेत्थंभूतस्य युज्यते ॥५॥१३॥

अर्थ : 'भगवती सूत्रादि' ग्रन्थो मे साधु/श्रमण सबधित जिस तेजोलेश्या की वृद्धि का उल्लेख, मासादि चारित्र-पर्याय की वृद्धि को लेकर किया गया है, वह ऐसे ही स्वनामधन्य ज्ञानमग्न जीवात्मा मे सभव है।

विवेचन ज्ञानमूलक वैराग्य से प्रेरित होकर जो जीवात्मा ससार का त्याग कर साधु जीवन/श्रमण-जीवन अगीकार करती है, जिसने ज्ञान दशन चारित्रमय जीवन जीने का सकल्प कर लिया है, उसे उसी समय से, जबमे वह साधु बना है, ज्ञान-दशन-चारित्र के क्षेत्र मे अपूव आनद का अनुभव करने का मौका मीलता है । जब कि दूसरे दिन उसमे और वद्धि होती है। इस तरह तीसरे दिन, चौथे दिन और एक माह तक उसमे निरतर अधिक से अधिकतर वृद्धि होती रहती है । यहा तक कि वह प्राय दैवी सुखो मे आकठ डूबे व्यतर देव-देवियो की आनद-परिधि को भी लाघकर आगे बढ जाता है । ऐसी हालत मे उसका मन मृत्युलोक के गदे और क्षणभगुर सुख और समृद्धि की ओर आकर्षित होने का सवाल ही नही उठता । इस तरह दिन-प्रतिदिन ज्ञान दशन चारित्र मे/पूणता के आनद मे साधक इतना तो लीन/तल्लीन हो जाता है कि बारह माह अर्थात एक वष मे अनुत्तरदेव के सुख भी उसके लिये कोई कीमत नही रखते । मतलब, वह पूण रूप से ज्ञान दशन चारित्र के आनद मे सराबोर हो उठता है । चित्तसुख को तेजोलेश्या कहा जाता है । यही चित्तसुख एक वष के बाद असीम/अमर्यादित बन जाता है ।

श्री भगवती सूत्र' मे कहा गया है कि आत्मानद/पूर्णानद की ऐसी क्रमश वृद्धि केवल श्रमण ही करने मे समथ हो सकता है । लेकिन इस तरह की पूर्णानद की क्रमश वृद्धि करने के लिये श्रमण को कैसी साधना करनी पडती है, इसका मागदशन परम आराध्य उपाध्यायजी महाराज ने किया है

- इन्द्रिय और मन, ज्ञान दशन चारित्र के विश्राति गृह मे है ?
- पौदगलिक विषयो के दशन मात्र से अथवा आसक्ति के समय ऐसा अनुभव हुआ जसे कि विष-पान कर लिया हो ?
- परभाव मवधित कतृत्व का मिथ्याभिमान नष्ट हुआ ?
- धनधान्यादि सपत्ति का उन्माद और रूपसुन्दरियो के प्रति मोह की भावना खत्म हो गयी ?

जो साधक इन चार प्रश्नो का उत्तर 'हाँ' मे देता है, वही पूर्णानद की क्रमश वद्धि करने मे पूणतया समथ है । इन चार बातो को पूरी

करने के लिये जीवात्मा को निरन्तर प्रयास करना चाहिए । एक बार तुम्हें सफलता मिल गयी तो समझ लो कि पूर्णानन्द मे निरन्तर वृद्धि होते देर नही लगेगी ।

> **ज्ञानमग्नस्य यच्छर्म, तद्वक्तुं नैव शक्यते ।**
> **नोपमेयं प्रियाश्लेषैर्नापि तच्चन्दनद्रवैः ॥६॥१४॥**

अर्थ : ज्ञान-सरोवर मे आकंठ डूबी जीवात्मा को जो अपूर्व सुख और असीम शान्ति मिलती है, उसका वर्णन शब्दो मे अथवा लिखकर नही किया जा सकता । ठीक इसी तरह उसकी तुलना नारी के आलिंगन से प्राप्त सुख के साथ अथवा चन्दन-विलेपन के साथ नही कर सकते ।

विवेचन : आकाश की भी कोई उपमा हो सकती है क्या ? अथाह समुद्र को भला कोई उपमा दी जा सकती है क्या ? समस्त सृष्टि और समष्टि मे जो एकमेव, अद्वितीय है, उसे महाकवि, मनीषी भी कोई उपमा देने मे सर्वथा असमर्थ होते हैं । ज्ञान–मग्नता मे उपजा सुख भी ऐसा ही एक-मेव और अद्वितीय है ।

यदि तुम यह प्रश्न करो की, "ज्ञान-मग्न जीवात्मा को भला कैसा सुख मिलता है ?" तो इसका हम सही शब्दो मे उत्तर नही दे सकेंगे, ना ही कोई निश्चित उपमा दे पायेंगे !

— "क्या यह सुख रूपयौवना के मादक आलिंगन से प्राप्त सुख जैसा है ?"

"नहीं, कदापि नही ।"

— "क्या यह चन्दन-विलेपन से मिलते सुख जैसा है ?"

"वह भी नही !"

— "तब भला कैसा है ?"

उसको समझाने के लिए ससार मे कोई उपमा नही मिलता ! वल्कि उसे समझाने के लिये, सिवाय उसका खुद अनुभव किये, दूसरा कोई उपाय नही है । वाह्य पदार्थों से प्राप्त समस्त सुखो मे अद्वितीय, एकदम विलक्षण, जिसका जिदगी में कभी कही कोई अनुभव नही किया हो, ऐसे ज्ञान-मग्नता के अपूर्व सुख का यदि एक वार भी स्वाद चख लिया, तब निःसन्देह वार-वार उसका अनुभव करने/'टेस्ट' करने के लिए स्वभाव दशा, गुणसृष्टि और आत्मस्वरूप की ओर दौडे चले आओगे ।

अनादिकाल से प्राणी मात्र का यह स्वभाव रहा है कि यदि वह एक बार किसी चीज का उपभोग करेगा, स्वाद चखेगा और वह उसे 'अपूर्व रस से भरपूर/तरबतर लग जायेगा तो उसका स्वाद लेने/उपभोग करने के पीछे पागल बन जाएगा। हालांकि जगत के भौतिक सुख प्राप्त करना जीवात्मा के हाथ की बात नही है। वे उसके लिये सर्वथा अप्राप्य सदृश ही हैं। अत उसको पाने के लिये अधीर/आतुर/आकुल व्याकुल होने के उपरान्त कोई दूसरा मार्ग नही है। जबकि ज्ञान मग्नता का सुख अपने हाथ की बात है। जब इसे पाने की इच्छा मन में पैदा हो जाए, तब आसानी से पा सकते हैं।

सभी बातो का सार यह है कि ज्ञान-मग्नता का सुख, शाब्दिक वर्णन पढकर/सुनकर अनुभव नही किया जा सकता, बल्कि इसके लिये स्वयं को अनुभव करना पडता है।

> शमशैत्यपुषो यस्य, विप्रुषोऽपि महाकथा।
> किं स्तुमो ज्ञानपीयूषे, तत्र सर्वाङ्गमग्नता? ॥७॥१५॥

अर्थ ज्ञानामृत के एक बिन्दु की भी उपशमरूपी शीतलता को पुष्ट करने वाली अत्यन्त कथायें मिलती हैं तब ज्ञानामृत में सर्वांग मग्नता/लीन अवस्था की स्तुति भला किन शब्दों में की जाए?

विवेचन केवल एक बूंद! ज्ञान पीयूष की एक बूंद! लेकिन उसके असर की/प्रभाव की न जाने कितनी कथाएँ कहें! किन शब्दो मे उसका वर्णन करें! एक एक बूंद के पीछे चित्त को/मन को उपशम (इन्द्रिय निग्रह) रस मे सराबोर कर देने वाले अगणित आख्यान और महाकाव्यो की रचना की गयी है। ज्ञानामृत की सिर्फ एक अकेली बूंद में मोह, मान, क्रोध, माया और लोभ के धधकते ज्वालामुखी को शान्त करने की असीम शक्ति निहित है। आहार, भय, मैथुन और परिग्रह की बाढ का वह लोटा सकता है। पाप के प्रलय का मिटा सकती है।

सौन्दर्य और यौवन की प्रतिमूर्ति सी नृत्यांगना कोशा की चित्रशाला में निवास कर आर्य स्थूलिभद्र ने कामविजेता बनकर सारे संसार को आश्चर्य चकित कर दिया। भला उसके पीछे कौन सी शक्ति/तत्त्व काम कर रहा था? सिर्फ ज्ञानामृत की एक बूंद। पूर्णानन्द की एकमात्र बूंद।

निर्दोष-निष्पाप मदनब्रह्म मुनिराज को पकड़कर और गड्ढे मे फेंक कर क्रूर राजा ने ठडे कलेजे से उनका शिरच्छेद कर धरती को खून से रग दिया । लेकिन वीर-गंभीर मुनिराज ने क्रोध पर विजय पाकर आत्मस्वरूप की पूर्णता प्राप्त कर ली । उसके पीछे कौन सा परम रहस्य काम कर रहा था ? वही ज्ञानामृत की एक बूंद ! पूर्णानन्द की एकमात्र बूंद !

राजसी ऋद्धि-सिद्धियो का त्याग कर राजकुमार से मुनिराज बने ललितांग के आहार पात्र मे चार तपस्वी मुनिराजो ने थूक दिया । फिर भी करुणावतार, दयासागर ललिताग मुनि के हृदय-मदिर मे उपशम रस की बांसुरी बजती ही रही । फलत: वे शिवपुरी के स्वामी बने । सोचो, जरा उस उपशम-रसभीनी बासुरी के मधुर सूर छोडनेवाला कौन था ? वही ज्ञानामृत की एक बूंद ! पूर्णानन्द की एकमात्र बूंद ।

ऐसी अगणित आख्यायिकाओं का सर्जन कर ज्ञान-बिंदुओ ने अनादि काल से इस धरती पर उपशमरस का झरना निरन्तर प्रवाहित रखा है और उसमे प्लावित होकर असख्य आत्माओं ने अपनी सतप्त अन्तरात्माओं को प्रशान्त किया है ।

ज्ञानामृत मे सर्वांग/सपूर्ण स्नान करने वाले महापुरुषो की स्तुति भला किन शब्दों मे की जाए ? यह सब शब्द से परे है । बल्कि इन्हे आँखे मूंदकर अन्तर्मन से देखते ही रहे । सिर्फ देखकर अनुभव करने से विशेष हम कुछ नही कर सकते ।

यस्य दृष्टिः कृपावृष्टिर्गिरः शमसुधाकिरः ।
तस्मै नमः शुभज्ञानध्यानमग्नाय योगिने ॥८॥१६॥

अर्थ : जिनकी दृष्टि कृपा की वृष्टि है और जिन की वाणी उपशम रूपी अमृत का छिडकाव करने वाली है उन प्रशस्त-ज्ञानध्यान मे सदा-सर्वदा लीन रहने वाले महान योगीश्वर को नमस्कार हो।

विवेचन. एक नजर देखो तो, उनकी दृष्टि मे करुणा की धारा बह रही है ! सिर्फ करुणा....सदैव करुणा ! समस्त भूमडल पर करुणा की वर्षा हो रही है । 'समस्त जीवात्माओ के दु ख दूर हो, सभी जीवो के कर्म-क्लेश मिट जाएँ ।'

जानते हो यह वर्षा किस बादल मे से हो रही है ? यह 'ज्ञान ध्यान की मग्नता का बादल है । इसमे से करुणा की अविरत धारा बह रही है । कैसा यह अपूर्व बादल और कैसी अनुपम वर्षा ! जो कोई इसमे स्नान करेगा, नहायेगा, क्षणार्ध मे उसके तन मन के सारे सताप, क्लेश और दर्द दूर हो जाएगे । मन का मैल और तन का ताप मिट जाएगा ।

उनकी वाणी कैसी मधुर, मजुल और मीठी है ? मानो अमृत ! जो कोई इसका श्रवण-मनन करेगा, उसके क्रोध, मान, माया और लोभ के उन्माद/विक्षिप्तता आनन-फानन मे मिट जाएगी और उपशम रस का स्रोत फूट पडेगा । उनकी वाणी से रोष, कोप और मोह का लावा-रस नही बहेगा, ना ही कभी सासारिक सुखो की लालसा के प्रलाप/बकवास सुनायी देंगे । जब भी सुनोगे, आत्महित की चर्चा ही कानो मे टकराएगी और वह भी शहद सी स्वादिष्ट, एकदम मीठी ।

ऐसे महान धुरधर योगीराज को हम तन मन से नमस्कार कर । भक्ति-भावपूर्वक उनके चरणो मे वन्दन करें । इसके लिये उनके सम्मुख खडे रहे । उनकी असीम कृपा के पात्र बनें ! उनकी वाणी श्रवण करने के अधिकारी बन ।

साधक जीवात्मा को यहा पर महत्त्वपूर्ण दो बातो का साक्षात्कार होता है । जैसे-जैसे ज्ञान–ध्यानादि प्रक्रिया मे उसकी मग्नता/लीन अवस्था मे वृद्धि होती रहती है, उसी अनुपात मे उसकी दृष्टि और वाणी मे यथोचित परिवर्तन होना परमावश्यक है । करुणा दृष्टि से विश्व का अवलोकन करना चाहिए और प्राणिमात्र के साथ उपशमरस–भरपूर वाणी से व्यवहार करना चाहिए । इसके लिये जगत के प्राणियो के प्रति जो दोषदृष्टि है, उसके बजाय गुण-दृष्टि का आविष्कार करना आवश्यक है। क्योकि ज्ञान–ध्यानादि की मग्नता/लीनता मे से ही गुणदृष्टि प्रगट होती है और गुण दृष्टि के कारण ही समस्त जीवो के साथ के सबध प्रशस्त और मधुर बनते है ।

३. स्थिरता

सदैव स्थिर रहो। निरन्तर...सदा-सर्वदा।

- स्थिरता मानव का स्थायी भाव होना चाहिए।
- ज्ञानमग्न बनने के लिए मानसिक स्थिरता/मन की स्थिरता होना आवश्यक है। उस में चंचलता, अस्थिरता और विक्षिप्तता के लिए कोई स्थान नही है।
- "मै स्थिर नहीं रह सकता"-कहने से कोई लाभ नहीं है। बार-बार यही शिकायत करते रहोगे कि इसका हल खोजना है? शिकायत को दूर करने का कोई मार्ग निकालना है? यदि हल खोजना है, मार्ग निकालना है तो इस अष्टक में बताये/निर्दिष्ट उपायों का आधार लेना जरुरी है। योजना को कार्यान्वित करना परमावश्यक है।
- यदि अपने आप में आत्मविश्वास जगाओगे कि 'स्थिर रह सकते हैं', तब स्थिर बनने के उपाय खोज निकालोगे-उसे अमल में लाओगे। स्थिरता के रत्न-दीपक के शीतल प्रकाश में आध्यात्मिक मार्ग का अनुसरण जारी रखो, पूर्णता की मंजिल अवश्य मिलेगी और तुम अपने उद्देश्यों में सफल बनोगे।

वत्स ! कि चचलस्वान्तो भ्रान्त्वा भ्रान्त्वा विषीदसि ?
निधि स्वसन्निधावेव स्थिरता दर्शयिष्यति ॥१॥१७॥

अर्थ — हे वत्स ! तू चचल प्रवृत्ति के बन के भटक भटक कर क्या विषाद करता है ? तेरे पास रहे हुए निधान को स्थिरता बतायेगी।

विवेचन तुम्हारा तन और मन क्या चचल बन गया है ? तुम अपने आप मे क्या अगणित चिंताओ और सोच-विचारो में फस गये हो ? तब भला क्या इधर-उधर भटक रहे हो ? गांव-गांव और दर दर क्या फिर रहे हो ? पर्वत गुफायें और घने जगलो की खाक क्यो छान रहे हो ? निष्प्रयोजन भटकाव अच्छा नही । उससे तुम्हे कौन सा गडा खजाना मिल जाने वाला है ? वह आज तक किसी को मिला नही और भविष्य मे भी मिलने वाला नहीं है । यह शाश्वत सत्य है । यदि तुम्हें विश्वास न हो तो तुम्हारे साथ निरन्तर भटकती तुम जैसी अन्य आत्माओ को पूछ देखो ! वे भी तुम्हारी तरह ही सतप्त और अशान्त हैं । अपने आप से पूछो कि इस कदर भटकने से कही खजाना मिला है सो मिल जाएगा ? और फिर तुम जिसे खजाना समझ बठे हो, वह खजाना नही, असीम सुख और परम शान्ति देने वाली अपूर्व सपदा नही, बल्कि एक छलावा है, मृगजल है !

हम तुम्हे रोक नही रहे हैं, साथ ही यह भी नही कहते कि तुम खजाने की खोज न करो । उसे पाने के लिए प्रयत्नशील न बनो । अपितु हम यह कहना चाहते हैं कि वहाँ खोजो, जहाँ सचमुच खजाना है । उसके होने की पूरी सभावना है । नाहक चिन्ता न करो शोक से विह्वल न बनो, हताश न हो । हम तुम्हे खजाना बताते हैं । तुम एकाग्र मन से उसे खोजने का प्रयत्न करो । अधीर और अस्थिर होने से काम नही चलेगा, बल्कि पूर्ण मनोयोग से प्रयास करो । खजाना मिलते देर नहीं लगेगी और वह भी ऐसा मिलेगा कि जिसमें तुम्हारा तन-मन आनन्द से थिरक उठेगा । तुम्हारे सारे सताप और दुःख क्षण भर में खत्म हो जाएग । फलत तुम्हे परम शान्ति का अनुभव होगा ।

और इसके लिए एक ही उपाय है, 'स्थिर बनो' ! आत्म निग्रही बनो ! मतलब, अपने मन में रही पौद्गलिक पदार्थों की स्पृहा को नष्ट करना/बाहर निकाल फेंकना और जीवात्मा के ज्ञानादि गुणो

की तरफ गतिशील होना। बाह्य धन-धान्यादि-संपत्ति और कीर्ति हासिल करने के लिए लगातार दौडधूप करने के बावजूद जीवात्मा के हाथ हताशा, खेद और क्लेश के सिवाय कुछ नही आता। वह आकुल-व्याकुल और बावरा बन जाता है। मन की व्याकुलता जीवमात्र को ज्ञान मे/परब्रह्म मे लीन नही होने देती। फलत: वह पूर्णानन्द के मेरुशिखर की ओर गतिशील नही बन सकता और यदि गतिशील बन भी जाए तो आधे रास्ते मे रुक जाता है, ठिठक जाता है, वापिस लौट आता है। अत स्थिर बनना अत्यत आवश्यक है। यही स्थिरता तुम्हे खज़ाने की ओर ले जाएगी और दिलाएगी भी !

इसीलिए ज्ञानी पुरुषो का कहना है कि बाह्य पौद्गलिक पदार्थो के पीछे पागल बने मन को रोको। मन के रुकते ही वाणी और काया को रुकते देर नही लगेगी। मन को अपने आप मे केन्द्रित करने के लिए उसे आत्मा की सर्वोत्तम, अक्षय, अनन्त समृद्धि का दर्शन कराओ।

ज्ञानदुग्धं विनश्येत, लोभविक्षोभकूर्चकैः।
अम्लद्रव्यादिवास्थैर्यादिति मत्वा स्थिरो भव ॥२॥१८॥

अर्थ : ज्ञान रुपी दूध अस्थिरता रुपी खट्टे पदार्थ से [लोभ के विकारो से] बिगड जाता है। ऐसा जानकर स्थिर बन।

विवेचन कई सरल प्रकृति के लोग यह कहते पाये जाते हैं कि हम आत्मज्ञान प्राप्त करे और बाह्य पौद्गलिक पदार्थो की प्राप्ति हेतु पुरुषार्थ भी करे। ऐसे पथ-भ्रष्ट सरल चित्त वाले लोगो को परम श्रद्धेय यशोविजयजी महाराज उनके मार्ग मे रहे अवरोध, बाधाएँ और बुराईयो के प्रति सजग कर सावधान करते हैं।

यदि दूध से छलछलाते बर्तन मे खट्टा पदार्थ डाल दिया जाए, तो उसे फटते देर नही लगेगी। वह बिगड जाएगा और उसका मूल स्वरूप कायम नही रहेगा। फलत. उसको पीने वाला नाक-भौं सिकोडेगा। पीने के लिये तैयार नही होगा और पी भी जाए, तो उसे किसी प्रकार का सतोष, बल और समाधान नही मिलेगा। बल्कि रोग का भोग बन बीमार हो जाएगा, नानाविध व्याधियो का शिकार हो जाएगा।

यही दशा ज्ञानामृत से छलछलाते आत्मभाजन में पौद्गलिक सुखो की स्पृहा के मिल जाने से होती है। परिणाम यह होता है कि

वह ज्ञान स्वरूप में न रहकर उसमें विकार की भर पड जाती है और तब वह आत्मोन्नति, अथवा आत्म विशुद्धि नही कर सकता, अपितु अपने क्रिया-कर्मों से आत्मा को विमोहित कर पतन के गहरे गड्ढे में धकेल देता है।

रतन दूध से भरा हुआ हो और उसमें थोडी सी खटाई भी मिला दी जाए, तब भी वह बिगड जाता है। मनुष्य के किसी काम का नहीं रहता। जब कि हमारे पास तो दूध कम है और खटाई का प्रमाण अधिक है। फिर तो दूध बिगडते भला कौन सी देर लगेगी? ठीक इसी तरह हमारे पास ज्ञान की मात्रा अल्प है और पादगलिक सुखो की स्पृहा अधिक है। उसका कोई पारावार नही है। तब भला वह ज्ञान, ज्ञानरूप मे रह सकता है क्या? इसीलिये यदि ज्ञानामृत को, अपने आत्मज्ञान को सुरक्षित रखना हो, अन्त तक उसे उसके मूल स्वरूप मे कायम रखना हो तो नि सन्देह हम पौद्गलिक आकर्षण/आसक्ति का त्याग करना ही होगा। हमे चचलता, विक्षिप्तता और अस्थिरता का तिलाजलि देनी ही होगी। क्योकि वह खट्टे पदार्थ जैसी घातक, मारक और बाधक है।

मथुरा के आचार्य मगु के पास ज्ञानामृत से भरा कुभ था। लेकिन उसमे रसनेन्द्रिय से तरबतर विषयो की स्पृहा की खटाई मिल गयी। परिणामत उसमे अस्थिरता और चचलता की भर पड गयी। ज्ञान, विष मे परिवर्तित हो गया और आचार्यश्री को मोक्ष-प्राप्ति के बजाय दुर्गति की राह मे भटकना पडा। यदि तुम्हे इस मार्ग मे नही जाना है तो 'स्थिर बनो, दृढ बनो।'

> अस्थिरे हृदये चित्रा, वाङ्नेत्राकारगोपना।
> पुश्चल्या इव कल्याणकारिणी न प्रकीर्तिता ॥३॥१९॥

अर्थ यदि चित्त मध्य भटकता है, तो विचित्र वाणी, नेत्र, आकृति और मर्यादि का गोपन करने रूप क्रिया [धर्मक्रियायें] कुलटा स्त्री की तरह कल्याणकारिणी नही कही गयी हैं।

विवेचन जिस नारी के मन मे पराये पुरुष के लिए प्रेम हो, स्नेहभाव भरा पडा हो और ऊपरी तौर पर वह पतिव्रता होने की डीग मारती है, पति-भक्ति प्रदर्शित करती है दिल को लुभाने वाली बातें करती है

और पति-सेवा का मिथ्या प्रदर्शन करती है, उसे कुलटा/छिनाल नारी कहा जाता है। परिणाम स्वरूप उसकी मीठी वाणी, सेवा-भाव और भक्ति, उसका कल्याण नही कर सकती, ना ही जीवन सफल बनाती है।

ठीक उसी भाँति जब तक जीवात्मा मे परपुद्गल/बाह्य पदार्थो के प्रति अनन्य आकर्षण और आसक्ति (लगन) विद्यमान है, इहलौकिक और पारलौकिक पौद्गलिक सुखो की स्पृहा है, तब तक वह (मनुष्य) तन-मन से कितनी भी धर्मक्रियाये क्यो न करे, वे क्रियाये उसे कतई लाभ नही पहुँचाती, उसका कल्याण नही करती। मन मे सासारिक विषयों की लालसा (वासना) और आचरण मे धर्म है, ऐसा मनुष्य कुलटा नारी के समान ही है।

वह नानाविध धार्मिक क्रियाओं के माध्यम से हमेशा अपनी पौद्-गलिक सुखो की अभिलाषा पूरी करने की आशा रखता है। फलत: उसकी मौनावस्था अथवा काया का योग-ध्यानादि सब कुछ आत्म-विशुद्धि को सहज-सुलभ बनाने के बजाय अवरोध ही पैदा करता है। उसकी मानसिक अशान्ति, संताप और क्लेशो मे निरन्तर वृद्धि होती रहती है।

'हम परमात्मा को पूजा-अर्चा करते है, प्रतिक्रमण-सामायिकादि अनुष्ठान करते हैं, नियमित रूप से तप-जप करते है, धर्मध्यान करते हैं; फिर भी हमें मानसिक शान्ति क्यों नही मिलती ? हमारी अशान्ति दूर क्यों नही होती ?" ऐसे असख्य प्रश्न, धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति में और लोगो मे आम चर्चा के विषय बने हुए है। इसका मूल कारण यह है कि हृदय पौद्गलिक सुखो के पीछे पागल हो गया है। अस्थिर, चचल और विक्षिप्त बन गया है। हम धर्माचरण अवश्य करना चाहते हैं, लेकिन हमारी पौद्गलिक सुखो की लालसा/आसक्ति कम करना नही चाहते। ऐसी विषम परिस्थिति मे हमारी धर्मक्रियाये भला कल्याणकारी कैसे बन सकती है ? किस तरह शुभ और शुद्ध अध्यव-साय पैदा कर सकती है ? अर्थात् यह सब असभव...एकदम असाभव है।

याद रखो, जब तक हमारा मन विभावदशा मे अनुरक्त रहेगा, तब तक उत्तमोत्तम धर्मक्रियाओ के माध्यम से भी आत्मकल्याण/आत्मसिद्धि होना सर्वथा मुश्किल है।

अन्तर्गत महाशल्यमस्थैर्यं यदि नोद्धृतम् ।
क्रियौषधस्य को दोषस्तदा गुणमयच्छत ॥४॥२०॥

अर्थ यदि मन में रही महाशल्य रूपी अस्थिरता दूर नहीं की है, [उसे जड़मूल से उखाड़ नहीं फेंका है] तो फिर गुण नहीं करने वाली क्रियारूप औषधि का क्या दोष ?

विवेचन यह तथ्य किसी से छिपा हुआ नहीं है कि जब तक हमारे पेट मे मल जम गया है, तब तक देवलोक से साक्षात धन्वतरी भी उतर कर क्यो न आ जाए, ज्वर उतरने का नाम नहीं लेगा। इसमें भला वैद्य की दवा का क्या दोष है ? क्योंकि पेट में जमे हुए मल को जब तक साफ नहीं करेंगे, तब तक दवा अपना काम नहीं कर पाएगी।

जिनेश्वर देव द्वारा प्रतिपादित श्रावकधर्म और साधुधर्म की अनेकविध क्रियायें अनमोल औषधियाँ हैं। इनके सेवन से असंख्य आत्माओं ने सर्वोत्तम आरोग्य और मानसिक स्वस्थता प्राप्त की है। लेकिन जिन्होंने इसे (आरोग्य-आत्म विशुद्धि) प्राप्त किया है, वे सब सांसारिक, भौतिक, पौद्गलिक सुखों की स्पृहा को पहले ही तिलांजलि दे चुके थे। तभी वे आत्मविशुद्धि और अक्षय आरोग्य के धनी बने थे। पौद्गलिक सुखों की स्पृहा, अनादिकाल से आत्मा में जमा मल है। यह निरन्तर चुभने वाला शल्य नहीं तो और क्या है ?

तब सहसा एक प्रश्न मन में कौंध उठता है "वीतराग देव द्वारा प्रतिपादित धर्मक्रिया रूपी औषधि, क्या पौद्गलिक सुखों की स्पृहा को नष्ट नहीं कर सकती ?"

अवश्य कर सकती है। एक बार नहीं, सौ बार नष्ट कर सकती है। लेकिन यह तभी संभव है, जब जीवात्मा का अपना दृढ संकल्प हो कि 'मुझे पौद्गलिक सुखों की स्पृहा का नाश करना है।' ऐसी स्थिति में जो धर्मक्रिया की जाए, वह भी सिर्फ वाणी और काया से नहीं, बल्कि अन्तर्मन से की जानी चाहिए। तब पौद्गलिक सुखों की स्पृहा अवश्य दूर होगी और क्रियारूपी औषधि आत्मआरोग्य के साधन में गति प्रदान करेगी।

इस तरह एक ओर धर्मक्रियाओं को अंजाम देने के साथ-साथ इस बात की भी पूरी सावधानी बरतनी होगी कि 'मेरी बाह्य पौद्गलिक सुखों की स्पृहा में क्या आशातीत कमी हुई है ?' साथ ही पूरा ध्यान रखा जाए कि इस कालावधि में बाह्य सुखों का खयाल तक मन में उठने न पाए। वर्ना 'नमाज पढ़ते, रोजे गले पड़े !' वाली कहावत चरितार्थ होते देर नहीं लगेगी। एक तरफ मल नष्ट करने की औषधि का सेवन और उसमें वृद्धि करने वाली औषधि का सेवन ! फिर तो जो होना होगा, सो होकर ही रहेगा। लेकिन इससे बड़ी मूर्खता और कौन सी हो सकती है ?

अपने मन को स्थिर किये बिना अथवा करने की इच्छा नहीं रखने के उपरान्त सिर्फ धर्मक्रिया करते रहने से अगर आत्मसुख का लाभ न मिले तो इसमें क्रिया का दोष मत निकालो। यदि दोष निकालना है तो अपनी वैषयिक सुखों की अनन्त लालसाओं का, स्पृहा का और अपनी मानसिक अस्थिरता का निकाले।

स्थिरता वाङ्मनःकायैर्येषामङ्गाङ्गितां गता।
योगिनः समशीलास्ते ग्रामेऽरण्ये दिवा निशि ॥५।२१॥

अर्थ : जिस महापुरूष को स्थिरता, वाणी, मन एवं काया से एकात्मभाव को प्राप्त हुई है, ऐसे महायोगी गाम, नगर और अरण्य में, रात-दिन सम स्वभाव वाले होते हैं।

विवेचन : जो व्यक्ति मनोहर नगर मे निवास करते हो अथवा घने जंगल मे, साथ ही जिन्हें नगर के प्रति आसक्ति-लगन नहीं और अरण्य के प्रति उद्वेग/अरुचि नहीं, उन्हें आँखों को चकाचौंध करनेवाला दिन का प्रकाश हो अथवा अमावस की गहरी अंधियारी रात हो, वे सदा-सर्वदा ऐसी दशा मे निर्लिप्त भाव से युक्त होते है। दिन का उजाला उन्हें हर्षविह्वल करने मे असमर्थ होता है और रात का अन्धकार शोकातुर बनाने मे ! कारण उनके वाणी-व्यवहार और तन-मन मे स्थिरता समरस जो हो गयी है। उनके मन मे आत्मस्वरूप की.... पूर्णानन्द की... ज्ञानामृत की रमणता, वाणी में पूर्णानन्द की सरिता और काया मे पूर्णानन्द की प्रभा प्रगट होती है।

बाह्य जगत से सबन्धविच्छेद किये बिना और आन्तर जगत के साथ, अन्तमन से सबध जोडे बिना मन, वचन और काया मे स्थिरता का प्रादुर्भाव नही हो सकता। जो मनुष्य अपने परिवार मे ही खोया रहता है, सबन्ध बढाता है और स्नेहभाव का आदान प्रदान करता है, उसे परिवार मे से ही प्रेम, सुख, स्नेह और आनन्द की प्राप्ति होती है। उसे सुख शान्ति और आनन्द की खोज हेतु बाहरी जगत मे दूसरे लोगो के पीछे भटकना नही पडता। अपनी खुशी नाखुशी के लिए उसे दूसरो की कृपा/मिहरबानी पर अवलबित नही रहना पडता। फलत उस बाह्य जगत की तनिक भी परवाह नही होती। मालवनरेश मदन-वर्मा एक ऐसा ही व्यक्ति था, जिसे बाह्य जगत की कोई परवाह नही थी। वह अपने अन्त पुर मे ही प्राप्त ऋद्धि-सिद्धियो मे पूर्ण रूप से खो गया था, एक रूप हो गया था। उसने किसी स युद्ध नही किया और ना ही किसी के साथ लडाई।

इसी तरह काकदी के धन्यकुमार ने बत्तीस करोड सुवर्ण मुद्रा और बत्तीस नव यौवनाओ का मोह त्याग कर आन्तर जगत से नाता जोडा और स्व आत्मस्वरूप मे लीन होकर स्वर्गीय सुख प्राप्त किया। उनका तन-मन और वाणी-व्यवहार पूर्णानन्द में सराबोर हो गया। रूखा-सूखा आहार और वैभारगिरि के निर्जन वन का उन पर तिल मात्र भी असर नही हुआ। स्थिरता के कारण उन्होने अक्षय सुख, असीम शान्ति और अपूर्व आनद का खजाना सहजता से पा लिया। तब भला उन्हे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से झगडने की, लडाई मोल लेने की जरूरत ही क्या थी? धन्य है ऐसे त्यागी साधु श्रमणो को।

स्थैयरत्नप्रदीपश्चेद् दीप्र सकल्पदीपज ।
तद्विकल्परल धूमरल धूमैस्तथाऽऽश्रव ॥६॥२२॥

अर्थ यदि स्थिरता रूपी रत्नदीप सदा-सर्वदा देदीप्यमान हो तो भला सकल्प रूपी दीपशिखा से उत्पन्न विकल्प के धूम्रवलय का क्या काम? ठीक उसी तरह अत्यन्त मलीन ऐसे प्राणातिपातादि आश्रवो की भी क्या जरूरत है?

विवेचन "मैं धनवान बनूं। ऋद्धि-सिद्धियाँ मेरे पाँव छुए।" यह है सकल्प दीप। मिट्टी का दीया। मिट्टी से बना हुआ।

और नानाविध विचारव्यापार से पैदा हुए : "अमुक मार्केट/बाजार मे जाऊ, आलीशान दुकान बनाऊं, धूम-धडल्ले से व्यापार करु ! किसी बडे प्रभावशाली धनी व्यक्ति को व्यापार मे साझेदार बनाऊं ! अक्लमदी और चातुर्य से व्यापार करु ! ढेर सारी सपत्ति बटोर लु । भव्य बगला और अट्टालिका बना लु ! एम्पाला कार खरीद लु और दुनिया मे इठलाता फिरु !" आदि है विकल्प के धूम्र-वलय ! सकल्प दीप मे से प्राय: विकल्प का धुआँ फैलता ही रहता है । जब कि संकल्प-दीप की ज्योति क्षणभगुर है । वह प्रज्वलित होता है और बुझ भी जाता है । लेकिन पीछे छोड जाता है धुएँ की पर्ते ! एक नही अनेक ! और उससे मनगृह मटमैला, धुमिल बन जाता है ।

धनी बनने की एक भावना अपने पीछे हिंसादि अनेकानेक आश्रवो के विचारों की कतार लगा देती है । लेकिन इससे भला क्या लाभ ? सिवाय थकावट, क्लेश, खेद और अनदिखे आन्तरिक दर्दों की परपरा, नीरा कर्मबन्धन ! धनिकता की भावना पैदा होती है और पानी के बुल्बुले की तरह क्षणार्ध मे लुप्त हो जाती है । लेकिन मनुष्य इसके व्यामोह मे पागल बन नानाविध विकल्पो की झखना कर अपने मन को आर्तध्यान, रौद्रध्यान मे पिरोकर बिगाड देता है और उसी तरह विकल्पो के धुएँ मे बुरी तरह फँसकर घुटन अनुभव करने लगता है, घबरा उठता है और परिणाम यह होता है कि हिसादि आश्रवो का सेवन कर अन्त मे मृत्यु का शिकार बन, दुर्गति को पाता है ।

धनी बनने की तीव्र लालसा की तरह कीर्ति की लालसा पैदा होना भी भयकर बात है । "मैं मत्री बनु अथवा राष्ट्र का गरिमामय सर्वोच्च पद मुझे मिल जाए !" सकल्प जगते ही विकल्पों की फौज बिना कहे पीछे पड जाएगी । विकल्प भी कैसे...कैसे ?' 'चुनाव लडु, पैसो का पानी करु .. अन्य दल के उम्मीदवार को पराजित करने के लिए विविध दाँवपेच लडाने की योजना बनाऊँ....' आदि विकल्पो की पूर्ति हेतु हिंसा, असत्यादि आश्रवो/पापों का आधार लेते जरा भी नही हिचकिचाता । लेकिन यह सब करने के बावजूद भी वह मत्री अथवा सर्वोच्चपद पर आसीन हो ही जाता है, सो बात नही । बल्कि पागल अवश्य बन जाता है ! नानाविध पापो का भाजन जरूर हो जाता है ।

जबकि स्थिरता वह रत्नदीप है । जहाँ धुम्रवलय का कही नामो-निशान तक नही है । 'मैं सदैव अपने आत्मगुणों मे तल्लीन रहूँ ।' निमग्न रहूँ !' यह भावना है रत्नदीप !

'अत इसके लिये मैं पर पदार्थों की आसक्ति से कोसो दूर रहूँ । बाह्य जगत को देखना, सुनना और भोगना जसी क्रियाओ को पूरी तरह से त्याग दूँ । देव, गुरु और धर्माचरण मे अपने आप को लीन कर दूँ । तन-मन से धर्मश्रवण और धर्मोपासना मे खो जाऊँ ।' यह रत्नदीप की प्रखर ज्योति है । इससे मनोमदिर देदीप्यमान हो उठता है और विकल्प आश्रवादि का अधियारा छिन्न-भिन्न हो जाता है ।

उदीरयिष्यसि स्वान्तावस्थैर्यं पवन यदि ।
समाधेधर्ममेघस्य घटा विघटयिष्यसि ॥७॥२३॥

अर्थ यदि अत करण से अस्थिरता रूपी आधी पदा करोगे, तो नि सदेह धर्ममेघ-समाधि की श्रेणी को बिखर दोगे ।

विवेचन जिस तरह सनसनाती हवा के झोके और आकाश मे उठी भयकर आधी मेघघटाओ को छिन्न भिन्न कर देती है, बिखेर देती है, ठीक उसी तरह मानसिक अस्थिरता/चचलता भी समाधि रूपी धर्म-मेघ की घटाओ को बिखेर देती है । प्रकट होनेवाले केवलज्ञान को तितर-बितर कर देती है । 'धर्ममेघ' समाधि (योग) आत्मा की ऐसी श्रेष्ठ सर्वोच्च दशा अवस्था को कहा जाता है, जहा चित्त की सभी भावनाएँ, वत्तिया शान्त बन जाती हैं । तब वहा किसी शुभ विचार अथवा अशुभ विचार के लिए कोई स्थान नही होता । साथ ही ऐसी कोई चचलता और अस्थिरता पैदा ही नही होती कि जिसके कारण केवलज्ञान प्रकट न हो सके ।

यह तो तुम भली भाँति जानते ही हो कि मन के पौदगलिक पदार्थों मे फँसने मात्र से ही आत्मस्वरूप सबधित शुभ विचार पैदा होने से रहे ! दान, शील, परमाथ, परोपकारादि आत्मकल्याणकारक शुभ विचार भी टिक नहीं सकते । इससे एक कदम आगे चलकर यदि हम यह विधान करें तो अतिशयोक्ति न होगी कि, 'जहाँ कोई शुभ विचार काम कर रहा हो, वहाँ पौदगलिक सुख की स्पृहा अगर बीच में आ जाए तो सब कुछ मटियामेट हो जाता है । जीवात्मा का पतन

होते देर नही लगेगी। इस जगत में जो भी शुभ विचार एव शुद्ध आचरण से च्युत हुआ है, उसके पीछे इसी पौद्‌गलिक सुख की स्पृहा से पैदा हुई अस्थिरता का ही हाथ रहा है। इसके मूल में पौद्‌गलिक सुखों की स्पृहा ही रही है।

एक समय की बात है। युवक मुनि अरणिक आहार-ग्रहण हेतु बाहर निकले। मध्याह्न का सूर्य तप रहा था। मारे गर्मी के लोग-बाग व्याकुल हो रहे थे। युवक मुनि भी प्रखर ताप से बच नही पाये। उनका मन उद्विग्न और उदास था। तभी सामने रही प्रशस्त अट्टालिका के गवाक्ष मे खड़ी षोडशी पर उनकी नजर पडी। युवती की बाँकी चितवन और दृष्टिक्षेप से वे घायल हो गये। उनके सयम जीवन मे विक्षेप पड़ गया। वर्षों की साधना खाक मे मिल गयी। सयम-साधना की शुभ विचारमाला छिन्न-भिन्न हो गयी। अस्थिरता ने अपना रग दिखाया।

पु डरिक नरेश की पौषधशाला मे औषधोपचार हेतु ठहरे कडरिक मुनि के चित्त प्रदेश पर विषयवासना की आंधी क्या उठी ? उनका त्यागी जीवन रसातल मे चला गया। शिवपुरी का साधक दुर्गति के द्वार पर भिक्षुक बन भटक गया।

क्या तुम्हे ऐसा अनुभव नही हुआ अब तक ? परमपिता परमात्मा की आराधना मे तुम आकंठ डूबे हुए हो ? तुम्हारा तन-मन और रोम-रोम प्रभुभक्ति मे ओतप्रोत हो उठा हो, वही किसी नवयौवना नारी पर अचानक तुम्हारी नजर पड जाए.... वह तुम्हारे रोम-रोम मे बस जाए...। तब क्या होता है ? अस्थिरता का उद्‌गम और प्रभु-भक्ति मे विक्षेप ! रग मे भग ! शुभविचारधारा चूर्ण-विचूर्ण !

चारित्रं स्थिरतारूपमत. सिद्धेष्वपीष्यते ॥
यतन्तां यतयोऽवश्यमस्या एव प्रसिद्धये ॥८॥२४॥

अर्थ : योग की स्थिरता ही चारित्र है और इसी हेतु से सिद्धि के बारे मे भी कहा गया है। अतः हे यतिजनो, योगियो ! इसी स्थिरता की परिपूर्ण सिद्धि के लिये समुचित प्रयत्न करें। [सदा प्रयत्नशील रहे]

विवेचन : असख्य आत्मप्रदेशों की स्थिरता....सूक्ष्म स्पन्दन भी नही....! यही सिद्ध भगवंतो का चारित्र है। सिद्धों मे क्रियात्मक चारित्र का

पूर्णतया अभाव होता है । क्योंकि क्रियात्मक चारित्र मे आत्मप्रदेश अस्थिर होते हैं । जब कि सिद्ध भगवतो का एक भी आत्मप्रदेश अस्थिर नही, अपितु पूर्ण रूप से स्थिर होता है ।

जिस आत्मा का अतिम लक्ष्य 'सिद्ध' बनना है, उसे अपनी समग्र साधना का केन्द्रस्थान 'स्थिरता' को 'स्थिर वृत्ति' को ही बनाना होगा। उसकी पूर्व तैयारी के लिए तीन योगो को स्थिर करने का भरसक प्रयास करना पडेगा । उसमे भी सर्व प्रथम काया, वाणी और मन को पाप प्रवृत्तिया से मुक्त कर और उसकी अस्थिरता को दूर कर उन्हे पुण्य प्रवृत्तियो की ओर गतिशील बनाना होगा। अलबत्ता पुण्यप्रवृत्ति मे भी स्वाभाविक आत्मस्वरूप की रमणता रूपी स्थिरता का अभाव ही है । यहाँ भी इसे पाने के लिये काया के माध्यम से पुण्यकर्मोपार्जन करने के लिये दौडधूप, वाणी के माध्यम से उपदेशदान और मन से पुण्यप्रवृत्तिया के मनोरथ और योजनायें जारी रखनी पडती हैं। इसके बावजूद भी आत्मप्रदेश सदा अस्थिर होते हैं । फिर भी यह सब अनिवार्य है । पापक्रियाओ से मुक्ति पाने हेतु पुण्यक्रियायें आवश्यक हैं ।

'पुण्यप्रवृत्ति मे भी अस्थिरता का भाव कायम है, बाह्य भाव का समावेश है । अत वह त्याज्य है ।' यदि इस विचार को मन मे बनाये रखोगे तो अनादि काल से पापप्रवृत्ति मे सराबोर बनी आत्मा क्या चुटकी बजाते ही पापप्रवृत्ति को त्याग देगी ? क्या वह आत्म स्वरूप की रमणता म अहर्निश खो जाएगी ? उसमे तादात्म्य साध लेगी ? इसका परिणाम कल्पना से विपरीत ही यह आएगा कि 'पुण्य प्रवृत्ति मे भी अस्थिरता है ।' अत वह पुण्यप्रवृत्ति से मुँह मोड लेगा । दुबारा उसकी ओर भूलकर भी नही देखेगा और सिर्फ पाप प्रवृत्तियो मे आकठ डूब जाएगा ।

अत साधक को चाहिए कि वह पाप-प्रवृत्तिया से मुक्त होकर अपने मन को सदा पुण्य-प्रवृत्तियो मे पिरोये रख, विशुद्ध आत्मस्वरूप मे रमणता रूपी स्थिरता को अपना अतिम ध्येय बिन्दु मानकर अपना जीवन व्यतीत करें ।

४. अमोह

तन और मन स्थिर बन, आत्म-भाव में पूर्णरूप से लयलीन बन गये तो समझ लो मोह का नाश...मोह की मृत्यु निःसंदिग्ध है।

मन-वचन और काया की स्थिरता में से अ-मोह (निर्मोही-वृत्ति) सहज पैदा होता है! अतः मोह के मायावी आक्रमणों की तिलमात्र भी चिंता न करो!

प्रस्तुत अष्टक में से तुम्हें निर्मोही बनने का अद्भुत उपाय मिलेगा और तुम्हारी प्रसन्नता की अवधि न रहेगी। तुम्हारा दिल मारे खुशी के बाग-बाग हो उठेगा। इसमें तुम्हें अमूढ बन, सिर्फ ज्ञाता और द्रष्टा बनकर, जिंदगी बसर करने का, अपूर्व आनंद प्राप्त करने का एक नया अद्भुत मार्ग दिखायी देगा!

अह ममेति मन्त्रोऽय मोहस्य जगदान्ध्यकृत् ।
अयमेव ही नञ्पूर्व प्रतिमन्त्रोऽपि मोहजित ॥१॥२५॥

अर्थ मोहराजा का मूलमत्र है मैं और मेरा। जो सारे जगत को अन्धा अज्ञानी बनानेवाला है । जब कि इसका प्रतिरोधक मत्र भी है, जो मोह पर विजय हासिल करानेवाला है ।

विवेचन जो अधा है, उसे पथभ्रष्ट होते–भटकते देर नही लगती । उसमे जो बाह्यरूपसे अधा है वह अभ्यास के बल पर प्रयत्न करने पर सीधी राह चलता है बिना किसी रोक टोक के गन्तव्य–स्थान पर पहुच जाता है । लेकिन जिस के आन्तर-चक्षुओ पर अधेपन की पर्तें जम गयी है, वह लाख कोशिश के बावजूद भी सन्मार्ग पर चल नही सकता । जैसे साप हमेशा टेढा–मेढा ही चलता है । सीधा चलना उसके स्वभाव मे ही नही होता ।

जीवात्मा के आन्तर-चक्षु यो ही बद नही हैं, बल्कि उन पर मत्र प्रयोग किया हुआ है । आत्मा स्वय अपने पर ही इसप्रकार का मत्र प्रयोग करता है, जो उसे मोहदेवता से विरासत मे मिला हुआ है । मत्र-दान करते समय मोहदेवता ने उसे भली भाति समझा दिया है कि 'जब तक तुम इस मत्र का प्रयोग करते रहोगे तब तक निर्बाध रूप से स्वर्गसुख का आनन्द लूटते रहोगे। नानाविध रिद्धि सिद्धियाँ तुम्हारे कदमो मे आलोडन करती रहेंगी ।' और बाह्य पौद्गलिक सुख सुविधाओ के लालची जीव को यह बात भा गयी, अतर की गहराइयो मे उतर गयी । फलत उसने अविलम्ब मत्र को ग्रहण कर लिया 'अह–मम' । और आज वह वन-नगर, घर-बाहर, मस्जिद मदिर, दुकान-उपाश्रय-सर्वत्र इसी महामत्र का जाप करता भटक रहा है । आज से नही अनादि काल से भटक रहा है। मोह के कारण उसकी दिव्य-दृष्टि के द्वार बिल्कुल बध हैं। यह मोक्ष-मार्ग देख नही पाता ।

इसी तरह भटकता हुआ वह चारित्ररूपी महाराजा के द्वार पहुँच जाता है । विनीत भावसे उनकी शरण ग्रहण कर अपने तन–मन के कष्ट, दुख दूर करने का अनुनय करता है ।

"यदि तुम्हें अपने तन मन के समस्त दुख, यातनाओ से मुक्ति पानी हो तो एक काम करना होगा।"

"कहिए ।"

मोह द्वारा प्रदत्त मंत्र **'अहं-मम'**–मैं और मेरा–को सदा के लिए तजना होगा, भूला देना पड़ेगा।

"लेकिन यह भला कैसे सभव है ? अनादि काल से अहर्निश मैं इस मत्र का जाप करता आया हूँ, वह मेरे रोम–रोम मे समाया हुआ है। इसे भूलना मेरे वलवूते की वात नही है। लाख चाहने पर भी मैं भूल नही-सकता।"

"कोई वात नही। लो यह दूसरा मत्र। आज से हमेशा इस का जाप करते रहो"। और चारित्र-महाराज ने उसे दूसरा मत्र दिया· "नाह्–न मम (मैं नही...मेरा नही)

> **'शुद्धात्मद्रव्यमेवाहं' 'शुद्धज्ञानं' गुणो मम'।**
> **'नान्योऽहं न ममान्ये' चेत्यहो मोहास्त्रमुल्वणम् ॥२॥२६॥**

अर्थ : मोह का हनन करनेवाला एक ही अमोघ शस्त्र है और वह है 'मैं शुद्ध आत्म–द्रव्य हू। केवलज्ञान मेरा स्थायी गुण है। मैं उससे अलग नही और अन्य पदार्थ मेरे नही है।' ऐसा चितन करना।

विवेचन "मै धनवान नही, सौन्दर्यवान नही, पिता नही, माता नही, मनुष्य नही, गुरू नही, लघु नही, शरीरी नही, शक्तिशाली नही, सत्ताधारी नही, वकील नही, डॉक्टर नही, अभिनेता नही! तो फिर मैं कोन हूँ ? **'मै सिर्फ एक शुद्ध आत्मद्रव्य हूं।'**

ससारके धन-धान्यादि मेरे नही, माता-पिता मेरे नही, पुत्र-पुत्रियाँ मेरे नही, सत्ता मेरी नही, शक्ति मेरी नही, स्वजन मेरे नही, रिद्धि-सिद्धियाँ मेरी नही।' तो फिर मेरा क्या है! **'शुद्ध-ज्ञान केवलज्ञान मेरा है। में उससे अलग नही, वल्कि सभी दृष्टि से अभिन्न हूं।'**

यह भावना/विचार मोहपाश को छिन्न-भिन्न करने वाला अमोघ शस्त्र हे, अणुवम है। मतलब यह है कि शुद्ध आत्म-द्रव्य का प्रीतिभाव, आत्म-द्रव्य से अलग पुद्गलास्तिकाय के प्रीतिभाव को तहस-नहस करने मे सर्वशक्तिमान है। सभी तरह से समर्थ है। जीवन का उद्देश्य होना चाहिए आत्म-तत्त्व से प्रेम करना और पुद्गल-तत्त्व से कोसो दूर रहना। इसका परिणाम यह होगा कि जीवात्मा मे जैसे-जैसे आत्म-तत्त्व का प्रीतिभाव वढता जायेगा उस अनुपात से पुद्गल-प्रीति के वधन टूटते

जायेंगे । लेकिन उस बात की पूरी तरह से सावधानी बरतनी होगी कि आत्म-तत्त्व से प्रेमभाव बढाते हुए कही पुद्गल अथवा उसके गुण के प्रति हमारे मन मे प्रीति की भावना रूढ न हो जाए । हमे आत्म-द्रव्य के साथ प्रेम करना है । अत सबसे पहले हमारा ध्यान शुद्ध आत्म-द्रव्य पर ही केन्द्रित करना होगा। इस के लिए हमे 'मै शुद्ध आत्म-द्रव्य हू,' की भावना से तरबतर होकर परपर्याया मे निहित 'अह-मैं' के भाव को सदा के लिए मिटा देना होगा । साथ ही शरीर के अग-उपाग के रूप-रग से आकर्षित हो मत्रमुग्ध होने की वृत्ति का हमेशा के लिए तिलाजलि देनी होगी ।

मोह को पराजित करने के लिए परमाराध्य उपाध्यायजी महाराज हमे शस्त्र और मत्र-दो शक्तिया प्रदान कर रहे हैं । हमे इन दोना महाशक्तियो को ग्रहण कर मोह पर टूट पडना है, आक्रमण करना है । उसके साथ युद्ध के लिए सजग, सन्नद्ध होना है । और जब युद्ध ही करना है तो शत्रु के वार भी झेलने होगे । बल्कि उनके प्रहारो का, आघातो का डटकर सामना करना पडेगा । ऐसी स्थिति मे शरण गति के लिए कोई स्थान नही । उसका एक प्रहार तो हमारे दस प्रहार ! युद्ध मे एक ही सकल्प हो, भावना हो 'अन्तिम विजय हमारी है ।'

मनुष्य की जिदगी ही युद्ध का मैदान है । इस म कई नरवीर युद्ध खेलकर मोहविजेता बन हैं । तब भला, हम क्या न बनेंगे ? जब कि हमारे पास तो पूज्य-उपाध्यायजी द्वारा प्रसादरूप मिले शस्त्र और मत्र जैसे दो वरदान हैं ।

> यो न मुह्यति लग्नेषु भावेष्वौदयिकादिषु ।
> आकाशमिव पङ्केन, नाऽसौ पापेन लिप्यते ॥३॥२७॥

अर्थ जो जीव लग्न हुए औदयिकादि भावो म मोहमूढ नहीं होता है वह जीव जिस तरह कीचड से आकाश लीपा नहीं जा सकता ठीक वैसे ही वह पापो से लिप्त नहीं होता है ।

विवेचन मोह की माया का कोई पार नही है । जिस मोह के साथ युद्ध म उतरना है उस उस की मायाजाल से भी बचकर रहना होगा । जो उस के मायाजाल को पूरी तरह समझ गया है, जान गया है, वह भूलकर भी उस मे नही फसेगा । शत्रु की मायाजाल एकबार समझ लेने पर भला, उसके प्रति मोह कसा ? मोहित होने का सवाल ही कहा पदा होता है ?

मोहराजा ने औदायिक-भाव की मायाजाल समस्त विश्व पर सावधानी के साथ फैला दी है। अज्ञान, असंयम, असिद्धता, छह लेश्याएँ, चार कषाय, तीन वेद, चार गति और मिथ्यात्व, इत्यादि औदयिक भाव के इक्कीस प्रधान अग हैं। इस तरह क्षायोपशमिक-भाव के सभी अंग जीवात्मा को फदे मे डालने वाले, वशीभूत करने वाले नही है। लेकिन यदि वह अपने आप मे अचेत वेमुध रहे तो वहा भी उसके लिए फंदा तैयार ही है! अतः दान, लाभ, भोगोपभोग, वीर्य की लब्धियाँ, मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान, विभगज्ञानादि मे ववते देर नही लगती, वह क्षणार्ध मे फस जाता है।

जो आत्मा अशुभ-भाव के बंधन के वशीभूत नही होता, मोहराजा उसे अशुभ-भाव मे फसाने के लिए सदा प्रयत्नशील रहता है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, देशविरति, सर्वविरति, उपशम-समकित, चारित्रादि में गतिशील होने के उपरात भी यदि जीवात्मा ने आसक्ति की, राग-द्वेष किया तो समझिए मोह-जाल उसका शिकार करके ही रहेगा! उस जाल को छिन्न-भिन्न, नेस्तनाबूद करने के लिए सूक्ष्म मति और युद्ध-कौशल्य की पूर्णरुप से आवश्यकता है। तभी उस का सर्वदृष्टि से उच्चाटन हो सकता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि मोहराजा भले अनेकविध वाह्य-अभ्यन्तर आकर्षण पैदा करे, अपनी जाल फैलाये, जीवात्मा को उसको वशीभूत नही होना चाहिए, वल्कि उससे दूर रहना चाहिए। तब मोह का कुछ नही चलेगा। वार-वार प्रयत्न कर हार जायेगा। जिस तरह कोई व्यक्ति आकाश को मलिन करने के लिये कीचड उछाले तो आकाश मलीन नही होता, ठीक उसी तरह मोह द्वारा उछाले गये कीचड से आत्मा मलीन नही होगी, ना ही पाप को अधीन बनेगी!

कहा गया है कि अराग-अद्वेष के कवच को मोह के तीक्ष्ण तीर भी भेदने मे पूर्णतया असमर्थ हैं!

पश्यन्नेव परद्रव्य-नाटकं प्रतिपाटकम्।
भवचक्रपुरस्थोऽपि, नाऽमूढ. परिखिद्यते ॥४॥२८॥

अर्थ : अनादि अनत कर्म-परिणामरुप राजा की राजधानी-स्वरुप भवचक्र नामक नगर मे वास करते हुए भी एकेन्द्रियादि नगर की गली-गली मे नित्य खेले जानेवाले परद्रव्य के जन्म-जरा और मृत्युरुपी नाटक को देखती हुई मोहविमुक्त आत्मा दु:खी नही होती!

विवेचन मोहराजा ने भव-नगर की गली-गली म और राजमार्गों पर अपनी औदयिक भाव की मजबूत जाल फैला रखा है और गली-गली में वास करती अनन्त-अनन्त जीवात्माएँ उसके सुहान जाल म फँसकर निरन्तर विविध चेष्टाएँ करती रहती हैं। कारण, वे सब मोहराजा के माया-जाल को कतई समझ नही पाये हैं। वे इस स्थिति से बिल्कुल बेखबर जो हैं। जन्म, यौवन, जरा और मृत्यु मे शोक-हर्ष करती हुई आत्माएँ तीव्र दुःख और क्लेश का अनुभव करती छटपटा रही हैं।

लेकिन भवचक्र नगर मे अवस्थित जीवात्मा जो मूढता से मुक्त बन गयी है, औदयिकभाव जिसे अपनी ओर आकर्षित नही कर सकते' फिर भी मोह की नाटयभूमि पर उसे निःसहाय, दीन बनकर अब भी रहना पडा है, लेकिन स्व-और पर के जीवन मे घटित विविध घटनाओ को देखने की प्रवत्ति मे आमूल परिवर्तन आ जाने के कारण वह उसे सिर्फ 'मोहप्रेरित मोहक नाटक' समझ उसके प्रति अनासक्त, उदासीन हो गयी है। उसे यह देखकर न खेद है ना कोई आनन्द। वह स्थितप्रज्ञ जो बन गयी है।

समग्र सृष्टि को यहा एक नगर की सज्ञा दी गई है और नरक-गति, मनुष्य गति, तिर्यंच गति और देवगति उसके प्रधान राजमार्ग हैं। इन्ही राज-मार्गों के भागरूप अवान्तर गलियो के रूप मे चार गतियो के अवान्तर भेद है। इन गलियो मे और राजमार्ग पर रहे असख्य, अनत जीव इस नाटक के विभिन्न पात्र है, जिनकी विविध चेष्टाएँ नाटक का अभिनय है। जब की समस्त नाटय-भूमि रगभूमि का सूत्र सचालन, दिग्दर्शन स्वय मोहराजा करता रहता है।

जिस तरह रगभूमि पर जन्म का दृश्य हूबहू खडा कर दिया जाता है मृत्यु का साक्षात् अभिनय किया जाता है, लेकिन वह वास्तविक नही होता। केवल पात्रो के अभिनय-कौशल्य का कमाल होता है। दृष्टा स्वय इस तथ्य को भलिभाति जानते हैं, समझते हैं। अत जन्म होने पर प्रसन्न नही होते और मृत्यु को लेकर शोक विह्वल नही बनते। ठीक उसी तरह सृष्टि की रगभूमि पर जन्म, जरा और मृत्यु के प्रसग उपस्थित होने पर, ज्ञानीपुरुष कतई विचलित नहीं होते। क्या कि वे इस तथ्य से अवगत हैं कि आत्मा कभी जन्म नहीं लेती,

नही मृत्यु पाती है । वह सहज ही जन्म–मरण का अभिनय करती है । अतः व्यर्थ ही शोक करने से क्या लाभ ?

> विकल्पचषकैरात्मा, पीतमोहाऽऽसवोह्ययम् ।
> भवोच्चतालमुत्ताल–प्रपञ्चमधितिष्ठति ॥५॥२६॥

अर्थ : विकल्प रुपी मदिरा–पात्रों से सदा मोह–मदिरा का पान करनेवाला जीवात्मा, सचमुच जहाँ हाथ ऊँचे कर, तालियाँ बजाने की चेष्टा की जाती है वैसे संसार रुपी मदिरालय का आश्रय लेता है ।

विवेचन : संसार यह एक मदिरालय है । सुभग, सुन्दर और सुखद मोह–मादक मदिरा है । विकल्प मदिरा–पान का पात्र है ! अनादि-काल से जीवात्मा संसार की गलियों की खाक छान रहा है ! पौद्गलिक-सुख और मोह–माया के विकल्पों में आकंठ डूब मदोन्मत्त बन गया है, नशे में धुत्त है । वह क्षणार्ध में तालियां बजाता नाचने लगता है तो पलक झपकते न झपकते करतल–ध्वनि करता सुध–बुध खो देता है ! क्षणार्ध में खुशी से पागल हो उठता है तो क्षणार्ध में शोक–मग्न बन क्रदन करने लगता है ! क्षणार्व मे कीमती वस्त्र परिधान कर बाजार घूमता नजर आता है तो क्षणार्ध मे वस्त्र–विहीन नंग–धड़ंग बन धूल चाटता दिखायी देता है !

अभी कुछ समय पहले 'पिता–पिता' कहते उनका गला भर आता है तो कुछ समय के बाद हाथ मे डंडा ले, उस पर टूट पड़ता है ! एक-दो क्षण पहले जो माता 'मेरा पुत्र मेरा पुत्र'....कहते हुए वात्सल्य से ओत–प्रोत हो जाती है, तो क्षण मे ही शेरनी बन उसकी बोटी–बोटी नोचने के लिए पागल हो जाती है ! सुबह मे 'मेरे प्राणप्रिय हृदय–मंदिर के देवता,' कहनेवाली नारी शाम ढलते न ढलते 'दुष्ट, चांडाल' शब्दोच्चारण करती एक अजीब हंगामा करते देर नही करती !

मोह–मदिरा का नशा...वैषयिक सुखो की तमन्ना ! उस मे अटका जीव न जाने कैसा उन्मत्त, पागल बन मटरगस्ती करता नजर आता है ? जबतक मोह–मदिरा के चंगुल से आजाद न हुआ जाए, विकल्प के मदिरा–पात्र फेंक न दिये जाए तब तक निर्विकार ज्ञानानन्द मे स्थिर–भाव असंभव है ! जब तक ज्ञानानन्द मे स्थिर न हो तब तक

परम ब्रह्म मे मग्न होना तो दूर रहा, उसका स्पर्श तक कठिन है। जबकी परम ब्रह्म मे मग्नता साधे विना पूर्णता, आत्म-स्वरूप की परिपूर्णता और अनत गुणो की समृद्धि पाना असभव है।

स्थिरता के पात्र से ज्ञानामृत का पान करनेवाली जीवात्मा ही विवेकी, विशुद्ध-व्यवहारी बन सकती है।

> निर्मल स्फटिकस्येव सहज रूपमात्मन ।
> अध्यस्तोपाधिसम्बन्धो जडस्तत्र विमुह्यति ॥६॥३०॥

अर्थ आत्मा का वास्तविक सिद्ध स्वरूप स्फटिक की तरह विमल निर्मल और विशुद्ध है। उसमे उपाधि का सबध आरोपित कर अविवेकी जीव आकुल-व्याकुल होता है।

विवेचन यदि स्फटिक-रत्न के पीछे लाल कागज लगा हुआ है, तो वह स्फटिक लाल दिखायी देता है, तब अगर कोई तुम्हे पूछे "स्फटिक कैसा है?" तुम क्या जवाब दोगे? 'स्फटिक लाल है!' यूँ कहोगे अथवा 'स्फटिक लाल दिखायी देता है!' आखिर जवाब क्या दोगे? क्योकि लालिमा तो उसकी उपाधि है, वह मूल रूप मे तो लाल है ही नही!

ठीक उसी तरह हम आत्मा को ले। क्या वह मूल रूप मे एकेन्द्रिय है? द्वि इद्रिय है? या पचेन्द्रिय है? उसका मूल रग क्या श्याम, पीत, लाल अथवा गोरा है? मोटापा, पतलापन, छरहरापन, ऊँचाई, चौडाई उस का वास्तविक रूप है? क्या वह स्वाभाविक रूप मे शोक, हर्ष, विषाद राग द्वेष इत्यादि से युक्त है? इन सब का उत्तर इन्कार मे ही आएगा!

स्फटिक की श्यामलता, लालिमा, और गोरता का परिलक्षित कर उसे लाल पीला अथवा गोरा कहनेवाला मनुष्य मूर्ख है- एक नम्बर का शेखचिल्ली है। उसी भाँति जीवात्मा के एकेंद्रिय, द्वि इद्रिय पचेन्द्रिय स्वरूप को देखकर उसे एकेन्द्रिय, द्वि इद्रिय अथवा पचेंद्रिय माननेवाला भी नीरा मतिमद और अज्ञानी है। उसकी श्यामलता, गोरता और पीतता को निरख, उसे श्याम, पीत, और गौर समझनेवाला भी निपट मूर्ख के अलावा भला, क्या है?

आत्मा का श्याम स्वरूप, उसकी बदसूरती, उसके टेढे मेढ़ अगोपांग को देखकर मनमें नफरत पैदा होती है, ठीक वैसे ही उसकी गौरता,

सुघडता सौन्दर्य के दर्शन कर प्रीति-भाव उत्पन्न होता है। वह एक प्रकार की जडता नही तो और क्या है ? क्यो कि वह जरा भी नही सोचता कि यह तो आत्मा के शरीर का बाह्य रंग रूप, गुण मात्र है। वास्तव में तो आत्मा स्फटिक-रत्न की तरह निर्मल, विमल और विशुद्ध है। न तो उसका स्वरूप काला अथवा गोरा है, ना ही उसकी आकृति सुन्दर अथवा बेडोल है। यह सब कर्मो का खेल है। आत्मा कर्म की छाया से ढकी हुई है। और ये सब उसके विभिन्न प्रतिबिंब है।

मोहदृष्टि को चूर-चूर करनेवाला यह चिंतन, विशुद्ध आत्मस्वरूप का चिंतन- मनन, कितना तो अलौकिक और प्रभावशाली है? शक्ति-सम्पन्न है ? इसकी प्रतीति तभी हो सकती है जब इसका सही रूप में प्रयोग किया जाए। कोरी बाते करने से काम नही बनेगा। पूर्णता पाने के लिए हमे तन-मन से प्रवृत्त होकर इसका अमल करना होगा। तभी पराये को अपना मानने की जडता दूर होगी और अंत.चक्षु के द्वार खुल जाएँगे।

अनारोपसुखं मोहत्यागादनुभवन्नपि ।
आरोपप्रियलोकेषु वक्तुमाश्चर्यवान् भवेत् ।।७।।३१।।

अर्थ : योगी, मोह–त्याग से [क्षयोपशम से] आरोपरहित स्वाभाविक–सुख अनुभव करते हुए भी रात–दिन असत्याचरण मे खोये मिथ्यात्वी जीवो को, अपना अनुभव कहने मे आश्चर्य करता है।

विवेचन: वीतराग सर्वज्ञ भगवत द्वारा प्रतिपादित योगमार्ग पर निरंतर गतिशील योगी पुरूष, देवाधिदेव की अनन्य कृपा से जब मोहका क्षय-उपशम करनेवाला बनता है और उस पर छाये मोहादि-आवरण के प्रभाव को नहीवत् बना देता है, तब आत्मा के स्वाभाविक [कर्मोदय से अमिश्रित] सुखो का अनुभव करता है।

ऐसे नैसर्गिक आत्मीय सुख के अनुभवी महात्मा के समक्ष जब सामान्यजनो की भीड उभर आए, जिस पर मोहनीय कर्म का अनन्य प्रभाव हो, तब उन्हे क्या उपदेश दिया जाए, यह एक यक्ष-प्रश्न होता है। ना तो वे अपने स्वाभाविक सुख के अनुभव की बात कह सकते है नही जिस को वह सुख मान रहे हैं, उसे 'सुख' की सज्ञा दे सकते है। तब वे असमजस मे पड जाते हैं। अजीब कशमकश में फस जाते हैं कि, 'इस प्रजा को क्या कहा जाए ?'

जो जीवात्माएँ निरंतर बाह्य पौद्गलिक सुख में ही ओत-प्रोत हैं, निमग्न हैं, उनके समक्ष स्वाभाविक सुख के अनुभव की बात हास्यास्पद बन जाती है। ऐसे समय आत्मिक सुख की अनुभवी आत्मा, पौदगलिक सुख को 'वास्तविक सुख' के रूपमें उस का वर्णन करने में असमर्थ होता है। क्योंकि ज्ञानीपुरुष की दृष्टि में पौद्गलिक सुख, कर्मोदय से उत्पन्न रिद्धि सिद्धि और सुख-संपदा मात्र दुःख ही दुःख, अनंत पीडाओं का केन्द्र-स्थान जो हैं।

तब कुछ महत्वपूर्ण बातों का पता लगता है, जो जीवात्मा के लिए महत्वपूर्ण मार्गदर्शन हैं :

- मोहनीय कर्म का क्षयोपशम किये बिना आत्मा के स्वाभाविक सुख का अनुभव मिलना असंभव है।
- ऐसे स्वाभाविक सुख का अनुभवी वैभाविक सुख में भी दुःख का ही दर्शन करता है, उसे वह 'सुख' नहीं लगता।
- बाह्य जगत के सुख में सराबोर जीव आत्मसुख की बात समझने से इन्कार कर, तब भी उस पर गुस्सा करने के बजाय मन में करुणा भाव ही रखें।
- आत्मसुख को अनुभवी जीवात्मा का संबंध बाह्य सुखों में खोये जीव के साथ कदापि टिक नहीं सकता।

> यश्चिद्दर्पणविन्यस्त-समस्ताऽऽचारचारुधीः ।
> कथं नाम स परद्रव्ये ऽनुपयोगिनि मुह्यति ? ॥८॥१२॥

अर्थ : जो ज्ञानरूपी दर्पण में प्रतिबिंबित समस्त ज्ञानादि पाँच आचार से युक्त सुन्दर बुद्धिमान है—ऐसा योगी, भला अनुपयोगी ऐसे परद्रव्य में क्यों मोहमूढ बनेगा ?

विवेचन : दर्पणमें अपने समस्त अवयवों की सुन्दरता को निहार मनुष्य अपने आपमें आनन्दित होकर झूम उठता है और उसे अधिक सुन्दर एवं आकर्षक बनाने के लिए सदा प्रवृत्तिमय रहता है। उसका मुख खूटने, सुन्दरता में अधिकाधिक वृद्धि करने हेतु बाजार में जाता है, बाह्य जगत में बावरा बन प्रायः भटकता रहता है और समय समय मोहित हो उठता है।

जब कि जो आत्मा अपने समस्त अभ्यंतर अवयवों को ज्ञान के दर्पण मे निरख निज सुन्दरता को आत्मसात् करता है, उसका कृत्रिम प्रदर्शन करने, बाह्य दिखावे के लिए उसे बाहरी दुनिया मे कभी भटकना नही पड़ता । क्यों कि यह सौन्दर्य, बाह्यसापेक्ष जो नही है । इसके सुखो का अनुभव करने के लिए दुनिया के बाजार की खाक नहीं छाननी पड़ती । तब भला, वह बाह्य पदार्थों के प्रति मोहित क्यो होगी ? उसके दिलमे उनके प्रति आसक्ति क्यो कर पैदा होगी ?

ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार एवं वीर्याचार, ये पाच आचार आत्मा के अभ्यंतर रमणीय अवयव हैं ! दर्पण मे देखे बिना वह अपनी सुन्दरता और रमणीयता का वास्तविक दर्शन नहीं कर सकती । ज्ञान–आत्मस्वरूप यह दर्पण है : इसमे जब ज्ञानाचारादि पाच आचारो के अनुपम सौन्दर्य का दर्शन होता है तब जीवात्मा झुम उठती है, परम आनन्द का अनुभव करती है । उस मे आकंठ डूब जाती है, उन्मत्त हो गोते लगाने लगती है । वह एक प्रकार के अनिर्वचनीय सुखानुभूति मे खो जाती है । परिणामस्वरूप उसे बाह्य पदार्थ, परद्रव्य नीरस निस्तेज और आकर्षणविहीन लगते हैं । और फिर जो पदार्थ नीरस स्वादहीन, फीका और अनाकर्षक लगे, उसके प्रति भला, क्या मोहभावना पैदा हो सकती है ? यह असभव है !

परद्रव्य तब तक ही मन को मलिन, मोहित करने मे समर्थ होता है जब तक शीशे के दर्पण में मनुष्य अपना सौन्दर्य और व्यक्तित्व को देखने का प्रयत्न करता है । वह जैसे जैसे आत्मस्वरूप के दर्पण मे अपने व्यक्तित्व को (ज्ञान....दर्शन....चारित्र आदि) सुन्दरता को गौरसे देखने का प्रयत्न करता है, वैसे वैसे पर द्रव्यो के प्रति रही आसक्ति, प्रीति-भाव कम होने लगता है ।

कहने का तात्पर्य यह है कि ज्यो-ज्यो ज्ञानाचारादि पाच आचारो के पालन की गति बढती जाएगी त्यों-त्यों आत्म-स्वरूप की सुन्दरता मे बढोतरी होने से पर-द्रव्य के सम्बंध मे जीवात्मा की आसक्ति कम होने लगती है ।

५ ज्ञान

अमोही बनना मतलब ज्ञानी बनना।

आत्मा पर से मोह का आवरण दूर होते ही ज्ञान का प्रकाश देदीप्यमान हो उठता है। ज्ञानज्योति प्रज्वलित हो उठती है। अ-मोही का ज्ञान भले ही एक शास्त्र, एक श्लोक अथवा एक शब्द का क्यों न हो, वह जीवात्मा को निर्वाणपद की ओर बढाने मे और प्राप्ति मे पूर्णतया शक्तिमान होता है।

जिस ज्ञान के माध्यम से आत्मस्वभाव का बोध होता है, उसी को ही वास्तविक ज्ञान कहा गया है। वाद-विवाद और विसवाद निर्माण करनेवाला ज्ञान, ज्ञान नहीं है। अ-मोही आत्मा प्राय वादविवाद और विसवाद से परे रहता है।

ध्यान मे रखिये! थोडा भी अमोही बन, इस अष्टक का अध्ययन-मनन और चिंतन करना। तभी ज्ञान के वास्तविक रहस्य को आप आत्मसात् कर सकेंगे।

मज्जत्यज्ञः किलाज्ञाने, विष्टायामिव शूकरः ।
ज्ञानी निमज्जति ज्ञाने, मराल इव मानसे ॥१॥२२॥

अर्थ : जैसे सूअर हमेशा विष्टा मे मग्न होता है, वैसे ही अज्ञानी सदा अज्ञान मे ही मग्न रहता है। जैसे राजहंस मानसरोवर में निमग्न होता है, ठीक उसी तरह ज्ञानी पुरुष ज्ञान मे निमग्न होता है ।

विवेचन : मनुष्य बार-बार कहाँ जाता है, पुनः पुन उसे क्या याद आता है, वह किसकी संगत में अपना अधिकाधिक समय व्यतीत करता है, क्या सुनना उसको प्रिय है, क्या जानना वह पसन्द करता है ? यदि इसका सावधानी के साथ सूक्ष्मावलोकन किया जाय, तो जीवात्मा की आन्तरिक भावना की थाह पायी जा सकती है। उसकी सही रुचि, अनुराग का पता लग सकता है ।

जहाँ सिर्फ भौतिक और वैषयिक सुख-दुःख की चर्चा होती हो, पुद्‌गलानदी जीवो का सहवास ही प्रिय हो, कुपदार्थों की चर्चा चलती हो, मिथ्यात्वी किस्से-कहानियाँ कही जाती हो और इन्द्रियो को तृप्त करने वाली बातें सुनना ही प्रिय हो, इससे उसकी परख होती है कि उसका सही आकर्षण भौतिक, वैषयिक पदार्थों की ओर है । उसका अनुराग काम-वासनादि सुखो के प्रति ही है। हालांकि यह सब आकर्षण, अनुराग, चाह, भावनादि वृत्तियाँ जीवात्मा की अज्ञानता है, मोहान्धता है और उसकी अवस्था मल-मूत्र से भरे गंदे नाले में गोता लगाते एकाध सूअर जैसी है ।

जबकि जो ज्ञानी हैं, वास्तवदर्शी-सत्यदर्शी हैं, उनका ध्यान सदैव जहाँ आत्मोन्नति व आत्मकल्याण की चर्चा होती हो, उस तरफ ही जाएगा । उसे आत्मज्ञानी-जनों का सतत समागम ही पसन्द आएगा । उसके हृदय में आत्मस्वरूप और उससे तादात्म्य साधने की भावना ही बनी रहेगी । उसके मुँह से आत्मा, महात्मा एव परमात्मा की कथायें ही सुनने को मिलेगी । और इन्ही कथाओ के पठन-पाठन मे वह सदा खोया दिखायी देगा । जिस तरह राजहंस मानसरोवर मे मुक्त मन से क्रीडा करता दृष्टिगोचर होता है । उसकी वह स्थिति सभी दृष्टि से प्रगतिपरक और उन्नतिशील होती है ।

साधक आत्मा का फर्ज है कि वह अपना आत्म-निरीक्षण करते समय सदैव यह प्रश्न उठाये कि "मैं ज्ञानी हूँ अथवा अज्ञानी ?" और इसका निराकरण भी अपने आप अन्तर्मन की गहराईयो मे जाकर करें। सत्य किसीसे छिपा नही रहेगा। यदि उसे अपनी स्थिति अज्ञानता से परिपूर्ण लगे, तो फौरन उसे ज्ञानक्षेत्र को विस्तृत और विकसित करने मे जुट जाना चाहिए। यह प्रक्रिया जब तक केवलज्ञान की प्राप्ति न हो, तब तक अबाध रूप से, निरन्तर चलनी चाहिए।

निर्वाणपदमप्येकं, भाव्यते यन्मुहुर्मुहु ।
तदेव ज्ञानमुत्कृष्टं, निर्बन्धो नास्ति भूयसा ॥२॥३४॥

अर्थ एक भी निर्वाणसाधक पद जो कि बार बार आत्मा के साथ भावित किया जाता है, वही श्रेष्ठ ज्ञान है। ज्यादा ज्ञान प्राप्ति यानी ज्यादा पढ़ाई का आग्रह नहीं है।

विवेचन हमारा यह कतई आग्रह नही है कि तुम अनेकविध ग्रथो को पढो, उनका पठन-पाठन और अवगाहन करो। ना ही यह आग्रह है कि विस्तृत जानकारी का अच्छा खासा भडार खडा कर दो। बल्कि हमारा सिर्फ इतना ही आग्रह है कि निर्वाणसाधक पद, ग्रथ अथवा श्लोक का सूक्ष्म अभ्यास कर लें। उसमे एकरूप हो जायें, सतत उसका ही रटन और चिन्तन-मनन करते रहें, तो बेडा पार लगते देर नही लगेगी। मोक्ष की मजिल की तरफ गतिशील करने वाला एकाग्र चिन्तन भी तुम्हें आलोडित, प्लावित कर गया, तो वह सच्चा ज्ञान है। ज्ञान को उत्कृष्ट बनाने के लिये निम्नाकित चार सूत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं —

- हाथ में रहा ग्रथ बन्द कर देने के बाद भी ग्रथोक्त विचारो का चिन्तन-परिशीलन सतत चलते रहना चाहिये।
- जैसे जैसे ग्रथोक्त विचारो के परिशीलन मे वृद्धि होती जाए, वैसे-वैसे तत्त्वोपदेशक परम कृपालु वीतराग भगवत के प्रति प्रीति भावना और गुरुजनो के प्रति श्रद्धा-भावना, कृतज्ञ भाव, तत्त्वमार्ग के प्रति उत्कट आकर्षण आदि हमारे हृदयप्रदेश में पैदा होने चाहिए।
- तत्त्व का विवेचन हमेशा शास्त्रोक्त पद्धति और युक्तियों के माध्यम से करना चाहिए। आगमोक्त शैली के अनुसार होना

चाहिए। मतलब, हमारे द्वारा किया गया विवेचन शास्त्र-पद्धति के अनुसार होना चाहिए। आगमविरोधी भावना से युक्त नही होना चाहिए।

☐ जिस तरह तत्त्वचिन्तन की गति बढती जाएगी, उसी तरह कषायो का उन्माद शान्त होता जाएगा। संज्ञाओं की बुरी आदतें कम होती जायेगी और गारवों [रस-ऋद्धि-शाता] का उन्माद मन्द होता जाएगा।

एक बार गुरुदेव ने अपने शिष्य 'मापतुष मुनि' को निर्वाणसाधक ऐसा एक पद दिया : 'मा रुष... मा तुष।' अर्थात् 'न कभी द्वेष करो, न कभी राग करो'। लगातार बारह वर्ष तक महामुनि ने इसी पद का सतत चिन्तन-मनन किया, उसका सूक्ष्मता से परिशीलन किया। फल यह हुआ कि बारह वर्ष की अवधि के बाद वे मोक्ष-पद के अधिकारी बने। सिर्फ एक ही पद के चिन्तन-मनन से उन्हे सिद्धि मिली : 'मा रुष, मा तुष'। क्योंकि उनके लिए यह पद एक प्रकार का उत्कृष्ट ज्ञान बन गया और उन्हे मुक्ति-पद की प्राप्ति हुई।

तत्वचिन्तन मे अपने आप को विलीन कर देना लयलीन कर देना ही उच्च कोटि का ज्ञान है।

> स्वभावलाभसंस्कारकारणं ज्ञानमिष्यते।
> ध्यान्ध्यमात्रमतस्त्वन्यत्, तथा चोक्तं महात्मना ॥३॥३५॥

अर्थ : ऐसे ज्ञान की इच्छा करते हैं, जो आत्म-स्वरूप की प्राप्ति का कारण हो। इससे अधिक सीखना/अभ्यास करना, बुद्धि का अन्धापन है। इसी प्रकार महात्मा पतंजलि ने भी कहा है।

विवेचन : ज्ञान वही है, जो आत्मस्वरूप की प्राप्ति हेतु जीवात्मा को निरन्तर बढावा देता रहता है। आत्मस्वरूप को जानने की मन मे वासना जगाता है। वासना वह है, जो किसी विषय को गहराई से जानने की प्रवृत्ति मन मे पैदा करती है। उसे पाने के लिये अथक परिश्रम करने की प्रेरणा देती है, उसके पीछे हाथ धोकर पडने के लिये उकसाती रहती है। जैसे, यदि किसी को किसी युवती के प्रति वासना जगी, मसलन वह उसे वशीभूत करने के लिये सतत कार्यशील रहेगा। उसके मन मे सोते-जागते, उठते-बैठते, घूमते-घामते केवल एक

ही विचार रहेगा "उस युवती को कैसे प्राप्त किया जाय ? और उसकी हर प्रवृत्ति उसे पाने की रहेगी। यह वासना पैदा किसने की ? उसके पीछे कौन सी शक्ति काम कर रही है ? यह वासना युवती के मनोहर दर्शन से पैदा हुई । मतलब, युवती-विषयक ज्ञान के कारण ही वासना उसके मन मे जगी ।

यही शाश्वत्-सत्य है, जो यहा भी लागु पडता है । आत्मस्वरूप का ज्ञान होते ही वह ज्ञान जीवात्मा को अविरत रूप से आत्मस्वरूप के विचारो मे ही मग्न कर देता है और उसकी प्राप्ति के लिये आवश्यक पुरुषार्थ/प्रवृत्तिया करने के लिये उत्तेजित करता रहता है । और, ऐसे ही ज्ञान की हमें आवश्यकता है । हमे ऐसे ज्ञान की कतई गरज नही, जिसमे जसे जैसे ग्रथाभ्यास बढता जाए, अध्ययन की प्रवृत्ति बढती जाए, वसे वसे पुद्गल विषयक आसक्ति/चाह की गति मे भी बढोतरी होती जाए । इससे तो रागवृद्धि और द्वेषवृद्धि के अलावा और कुछ नहीं होगा । फलत मन मे असत् ऐसी रस-ऋद्धि और शाता की लालुपता निर्बाध गति से बढती जाएगी ।

भगवान सुधर्मास्वामी ने जबुकुमार को प्रतिबोध/ज्ञान दान दिया और वे ससार-सागर से तिर गये/पार लग गये । स्कंदकसूरिजी ने अपने पाँच सौ शिष्यो को ज्ञान (प्रतिबोध) दिया । पाँच सौ शिष्यों मे इसी ज्ञान के बल से आत्मस्वरूप प्राप्ति की वासना जगी । फलस्वरूप, इसे हासिल करने के लिये उन्होने कोल्हू मे पीस जाना बेहतर समझा । अत, वासना के खातिर मनुष्य क्या-क्या नही करता ? एक बार वासना पैदा होनी चाहिये । फिर कोल्हू मे पीस जाना दुष्कर नहीं है, ना ही अग्नि मे जल जाना कठिन है । उसके लिए पर्वत से छलाग लगाना, भूख और प्यास से अस्थि पिंजर बनना, चोटी-चोटी कटवाना आदि बातें असाध्य नही बल्कि साध्य हैं । हाँ ऐसी तीव्र वासना जीवात्मा म पैदा होनी चाहिये । वासना को तीव्र बनाने वाली, बढावा देने वाली, उसे उत्तेजित करने वाली एक ही शक्ति है और वह है ज्ञान हम ऐसे ही ज्ञान की जरूरत है । यही ज्ञान उपादेय है । इसके अलावा जो ज्ञान होगा, वह तो सिर्फ छलावा है । महात्मा पतजलि ने यही कहा है और यह बात सर्वसम्मत है ।

वादांश्च प्रतिवादांश्च वदन्तोऽनिश्चितांस्तथा ।
तत्त्वान्तं नैव गच्छन्ति, तिलपीलकवद् गतौ ॥४॥४६॥

अर्थ : निरर्थक वाद (पूर्वपक्ष) और प्रतिवाद (उत्तरपक्ष) मे फंसे जीव कोल्हू के बैल की तरह तत्त्व का पार पाने मे पूर्णतया असमर्थ होते हैं।

विवेचन : जिस शास्त्र-ज्ञान से अन्तर्शत्रुओ पर विजय पाना है, बाह्य पार्थिव जगत से अन्त:चेतना की ओर गतिमान होना है, अरे जीव ! उसी शास्त्र के सहारे तू निरर्थक वाद-विवाद में उलझकर रह गया ? जो इष्ट है, उसे छोड़ दिया और जो अनिष्ट है, उसके पीछे लग गया ? राग और द्वेष का शरणागत हो गया और अपने आप को, अपने आत्मस्वरूप को भूल-भालकर ससार के यश-अपयश में आकठ डूब गया !

यह सब करने के पहले भले आदमी, इतना तो सोच कि तेरे पास जो शास्त्र है, ग्रथ हैं और ज्ञान की अपूर्व निधि है, उसे अच्छी तरह जान पाया है क्या ? उसका सही अर्थ-निर्णय कर सका है क्या ? आज इस जगत मे केवलज्ञानी परम पुरुषों का वास नही है, ना ही मन.पर्यवज्ञानी अथवा अवधिज्ञान के अधिकारी महात्मा यहाँ विद्यमान है । तब भला, अनंतज्ञान के स्वामी परम मनीषियो द्वारा रचित और प्रतिपादित शास्त्रों को तू अल्पमति से समझने का, आत्मसात् करने का दावा करता है ? यह कैसी विडंबना है ? और फिर तेरे द्वारा लगाया गया अर्थ ही सही है; सरे-आम कहने की धृष्टता करता है ? दूसरो के अर्थ-निर्णय को वेबुनियाद करार देकर वाद-विवाद करने की नाहक चेष्टा करता है ? तू भली-भाँति समझ ले कि तेरी मति अल्प है, श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम अति मन्द है । ऐसी स्थिति मे तेरे पास जो शास्त्रज्ञान है, वह अनिश्चित अर्थ से युक्त है। इसके बलबूते पर तू वर्षों तक वाद-विवाद करता रहेगा, फिर भी उसका पार नहीं पा सकेगा । उसके वास्तविक अर्थ को समझने मे असफल सिद्ध होगा । ज्ञान के परमानद का मुक्त मन से उपभोग नही कर सकेगा । संभव है कि वाद-विवाद और वितडावाद में तू विजयी होगा और उसका आनन्द तेरे रोम-रोम को पुलकित कर देगा । लेकिन यह न भूलो कि वह आनद क्षणिक है, क्षणभंगुर है और वैभाविक है ।

वाद-विवाद कर तत्त्व के साक्षात्कार की अपेक्षा रखना, दिन मे तारे देखने का दावा करने जैसी बात है । जिस तरह कोल्हू का बैल लगातार बारह घटे तक अविश्राम श्रम करने के बावजूद अपनी जगह से एक कदम भी, तिलमात्र भी आगे नहीं बढता ।

अत हे आत्मन् ! तू अपनी आखो पर यश-प्राप्ति, कीर्ति प्राप्ति, सपत्ति और सपदा पाने की पट्टी बाँधकर अधी दौड तो लगा रहा है, लेकिन क्षणाध के लिये ठहर कर, अपनी आँख की पट्टी हटाकर तो जरा देख कि तू आत्मस्वरूप की मजिल तक पहुँचा भी है ? कर्मराजा ने अपने माया जाल में फँसाकर तेरी आँख पर पट्टी बांध दी है । और तू है कि भ्रमित बन, उसी कर्म-निर्धारित भव चक्र के फेरे लगा रहा है, चक्कर काट रहा है ।

मतलब यह कि वाद विवाद से अलिप्त रहकर शास्त्रज्ञान के माध्यम से आत्मस्वरूप की ओर गतिशील होना ही हितावह है ।

स्वद्रव्यगुण पर्यायचर्या वर्या पराऽन्यथा ।
इति दत्तात्मसंतुष्टिमु ष्टिज्ञानस्थितिमु ने ॥५॥३७॥

अर्थ : अपने द्रव्य, गुण और पर्याय में परिणति श्रेष्ठ है। पर द्रव्य, गुण और पर्याय मे परिणति ठीक नहीं।' इस तरह जिसने आत्मा को सतुष्ट किया है, ऐसा सक्षिप्त रहस्यज्ञान, मुनिजन की मर्यादा मानी गयी है ।

विवेचन हे मुनिवर ! तुमने अपने लिए समस्त ज्ञान का कौन सा रहस्य पा लिया है ? क्या उक्त रहस्यज्ञान से तुम अपने आप को सतुष्ट कर पाये हो ?

'पर द्रव्य, परगुण और पर पर्याय मे परिभ्रमण कर, तुम परिश्रान्त बन गये हो, थक गये हो । अनादि काल से 'पर' मे परिभ्रमण कर तुम सतुष्ट नहीं हो, बल्कि उत्तरोत्तर तुम्हारे असतोष मे वृद्धि ही होती रही है । अब उसे सतुष्ट करना जरूरी है । साथ ही यह कदापि न भूलो कि परद्रव्य, गुण और पर्याय मे अभी वर्षों भटकने के बावजूद आत्मा का सतोष नही होगा, बल्कि उसके असतोष मे बढोतरी ही होने वाली है ।

'हे आत्मन् ! तुम अपने मे ही परिणति करो । तुम स्वय विशुद्ध आत्मद्रव्य हो । अत उसमे रमण करो । तू अपने मे निहित ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि गुणो मे तन्मय हो जा । तू अपनी वर्तमान तीनो अवस्था

का दृष्टा बन। तेरे त्रैकालिक पर्याय विशुद्ध हैं। अतः उन विशुद्ध पर्यायो मे परिणति कर ले। क्योंकि यही परिणति सर्वश्रेष्ठ है।'

'हे आत्मन्, परद्रव्य-गुण-पर्याय के प्रति आसक्ति रखना मिथ्या है, गलत है। अत. उसका तन-मन से त्याग कर दो। फलतः अपने शरीर, भवन, धन-धान्यादि सपदा, रस-रूप, गंध, स्पर्श, शब्द आदि का मोह न कर, ना ही शरीर, सपत्ति, रूप-रसादि पर-पदार्थों की परिवर्तनशील अवस्थाओ मे भी राग-द्वेष को जीवन मे स्थान दे।

इस तरह प्रत्येक मुनि का कर्तव्य होना है कि वह अपने आप को, अपनी आत्मा को सतुष्ट करे....करते रहना चाहिए और यही उसका रहस्यज्ञान है। अर्थात् यह मान कर कि मुनि का दर्शन-ज्ञान-चारित्र मे भिन्न अस्तित्व ही नहीं है। उसे सदैव ज्ञान,-दर्शन चारित्रमय आत्मा मे खो जाना चाहिए और यही उसका परम कर्तव्य है। अत इसके लिये उपयुक्त भावना का सदा-सर्वदा अपने मन मे चिन्तन-मनन करते रहना अत्यन्त आवश्यक है। साथ ही, जहाँ कही उसके चित्त की परपुद्गल के प्रति आसक्त होने की सभावना पैदा हो, उसे इस सक्षिप्त रहस्यज्ञान का आधार ले, खुश कर, तुरन्त रोक लेना चाहिए। मोह को उखाड़ फेंकने के लिये 'रहस्यज्ञान' एक अमोघ शस्त्र है।

> अस्ति चेद् ग्रंथिभिज्ज्ञान, किं चित्रैस्तंत्रयंत्रणः।
> प्रदीपाः क्वोपयुज्यन्ते, तमोघ्नी दृष्टिरेव चेत् ॥६॥२८॥

अर्थ : ग्रन्थि-भेद से मिला ज्ञान जब तुम्हारे पास है तब भला, अनेकविध शास्त्रो के बन्धनो की आवश्यकता ही क्या है? यदि अन्धकार का उच्छेदन करनेवाली आँख तुम्हारे पास है, तो दीपमाला तुम्हारे किस उपयोग मे आयेगी?

विवेचन: जिस मनुष्य की आँखो मे ही इतनी तेजस्विता है कि जो घने अंधेरे को छिन्न-भिन्न करने मे शक्तिमान है, तब उसे दीपशिखा की क्या गरज? ठीक उसी तरह जिस आत्मा ने मोह-माया की ग्रंथियों को विदीर्ण कर लिया है और आत्मस्वरूप का साक्षात्कार हो गया है, उसके लिये भला अनेकविध शास्त्रो का ज्ञान किस काम का?

प्रबल राग-द्वेष की परिणतिमय ग्रंथि के भेदने से आत्मा मे सम्यक्त्व का प्रादुर्भाव होता है, उसका प्रखर प्रकाश आत्मा में फैल जाता है।

लेकिन ग्रंथिभेद की भी कुछ शर्त हैं। १ संसार परिभ्रमण की अवधि सिर्फ 'अर्ध पुद्गल परावर्त' बाकी हो। २ आत्मा भव्य हो और ३ आत्मा पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय हो। तब वह ग्रंथिभेद करने के लिये शक्तिमान है। ग्रंथिभेद के पश्चात् सम्यक्त्व की भूमिका पर अवस्थित आत्मा में प्रतिभास ज्ञान टिक नहीं सकता। अर्थात् इहलोक-परलोक के भौतिक पदार्थों के प्रति, जब-जब वह आकर्षित होता है, तब उन्हें तात्त्विक दृष्टि से देखता है, ज्ञानी जनों की नजर से देखता है। मतलब, क्या आत्मा का हितकारी है और क्या अहितकारी है, इसका उसे पूरा आभास होता है। जब तक आत्मा को इहलोक-परलोक में वास्तविक हित-अहित का प्रतिभास/यहाँ ज्ञान नहीं होता, तब तक यह समझना चाहिए कि उसका ग्रंथिभेद नहीं हुआ है, बल्कि वह मिथ्यात्व की भूमिका पर ही स्थित है।

संसार में रहे किसी रूप, रस, गंध, स्पर्श अथवा शब्द का साक्षात्कार होने पर 'यह मेरी आत्मा के लिये हितकारी है अथवा अहितकारी ?' समझने की कला यदि हमें हस्तगत हो जाए, तब निःसंदेह हमारे भाव चारित्र और तत्त्व-परिणति की मंजिल दूर नहीं है। आत्म परिणति के अविरत अभ्यास, चिंतन मनन से तत्त्व परिणति युक्त ज्ञानोपार्जन होता है। अगर हम आत्म परिणति युक्त ज्ञान (ग्रंथिभेद से उत्पन्न) प्राप्त कर गया है, तो फिर विविध शास्त्रों के वाचन का प्रयोजन ही क्या है ? शास्त्राभ्यास और पठन, चिंतन ग्रंथिभेद के लिये ही किया जाता है। और ग्रंथिभेद के होते ही आत्मा में से ज्ञानप्रकाश प्रकट होता है।

> मिथ्यात्वशैलपक्षच्छिद, ज्ञानदम्भोलिशोभित ।
> निर्भय शक्रवद् योगी, नन्दत्यानन्दनन्दने ॥७॥३६॥

अर्थ: मिथ्यात्व रूपी पर्वत की चोटियों का छेदन करने वाले और ज्ञान रूपी वज्र से सुशोभित सचमुच निर्भय इन्द्र की तरह निर्भय योगी सदैव आनन्द रूपी नन्दनवन में स्वैर क्रीड़ा करता है, सुख का अनुभव करता है।

विवेचन: देवराज इन्द्र को भला भय कैसा ? जिसके पास असीम आकाश की क्षितिजा को पार करने वाला, उत्तुंग पर्वत शिखरों को चूर चूर करने में शक्तिशाली वज्र जैसा सर्वोत्तम शस्त्र है, उसे भला किस बात का डर ? वह तो सदा सर्वदा स्वर्गीय आनंद के नन्दन-वन में केलि करता रहता है। उसका चित्त प्रायः निर्भय और प्रभावित होता है।

इसी भाँति योगीराज को भय कैसा ? जिसके पास मिथ्यात्व के हिम शिखरों को आनन-फानन मे छेदने वाला एकमेव शस्त्र 'ज्ञान' जो है । ज्ञान वज्र के समान अपने आप मे सर्वशक्तिमान है । उसे डर किस बात का ? वह तो सुहाने आत्मप्रदेश के स्वर्ग मे....आत्मानंद के नन्दनवन में निर्भय बन हमेशा रमण करता अपूर्व सुख का उपभोग करता है ।

यहाँ मुनिजनों को देवराज-इन्द्र की उपमा दी गयी है । जैसे क्षणार्ध के लिये भी इन्द्र वज्र को अपने से दूर नही करता, ठीक उसी तरह मुनिजनो को भी सदैव आत्म-परिणति रूप ज्ञान को अपने पास बनाये रखना चाहिए । तभी वे निर्भय / निर्भ्रान्त रह सकते हैं और आत्मसुख का वास्तविक आनन्द पा सकते हैं । भगवान महावीर ने गौतम से एक बार कहा था : **समयं गोयम ! मा पमायए** ।' इस वचन का रहस्य-स्फोट यहाँ होता है । उन्होने कहा था . "हे गौतम ! तुम्हारे पास रहे ज्ञान वज्र को क्षणार्ध के लिए भी अपने से दूर रखने की भूल मत करना ।" इस सूक्ति के माध्यम से देवाधिदेव महावीर प्रभु ने सभी साधु-मुनिराजों को आत्मपरिणतिरूप ज्ञान को सदा-सर्वदा अपने पास सजोये रखने का उपदेश दिया है । जहाँ आत्म-परिणतिरूप ज्ञान का विछोह हुआ नहीं कि तत्क्षण राग-द्वेषादि असुरों का प्रबल आक्रमण तुम पर हुआ नही । ये असुर, मुनिजनो को आत्मानन्द के स्वर्ग से धकियाते हुए बाहर निकाल पुद्गलानन्द के नरकागार मे आसानी से धकेल देंगे । फलत. मुनिजन अपनी 'मुनि-प्रवृत्ति' से भ्रष्ट हो जाते हैं और चारो ओर भय, अशान्ति, क्लेशादि अरियो से घिर जाते हैं ।

जब तक मुनि आत्मपरिणति में स्थित रहता है, तब तक राग-द्वेष, मोह-मायादि दुर्गुण उसके पास भटकने का नाम नही लेते और वह किसी भी प्रकार के बाह्य व्यवधान से निर्भय बन, आत्मानन्द का अनुभव करता रहता है ।

पीयूषमसमुद्रोत्थं, रसायनमनौषधम् ।
अनन्यापेक्षमैश्वर्यं, ज्ञानमाहुर्मनीषिणः ॥८॥४०॥

अर्थ : पडितों ने ऐसा कहा है कि ज्ञान अमृत होते हुए भी समुद्र मे से पैदा नही हुआ है, रसायन होते हुए भी औषधि नहीं है और ऐश्वर्य होते हुए भी हाथी-घोड़े आदि की अपेक्षा से रहित है ।

विवेचन लोग कहते हैं कि अमृत समुद्र-मथन से पैदा हुआ है। रसायन-शास्त्रियों का मत है कि रसायन औषधिजनित होता है। राजा-महाराजाओं की मान्यता है कि ऐश्वर्य हाथी घोड़े और सोना चांदी आदि संपदा में समाया हुआ है।

जबकि ज्ञानी पुरुषों का कहना है कि, "ज्ञान 'अमृत' होते हुए भी समुद्र मथन से नहीं निकला, रसायन होते हुए भी औषधि-जन्य नहीं और ऐश्वर्य होते हुए भी हाथी-घोड़े अथवा सोने-चांदी की अपेक्षा नहीं रखता।"

समुद्र मथन से प्रकट अमृत, मानव का मृत्यु से बचा नहीं सकता। लेकिन ज्ञानामृत उसे अजरामर बनाता है। औषधिजन्य रसायन उसे शारीरिक व्याधियों तथा वृद्धावस्था से सुरक्षित रखने में असमर्थ है, जबकि ज्ञान-रसायन से वह अनंत यौवन का अधिपति बनता है। सोने चांदी और हाथी घोड़े वाला ऐश्वर्य, जीवात्मा को निर्भय/निर्भ्रान्त बनाने की शक्ति नहीं रखता, लेकिन ज्ञान का ऐश्वर्य उसके जीवन में सदैव अक्षय शान्ति, परम आनन्द और असीम निर्भयता भर देता है।

तब भला क्यों भौतिक अमृत, रसायन एवं ऐश्वर्य की स्पृहा करें? नाहक उसके पीछे दीवाने बन, तन-मन धन की शक्तियाँ क्यों नष्ट करें? व्यर्थ में ही क्यों ईर्ष्या, मोह, रोष, मत्सर, मूर्च्छादि पापों का अर्जन करें? क्या कारण है कि उसके खातिर अन्य जीवों से शत्रुता मोल लें? अमूल्य ऐसे मानव जीवन को क्यों नेस्तनाबूद करें? क्योंकि यह जीवन ज्ञानामृत, ज्ञान-रसायण और ज्ञान ऐश्वर्य की प्राप्ति से उन्नत बनाने के लिए है। हमें सदा सर्वदा इसकी ही स्पृहा करनी चाहिए। इसे प्राप्त करने हेतु तन मन धन की समस्त शक्तियों का उपयोग करना चाहिये।

इस तरह का भावनाज्ञान आत्मा में से प्रकट होता है और उसे प्रकट करने के साधन हैं-देव, गुरु और धर्म की आराधना। देव-गुरु-धर्म की उपासना से ही आत्मा में से ज्ञान-अमृत, ज्ञान-रसायण और ज्ञान-ऐश्वर्य की ज्योति प्रज्वलित होती है। फलतः जीवात्मा को परम तृप्ति का अद्भुत आनन्द मिलता है। वह उत्तम आरोग्य की अधिकारी बनती है और परम शोभा को धारण करती है।

६. शम

ज्ञानीजनों को शान्ति ही होती है। निर्मोही-अमोही ऐसी आत्मा को नहीं होते हैं विषय-विकार और नहीं होते हैं विकल्प। उसे इन से कोई मतलब नहीं होता। ज्यादा समय आत्मा की स्वभावदशा में तल्लीन रहनेवाले जीवात्मा को ज्ञान का सही फल मिल जाता है।

कर्मजन्य विषमता ज्ञानीजनों के ध्यान मे कभी नही आती है। उन्हें समस्त जीवसृष्टि प्रायः ब्रह्मरुप में ही दिखती है। ऐसी सभी आत्माएं निरन्तर शमरस का अमृतपान कर कृतार्थ होती है।

आइए, शम और प्रशम के वास्तविक मूल्यांकन और उसके प्रभाव से परिचित हो जाये। यकीन कीजिए, इससे जीवन-मार्ग को एक नयी दिशा मिलेगी, अपने आप को जानने की और उसके प्रभाव को समझने की!

विकल्पविषयोत्तीर्ण, स्वभावालम्बन सदा ।
ज्ञानस्य परिपाको य स शम परिकीर्तित ॥१॥४१॥

अर्थ विषय विकल्प से रहित और निरन्तर शुद्ध स्वभावदशा का आलंबन लेने वाली आत्मा का ज्ञानपरिणाम ही स्वभाव है ।

विवेचन कोई विकल्प नहीं । जसे कि अशुभ विकल्प नही—'मैं धनवान बनु, म सर्वोच्च सत्ता का स्वामी बनु, सर्वशक्तिमान बनु ।' ठीक उसी तरह 'मैं दान दु, तपस्या करू, मंदिर-उपाश्रयो का निर्माण कराऊँ,' आदि विकल्प भी नही। सिर्फ एक ध्येय । वह है आत्मा के अनन्त, असीम सौन्दर्य मे ही अहर्निश रत रहने का, आकठ डूबे रहने का ।

ज्ञान का यही परिपाक है, आत्मपरिणति-स्वरुप ज्ञान का परिपाक ! यही आत्मा के विशुद्ध अनन्त गुणो से युक्त स्वरूप का परिणाम है। यही शम है, मतलब समतायोग है। जीवात्मा शम-समता की भूमिका पर तभी पहुँच सकता है, जब वह अध्यात्म-योग, भावना-योग और ध्यान-योग की आराधना से पार उतरता है। अर्थात् वह उचित वृत्तिवाला व्रतधारी बन गया हो । उसने मैत्री प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ भाव मे ओत-प्रोत बन तत्त्वचिन्तन किया हो, परिश्रमपूर्वक शास्त्र-परिशीलन किया हो और प्रतिदिन स्व-वृत्तियो का निरोध करते हुए अध्यात्म का निरन्तर अभ्यास कर, किसी एक प्रशस्त विषय मे तन्मय हो गया हो । स्थीर दीपक की तरह निश्चल एव उत्पात, व्यय और ध्रौव्य-विषयक सूक्ष्म उपयोग वाला चित्त बना सका हो । तभी वह समता-योग की प्राप्ति का अधिकारी बन सकता है ।

समतायोगी शुभ विषय के प्रति इष्ट बुद्धि नही रखता, ना ही अशुभ विषय के प्रति अनिष्ट बुद्धि । बल्कि उसकी दृष्टि मे तो शुभ और अशुभ दोनो विषय समान ही होते हैं। उसके मन मे 'यह मुझे इष्ट है और यह अनिष्ट है,' जैसा कोई विकल्प नही होता । ठीक उसी तरह 'यह पदार्थ मेरे लिये हितकारी है और वह पदार्थ अहितकारी', ऐसे विचार भी नही होते । वह तो सदा-सर्वदा आत्मा के परम शुद्ध स्वरुप मे ही डूबा रहता है ।

समतायोगी/शमपरायण जीवात्मा 'आमर्षोषधि' वगैरह का इस्तेमाल नहीं करता। केवलज्ञानावरण आदि कर्मो का क्षय करता है। वह

अपेक्षा-तंतुओं का विच्छेद-करता है। मतलब, बाह्य पदार्थ की उसे कभी अपेक्षा नही रहती। क्योंकि बाह्य पदार्थ की अपेक्षा ही बन्धन का मूल कारण है।

अनिच्छन् कर्मवैषम्यं, ब्रह्मांशेन समं जगत्।
आत्माभेदेन यः पश्येदसौ मोक्षंगमी शमी ॥२॥४२॥

अर्थ : कर्मकृत विविध भेदों को नहीं चाहता हुआ और ब्रह्मांश के द्वारा एक स्वरूप वाले जगत को आत्मा से अभिन्न देखता हुआ, ऐसा उपशम वाला जीवात्मा मोक्षगामी होता है।

विवेचन : 'यह ब्राह्मण है,....यह शुद्र है,....यह जैन है,....यह विद्वान है,....यह अशिक्षित है,....यह बदसूरत है'....आदि भेद शमरस में ओतप्रोत योगी अनुभव नही करता। वह तो निखिल ब्रह्मांड को ब्रह्मस्वरुप मानता है। चित् स्वरुप आत्मा मे अभेद भाव से देखता है।

शमरस मे लीन योगी चर्मचक्षु से ससार का अवलोकन नही करता। उसे उसका (संसार का) अवलोकन करने की आवश्यकता भी नही होती। वह तो दर्शन आत्मा के शुद्ध स्वरुप का ही करता है। आत्मा के अलावा विश्व को वह जानता ही नही।

ब्रह्म के दो अश माने जाते हैं : द्रव्य और पर्याय। योगी ब्रह्म के द्रव्यांश को परिलक्षित कर तत्त्वस्वरुप समस्त जगत का अवलोकन करता है। आत्मा की विभिन्न सांसारिक अवस्थाये पर्यायांश है। मानवता, पशुता, देवत्व, नरक, स्वर्ग, धनाढ्यता, गरीबी आदि सब आत्मा के पर्याय हैं। **पर्यायांश में भेद है, जब कि द्रव्यांश में अभेद है।** इस तरह द्रव्यास्तिक नय से किये गये दर्शन मे राग का कोई स्थान नही हैं, ना ही द्वेष, ईर्ष्या-मत्सरादि वृत्तियो का/राग-द्वेष की कंटीली परिधियो से उपर उठकर शमरस-सरोवर मे गोते लगाता योगी, अल्पावधि मे ही मोक्ष पाता है।

श्री 'भगवद् गीता' मे कहा है कि :

विद्याविवेकसंपन्ने, ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः ॥अ.५. श्लोक १८॥

समदर्शी योगीजन विद्या-विवेकसपन्न ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ते और चाडाल मे कोई भेद नही करते । बल्कि वे इन सब मे समान रुप मे स्थित आत्मद्रव्य को ही परिलक्षित करते हैं। उनके मन मे न तो किसी ब्राह्मण के प्रति प्रीतिभाव होता है, ना ही किसी चाडाल के प्रति घृणा। ना ही गाय के प्रति दया भाव होता है, ना ही कुत्ते के लिये द्वेष-भाव । जीवात्मा के दृष्टिकोण मे जहाँ 'पर्याय' प्रधान बन जाता है, वहाँ विषमता दबे पाँव आ ही जाती है । और फिर वह अकेली नही आती, बल्कि अपने साथ राग-द्वेष, मत्सरादि को भी ले आती है।

आरुरुक्षुमु नियोग, श्रयेद् बाह्यक्रियामपि ।
योगारुढ शमादेव, शुध्यत्यन्तग तक्रिय ॥३॥४३॥

अर्थ : समाधि लगाने का इच्छुक साधु बाह्याचार का भी सेवन करे अभ्यन्तर क्रियाओ से युक्त योगारुढ योगी समभाव से शुद्ध होता है ।

विवेचन जिस आत्मा के अन्तर मे समाधियोग ग्रहण करने की भावना पैदा हुई हो, वह प्रीति अनुष्ठान, भक्ति अनुष्ठान और वचनानुष्ठान द्वारा अपने मे रहे अशुभ सकल्प विकल्पो को दूर कर, शुभ सकल्पमय आराधक-भाव से सिद्धि प्राप्त करता है ।

परमात्म-भक्ति, प्रतिक्रमण, शास्त्र-पठन, प्रतिलेखन आदि परमात्म-दर्शित नानाविध क्रिया-कलापो में जीवात्मा को न जाने कैसा स्वर्गीय आनन्द मिलता है ! हिमालय की उत्तु ग पर्वत-श्रेणियो पर विजय पाने का पर्वतारोहको मे रहा अदम्य उत्साह, 'एवरेस्ट' आरोहण की सूक्ष्मता-पूर्वक की गयी भारी तैयारियाँ, आरोहण के लिये आवश्यक साज-सामान इकट्ठा करने की सावधानी ! इन सबमे महत्त्वपूर्ण है एक मात्र, 'एवरेस्ट'-आरोहण की प्रवृत्ति ! मन मे जगी तीव्र लालसा ! इसमे हमे कौन सी बात के दर्शन होते हैं ? कौनसी प्रवृत्ति देखने को नही मिलती ? ठीक यही बात यहाँ भी है। समाधियोग के उत्तु ग शिखर पर आरोहण करने उत्तेजित साधक आत्मा का उल्लास, अनुष्ठानो के प्रति परम प्रीति, उत्कट भक्ति एव पौद्गलिक क्रीडा को तजकर सिर्फ 'समाधियोग' के शिखर पर चढ़ने की तीव्र प्रवृत्ति आदि होना सहज है । साथ ही धर्मग्रन्थो मे दिग्दर्शित मार्ग का अनुसरण करने के उसके सारे प्रयत्न भी स्वाभाविक ही हैं । परम आराध्य तार्किक शिरोमणि उपाध्यायजी महाराज ने भी 'योगविंशिका' मे 'वचनानुष्ठान' की व्याख्या इस तरह की

है, 'शास्त्रार्थ-प्रतिसंधानपूर्वा साधोः सर्वत्रोचितप्रवृत्तिः ।' क्या एवरेस्ट-आरोहक, आरोहण-गाइड का शत प्रतिशत अनुसरण नही करते ? अपनी प्रवृत्ति मे क्रियाशील नही रहते ? प्रवृत्ति करते हुए आनंदित नही होते ? गाईड (मार्गदर्शक) के प्रति उनके मन मे प्रीतिभाव और भक्ति नही होती ? यही बात समाधि-शिखर के आरोहक के लिये भी अत्यन्त आवश्यक है ।

समाधि शिखर के विजेता बनते ही मुनिजन/योगी महापुरुष अन्तरग क्रियायुक्त बनता है। वह उपशम द्वारा ही विशुद्ध बनता है। तब उसे 'असग अनुष्ठान' की भूमिका प्राप्त होती है । जिसे सांख्य दर्शन मे 'प्रशांत वाहिता,' बौद्ध दर्शन मे 'विसभागपरिक्षय' शैवदर्शन मे 'शिववर्त्म' और जैनदर्शन मे 'असग अनुष्ठान' की संज्ञा दी गयी है। इसे सपन्न करने के लिये शास्त्र के आधार की आवश्यकता नही होती। बल्कि जिस तरह चन्दन मे सौरभ मिली है, उसी तरह उनमें (मुनि/योगी मे) अनुष्ठान आत्मसात् होता है और वह अनुष्ठान जिनकल्पी महात्मा वगैरह मे सदा-सर्वदा होता है ।

ध्यानवृष्टेर्दयानद्याः शमपूरे प्रसर्पति ।
विकारतीरवृक्षाणां, मूलादुन्मूलनं भवेत् ॥५॥४॥

अर्थ : ध्यान रूपी सतत वृष्टि से दया रूपी सरिता मे जब उपशम रूपी उत्ताल तरंगें उछलने लगती है, तब तट पर रहे विकार-वृक्ष जड़-मूल से उखड जाते हैं

विवेचन : गगा-यमुना अथवा ब्रह्मपुत्रा नदी मे आयी प्रलयकारी बाढ को देखने का कभी मौका मिला है ? तट पर लहराते-इठलाते उन्नत वृक्षो को क्षणार्द्ध मे बाढ का भोग बन, धराशायी होते देखा है ? दया-करूणा की सिंधु सदृश सरयु में जब शमजल की प्रलयंकारी बाढ आती है, तब अनादि काल से तट पर रहे फलते-फूलते भौतिक/पौद्गलिक विषय-वासना के गर्वोन्नत वृक्ष, गगनभेदी आवाज के साथ ढहते देर नही लगती ।

लेकिन किसी सरिता मे बाढ कब आती है ? जब निरन्तर मूसलाधार बारिश होती है । ठीक उसी भाँति आत्मप्रदेश पर दया की नदी मंथर गति से बहती हो और तिस पर अविरत रूप से धर्म-ध्यान की

वृष्टि भी होती हो, तब शमरस की बाढ आते देर नही लगती। और बाढ के प्रबल प्रवाह मे वासना के वृक्ष उखडते विलब नही लगता।

जब करुणा की/जीवदया की नदी मे शमरस रूपी बाढ आती है, तब सब प्रथम जीवात्मा के मन मे प्राणी मात्र के लिये 'सव्वे जीवा न हतव्वा'–'ससार के सभी जीवो की हत्या नही करनी चाहिये, किसी तरह की पीडा नही पहुँचानी चाहिये', ऐसी करुणा प्रकट होनी चाहिये। करुणा के साथ–साथ ध्यान धारा का प्रवाहित होना भी जरुरी है।

मतलब, तीसरा ध्यान–योग है, जिसका अनुसरण जीवात्मा के लिये अत्यत जरूरी है। 'ध्यान स्थिरोऽध्यवसाय' 'श्री ध्यान विचार' ग्रथ मे, स्थिर अध्यवसाय को 'ध्यान' कहा गया है। आर्त–रौद्र यह द्रव्यध्यान है, जब कि आज्ञा विचय, अपाय विचय विपाक विचय और सस्थान विचय रुपी धर्मध्यान भावध्यान है। 'पृथक्त्व वितर्क सविचार' रूपी शुक्लध्यान का पहला भेद 'परमध्यान' है। परम आदरणीय श्री मलयगिरि महाराज ने श्री आवश्यक सूत्र मे धर्मध्यानी के निम्नाकित लक्षणो का वर्णन किया है

> सुविदियजगस्सभावो निस्सगो निब्भओ निरासो अ।
> वेरग्गभावियमणो भाणम्मि सुनिच्चलो होइ॥

जो जगत–स्वभाव से परिचित है, निर्लिप्त है, निर्भय है, स्पृहा-रहित है और वैराग्य भावना से ओतप्रोत है वही आत्मा ध्यान मे निश्चल/तल्लीन रह सकती है।' ऐसी महान आत्मा जिस वेग से धर्म-ध्यान की ओर अग्रसर होती जाती है, उसी अनुपात मे उसके हृदय-वारिधि मे उपशम–तरग उठती जाती है शमरस की प्रलयकारी बाढ आती है। और विकार-वासना के वृक्ष आनन फानन मे धराशायी हो जाते हैं।

> ज्ञान ध्यान तप शील-सम्यक्त्वसहितोऽप्यहो।
> त नाप्नोति गुण साधुयमाप्नोति शमान्वित ॥५॥४५॥

अर्थ जो गुण, ज्ञान-ध्यान तप शील और समकितधारी साधु भी प्राप्त नही कर सकता, वह गुण समयुक्त साधु आसानी से प्राप्त कर लेता है।

विवेचन – भले ही नौ तत्त्वो का बोध हो किसी एक प्रशस्त विषय मे सजातीय परिणाम की धारा प्रवाहित हो, अनादिकालीन अप्रशस्त

विषय-वासनाओं के निरोध स्वरूप उग्र तपश्चर्या हो, नौ प्रकार के ब्रह्मचर्य का पालन हो, जिन-प्रणीत वचन और सिद्धान्तों के प्रति अटूट श्रद्धा हो, फिर भी यदि जीवात्मा के जीवन मे 'शम' के लिये स्थान नही है, उस मे समता नामक वस्तु का नामोनिशान नही है, समस्त विश्व को द्रव्यास्तिक नय से राग-द्वेषरहित पूर्ण चैतन्यस्वरूप समझने की कला का अभाव है, दृष्टि नही है, तो सब व्यर्थ है। इससे आत्मा का विशुद्ध अनन्त असीम ज्ञानमय स्वरुप प्रकट नही होता। उसे समग्र दृष्टि से पूर्णत्व प्राप्त नही होता।

भगवान उमास्वाति ने श्री 'प्रशमरति' मे कहा है-....

सम्यग्दृष्टिर्ज्ञानी विरतितपोबलयुतोऽप्यनुपशान्तः ।
तं न लभते गुणं यं प्रशमगुणमुपाश्रितो लभते ॥२४३॥

जो स्वयं समकितधारी होते हुए भी अन्यो को मिथ्यात्वी समझता है, खुद ज्ञानी होते हुए भी दूसरों को मूर्ख समझता है, स्वयं श्रावक या श्रमण होते हुए दूसरो को मोहान्ध मानता है, तपस्वी होते हुए दूसरो को तपस्वी नही समझता और उनके प्रति धिक्कार की दृष्टि से देखता है, ऐसे मनुष्य का चित्त क्रोध, मान, माया और स्पृहा से आकंठ भरा होता है। वह केवलज्ञान से कोसों दूर होता है।

चार-चार माह के निर्जल-निराहरा उपवास की घोर तपश्चर्या के बावजूद चार मुनियो ने संवत्सरी के दिन खाने वाले 'कुरगडु-मुनि' के प्रति घृणा-भाव प्रकट किया, अनुपशान्त बने....परिणाम यह हुआ कि केवलज्ञान की मजिल उनसे दूर होती चली गयी। जब कि उपशम-रूपी शान्त जलाशय मे गोते लगाते 'कुरगडु मुनि' केवलज्ञान के अधिकारी बन गये।

लगातार अविश्रान्त तपश्चर्या करनेवाले और बीहड जगल मे नानाविध कष्ट-अनिष्टो का समतापूर्वक सामना करने वाले बाहुबली मे किस ज्ञान की कमी थी? क्या धर्मध्यान नही था? क्या वे तप अथवा शील से युक्त न थे? उनमे सब कुछ था। न थी तो सिर्फ उपशमवृत्ति। उपशमरस का उनमे अभाव था। फलत: केवलज्ञान की ज्योति प्रज्वलित न हुई। लेकिन उपशम-वृत्ति का प्रादुर्भाव होते ही केवल-ज्ञान-प्रद्योत प्रकट होते विलब न लगा।

स्वयम्भूरमणस्पर्द्धि वर्धिष्णुसमतारसः ।
मुनिर्येनोपमीयेत, कोऽपि नासौ चराचरे ।।६।।४६।।

अर्थ स्वयंभूरमण समुद्र की स्पर्धा करने वाला और जो निरंतर वृद्धिगत होती समता से युक्त है, ऐसा मुनिश्रेष्ठ की तुलना इस चराचर जगत में किसी के साथ नहीं की जाती है।

विवेचन – चराचर सृष्टि में ऐसा कोई जड–चेतन पदार्थ नहीं है, जिसकी तुलना समता योगी के साथ की जा सके। समता–योगी के आत्मप्रदेश पर समतारस का जो महोदधि हिलोरे ले रहा है, वह 'स्वयंभूरमण' नामक विराट, अथाह वारिधि के साथ निरंतर स्पर्धा करता रहता है। समता-महोदधि का विस्तार अनन्त अपार है, जब कि उसकी गहराई भी असीम अथाह! तब भला स्वयंभूरमण समुद्र उसकी तुलना में कैसा होगा?

साथ ही, समता महोदधि अविरत रूप से वृद्धिगत होता रहता है। इसी तरह ज्यों-ज्यों समतारस में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है, त्यों-त्यों मुनि अगम-अगोचर सुखप्रदायी कैवल्यश्री के सन्निकट गतिशील होता जाता है। वह इस पार्थिव विश्व में रहते हुए स्वच्छन्दतापूर्वक मोक्ष-सुख का आस्वाद लेता रहता है।

जो निजानन्द में आकंठ डूब गया, परवस्तुओं के लिए अंधा, बहरा और गूंगा हो गया, मद-मदन-मोह-मत्सर रोष-लोभ और विषाद का जो विजेता बन गया, एक मात्र अव्याबाध अनन्त सुख का अभिलाषी बन गया, ऐसे जीवात्मा को भला, इस दुनिया में क्या उपमा दी जाय? ऐसे मुनिश्रेष्ठ के लिये यहाँ ही मोक्ष है। श्री 'प्रशमरति' में ठीक ही कहा है:

निर्जितमदमदनानां वाक्कायमनोविकाररहितानाम् ।
विनिवृत्तपराशानामिहैव मोक्षः सुविहितानाम् ।।२३८।।

'जो जीवात्मा मद मदन से अजेय है, मन-वचन काया के विकारों से रहित है और पर की आशा से विनिवृत्त है, उसके लिए इस सृष्टि पर ही मोक्ष है।' तात्पर्य यह है कि समतारस के स्रोत में स्नानित हो, स्वर्गीय आनन्द का आस्वाद का अनुभव करने और मद मदनादि जेता बनने के लिये घोर पुरुषार्थ करना चाहिये। मन वचन काया के समस्त अशुभ

विकारों को तिलांजलि देनी चाहिये। साथ ही, पर-पदार्थ की स्पृहा से पूर्णरूपेण निवृत्त होना चाहिये। परिणामस्वरुप, मानव इसी जीवन में मोक्ष-सुख का अधिकारी बन सकता है!

शमसूक्तसुधासिक्तं येषां नक्तं दिनं मनः।
कदाऽपि ते न दह्यन्ते, रागोरगविषोर्मिभिः ७॥४७॥

अर्थ : शम के सुभाषित रूपी अमृत से जिसका मन रात-दिन सिंचित है, वह राग-रूपी सर्प की विषैली फुत्कार से दग्ध नहीं होते। [नहीं जलते]

विवेचन :– शमरस से युक्त विविध शास्त्र–ग्रन्थ, धर्मकथा और सुभाषितों से जिसकी आत्मा सिंचित है, उसमे भूलकर भी कभी राग-फणिधर की विषैली लहर फैल नही सकती। जो नित्य प्रति उपशम से भरपूर ऐसे ग्रन्थो का अध्ययन–मनन करता हो, उसके मन मे पार्थिव / भौतिक विषयों के प्रति आसक्ति, रति और स्नेह की विह्वलता उभर नही सकती। महमुनि स्थूलिभद्रजी के समक्ष एक ही कक्ष और एकान्त में नगरवधु कोशा सोलह सिंगार सज, नृत्य करती रही। अपने नयन-बाण और कमनीय काया की भाव-भंगिमा से रिझाती रही। लेकिन स्थूलिभद्रजी क्षणार्ध के लिये भी विचलित नही हुए, बल्कि अन्त तक ध्यान-योग मे अटल-अचल-अडिग रहे। यह भला कैसे संभव हुआ ? केवल उपशमरस से युक्त शास्त्र-परिशीलन मे उनकी तल्लीनता के कारण! महीनो तक षड्रसयुक्त भोजन ग्रहण करने के उपरान्त भी उन्हे मद-मदन का एक भी बाण भेद नही सका। भला किस कारण ? वह इसलिए कि उनके हाथ और मुँह खाने का काम कर रहे थे, लेकिन मन-मस्तिष्क समता-योग के सागर मे गोते जो लगा रहा था!

इन्द्रियाँ जब अपने-अपने विषयो मे व्यापृत रहती है, तब उसमे मन नही जुडे और उपशमरस की परिभावना मे लीन रहे, तो सब काम सुलभ बन जाएगा। राग-द्वेष तुम्हारा बाल भी बाँका नही कर सकेंगे। अत: हमे सर्वप्रथम अपने मन को, उपशमपोषक धर्मग्रंथो के अध्ययन-मनन और बार-बार उसके परिशीलन मे जोड़ना चाहिए। ठीक इस बीच, इन्द्रियो को अतिप्रिय हो ऐसे विषय-विकारो से उसका सम्पर्क तोड देना चाहिए। भले फिर जोर-जबरदस्ती क्यो न करनी पडे! क्योकि पीछेहट

करना विनिपात को न्योता देना होगा । जब आत्मा अलिप्त बन जाती है, तब हर बात सभव और सुगम होती है । इस तरह ससग के टूट जाने से और उपशमपोषक ग्रथो के निरतर पठन-पाठन से उपशमरस की बाढ आते देर नही लगेगी और जीवात्मा उसमे गोते लगायेगी । तत्पश्चात् आवश्यकतानुसार जो विषय-सपर्क रखेंगे, उसमे राग-द्वेष का कुछ नही चलेगा, बल्कि उत्तरोत्तर उसका क्षय होता जाएगा ।

राग व खेल मे भी समता का आभास मिलता है, लेकिन देखना कि उसके जाल मे कहीं फँस न जाओ ! क्योकि वह समता नही है, बल्कि सिर्फ समताभास है । आमतौर पर बाह्य पदार्थों की अनुकुलता मे मानव शान्ति और समता समझ लेने की गभीर भूल कर बैठता है । जबकि वह समता कृत्रिम होती है, उसे भग होते देर नही लगती ।

गजज्ज्ञानगजोत्तु गरगद्ध्यानतुरगमा ।
जयन्ति मुनिराजस्य, शमसाम्राज्यसपद ॥८॥४८॥

अर्थ जहाँ गर्जन करते ज्ञान रूपी गजराज और इठलाते इतराते ध्यान रूपी अश्वो की भरमार है, ऐसे मुनिरूप नरेश के शमरूप साम्राज्य मे सदा सर्वदा सुख शान्ति और सपदा की जयपताका निरन्तर फहराती रहती है ।

विवेचन 'मुनिराजा' । कैसा सुन्दर नाम है ! कर्णप्रिय और परम मनोहर । उनके विशाल साम्राज्य का कभी अवलोकन/दर्शन किया है ? अरे, शम उपशम समता ही तो उनका नयनरम्य, परम मनोहर विशाल साम्राज्य है ! वे बडी सावधानी से उसका सचालन और सरक्षण करते है । उसकी सीमा पर ऐसी तो कडी सुरक्षा-व्यवस्था है कि राग-द्वेष जसे महाविकराल शत्रु लाख प्रयत्नों के बावजूद भी उसे भग नही कर सकते । ऐसी इनकी जबरदस्त धाक और बडा दबदबा है ।

जसा उनके नाम का प्रभाव है वैसा उनका शस्त्रभडार और सेनाये भी जबरदस्त अतुल बलशाली हैं । उनके पास दो प्रकार की सेनाये हैं हयदल और अश्वदल । इन पर वे पूर्ण रूप से आश्रित है और मुस्ताक भी । ज्ञान उनका हयदल है और ध्यान उनका अश्वदल । ज्ञान रूपी हयदल की दिगत व्यापी गर्जना और ध्यान रूपी अश्वदल की हिनहिनाहट के बल पर उनके सपूर्ण साम्राज्य मे परम शान्ति, सुख-

समृद्धि और संपदा की रेलपेल है। शम–साम्राज्य की विजयपताका आकाश में उन्नत हो सदैव लहराती रहती है।

मुनिजीवन का न जाने कैसा सुरम्य, सुन्दर चित्र परम श्रद्धेय उपाध्यायजी महाराज ने हमारे सामने प्रस्तुत किया है कि बरबस मन मुग्ध हो उठता है। मुनि का उन्होंने राजसिंहासन पर अभिषेक कर 'मुनिराजा का साम्राज्य सदा-सर्वदा विजयवंत हो!' की ललकार लगायी है। तब स्नेहस्निग्ध भाव से दबे स्वर में उन्हें अजरामर संदेश दिया है "मुनिराज! अब तुम राजा बन गये हो! अपने उपशम-साम्राज्य के एकमेव बलशाली, शक्तिशाली सम्राट! सावधानी के साथ इसका संचालन और संरक्षण करना, इसमें जरा भी भूल न हो जाए।" और जब मुनिराज को परेशान, उद्विग्न-मन, घबराते देखते हैं, तब अपने मुख पर मधुर मुस्कान लाकर कहते हैं: "मेरे राजा! इस तरह घबराने से, परेशान होने से काम नहीं चलेगा। तुम्हारे पास सर्व शक्तिशाली सेनायें और अक्षय शस्त्रभंडार है। फिर भय और उद्विग्नता किस बात की? तुम हयदल और अश्वदल/ज्ञान और ध्यान के एकमात्र अधिपति हो, शक्तिमान संचालक! हयदल की गगनभेदी चिंघाड़ से समस्त शत्रुओं के....राग-द्वेष के छक्के छूट जायेंगे और तब अभेद्य मोर्चाबन्दी को भेदकर वे एक कदम भी आगे बढ़ नहीं पायेंगे—फलतः अश्वदल के उत्तुंग अश्वों पर आरूढ़ हो, निश्चिन्त बन क्रीड़ा करते रहना।"

समतायोग की रक्षा मुनिश्रेष्ठ ज्ञान-ध्यान के बल पर सरलता से कर सकते हैं और ज्ञान-ध्यान के माध्यम से ही योगीजन समतायोग की भूमिका निभा सकते हैं।

७ इन्द्रिय-जय

यह एक ऐसा भयस्थान है, जहाँ जीवात्मा के लिये सदैव सावधान/सचेत रहना आवश्यक है।

जहा निर्मोही-भाव शिथिल बन जाता है और क्षणार्ध के लिये शम-सरोवर मे से जीवात्मा बाहर निकल आता है, वहाँ इन्द्रियाँ बरबस अपने प्रिय विषय के प्रति आकर्षित हो जाती हैं। जीव पर मोह और अज्ञान अपना मायावी जाल बिछाने लगता है।

सावधान। जब तक तुम शरीरधारी हो, तब तक तुम्हारी इन्द्रियाँ विषय-वासनादि विकारो के सपर्क मे आती रहेगी। ऐसी दुर्भर स्थिति मे क्या तुम निर्मोही और ज्ञानी बने रह सकोगे? शम की सपत्ति को सम्हाल सकोगे? उसकी रक्षा कर सकोगे?

उसके लिये तुम्हे इस अष्टक के एक-एक श्लोक पर निरतर चिन्तन-मनन करना चाहिये। इससे तुम्हे इन्द्रिय-विजय की अमोघ शक्ति और समुचित मार्गदर्शन मिलेगा।

बिभेषि यदि संसारान्मोक्षप्राप्तिं च काङ्क्षसि।
तदेन्द्रियजयं कर्तुं, स्फोरय स्फारपौरुषम् ॥१॥४६॥

अर्थ : यदि तू ससार से भयभीत है और मोक्ष-प्राप्ति चाहता है, तो अपनी इन्द्रियो पर विजय पाने के लिये प्रखर पराक्रम का विकास कर।

विवेचन : वाकई तुम ससार से भयक्रान्त हो, भयभीत हो? चार गति मे होती जीव मात्र की घोर विडबनाओ से त्रस्त हो, परेशान हो? ससार के नानाविध मोहसबंध करके अजीब घुटन महसूस हो रही है? विषय-विवशता और कषाय पराधीनता में तुम्हे अपना विनिपात नजर आ रहा है? तुम ऐसे भयावने ससार से मुक्त होना चाहते हो? लेकिन यों मुक्त होने की नीरी भावना से क्या होगा? तुम्हारे मे उसकी वासना पैदा होनी चाहिये। तब काम बनेगा। पिजडे मे बन्द सिंह की, उससे मुक्त होने की वासना तुमने देखी होगी और साथ ही उसकी तडप और प्रयत्नों की पराकाष्ठा भी?

ससार के बधनों से मुक्त होकर तुम मोक्ष जाना चाहते हो? मोक्ष की अन्तहीन स्वतंत्रता चाहते हो? उसकी अनंत गुण-समृद्धि के अधिकारी बनना चाहते हो? उसका अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन पाने की तीव्र लालसा तुम मे है? तब तुम्हे एक पुरुषार्थ करना होगा. . महापुरुषार्थ का बिगुल बजाना होगा। भाग्य के भरोसे नही रह सकते। काल का बहाना करने मे काम नही चलेगा। भावी के कल्पनालोक मे खो जाने से नही चलेगा। बल्कि भगीरथ पुरुषार्थ और पराक्रम करने से ही सभव है। मन-वचन-काया से उसमे जुट जाना होगा। 'आराम हराम है—सूक्ति को जीवन मे कार्यान्वित करना होगा। तभी संभव है।

तुम्हे अपनी पाँच इन्द्रियो को वशीभूत करना होगा। उन पर विजय पानी होगी। शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श की लोलुप इन्द्रियो को नियंत्रित करना होगा। अमर्यादित इच्छाओं का निग्रह करना पडेगा। शब्द, रूप, रसादि की जो भी इच्छाये पैदा हो, उनकी पूर्ति न करो। उन्हें पूरी नही करने का मन ही मन दृढ सकल्प करो। और यदि यह सब करते हुए असंख्य दु.खों का सामना करना पड़े, तो हँसते हुए सहना सीखो। दु.ख-दर्द सहने की आत्म-शक्ति को विकसित करो।

शब्द, रूप, रस, गध और स्पर्शजन्य सुखो का उपभोग करने की, उनके माध्यम से आमोद-प्रमोद प्राप्त करने की वर्षों पुरानी आदत का उच्चाटन करने की निश्चित योजना बनाकर तप-त्याग ज्ञान भक्ति आदि के पुरुषार्थ मे लग जाओ। नये सिरे से अपने जीवन मे उसका आरभ कर दो।

ससार त्याग और मोक्ष प्राप्ति के लिये इन्द्रिय-विजय का अभियान सर्वथा अनिवार्य है।

> वृद्धास्तृष्णाजलापूर्णरालवालैः किलेन्द्रियैः ।
> मूर्च्छामतुच्छां यच्छन्ति, विकारविषपादपाः ॥२॥७०॥

अर्थ लालसा रूपी जल से लबालब भरी इन्द्रिय रूपी क्यारियो से फले-फूले विषय-विकार रूपी विषवृक्ष, जीवात्मा को तीव्र मोह-मूर्च्छा देते हैं।

विवेचन इन्द्रिया खेत की क्यारियो जैसी हैं। उनमे लालसा और विषय-स्पृहा का जल लबालब भरा जाता है। साथ ही इन क्यारियो मे बीज-स्वरूप पड़े विषय विकार पनपते रहते हैं और कालान्तर से वटवृक्ष का रूप धारण कर लेते हैं। विकार-विकल्प के इन विषवृक्षो की घटाओ की लपट मे जो जीव आ जाता है, वह विवश बन उनके अभेद्य बन्धनों मे फँस जाता है और मोहवश अपने होश खो बैठता है।

जब कि क्यारी मे बीज भले ही पडा हो, लेकिन अगर उसे सीचा न जाए अथवा पानी न दिया जाय, तो वह फलता-फूलता नहीं, अकुरित नही होता। फिर वृक्षरूप मे प्रकट होने का सवाल ही नहीं रहता। जीवात्मा पाँच इन्द्रिय और मन लेकर जन्म धारण करता है। तब से ही उसकी इन्द्रियरूपी क्यारियो मे मनोघट से विषय-स्पृहा का जल सिंचन अविरत रूप से होता ही रहता है। फलत जैसे-जैसे वह बडा होता जाता है, वैसे वैसे इन्द्रियो की क्यारियो मे विषय वासना का पौधा अकुरित होता रहता है और जब तक वह यौवनावस्था को पहुँचता है, तब विषय-पौधा भी घटादार वृक्ष का रूप धारण कर लेता है। जीव इसी विषय विकार के घटादार वृक्ष की घनी छाया मे सुस्ताता रहता है। मोह का गाढा जादू उस पर सवार हो जाता है। उसका चित्त भ्रमित होता जाता है और मन मायाजाल मे उलझकर मूर्च्छित बन जाता है। अपने होश गँवा बैठता है, अट शट बकता रहता है।

उसमे मर्कट–चेष्टाओ का सचार होता है और वह पराधीन वन स सार के बाजार मे इधर-उधर भटकता रहता है ।

जीव जिस अनुपात से इच्छित विषयो का खाद्य देकर अपनी इन्द्रियो का पोषण करता रहता है, उसी गति से आत्मा मे दुष्ट, मलीन और निकृष्ट विकार अबाध रूप मे परिपुष्ट होते रहते है । जीवात्मा पर मोह-मूर्च्छा का शिकंजा कस जाता है । परिणाम स्वरूप वह मन-वचन काया से विवेकभ्रष्ट वन असीम दु ख और अपार अशान्ति का शिकार वन जाता है । तव इस दु ख और अशान्ति को दूर करने के लिए किसी जुआरी की तरह दुबारा दाव लगाता है । फिर से इन्द्रियो को खुश करने का भरसक प्रयत्न करता है । लेकिन आखिर में परिणाम शून्य ही आता है । उसकी हर कोशिश बेकार सिद्ध होती है और आन्तरिक दु'ख अशान्ति घटने के बजाय उसमे उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है । परिणाम यह होता है कि दारुण दु.ख और घोर अशान्ति के प्रहार सहन न कर पाने के कारण मृत्यु-भाजन वन जाता है । नाना प्रकार की दुर्गतियो मे फँस कर नरक के गहरे कुँए मे धकेल दिया जाता है ।

अत. जीसको विकारो के विष वृक्ष से अपने आप को बचाना हो, उसे विषय लालसा और विकारो को पुष्ट करने की वृत्ति पर रोक लगानी चाहिए । और मन ही मन दृढ सकल्प धारण कर, विपय-पोषण के बजाय जीवन के लिये परम सन्जीवनीस्वरूप सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक् चारित्र को पुष्ट करने की प्रवृत्ति मे दत्तचित्त होना चाहिए।

सरित्सहस्रदुष्पूरसमुद्रोदरसोदर. ।
तृप्तिमान्नेन्द्रियग्रामो, भव तृप्तोऽन्तरात्मना ।।३।।५१।।

अर्थ यह जानकर कि असख्य नदियो के द्वारा भी समुद्र के उदर समान इन्द्रिय-समूह को तृप्त नही कर सकते, हे वत्स ! अन्तरात्मा से सम्यक् श्रद्धा का मार्ग अपनाकर अपने आप को तृप्त कर ।

विवेचन गगा-यमुना और ब्रह्मपुत्रा जैसी असख्य नदियाँ निरन्तर समुद्र के उदर मे समाती रहती हैं, अपनी अथाह जलराशि उडेलती है । फिर भी समुद्र कभी तृप्त हुआ ? उसने अनमने भाव से नदियो को क्या कह दिया कि—"बस हो गया, तुमने मुझे तृप्त कर दिया । अब तुम्हारी जरूरत नही है ।" मतलब, वह तृप्त नही हुआ और ना

ही अन्त समय तक होगा। क्योंकि तृप्त होना उसका मूल स्वभाव ही नहीं है। ठीक इसी तरह पाँचो इन्द्रियों के स्वभाव में भी सन्तुष्ट होने जैसी बात नहीं है।

इन्द्रियों का उदर भी सागर की गहराई जैसा अतल और गहरा है। अनन्तकाल से, जीव अपनी इन्द्रियों को तृप्त करने के लिये पौद्गलिक विषयों का भोग देता आया है, लेकिन उन्होंने उसे ग्रहण करने में कभी इन्कार नहीं किया। जरा वर्तमान जीवन की तरफ तो दृष्टिपात करो। अभी पिछले महीने ही उसे तृप्त करने के लिये क्या तुमने मनोहर शब्द, अनुपम रूप, स्वादिष्ट भोजन (रस) लुभावनी महक (गंध) और मृदु/कोमल स्पर्श का भोग नहीं चटाया? फिर भी वह तो सदा सर्वदा के लिये भूखी जो ठहरी! उसका उस पर कोई असर न हुआ। इस माह दुबारा क्षुधा शान्ति के लिये उसकी वही माँग, वही भूख और वही अतृप्ति। पिछले दिन, पिछले माह और पिछले वर्ष जैसी अतृप्ति थी, भूख थी, वैसी ही आज भी है। उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ, बल्कि विगत की तरह आज भी उनकी वही अवस्था है। इसका कारण उनका मूल स्वभाव है। तृप्त होना तो उन्होंने स्वप्न में भी नहीं सीखा। जैसे जैसे उनको अनुकूल वातावरण मिलता जाता है, वैसे-वैसे वे अनुकूल विषयों की अधिकाधिक स्पृहा करती रहती हैं। क्षणिक तृप्ति की टेकरी/टीले में अतृप्ति का खदखदाता लावा-रस भरा हुआ रहता है।

वाकई क्या तृप्त होना है? ऐसी तृप्ति की गरज है कि दुबारा गरम लावारस का भोग न बनना पड़े? तब तुम दृढ़ निश्चयी बन अपनी इन्द्रियों को विषय खाद्य की पूर्ति कर तृप्त करने के बजाय, अन्तरात्मा द्वारा तृप्त करने का प्रयोग कर देखो। सम्यग् विवेक के माध्यम से अप्रशस्त विषयों से इन्द्रियों को अलग कर उन्हें देव गुरु धर्म की आराधना में संलग्न कर दो। देव गुरु के दर्शन, सम्यक् ग्रंथों का श्रवण, परमात्म-पूजन और महापुरुषों के गुणानुवाद में अपनी इन्द्रियों को लगा दो, तन्मय कर दो। दीर्घकाल तक सत् कार्यों में जुड़े रहने से उनमें परिवर्तन आते देर नहीं लगेगी और तब एक क्षण ऐसा आयेगा कि वे परम तृप्ति का अनुभव अवश्य करेंगी।

आत्मानं विषयैः पाशैर्भववासपराङ्मुखम् ।
इन्द्रियाणि निबध्नन्ति, मोहराजस्य किंकरा. ॥४॥५२॥

अर्थ मोह राजा की दास इन्द्रियाँ सांसारिक क्रिया-कलापों से सर्वथा उद्विग्न बने आत्मा को विषय रूपी बंधनो मे जकड रखती है।

विवेचन इन्द्रियो को कोई सामान्य वस्तु समझने की गलती न कर बैठना। वे दिखने मे भले ही सीधी-सादी, भोली लगती हो, लेकिन अपने आप मे असामान्य है। वे तुम्हारी भक्त नही है, सरल नहीं हैं, बल्कि मोहराजा की अनन्य आज्ञांकित सेविकाये हैं। मोहराजा ने अपनी इन स्वामी-निष्ठ सेविकाओ के माध्यम मे अनत जीवराशि पर अपना साम्राज्य फैला रखा है।

जो जीवात्मा ससारवास से, मोहराजा के अटूट बन्धन से त्रस्त होकर धर्मराजा की ओर आगे बढ़ता है, उसे ये बीच में ही रोक लेती है और पुनः मोह के साम्राज्य मे खीच लाती हैं। वे अपने जादुई-पाश मे जीव को ऐसी तो कुशलता से गुमराह कर देती है कि जीव को कतई पता नही लगता कि वह इन्द्रियो के जादुई पाश मे बुरी तरह से फँस गया है। अन्त तक वह इसी भ्रम में होता है कि 'वह धर्म-राजा के साम्राज्य मे है।'

विषयाभिलाष—यह इन्द्रियो का जादुई पाश है, अनोखा जाल है। इन्द्रियाँ जीव से विषयाभिलाष कराती हैं, उसे नाना तरह से समझा-बुझाकर विषयाभिलाष करने प्रेरित करती है। 'स्वास्थ्य अच्छा होगा, तो धर्मध्यान अच्छी तरह कर पाएगा। अत. अपने स्वास्थ्य और शरीर का बराबर खयाल कर!' पागल जीव उसकी चिकनी-चुपडी बातो मे आ जाता है और शरीर-सवर्धन के लिये बाह्य-पदार्थों की निरन्तर स्पृहा करने लगता है। 'तुम्हारे तपस्वी होने से क्या हो जाता है? यदि पारणे मे घी, दूध, सूखा मेवा, मिष्टान्नो का उपयोग नही करोगे तो ठीक से तपस्या नही कर पाओगे।' भोला मन इन्द्रियो की इस सलाह के बहकावे में आ जाता है और वह रसना का अभिलाषी बन जाता है। 'तुम ज्ञानी हो इससे क्या? स्वच्छ वस्त्र परिधान करो। शरीर को निर्मल रखो। घोर तपस्या न करो। इससे दुनिया मे तुम्हारी धाक जमेगी, सर्वत्र बोलबाला होगा।' सरल प्रकृति के जीव

को इन्द्रिय की यह सलाह सहज ही पसन्द आ जाती है और वह विषयों की स्पृहा में तन्मय बन जाता है।

इस तरह जीवात्मा मोह के बन्धनों में जकड़ जाता है। फलत बाह्य-रूप से धर्म-क्रिया में सदा तत्पर हो, लेकिन आन्तरिक रूप से मोह माया के जंगल में भटक जाता है। अत संसार में मुक्ति चाहने वाली आत्मा को हमेशा इन्द्रियों के विषय-पाश में काफी सचेत रहना चाहिये।

> गिरिमृत्स्ना धनं पश्यन्, धावतीन्द्रियमोहित ।
> अनादिनिधनं ज्ञानं धनं पार्श्वे न पश्यति ॥५॥५३॥

अर्थ – इन्द्रियों के विषयों में निमग्न मूर्ख जीव पर्वत की मिट्टी को भी सोना-चांदी वगैरह समझ, अतुल सम्पत्ति स्वरूप मानता है, उसे पाने के लिये बावरा बन चारों तरफ भागता है, परन्तु अपने पास रही अनादि-अनन्त ज्ञानसम्पदा को देखता नहीं है।

विवेचन इन्द्रियों के विषयों में आसक्त जीव न जाने कैसा मूर्ख है, पागल! जो धन नहीं है उसके पीछे निरन्तर भागता रहता है और वास्तव में जो धन है, उससे बिल्कुल अनजान, बेखबर है। उसे पाने की तनिक भी चेष्टा नहीं करता। वह उसके बिल्कुल पास में होते हुए भी इसका उसे जरा भी ध्यान नहीं।

सोना चांदी अथवा धन धान्यादि जो केवल पर्वत की मिट्टी के समान हैं, उसे वह सम्पत्ति मान बैठा है और उसे पाने के लिए दिन-रात अथक प्रयत्न करता रहता है। कहते हैं न– 'दूर के ढोल सुहावने।' दूर से जो सम्पत्ति दिखायी देती है, वास्तव में वह मृग मरीचिका है। उसे पाने के लिये वह अपने चित्त की शान्ति और स्वास्थ्य को गँवा बैठा है और मिट्टी जैसी बदतर वस्तु को हथियाने के लिये उसके संरक्षण और संवर्धन के लिये नित्य प्रति अशान्त, उद्विग्न बना रहता है।

इस से बेहतर तो यह है कि तुम अपना स्व ज्ञान धन खोजने की ओर मोड़ दो। इसे पाने के लिये तुम्हें कहीं बाहर नहीं जाना होगा, बल्कि यह तो अनादिकाल से तुम्हारे पास में ही है। तुम्हारी आत्मा की गहराईयों में दबा हुआ पड़ा है और उस पर कर्मों की अनगिनत

परते जम गयी है । फलतः इन परतो को दूर कर, अक्षय खजाने को प्राप्त करने के लिये महापुरुषार्थ करना ही हितकारक है । जैसे-जैसे तुम एक के बाद एक इन परतो को हटाते जाओगे, वैसे-वैसे ज्ञान-कोष की उपलब्धि होती जायेगी और तुम्हे अपूर्व सुख-शान्ति का मन ही मन अनुभव हो जाएगा । लेकिन ऐसा महापुरुपार्थ करने के लिये तुम तभी समर्थ होगे, जब तुम्हारे मे इन्द्रिय–विषयक आसक्ति का पूर्ण रूप से अभाव होगा । तुम इन्द्रिय-पाशो से बिल्कुल मुक्त हो जाओगे । सावधान ! विषयासक्ति तुम्हे ज्ञान-धन हासिल नही होने देगी । अपनी ओर से वह तुम्हारे मार्ग मे हर संभव रोडा अटकायेगी, बाधाये पैदा करेगी और ऐसा भगीरथ पुरुषार्थ करने नही देगी । यह निर्विवाद सत्य है कि आज तक तुमने ज्ञान-धन पाने का पुरुषार्थ नही किया, उसके पीछे इन्द्रिय–परवशता ही मूल कारण है । श्रुतज्ञान (ज्ञानधन) पाने के पश्चात् भी अगर जीव इन्द्रिय-परतन्त्रता का शिकार बन जाए तो प्राप्त ज्ञानधन लुप्त होते देर नही लगती । तभी श्री भावदेवसूरिजी ने कहा है –

"जई चउदश पुव्वधरो, निद्दाईपमायाओ वसइ निगोए अणंतयं कालं ।" चौदह पूर्वधर महर्षि भी यदि निद्रा, विकथा, गारव मे अनुरक्त/लीन हो जाए, तो वे भी अनन्तकाल तक निगोद मे भटकते है । अर्थात् जब तक केवलज्ञान का निधान प्राप्त न हो, तब तक क्षणार्ध के लिये भी इन्द्रिय-लोलुप बनने से काम नही चलता । निरन्तर जागृति और ज्ञानधन की प्राप्ति हेतु सदैव पुरुषार्थ करते ही रहना है ।

पुरः पुर. स्फुरत्तृष्णा, मृगतृष्णानुकारिषु ।
इन्द्रियार्थेषु धावन्ति, त्यक्त्वा ज्ञानामृत जडा. ॥६॥५४॥

अर्थ – जिसको उत्तरोत्तर बढती हुई तृष्णा है, ऐसे मूर्खजन ज्ञान रूपी अमृत रस का त्याग कर मृगजल समान इन्द्रियो के विषयो मे दौडते हैं ।

विवेचन हिरण को भला कौन समझाये ? न जाने वह किस खुशी मे कुलाचे भरता दौडा जा रहा है ? यहाँ कहाँ पानी है ? यह तो नीरी सूर्य-किरण की जगमगाहट है ! उसे कहाँ पानी मिलनेवाला है ? मिलेगा... क्लेश, खेद और अथक थकान ! लेकिन हिरण कहाँ किसी की सुननेवाला है ? वह तो निपट मूर्ख ...मतिमन्द ! लाख समझाने के

बावजूद कुलाचे भरता, किलकारी मारता भागता ही रहा और जा पहुँचा रेगिस्तान मे ! जहाँ देखो वहाँ रेत ही रेत ! जिसे उसने पानी से लबालब भरा जलाशय समझा, वह निकली रेत, सिर्फ धूल के जगमगाते अगणित कण ! लेकिन उत्साह कम न हुआ, जोश मे ओट न आयी। क्षणाध के लिए रुका और दूर सुदूर तक देखता रहा। दुबारा जलाशय के दर्शन हुए। फिर दौड लगायी। जलाशय के पास जा पहुँचा। लेकिन जलाशय कहा ? वह तो सिर्फ मृगजल था, एक छलावा ! मगर हिरण का कौन समझाये कि रेगिस्तान म कही पानी मिला है, जो उसे मिलेगा ?

ठीक इसी तरह ससार के रेगिस्तान मे इन्द्रिय-लोलुपता के वशीभूत हो, कुलाचे भरते जीवा को कौन समझाये ? जिस वेग से जीव इन्द्रियसक्ति का दास बना भागता रहता है, उसी अनुपात मे उसकी वषयिक तृष्णा बढती ही जाती है। क्लेश, खेद, असतोष और अशान्ति मे उत्तरोत्तर वद्धि होती रहती है। इसके बावजूद भी वह, समझने को कतइ तैयार नही कि इन्द्रियजन्य सुख से उसे तृप्ति मिलने वाली नही है। यही तो उसकी मानसिक जडता है निपट मूखता और अव्वल दर्जे की अनभिज्ञता/अज्ञानता !

श्री उमास्वातिजी ने अपनी कृति 'प्रशमरति' मे इसे लेकर तीखा उपालभ दिया है

येषा विषयेषु रतिर्भवति न तान् मानुषान् गणयेत् ।

'जिसे विषयो मे तीव्र आसक्ति है, उसकी गणना मनुष्य मे नही करनी चाहिए।' अर्थात् जो जीव मनुष्यत्व स अलकृत ह, उसे इन्द्रियो के विषया से क्या मतलब ? उसे विषया से लगाव क्यो, प्रम भाव क्यो ? यदि इन्द्रिया के व्यापार से तन्मयता साधनी है, तो इसके लिये मनुष्य-भव नही। मानव-जीवन मे ता ज्ञानामृत का ही पान करना है। उसमे ही परम तृप्ति का अनुभव करना है। जसे-जैसे तुम ज्ञानामृत का पान करते जाओगे, वसे-वसे निकृष्ट, तुच्छ, अशुचिमय और असार ऐसे वैषयिक सुखा के पीछे दौडना कम होता जायेगा। इन्द्रियो के विषयो की आसक्ति खत्म होती जाएगी।

पतङ्गभृङ्गमीनेभ-सारंगा यान्ति दुर्दशाम् ।
एकैकेन्द्रिय दोषाच्चेद्, दुष्टैस्तैः किं न पंचभिः ॥७॥५५॥

अर्थ – पतंगा, भ्रमर, मत्स्य, हाथी और हिरण एक-एक इन्द्रिय के दोष से मृत्यु को पाते है, तब दुष्ट ऐसी पाच इन्द्रियो से क्या क्या न होगा?

विवेचन . एक-एक इन्द्रिय की गुलामी ने जीवात्मा की कैसी दुर्दशा की है ? पतगा दीप-शिखा के नेह मे निरन्तर उसके इर्द-गिर्द चक्कर लगाता रहता है । उसे पाने के लिये प्राणों की बाजी लगा देता है। उसके रूप और रग को निरखकर मन ही मन सपनो के महल सजाता अबाध रूप से घूमता ही रहता है। एक पल के लिये भी रुकने का नाम नहीं लेता । चक्षुरिन्द्रिय द्वारा उत्पन्न रूप-प्रीति के वशीभूत हो, अपने आप पर से नियंत्रण खो बैठता है । वह बरबस प्रज्वलित दीप-शिखा को आलिगन कर बैठता है। लेकिन उसे क्या मिला ? आलिगन से प्यार मिला ? उत्साह और जोश मे वृद्धि हुई? अमृतवर्षा हुई ? नही, कुछ भी नही मिला । मिली सिर्फ आग चिगारी की तपन और वह क्षणार्ध मे जल कर खाक हो गया ।

अरे, उस भावुक भ्रमर को तो तनिक देखो ! मृदु सुगध का बडा रसिया ! जहां सुगंध आयी नहो कि बडे मिया भाग खड़े हुए । होश खोकर बेहोश होकर ! लेकिन सूर्यास्त के समय जब कमल-पुष्प सपुटित होता है, तब यही रसिया भ्रमर उसमें अनजाने बन्द हो जाता है । फलत: उसकी वेदना का पारावार नही रहता । उसकी वेदना को देखने और समझने वाला वहाँ कोई नही होता । और जब दूसरे दिन कमल-पुष्प पुन . खिलता है, तब उसमे से इस अभागे प्रेमी का निर्जीव शरीर धरती पर लुढक जाता है। लेकिन कमल-दल को इसकी कहाँ परवाह होनी है ? 'तू नहीं. और सही', सूक्ति के अनुसार वह निष्क्रिय, निष्ठुर बना रहता है । जब कि इधर पूर्व-प्रेमी का स्थान दूसरा ग्रहण कर लेता है ! और कमाल इस बात का है कि वह पूर्व-प्रेमी की ओर दृष्टिपात तक नही करता । यही तो लंपटता है, जिसकी भोग बनी जीवात्मा अपने आप को बचा नही सकती और दूसरे की ओर नजर नही डालती ।

रस मे ओत-प्रोत मछली की दशा भी कोई अलग नही है, बल्कि वही होती है, जो भोले हिरण और भावुक भ्रमर की होती है । जब

मच्छीमार काट मे बींध, पानी से ऊपर निकालता है अथवा अपन जाल का पत्थर पर पछाडता है बारदार चाकु से छीलता है या उबलते तेल मे तलता है, तब मछली की कसी दुर्गति हाती है ? स्पर्शेन्द्रिय के सुख में मत्त बने गजेन्द्र को भी मृत्यु की शरण लेने को विवश बनना पडता है। मधुर स्वर का प्रेमी हिरण भी शिकारी के तीक्ष्ण तीर का शिकार बन जाता है।

इन बिचारे जीवो का ता एक-एक इन्द्रिय की परवशता हाती है, जब कि मनुष्य तो पाचो इन्द्रियो के परवश होता है। उसकी दुदशा कैसी ?

विवेकद्वीपहर्यक्ष समाधिधनतस्कर ।
इन्द्रियर्या न जितोऽसौ धीराणा धुरि गण्यते ॥८॥५६॥

अर्थ — जो विवक रूपी गजेन्द्र का वध करने के लिए सिंह समान और निर्विकल्प ध्यान रूपी समाधि-धन का लूटन वाले लुटेरे रूपी इन्द्रिया स जीता नहीं गया है, वह धीर नरपुगवा म अग्रगण्य माना जाता है।

विवेचन — जो धीर-गभीर मे भी धीर-गभीर और नष्ट गुणो मे भी सवश्रेष्ठ। गगनभेदी गजना के साथ आगे बढते काल-कराल केसरी को देखकर भी जिसमे भय का सचार तक न हो, एसी अटूट धीरता ! साक्षात मृत्यु सदृश वन-केसरी भी जिस के मुखमडल की अद्वितीय आभा निरख अपना माग बदल दे-ऐसी उसकी वीरता !

एक-एक इन्द्रिय एक-एक वनकेसरी की भांति बलशाली और शक्तिमान है, कुटिल निशाचार है। सावधान ! तुम्हारे आत्मागण मे झूलने गजेन्द्र का शिकार करने के लिये पचेन्द्रिय के पाच 'नरभक्षी केसरी' आत्म-महल के आसपास घात लगाये बठे हैं। तुम्हारे आत्म-महल के कण-कण मे दबे समाधि-धन का लूटने के लिये दुष्ट निशाचर मार्ग खोज रहे हैं।

कहीं ऐसा न हो कि तुम्हारी आंखो मे धूल झोक कर इन्द्रिय रूपी वनकेसरी और चोर अपना उल्लु सीधा न कर दे। अत इन पर विजय पानी हो तो दृढ सकल्प कीजिए "इन्द्रियजन्य सुख का, वभव का मुझे उपभोग नहीं करना है।" और फिर देखिए, क्या चमत्कार होना है।

वर्ना अनेक विषय लुभावना रुप धारण कर तुम्हारे सामने उपस्थित होगे । इन्द्रिया सहज ही उसके प्रति अकर्षित होंगी और मनवा होश गँवा बैठेगा । बस, तुम्हारी पराजय होते पल का भी विलब नहीं होगा। तुम्हारे विवेक-ज्ञान का यही अन्त हो जाएगा । फलस्वरुप तुम्हारे पास अनादिकाल से दबे पडे निर्विकल्प समाधि-निधि की चोरी होते देर नही लगेगी। और तुम पश्चाताप के आँसू बहाते, हाथ मलते रह जाओगे । यदि चाहते हो कि ऐसा न हो, पश्चाताप करने की बारी न आये, तो अपने आप को कठोर आत्मनिग्रही बनाना होगा। जब विषय नानाविध रुप से सज-धज कर सामने आ जायें, तब तुम्हारे मे उसकी ओर नजर उठाकर देखने की भावना ही पैदा न हो । इन्द्रियाँ उसके प्रति आकर्षित ही न हो । ऐसी स्थिति मे 'न रहेगा बांस, ना बजेगी बांसुरी' । तुम विजेता बन जाओगे, स्वाश्रयी बन जाओगे । फिर भला दुनिया मे किसकी ताकत है जो तुम्हे अपने संकल्प से विचलित कर सके ?

विषयादि के वियोग में जब इन्द्रियाँ आकुल-व्याकुल न हो, परमात्म-परायण बन विषयों को सदा-सर्वदा के लिए विस्मृत कर दे और चचल मन स्थिर बन परमात्म-ध्यान की साधना मे अपना सक्रिय सहयोग प्रदान कर दे, तब धीर-गभीर पुरुषो मे भी धीर-गभीर और श्रेष्ठ मे तुम्हे श्रष्ठतम बनते तनिक भी देर नही होगी।

हालांकि इस ससार मे उस व्यक्ति को भी धीर-गंभीर माना जाता है, जो अनुकूल विपयो के संयोग से प्राय परमात्म ध्यान....धर्म-ध्यान जैसी बाह्य क्रियाओ मे अपने आप को जुड़ा रखता है, लेकिन विषयो की अनुकूलता समाप्त होते ही उनकी धीर-गभीर वृत्ति हवा हो जाती है, समाप्त हो जाती है । अत. अपने आप को भव-फेरो से बचाने के लिये विषय-वासनाओ का परित्याग करते हुए इन्द्रियो को सविकल्प-निर्विकल्प समाधि मे लयलीन करना है ।

८ त्याग

तुम एकाध व्यक्ति अथवा वस्तु का परित्याग करते हो, यह महत्त्वपूर्ण नहीं है। बल्कि तुम उसे किस पद्धति से, अथवा किस दृष्टि से त्याग करते हो, यह महत्त्वपूर्ण है।

माता-पिता, पति-पत्नी, भाई-बहन, और असख्य स्नेही-स्वजनो का परित्याग करने की हमेशा प्रेरणा देने वाले ज्ञानी महात्मा यहाँ तुम्हे अभिनव माता-पिता, पति-पत्नी, भाई-बहन, प्रिया तथा स्नेही-स्वजनो से परिचित कराते हुए उनके साथ नये सिरे से सम्बन्ध स्थापित करने की प्रेरणा देते हैं।

इन्द्रिय-विजेता के लिये सासारिक, स्थूल जगत के प्रिय-पात्रों का परित्याग करना सरल है। अत नये दिव्य स्नेही-स्वजनो से परिचय कर लो।

संयतात्मा श्रये शुद्धोपयोगं पितरं निजम् ।
धृतिमम्बां च पितरौ, तन्मां विसृजतं ध्रुवम् ॥१॥५.७॥

अर्थ : आत्माभिमुख संयत मैं शुद्ध उपयोग स्वरूप पिता एवं आत्मरतिरूप माता की शरण ग्रहण करता हूँ । 'हे माता-पिता ! मुझे अवश्य मुक्त कीजिये ।'

विवेचन : किसी उत्तम पद अथवा स्थान को पाने के लिये हमें अपने पूर्व पद अथवा स्थान का परित्याग करना पड़ता है । लोकोत्तर माता-पिता की अलौकिक वात्सल्यमयी गोद में खेलने के लिये लौकिक माता-पितादि आप्तजनों का परित्याग किये बिना काम नहीं चलेगा । हाँ, वह त्याग, राग या द्वेष पर आधारित न हो, बल्कि लोकोत्तर माता-पिता के प्रति तीव्र आकांक्षा, आदरभाव को लेकर होना चाहिये । अतः ममतामय माता-पिता से प्रार्थना करें । उनसे स्नेह-बंधनों से मुक्ति हेतु उनके चरणों में गिर, नम्र निवेदन करें ।

"ओ माता और पिता ! हम मानते हैं कि आपके हम पर अनन्त उपकार है, अपार प्रेम है और असीम ममता है । लेकिन आपके स्नेह-वात्सल्य का प्रत्युत्तर स्नेह से देने में हम पूर्णतया असमर्थ हैं । हमारे हृदय-गिरि से प्रस्फुटित स्नेह-स्रोत, श्रद्धेय पिता स्वरूप शुद्ध आत्मज्ञान की दिशा में प्रवाहित हो गया है । हमारी प्रसन्नता 'आत्म-रति'—स्वरूप माता के दर्शन में, उसके उत्संग में समाविष्ट है । उनकी चरण-रज माथे पर लगाने के लिये हमारा हृदय अधीर हो उठा है और मन-वचन-काया के समस्त योग उसी दिशा में निरन्तर गतिशील हैं । अतः उनके शरणागत बन कृत-कृत्य होने की अनुमति दीजिये ।"

'शुद्ध-आत्मज्ञान' पिता है और 'आत्मरति' माता है । इन का आश्रय ही अभीष्ट है । इनके प्रति प्यार, स्नेह और ममता की भावना रखना महत्वपूर्ण है । किसी विशेष तत्त्व को माता-पिता मानना, मतलब क्या ? तनिक सोचो और निर्णय करो । उन्हें सिर्फ मान्यता देने से काम नहीं बनेगा । वस्तुतः अहर्निश उनकी सेवा-सुश्रूषा और उपासना में लगे रहना चाहिये । उनके प्रति सदा-सर्वदा एकनिष्ठ/वफादार हुए बिना सब निरुपयोगी है । अर्थात् शुद्ध आत्मज्ञान का परित्याग कर अशुद्ध अनात्म-ज्ञान की गोद में समा जाने की बुरी

आदत का जडमूल से उखाड फेंकना है। आत्मरति/ज्ञानरति जैसी महामाता को तज कर पुद्गलरति वेश्या के आलिंगन में आबद्ध होने की कुवृत्ति को छोडे बिना छुटकारा नहीं है।

युष्माकं सगमोऽनादिबन्धवोऽनियतात्मनाम्।
ध्रुवैकरूपान् शीलादिबन्धूनित्यधुना श्रये ॥२॥५८॥

अर्थ : हे बन्धुगण! अनिश्चित आत्मपर्याय से युक्त ऐसा तुम्हारा संगम प्रवाह से अनादि है। अत निश्चित एक स्वरूप से युक्त ऐसे शील, सत्य, शम दमादि बन्धुओं का अब मैं आश्रय लेता हूँ।

विवेचन : जिस तरह अभिनव माता-पिता बनाये, ठीक उसी तरह नये बन्धु भी बनाने ही होंगे। बाह्य स्थूल भूमिका पर आधारित बंधुजन से नाता तोडने हेतु आन्तर सूक्ष्म भूमिका पर रहे हुए बन्धुओं के साथ सबन्ध-सपर्क बनाना ही होगा।

तुमने देखा होगा और अनुभव किया होगा कि बाह्य जगत मे बन्धुत्व का सम्बन्ध कैसा अस्थिर है! जो आज हमारे बन्धु हैं वे ही कल शत्रु बन जाते हैं और जो शत्रु हैं, वे बन्धु बन जाते हैं। इस ससार म किसी सबध की कोई स्थिरता नहीं है। ऐसे सबधो से घिरे रहकर जीवात्मा न जाने कैसे गाढ राग-द्वेष के बीज बोय/पाप कर्मा किये और दुर्गति की चपेट मे फस गये? लेकिन अब तो सावधान बन प्राप्त मानवभव मे ज्ञान के उज्ज्वल प्रकाश की प्रखर ज्योति मे आन्तर-बन्धुओं के साथ अटूट सबध बाँधना जरूरी है। ठीक उसी तरह अनादिकाल से चल आ रहे सबधो का विच्छेद करना भी आवश्यक है।

'हे बन्धुगण! अनादिकाल से मैंने तुम्हारे साथ स्नेह-सबध रखे। लेकिन उसमें निःस्वार्थ भावना का प्राय अभाव ही था, ना ही उसमे पवित्र दृष्टि थी। केवल भौतिक स्वार्थ के वशीभूत होकर बार-बार उसे दोहराता रहा। लेकिन जैसे ही स्वार्थ का प्रश्न आया, तुम्हें अपना शत्रु ही माना और शत्रु की तरह ही व्यवहार करता रहा। स्वार्थ साधना में बाधा बन, तुम्हारी हत्या की, तुम्हारे घर-बार लूटे। यहाँ तक कि अपने स्वार्थवश तुम्हें रसातल में पहुँचाने, तनिक भी न हिचकिचाया।। वस्तुत इस जगत मे मनुष्य अपने स्वार्थ के खातिर

दूसरे के साथ निःस्वार्थ स्नेह, प्रीति के संबंध बाँध नही सकता। अतः हे भाईयों ! अब मैंने आपके साथ के पूर्व-संबधो को तिलांजलि देकर, परम शाश्वत्, अनंत-असीम ऐसे शील, सत्य, शर्म-उपशम, संतोपादि गुणो को ही बन्धु के रूप मे स्वीकार किये है।

आत्मा के शील-सत्यादि गुणो के साथ बन्धुत्व का रिश्ता जोडे विना जीवात्मा वाह्य जगत् के संवघो का विच्छेद नही कर सकता। वाह्य जगत का परित्याग यानी हिंसा, असत्य, चौर्य, मिथ्यात्व, परिग्रह, दुराचार, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि वृत्तियो का त्याग और वह त्याग करनेके लिये अहिंसा, सत्य, अचौर्य, शील, निष्परिग्रहता, क्षमा, नम्रता, सरलता, विवेकादि गुणों का जीवन मे स्वीकार ! उन्ही को केन्द्रबिन्दु मान जीवन व्यतीत करना होगा। ऐसी स्थिति मे जीवन विपयक दैनंदिन प्रश्नो को हल करने के लिये क्रोधादि कपायो का आश्रय नही ले सकते। हिंसादि पाप-बन्धनो की शरण नही ग्रहण कर सकते।

कान्ता मे समतैवैका, ज्ञातयो मे समक्रिया
बाह्यवर्गमिति त्यक्त्वा, धर्मसंन्यासवान् भवेत् ॥३॥५९॥

अर्थ : 'समता ही मेरी प्रिय पत्नी है और समान आचरण से युक्त साधु मेरे स्वजन-स्नेही हैं।' इस तरह वाह्य वर्ग का परित्याग कर, धर्म-सन्यास युक्त बनना है।

विवेचन . समता ही मेरी एकमात्र प्रियतमा है। अब मै उसके प्रति ही एकनिष्ठ रहूगा। जीवन मे कभी उससे छल-कपट नही करुंगा। आज तक मैं उससे वेवफाई करता आया हूँ। ऐसी परम सुशील पतिव्रता नारी को तज कर मै ममता—वेश्या के पास चक्कर काटता रहा, वार-बार वहाँ भटकता रहा। ममता, स्पृहा, कुमति वगैरह वेश्याओ के साथ वर्षो तक आमोद-प्रमोद करता रहा और वेहोश वन, मोहमदिरा के जाम पर जाम चढाता आया हूँ। वह भी इस कदर कि, उसमे डूब अपना सब कुछ खो वैठा हूँ। लेकिन समय आने पर उन्होने मिलकर मुझे लूट लिया, मुझे बेइज्जत कर घर से खदेड दिया। फिर भी निर्लज्ज वन अब भी उनकी गलियों के चक्कर काटना भूल नही पाया। पुनः जरा संभलते ही दुगुने वेग से वेश्याओ के द्वार खटखटाने लगा हूँ। मैं उन्हे भूल नही

पाया हूँ । फिर वही मोह मदिरा के छलछलाते जाम, प्यार दुलार भरे नखरे अजीब बेहोशी, पुन मूर्च्छा और पुन उन का डडा लेकर पिल पडना । लेकिन होश कहा ? उनके मादक रूप, रग और गध का आकर्षण मुझे पागल जो बनाए हुए है !

'लेकिन अब बहुत हो चूका । मैंने सदा के लिये इन ममता, माया रुपी वेश्याओ को तिलाजलि दे दी है । समता को अपनी प्रियतमा बना लिया है । उसके सहवास और सगति मे मुझे अपूर्व शान्ति, अपरपार सुख और असीम प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है ।"

"इसी भाँति ससार के स्नेही-स्वजनो को भी मैंने परख लिये हैं, निकट से जान लिये हैं । अब मे क्या कहूँ ? क्षण मे रोष और क्षण म तोष ! सभी स्वार्थ के सगे हैं । जहा देखो वहा स्वार्थ ! जहा जाओ वहाँ स्वार्थ ! बस, स्वार्थ स्वार्थ और स्वार्थ ! अत मैंने उन्हे स्नेही-स्वजन बना लिया है, जो हमेशा रोष-तोष से रहित हैं । उनके पास म सिर्फ एक ही वस्तु है, सब जीवो के लिये मैत्री-भाव और अपार करुणा ! और वे हैं-निग्रन्थ साधु-श्रमण ! वे ही मेरे वास्तविक स्नेही-स्वजन हैं ।"

इस तरह बाह्य परिवार का परित्याग कर आत्मा औदयिक भावो का त्यागी और क्षायोपशमिक भावो को प्राप्त करने वाला बनता है । औदयिक भाव म निरन्तर डूबे रहने की वृत्ति को ही ससार कहा गया है । जहा तक हम इस वृत्ति का परित्याग करने मे असमर्थ रहेंगे, वहा तक ससार-त्यागी नही कहलायेंगे ।

धर्मास्त्याज्या , सुसगोत्था , क्षायोपशमिका अपि ।
प्राप्य चन्दनगन्धाभ, धर्मसन्यासमुत्तमम् ॥४॥६०॥

अर्थ – चन्दन की गध-समान श्रेष्ठ धर्म-सन्यास की प्राप्ति कर, उत्तम सत्सग से उत्पन्न और क्षयोपशम से प्राप्त पवित्र धर्म भी त्याज्य हैं ।

विवेचन – सत्सग से जीवात्मा मे 'क्षायोपशमिक' धर्मों का उदय होता है । परमात्मा के अनुग्रह और सदगुरु की कृपा से मति ज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्यवज्ञान प्रकट होता है । देशविरति और सर्व

विरति का प्राप्त होती है। दान-लाभ-भोगोपभोग और वीर्यादि श्रेष्ठ लब्धियों का आविर्भाव होता है।

न जाने प्रशस्त निमित्त-आलबनो का जीवात्मा पर कैसा तो अदभुत प्रभाव है! पारसमणि के स्पर्श मात्र से लोहा सुवर्ण बन जाता है। उसी तरह देव-गुरु के समागम से मिथ्यात्त्व, कषाय, अज्ञान, असंयम आदि औदयिक भावों से मलीन आत्मा समकित, सम्यग्ज्ञान, संयम आदि गुणो से युक्त, स्वच्छ/सुशोभित बन जाती है। क्षायोपशमिक धर्म भी तब तक ही आवश्यक हैं, जब तक क्षायिक गुणो की प्राप्ति न हो! क्षायिक गुण आत्मा का मूल स्वरुप है। इसके प्रकट होते ही क्षायोपशमिक गुणों की भला आवश्यकता ही क्या है? ऊपरी मंजिल पर पहुँच जाने के बाद सीढी की क्या गरज है? औदयिक भाव के भूगर्भ से क्षायिक भाव के रगमहल मे पहुँचने के लिये क्षायोपशमिक भाव सिढी समान है।

जिस तरह चन्दन की सौरभ उसका स्थायी भाव है, उसी तरह क्षायिक धर्म भी आत्मा का स्थायी भाव है। हर जीवात्मा मे क्षायिक ज्ञान, दर्शन और चारित्र सहज स्वरुप मे विद्यमान है।

क्षायोपशमिक क्षमादि गुणों के परित्याग का नाम ही धर्मसन्यास है। उक्त तात्त्विक धर्मसन्यास, सामर्थ्य योग का धर्म-संन्यास माना जाता है। **'द्वितीयापूर्वकरणे प्रथमस्तात्त्विको भवेत्'** 'योग दृष्टि समुच्चय' नामक ग्रन्थ मे कहा गया है कि क्षायोपशमिक धर्म के त्याग स्वरुप धर्म-सन्यास आठवे गुणस्थान पर द्वितीय अपूर्वकरण करते समय होता है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के पहले जिस अपूर्वकरण का अनुसरण किया जाता है, वह अतात्त्विक धर्म-सन्यास कहलाता है।

गुरुत्वं स्वस्य नोदेति, शिक्षासात्म्येन यावता।
आत्मतत्त्वप्रकाशेन, तावत् सेव्यो गुरुत्तम ॥५॥६१॥

अर्थ – जब तक शिक्षा के सम्यक् परिणाम स आत्मस्वरुप के ज्ञान से गुरुत्व प्रकट न हो, तब तक उत्तम गुरु का आश्रय लेना चाहिये [आराधना करनी चाहिये]।

विवेचन :– जिस तरह सासारिक स्नेही-स्वजनो का त्याग करना है, उसी तरह अभ्यंतर -आतरिक स्वजनो के साथ अटूट नाता जोडना

है, सम्बन्ध प्रस्थापित करना है। यह सम्बन्ध/नाता कहीं बीच में ही टूट न जाए, विच्छेद न हो जाए, इसके लिये सदैव सदगुरु की उपासना करनी चाहिये।

जब तक धनवान न बना जाए, तब तक उसकी सेवा नहीं छोड़नी चाहिये। जब तक उत्तम स्वास्थ्य का लाभ न हो, काया निरोगी न बने, तब तक डॉक्टर अथवा वैद्य का त्याग न किया जाए। ठीक उसी भाँति जब तक संशय विपर्यासरहित ज्ञान-प्रकाश की प्राप्ति न हो, विशुद्ध आत्म-स्वरुप की झलक न दिखे, तब तक परम संयमी और ज्ञानी गुरु का परित्याग नहीं करना है। अर्थात्, जब तक गुरुदेव के गुरुत्व का विनियोग हममें न हो, तब तक निरन्तर विनीत बन उनकी श्रद्धाभाव से आराधना/उपासना में लगे रहना चाहिये।

गुरुदेव की परम कृपा और शुभाशीर्वाद से ही हममें ज्ञान-गुरुता पैदा होने वाली है और ज्ञान-गुरुता का उदय तभी संभव है, जब उनमें विनीत भाव से 'ग्रहण शिक्षा' और 'आसेवन शिक्षा ग्रहण की जाए और उसे सम्यग् भाव से आत्मसात् परिणत की जाये।

पाँच महाव्रतों का सूक्ष्म रुप अवगत करना, क्षमा, आर्जव मार्दवादि दस यतिधर्मों की व्यापकता समझना, पृथ्वीकायादि षटकाय-जीवों का स्वरूप आत्मसात करना, यह सब ग्रहण-शिक्षा के अन्तर्गत आता है। सद्गुरु की परम कृपा से जीवात्मा को ग्रहण-शिक्षा की उपलब्धि होती है। और इसी ग्रहण-शिक्षा को स्व-जीवन में कार्यान्वित करना उसे आसेवन-शिक्षा कहा गया है। आसेवन-शिक्षा की प्राप्ति सद्गुरु के बिना असंभव है और इसकी प्राप्ति के बिना ज्ञान-गुरुता का उदय नहीं होता। ठीक उसी तरह बिना ज्ञान गुरुता के केवलज्ञान असंभव है और मोक्ष प्राप्ति भी असंभव है।

अतः सद्गुरु के समक्ष उपस्थित हो, मन ही मन संकल्प कर

'गुरुदेव, आपकी परम कृपा से ही मुझ में गुरुता आ सकती है। अतः जब तक मुझ में गुरुता का प्रादुर्भाव न हो, तब तक मैं शास्त्रोक्त पद्धति का अवलंबन करते हुए सादर, श्रद्धापूर्वक आपकी उपासना में रत रहूँगा।

ज्ञानाचरादयोऽपीष्टाः, शुद्धस्वस्वपदावधि ।
निर्विकल्पे पुनस्त्यागे, न विकल्पो न वा क्रिया ॥६॥६२॥

अर्थ : ज्ञानाचारादि आचार भी अपने-अपने शुद्ध पद की मर्यादा तक ही इष्ट है । लेकिन विकल्प-विरहित त्याग की अवस्था मे न तो कोई विकल्प है, ना ही कोई क्रिया ।

विवेचन : शुद्ध सकल्पपूर्वक की गयी क्रिया फलदायी सिद्ध होती है । सद्गुरू के पास 'ग्रहण' और 'आसेवन' शिक्षा प्राप्त करने की है । खास तौर से ज्ञानाचारादि आचारो का पालन करना होता है और वह भी शुद्ध सकल्पपूर्वक करना चाहिये ।

- ज्ञानाचार की आराधना तब तक करनी है, जब तक ज्ञानाचार का शुद्ध पद केवलज्ञान प्राप्त न हो जाए । हमेशा आराधना करते समय इस बात की गाठ बाध लेनी चाहिये कि, 'ज्ञानाचार के प्रसाद से केवलज्ञान अवश्य प्राप्त होगा ।'

- दर्शनाचार की आराधना तब तक करनी चाहिये, जब तक हमे क्षायिक समकित की उपलब्धि न हो जाये ।

- चारित्राचार की उपासना उस हद तक करनी चाहिये, जब तक 'यथाख्यात चारित्र' की प्राप्ति न हो जाये ।
- तपाचार का सेवन तब तक किया जाए, जब तक 'शुक्लध्यान' की मस्ती सर्वांग रुप से आत्मा मे ओत-प्रोत न हो जाये ।
- वीर्याचार का पालन तब तक ही किया जाय, जब तक आत्मा मे अनत विशुद्ध वीर्य का निर्बोध सचार न हो जाये ।

इस तरह का निश्चय और संकल्प शक्ति, जीवात्मा के लिये परम फलदायी और शुभ सिद्ध होती है । जबकि सकल्पविहीन क्रिया प्राय: निष्फल सिद्ध होती है । केवलज्ञान, क्षायिक दर्शन, यथाख्यात चारित्र, शुक्ल–ध्यान और अनत विशुद्ध वीर्योल्लास की प्राप्ति का दृढ सकल्प रख, ज्ञानाचारादि मे सदा–सर्वदा पुरुषार्थशील बनना है । ज्ञानाचारादि के लिये तब तक ही पुरुषार्थ करना चाहिये, जब तक उनके–उनके शुद्ध पद की प्राप्ति न हो जाए । जब तक हमारी अवस्था शुभोपयोग वाली है और सविकल्प है, तब तक निरन्तर ज्ञानाचारादि पचाचार का पालन करना अति आवश्यक है ।

मतलब यह कि हमे ज्ञानाचारादि का पालन पूरी लगन से करना चाहिये, जब कि अन्तिम लक्ष्य, सर्वार्धिसद्ध पद-प्राप्ति का होना चाहिये। लेकिन निर्विकल्प अवस्था प्राप्त होते ही उसमे किसी सकल्प और क्रिया का स्थान नही रहता। क्यो कि निर्विकल्प योग मे उच्च कक्षा के ध्येय-ध्यान-ध्याता की अभेद अवस्था होती है। जब तक यह अवस्था प्राप्त न हो जाए, तब तक ज्ञानाचारादि आचारो के आलबन से शुभोपयोग मे दत्तचित्त हो जाना चाहिये।

योगसंन्यासतस्त्यागी, योगानप्यखिलांस्त्यजेत ।
इत्येवं निर्गुण ब्रह्म, परोक्तमुपपद्यते ।।७।।६३।।

अर्थ - योग का निरोध कर त्यागी बन, जीवात्मा सभी योगों का भी त्याग करती है। इस तरह अन्य दर्शनो की 'निर्गुण ब्रह्म' की बात घटित होती है।

विवेचन - सर्वत्याग की पराकाष्ठा ! कैसा अपूर्व दर्शन कराने का सफल प्रयत्न किया गया है ? औदयिक भाव का परित्याग (धर्मसंन्यास) कर जीवात्मा का क्षायोपशमिक भाव मे प्रतिष्ठित करना और कालान्तर मे द्वितीय अपूर्वकरण साधने के लिये क्षायोपशमिक भाव का भी त्याग कर देना ! 'क्षपकश्रेणियोगिन क्षायोपशमिकक्षान्त्यादि-धर्मनिवृत्ते ।' 'योगदृष्टि समुच्चय' ग्रन्थ मे ठीक ही कहा गया है-जिन महात्माओ ने क्षपक-श्रेणी पर आरोहण किया है, उनके क्षमादि क्षायोपशमिक धर्म भी अन्तर्धान हो जाते हैं और तदनन्तर जो प्रकट होते है, वे क्षायिक गुण होते हैं।

लेकिन जैसे ही जीवात्मा ने चौदहवे गुणस्थानक पर आरोहण किया कि 'योगनिरोध' के माध्यम से वह सब योगो का भी परित्याग कर देता है। इस क्रिया को 'योग-संन्यास' भी कहा जाता है। यह योग-संन्यास 'आयोज्य करण' करने के पश्चात् किया जाता है। 'योग दृष्टि समुच्चय' ग्रन्थ मे आगे कहा गया है कि 'द्वितीयो योग संन्यास आयोज्यकरणादूर्ध्वं जीवति'। सयोगी केवलज्ञानी समुद्घात करने के पूर्व 'आयोज्यकरण' का आरभ करता है। केवलज्ञान के माध्यम से अचिन्त्य वीर्यशक्ति द्वारा भवोपग्राही कर्म (अघाती कर्म) को ऐसी स्थिति मे लाकर क्षय करने की क्रिया को 'आयोज्य करण' कहा जाता है। नामादि

योग के त्याग से प्रकटित शैलेशी अवस्था मे 'अयोग' नामक सर्वसन्यास-स्वरुप सर्वोत्तम योग की प्राप्ति होती है ।

इस तरह 'निर्गुण ब्रह्म' घटित होता है। औपाधिक धर्मयोग का अभाव ही 'निर्गुणता' कहलाती है । अनादिकाल से आत्मा में अवस्थित स्वाभाविक–क्षायिक गुणों का कभी निर्मूलन नही होता । यदि उनका निर्मूलन हो जाए तो, गुणाभाव मे गुणीजनो का भी अभाव हो हो जाए। लेकिन 'न भूतो न भविष्यति'। ससार मे ऐसा होना सर्वथा असभव है । औदयिक और क्षायोपशमिक गुणो का जब अभाव हो जाए, नाश हो जाए, तब जीवात्मा उन गुणो से रहित बन जाती है। उसी का नाम 'निर्गुण' है । इस तरह अन्यान्य दर्शनकारो की 'निर्गुण ब्रह्म' की कल्पना यथार्थ बनती है । लेकिन उनमे क्षायिक गुण होने से 'सगुण' भी है ।

अत. हमें इसी सर्वत्याग को परिलक्षित कर निरन्तर औदयिक भावो के परित्याग के पुरूषार्थ मे लग जाना चाहिये ।

> **वस्तुतस्तु गुणैः पूर्णमनन्तैर्भासते स्वत : ।**
> **रूपं त्यक्तात्मन साधोर्निरभ्रस्य विधोरिव ।।८।।६४।।**

अर्थ :– बादलरहित चन्द्र की तरह परम त्यागी साधु/योगी का स्वरूप परमार्थ-समृद्ध और अनन्त गुणो से देदीप्यमान होता है।

विवेचन कही बादल का नामो–निशान नही । स्वच्छ, निरभ्र आकाश ! पूर्णिमा की धवल रजनी और सोलह कलाओ से पूर्ण–विकसित चन्द्र ! कैसा मनोहारी दृश्य ! मानव–मन को पुलकित कर दे ! चराचर सृष्टि मे नवचेतन का सचार कर दे ! निर्निमेष दृष्टि टिकी ही रह जाए। ऐसे अपूर्व सौन्दर्य–क्षणो का कभी अनुभव किया है ? सभव है, जाने–अनजाने कभी कर लिया हो ! फिर भी तन और मन अतृप्त ही रहा होगा ? पुन. पुन. उसी दृश्य का अवलोकन करने की तीव्र लालसा जगी होगी ? लेकिन प्रयत्नो की पराकाष्ठा के बावजूद निराशा ही हाथ लगी होगी । तो लीजिये, परम आदरणीय उपाध्यायजी यशोविजयजी महाराज हमे इसी तरह के एक अलौकिक चन्द्र का अभिनव अवलोकन कराते है ।

"जरा ध्यान से देखो, यहा एक भी कम रूपी बादल नही है। तुम्हारे सामने शुद्ध स्फटिकमय सिद्धशिला का अनन्त आकाश फैला हुआ है। 'शुक्लपक्ष' की अनुपम, धवल रजनी सवत्र व्याप्त है। अनत गुणो मे युक्त आत्मा का चन्द्र पूर्ण कलाओ से विकसित है। पल–दो पल–निरन्तर–निनिमेष नेत्रो से बस, देखते ही रहा उस का अलौकिक सौन्दय, रूप और रग।"

आत्मा के विशुद्ध स्वरूप का अनत गुणमय स्वरूप का ध्यान कठोर कर्मों के मम का छेदन कर देता है। वह तीव्र से तीव्र कर्म-बन्धनो को तोडने म, उन्हे जडमूल से उखाड फकने मे समथ है। जब तक हमे वास्तविक अनत गुणमय आत्मस्वरूप की प्राप्ति न हो जाए, तब तक एकाग्र चित्त से उसका ध्यान और उसे प्राप्त करने का पुरुषाथ निरन्तर करना चाहिये। और एक बार इसकी प्राप्ति होते ही 'सच्चिदानन्द' की प्राप्ति होते देर नही लगेगी। फलत, समस्त सृष्टि, निखिल भूमण्डल पूण रूप से दिखायी देगा। पूणता की अलौकिक सचेतन सृष्टि का दशन होगा। इसी पूणता का परम दशन कराने हेतु पूज्य उपाध्यायजी महाराज ने आवश्यक पुरुषाथ का वणन अपने आठ अष्टको मे क्रमश इस प्रकार किया है पूणतामय, दृष्टि ज्ञानानन्द में लीनता, स्वसपत्ति म चित्त की स्थिरता, मोहत्याग, तत्त्वज्ञता, कषायों का उपशम, इन्द्रिय-जय और सवस्व त्याग।

इस तरह जीवात्मा क्रमश सर्वोच्च पद प्राप्त करती है।

९. क्रिया

"यदि धार्मिक क्रियायें संपन्न न की जायें तो क्या नुकसान है?" यह प्रश्न वर्षों से किया जा रहा है। लेकिन कोई भूलकर भी यह प्रश्न नहीं करता कि 'यदि पाप-क्रियायें न करें, तो क्या हर्ज है?' सचमुच ऐसा प्रश्न कोई नहीं उठाता और उसका भी कारण है! क्योंकि पाप-क्रियायें सब को पसन्द है। यदि धर्म पसन्द है, तो धार्मिक क्रियायें भी पसन्द होनी ही चाहिये। मोक्ष इष्ट है, तो मोक्ष-प्राप्ति के लिये आवश्यक क्रियायें इष्ट होनी ही चाहिये।

ग्रंथकार ने यहाँ जीवन में धार्मिक-क्रियाओं की आवश्यकता और अनिवार्यता को समझाने का सफल प्रयत्न किया है। उन की बातें कितनी सार्थक और अकाट्य है, यह समझने के लिये प्रस्तुत अष्टक का अभ्यास अवश्य करें।

ज्ञानी क्रियापर शा तो, भावितात्मा जितेंद्रिय ।
स्वयं तीर्णो भवाम्भोघे, परास्तारयितु क्षम ।।१।।६५।।

अर्थ सम्यग ज्ञान से युक्त, क्रिया म तत्पर, उपशम युक्त, भावित और जितेन्द्रिय (जीव) ससार रुपी समुद्र से स्वय पार लग गय हैं और अ यों का पार लगाने म समथ हैं ।

विवेचन मानव जीवन का श्रेष्ठतम पुरुषार्थ है – भवसागर से स्वय पार उतरना और अ यो का पार लगाना ।

यदि गगा-यमुना-ब्रह्मपुत्रा सदृश भौतिक नदिया को पार करने के लिये ज्ञान और क्रिया की आवश्यकता है, तब भव के भीषण, रौद्र और तूफानी समुद्र को पार करने के लिये भला ज्ञान और क्रिया की आवश्यकता क्या नही है ? आवश्यकता है और सौ बार है । लेकिन उसकी आवश्यकता तभी महसूस हाती ह, जब भवसागर भीषण, रौद्र और तूफानी लगता हो । जब तक भवसागर प्रशा त, सुखदायक एव सु दर, अति सु दर दिखायी देता है, तब तक जीवात्मा को ज्ञान और क्रिया का महत्व समझ मे नही आता । जीवन मे उस की आवश्यकता का यथाथ ज्ञान नही होता ।

भवसागर से पार लगन और अ य जीवा का पार लगाने हेतु यहाँ निम्नाकित पाँच बात कही गयी हैं –

१ ज्ञानी जिस भवसागर को पार करा है, उसकी भीषणता की जानकारी लिये बिना पार उतरना सभव नही है । साथ ही, जिनके आधार से तिरना है, उन कृपानिधि परमात्मा और करुणामय गुरुदेव का वास्तविक परिचय प्राप्त किये बिना कसे चलेगा ? जिस मे सवार हाकर पार उतरना ह, उस सयम नौका की सपूण जानकारी भी हासिल करना जरुरी है । साथ ही सागर-प्रवास के दौरान आनेवाली नानाविध बाधायें, विघ्न और सकट, उस समय अपेक्षित सावधानी, सुरक्षा-व्यवस्था और आवश्यक साधन सामग्री का ज्ञान भी हमे होना चाहिए ।

२ क्रियापर भवसागर पार उतरने के लिये देवाधिदेव जिनेश्वर भगवत ने जो क्रियायें दर्शायी हैं, उ ह अजाम देने के लिये सदा-सवदा तत्पर होना जरुरी है । तत्परता का मतलब है– काल स्थान और भाव का औचित्य समझ, हर सभव क्रिया करना । उसे करते हुए तनिक

भी आलस्य, वेठ, अविधि अथवा उदासीनता न हो, बल्कि सदैव अदम्य उत्साह और असीम उल्लास होना चाहिये। ज्ञान, दर्शन, तप, चारित्रादि के आचारों का यथाविधि परिपालन होना चाहिये। हालांकि भवसागर से पार उतरने वाली भव्यात्माओं में यह स्वाभाविक रूप से होता है।

३. शान्त शान्ति..समता...उपशम की तो अत्यन्त आवश्यकता है। भले ही ज्ञान हो, क्रिया हो, परन्तु उपशम का पूर्ण रूप से अभाव है, तो पार लगना असंभव है। क्योंकि क्रोध और रोष की भावना जगते ही ज्ञान एवं क्रिया निष्प्राण और निर्जीव हो जाती है। भवसागर में भ्रमण करती नौका वहीं रुक जाती है, ठिठक जाती है। अगला प्रवास अवरोधों के कारण भंग हो जाता है। यदि हमने क्रोध, रोष, ईर्ष्या रूपी भयंकर जलचरों को दूर नहीं किया तो वे नौका में छेद कर देंगे-उसे जल-समाधि देने का हर संभव प्रयत्न करेंगे। नौका में छेद होने भर की देर है कि समुद्र-जल उस में भर आएगा और परिणाम यह होगा कि वह सदा के लिये समुद्र के गर्भ में अन्तर्धान् हो जायेगी। इसी तथ्य को परिलक्षित कर उपाध्यायजी महाराज ने बताया है कि भवसागर पार लगने की इच्छुक आत्मा शान्त-प्रशान्त, क्षमाशील और परम उपशमयुक्त होनी चाहिये।

४. भावितात्मा ज्ञान, दर्शन और चारित्र से आत्मा भावित बननी चाहिये। जिस तरह कस्तूरी से वासित बने वस्त्र में से उसकी मादक सुगन्ध वातावरण को प्रसन्न और आह्लादक बनाती है, ठीक उसी तरह ज्ञान-दर्शन-चारित्र से सुरभित बनी आत्मा में से ज्ञान-दर्शन-चारित्र की सौरभ निरन्तर प्रसारित होती रहती है। उसमें से मोह-अज्ञान की दुर्गन्ध निकलने का सवाल ही पैदा नहीं होता।

५ जितेन्द्रिय · भवसागर से पार लगने के इच्छुक जीवात्मा को अपनी इन्द्रियाँ वश में रखनी चाहिये। अनियन्त्रित बनी इन्द्रियाँ जीव को नौका में से समुद्र में फेंकते विलंब नहीं करती है।

इन पाँच बातों को जिसने अपने जीवन में पूरी निष्ठा के साथ कार्यान्वित किया है, उसे भवसागर से पार लगते देर नहीं लगेगी। अन्य जीवों को पार लगाने की योग्यता भी तभी संभव है, जब उक्त पाँच बातों को साध लिया हो· और जिसने इस की कतई परवाह नहीं

की हो । वह यदि किसी को पार लगाने की चेष्टा करेगा तो खुद तो डूबेगा ही, अपितु दूसरे को भी डूबोएगा ।

क्रियाविरहितं हन्त, ज्ञानमात्रमनर्थकम् ।
गतिं विना पथज्ञोऽपि, नाप्नोति पुरमीप्सितम् ॥२॥६६॥

अर्थ क्रियारहित मात्र ज्ञान सचमुच किसी काम का नही । चलने की क्रिया के प्रति उदासीन, मार्ग जानने वाला व्यक्ति भी इच्छित नगर नही पहुँच सकता ।

विवेचन दिल्ली से बबई की दूरी तुम भलीभाति जानते हो । तुम्हे यह भी मालूम है कि दिल्ली से बबई किस मार्ग से जाया जाता है । राजमार्ग तुम जानते हो और रेल्वे-मार्ग की जानकारी भी तुम्हें है । तुम से यह भी छिपा नही है कि दिल्ली बबई का कितना किराया है । यह तो ठीक, हवाई-मार्ग की सही जानकारी भी तुम्हे है ।

लेकिन यदि तुम प्रवास की पूर्व तैयारी न करो, पदयात्रा आरभ न करो अथवा रेल्वे से प्रवास करने की क्रियारूप टिकट खरीद कर रेल में बैठने का कष्ट न करो तो भला, दिल्ली पहुँच पाओगे क्या ? नही पहुँचोगे । अत हमे गतव्य स्थान पर भले ही वह बबई हो अथवा दिल्ली, क्रिया तो करनी ही होगी । सिर्फ मार्ग की जानकारी प्राप्त करने मात्र से इष्ट स्थान पर पहुँचा नही जाता । ज्ञान के आधार पर गति क्रिया करनी ही होगी ।

तुमने मोक्ष मार्ग की जानकारी हासिल कर ली । आत्मा पर छाये अष्ट कर्मों को जान लिया, उन कर्मों के विच्छेदन की क्रिया भी अवगत कर ली, लेकिन अगर समुचित पुरुषार्थ, परिश्रम न करो तो जानकारी हासिल करने का कोई महत्व नही है । इससे समस्या हल होनेवाली नही है, ना ही बात बनने वाली है । इससे विपरीत अधिकाधिक हानि/नुकसान होने की ही सभावना है ।

मोक्ष मार्ग के लिये आवश्यक क्रिया का त्याग कर यदि कोई जीवात्मा ज्ञान के बल पर ही मोक्ष-प्राप्ति करना चाहता हो तो यह उसका निरा भ्रम है । एक प्रकार की कपोल कल्पना है । मोक्ष मार्ग के अनुकूल क्रियाओं की उपेक्षा करनेवाला मनुष्य ज्ञान बल से मिथ्या-

भिमानी/घमंडी वन जाता है, संसारवर्वक क्रिया-कलापो में निरन्तर ओतप्रोत रहता है और स्व आत्मा को मलिन/कलंकित बनाता भवसागर की अनन्त गहराईयों में असमय ही खो जाता है । फलतः मौत की गोद मे सदा के लिये सो जाता है ।

महत्वपूर्ण तथ्य तो यह है कि जीवात्मा के रोम-रोम मे आत्मा की सत्-चित्-आनन्दमय अवस्था प्राप्त करने की भावना जाग्रत होनी चाहिये । यदि हो गयी है, तो उसके जीवन में ज्ञान और क्रिया का आगमन होते विलंब नही लगेगा । अनादि काल से प्रकृति का यह सनातन नियम है कि जो वस्तु पाने की तमन्ना मन में पैदा होती है, उसकी सही पहचान, पाने के उपाय और उसके लिये किया जानेवाला आवश्यक पुरुषार्थ होता ही है ।

जिसके मन में अतुल सपदा पाने की आकाक्षा जगी हो, वह उसे प्राप्त करने के लिये आवश्यक ज्ञान-प्राप्ति हेतु पुरुषार्थ क्या नहीं करता ? अवश्य करता है । किसी वैज्ञानिक के मन मे अद्‌भुत आविष्कार की महत्त्वाकांक्षा उदित हो जाए, तो वह उसके लिये क्या अथक परिश्रम नही करेगा ? करेगा ही । ठीक उसी तरह अपनी आत्मा को परम विशुद्ध बनाने की तीव्र भावना जिन में उत्पन्न हो गयी थी उनकी, तप्त शिलाओं पर आसनस्थ होकर, घोर तपस्या करने की आख्यायिकाये क्या नही सुनी है ?

मोक्षमार्ग का ज्ञान हो जाने के उपरान्त भी अगर अनुकूल पुरूपार्थ करने मे कोई जीव उदासीन रहता हो तो उसका मूल कारण प्राप्त सुखसमृद्धि मे खोये रहने की कुप्रवृत्ति है, साथ ही नानाविध पाप-क्रियाओ का सहवास । जिन्हे वह छोड़ता नहीं है, उनसे अपना छुटकार पाता नही है ।

परमात्माभक्ति, प्रतिक्रमण, सामायिक, सूत्र–स्वाध्याय, ध्यान, गुरु-भक्ति, ग्लानवैयावृत्य, प्रतिलेखन, तप–त्यागादि विमल क्रियाओ को सदा-सर्वदा विनीत माव से अपने जीवन मे कार्यान्वित करने वाली आत्मा, नि:सन्देह आत्मविशुद्धि के प्रशस्त राजमार्ग पर चल कर उसे सिद्ध करके ही रहती है ।

जो यह कहता है कि, 'क्रियाओं का रहस्य....परमार्थ समझे बिना उन्हे करना अर्थहीन है, व्यर्थ है ।' यदि वह स्वय उन का रहस्य और

परमार्थ समझकर क्रियान्वित करता हो तो उसकी बात अवश्य गौर करने जैसी है। लेकिन आमतौर पर आत्म-विशुद्धि के लिये जो क्रियायें करनी पडती हैं, उन क्रियाओ मे आने वाली अनेक बाधायें सहने मे जो सर्वथा असमर्थ और भयभीत होते हैं, वे लोग पवित्र क्रियाओ का अपलाप करते हैं और उन क्रियाओ का परित्याग कर पाप-क्रियाओ की गलियो मे भटकते हुए पतन की गहरी खाई मे गिर जाते हैं।

स्वानुकूला क्रिया काले, ज्ञानपूर्णोऽप्यपेक्षते ।
प्रदीप स्वप्रकाशोऽपि तैलपूर्त्यादिक यथा ।।३।।६७।।

अर्थ – जिस तरह दीप स्वय प्रकाशस्वरूप होते हुए भी उसम (प्रज्वलित रखने के लिये) तेल-वगैरह की जरूरत होती है। ठीक उसी तरह प्रसगोपात पूर्णज्ञानी के लिये भी स्वभाव स्वरूप काय के अनुकूल क्रिया की अपेक्षा होती है।

विवेचन – जब तक सिद्धि प्राप्त न हो और साधक–दशा विद्यमान है, तब तक क्रिया की आवश्यकता होती है। अलबत्त, साधना की विभिन्न अवस्था मे उनके लिये अनुकूल ऐसी भिन्न-भिन्न क्रियाओ की अपेक्षा होती है। अर्थात् केवलज्ञानी ऋषि-महर्षियो को भी क्रिया की आवश्यकता रहती ही है।

स्वभाव को पुष्ट करने के लिये समायत क्रिया की आवश्यकता रहती है। उचित समय मे उचित क्रिया जरूरी है।

सम्यक्त्व की भूमिका मे रही विवेकी आत्मा समकित के लिये परमावश्यक ६७ प्रकार के व्यवहार का विशुद्ध पालन करती है। उसका आदर्श होता है देशविरति और सर्वविरति का।

देशविरति रूप श्रावकजीवन की कक्षा तक पहुँचे जीव को बारह व्रत की पवित्र क्रियाओ का आचरण करना होता है। क्योकि उसका अन्तिम लक्ष्य सर्वविरतिमय श्रमणजीवन प्राप्त कर कर्मों की पूर्ण निर्जरा करना होता है।

सर्वविरतिमय साधुजीवन मे रही साधक आत्मा को ज्ञानाचारादि आचारो का परिपालन और दशविध यतिधर्म, बाह्य-अभ्यन्तर बारह प्रकार के तपादि क्रियाओ का आश्रय ग्रहण करना पडता है। क्षपकश्रेणी पर चढते समय शुक्लध्यान की क्रिया करनी पडती है।

तत्राष्टमे गुणस्थाने, शुक्लसद्ध्यानमादिमम् ।
ध्यातुं प्रक्रमते साधु राद्यसंहननान्वित : ।।५१।।
—गुणस्थान क्रमारोहे

आठवें गुणस्थानक पर प्रथम वज्रऋषभ–नाराच संघयण वाला साधु प्रथम शुक्लध्यान करना प्रारंभ करता है। तात्पर्य यह है कि उसे ध्यान करने की क्रिया करनी ही पडती है ।

घाती कर्मो का क्षय कर जो आत्मा पूर्णज्ञानी बन गयी, उसे भी सर्वसंवर और पूर्णानन्दप्राप्ति के अवसर पर **योगनिरोध** की क्रिया करनी पडती है, **समुद्घात** की क्रिया करनी पड़ती है ।

पूर्णता के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचने के लिये हर भूमिका पर आवश्यक क्रिया करनी पड़ती है । इस तथ्य का वही इन्कार कर सकता है, जिसे जैनदर्शनप्रणीत मोक्ष–मार्ग का ज्ञान न हो, जानकारी न हो।

तर्क से भी क्रिया का महत्व समझा जा सकता है । अनादिकाल से जीवात्मा पाप–क्रिया में आकंठ डूबी रहकर निरन्तर संसार–परिभ्रमण करती रही है । हमारी पाप–क्रियायें ही भव–भ्रमण की मूल कारण है। यदि भव–भ्रमण की क्रिया को रोकना है, तो पहले उसके कारणों का संशोधन कर उसे रोकना होगा, नष्ट करना पड़ेगा । पाप–क्रियाओं की प्रतिपक्षी धार्मिक क्रियाओ के द्वारा पाप–क्रियाओं का निवारण होता है ।

जहाँ तक जीव संसार–भ्रमण करता है, उसे कुछ न कुछ कर्म अथवा कोई न कोई क्रिया करनी ही पड़ती है, फिर भले ही वह पाप-क्रिया हो या धार्मिक क्रिया । जिसकी दृष्टि **सत–चित्–आनन्द** स्वरुप पूर्णता की चरम चोटी तक पहुँच गयी हो, जो आत्मा उस मंजिल तक पहुँचने के लिये प्रयत्नों की पराकाष्ठा कर रही हो, वह आत्मा उन पवित्र क्रियाओ को करने के लिये सदैव तत्पर रहती है ।

घी अथवा तेल से भरा दीपक स्वयं ज्योति स्वरुप होते हुए भी यदि उसमे समय पर घी या तेल न पूरा जाय, तो क्या होगा ? मतलब वहा घी–तेल पूरने की क्रिया सर्वथा अपेक्षित है । बिजली खुद ही प्रकाश–स्वरुप होते हुए भी 'स्विच ऑन' करने की और पावर–हाउस

से विद्युत प्रवाहित करने की क्रिया अपेक्षित ही है । ससार मे भला ऐसा कौन सा क्षेत्र है, जहा मन-वचन-काया की क्रियायें अपक्षित नही ह ? कौन सा ऐसा काय है कि जो क्रिया न करने के बावजूद भी सपन्न होता है ? तात्पय केवल इतना ही ह कि प्रत्येक साधक को, निज प्रमाद, आलस्य, उदासीनता और मिथ्याभिमान को दूर कर निरतर अपनी भूमिका के अनुकूल क्रिया करनी ही चाहिये, जो देवाधिदेव जिनेश्वर भगवत द्वारा निर्देशित है। क्रिया को हमे विधिपूवक, कालोचित और प्रीति-भक्ति के साथ कार्यान्वित करना परमावश्यक है ।

> बाह्यभाव पुरस्कृत्य, ये क्रिया व्यवहारत ।
> वदने कवलक्षेप विना ते तृप्तिकाङ्क्षिण ॥४॥६८॥

अर्थ — जो बाह्य क्रिया म भाव को आगे कर व्यवहार से उसी क्रिया का निषेध करते है, व मुह म कौर डाले बिना ही तृप्ति की अपेक्षा रखते है।

विवेचन क्या तुम्हारी यह मान्यता है कि 'पौषध, प्रतिक्रमण, प्रभु दशन, पूजन अचन, गुरुभक्ति, प्रतिलेखन, सेवा और तपश्चर्या आदि व्यवहार-क्रियाय सिफ बाह्य भाव है, इससे आत्मा का कल्याण सभव नहो । क्या तुम्हारा यह मतव्य है कि हिंसा, असत्य, दुराचार, क्रूरता, चोरी और परिग्रह की क्रियाओ मे तुम दिन-रात खोये रहो और तुम अहिंसा, सत्य, अचौय, सदाचार, अपरिग्रह आदि की सिद्धि प्राप्त कर लोगे ? क्या यह सभव है कि तुम रमणीरूप के दशन, मदान्ध श्रीमता की सेवा, आकषक वेशभूषा और स्वादिष्ट भोजन की विविध क्रिया म सदव इतराते इठलाते रहो, केलि-क्रिडा करते रहो, फिर भी तुम आत्मा की शुद्ध, बुद्ध, निरजन, निराकार दशा/अवस्था पा लोगे ? तो यह तुम्हारा निरा भ्रम है। अरे भाई, जरा शान्ति से सोचो । स्वस्थ मन से विचार करो । निराग्रही बुद्धि का अवलबन लेकर सोचो । हमारे पूवज, ऋषि मुनि, महर्षियो के अनुभवसिद्ध वचनो को स्मरण कर उन्हें समझने का प्रयत्न करो ।

बाह्य भाव के दो भेद हैं एक शुभ और दूसरा अशुभ । जिस म सरासर आत्मा की विस्मृति ह और जो सिर्फ विषयानन्द की प्राप्ति के हेतु ही की जाए, वह क्रिया अशुभ बाह्यभाव कहलाता है । और

जिसमें आत्मा की मधुर स्मृति जाग्रत होती है, एक मात्र आत्मानन्द की प्राप्ति का लक्ष्य है, करुणासागर परमदयालु जिनेश्वर भगवान के प्रति श्रद्धाभाव है और पापक्रिया से मुक्त होने की पवित्र भावना है, ऐसी कोई भी क्रिया शुभ साधु भाव है। अशुभ पाप-क्रियाओं की अनादि-कालीन आदत से छुटकारा पाने के लिये धर्म-क्रियाओं का आश्रय लिये बिना और कोई चारा नहीं है। उसके बिना सब व्यर्थ है।

अगर तुम्हारा पुत्र तुमसे कहे कि 'पिताजी, मुझे शाला में दाखिल क्यों करते हो? विशेष प्रकार की वेशभूषा करने का आग्रह क्यों कर रहे हो? अमुक पुस्तकों का ही मनन-पठन करने का आदेश क्यों देते हो? अध्यापक के पास जाकर शिक्षा-ग्रहण करने का उपदेश क्यों देते हो? क्योंकि यह सब व्यर्थ है, निरर्थक है, बल्कि किसी काम का नहीं। ज्ञान तो आत्मा का गुण है और आत्मा में ही ज्ञान का प्रगटीकरण होता है। तब नाहक शाला में जाकर विद्याध्ययन करने का कष्ट क्यों उठाना? अतः मैं शाला में नहीं जाऊँगा, घर पर ही रहूँगा, खूब मौज–मस्ती करूँगा और टी. वी.—वीडियो देखूँगा।' तब क्या तुम उसकी बात को मान लोगे, स्वीकार कर लोगे? उसका शाला में जाना बन्द कर दोगे? घर पर बिठा दोगे?

एकाध सैनिक अपने नायक से आकर कहे: "आप कवायद क्यों करवाते हैं? किसलिये मीलो तक दौड लगवाते हैं? नाना प्रकार की कसरत करवाते हैं? शस्त्र-सचालन का प्रशिक्षण क्यो देते हैं? बल और शक्ति आत्मा का गुण है और आत्मा में से ही पैदा होता है। अत यह सब निरर्थक है, सारी क्रियायें निरी बकवास हैं।" क्या नायक ऐसे सैनिक को पल भर के लिये भी सह लेगा? उसे सेना मे से भगा नही देगा?

आत्मगुण के लिये आवश्यक क्रिया-अनुष्ठान करना ही पडेगा। तभी सही आत्मगुणो का प्रगटीकरण सभव है। अनन्त ज्ञानी जिनेश्वरदेव ने आत्म–विशुद्धि के लिये जिन कायिक, वाचिक एवं मानसिक प्रक्रियाओ को महत्वपूर्ण बताया है, उन्हे श्रद्धा-भाव से करना ही पड़ेगा।

मुँह मे कौर डाले बिना कही उदरतृप्ति हुई है? यदि हमें परम तृप्ति का सुख चखना है तो मुँह में कौर डालने की क्रिया निःसंदिग्ध

भाव से करनी ही पडेगी । ठीक उसी तरह यदि परम आत्म-सुख का अनुभव करना है, तो उसके लिये आवश्यक क्रियाओ को करना ही पडेगा ।

गुणवदबहुमानादेर्नित्यस्मृत्या च सत्क्रिया ।
जात न पातयेद् भावमजात जनयेदपि ॥५॥६६॥

अर्थ अधिक गुणवत के बहुमानादि से तथा अगीकृत नियमो को नियमित सभालने से शुभ क्रिया, प्रगट हुए शुभ भाव को न मिटाये, न नष्ट करे, साथ ही जो भाव अभी प्रगट नही हुए है, उन्हे उत्पन्न करती है ।

विवेचन अन्तरात्मा से प्रगट शुभ पवित्र उन्नत मोक्षानुकूल भाव तो हमारी अमूल्य निधि है, सर्वश्रेष्ठ सपत्ति है । इसका सरक्षण करना हमारा परम कर्तव्य है । प्रस्तुत भाव की सपदा के माध्यम से ही हम परमपद की प्राप्ति कर सकेंगे ।

भाव की भी अपनी विशेषता है । यदि प्रति समय सावधानी से उसका सरक्षण न करे, तो इसे खत्म होते देर नही लगती । ऐसे शुभ, लेकिन चचल भावो का सरक्षण करने के लिये सात उपाय बताये है, जो सरल हैं और सुन्दर हैं । लेकिन इन उपायो का अवलबन तभी किया जा सकता है जब शुभ भावो का समुचित मूल्याकन किया गया हो, बाह्य भौतिक सपत्ति से भी बढकर अनत गुना महत्व उसे दिया गया हो । शुभ भावो की रक्षा के लिये कुछ भी करने की तैयारी होनी चाहिये । उसके लिये जो भोग देना आवश्यक है, देने के लिये हमे सदैव तत्पर रहना चाहिये ।

* सत्य के पवित्र भाव का सरक्षण करने हेतु राजा हरिश्चद्र ने अपना सब कुछ त्याग दिया था । राजसी ठाठ बाठ, वैभव विलास, यहा तक कि सवस्व त्याग कर, चडाल के हाथ खुद बिक जाने तक का ज्वलन्त बलिदान किया था ।

* अहिंसा के उन्नत भाव की रक्षा हेतु महाराजा कुमारपाल ने अपने पर की चमडी काटकर मकोडे को बचा लिया था ।

* सतीत्व के सर्वोत्तम भाव के जतन के लिये सीता ने लकापति रावण की अशोक वाटिका मे कष्ट सहन किये थे । पितृ वचन

की रक्षा हेतु श्री राम ने हँसते-हँसते अयोध्या का राजा-त्याग कर वनवास की राह पकडना पसन्द किया था ।

१. **व्रत का स्मरण** :– जव हमारे शुभ भावों पर अशुभ भावो का आक्रमण होता है, तव हमें अंगीकृत व्रत / प्रतिज्ञा का सतत स्मरण करना चाहिये । फलत. आत्मा में ऐसी अजेय शक्ति का प्रादुर्भाव होता है कि जिसके वल से, आधार से, अशुभ भावों को भगाने में क्षण का भी विलंव नही लगता । झांझरिया मुनि पर जव कामोन्मत्त सुन्दरी ने आक्रमण किया था, तव मुनिवर ने शान्त-चित्त से यही कहा था :

मन-वचन-काया से अहित,
लिया व्रत नहीं भंग करु ।

अविचल रहुँ ध्रुव सा निज तप मे
पुन. संसार का न मोह धरुँ ॥

२. **गुणशालियों का सम्मान** – गुणशाली का मतलब है शुभ भावनाओं के शस्त्रास्त्रो से सज्ज सैनिक ! इनके प्रति अगाध श्रद्धा, परम भक्ति और अपार प्रीति-भाव रखने से संकट काल मे वे हमारी सहायतार्थ दौड़े आते है और हमारे आत्मधन की रक्षा करते हैं ।

३. **पाप-जुगुप्सा** : हमने जिन पापो का परित्याग कर दिया है, उन के प्रति कभी किसी प्रकार का आकर्षण पैदा न हो । मोह की सुप्त भावना उत्पन्न न हो जाए, अत. सदैव उन पापों से घृणा करनी चाहिए । उन के सम्बन्ध मे हमारे मन मे नफरत की चिंगारी सुलगनी चाहिए । जिस तरह ब्रह्मचारी के दिल में अब्रह्म की पाप-क्रिया से नफरत होती है ।

४. **परिणाम–आलोचन** : पाप-क्रिया से होने वाले परिणाम और धर्म-क्रिया के परिणाम पर हमे निरन्तर विचार करना चाहिये, चिन्तन-मनन करना चाहिये । '**दु:ख पापात् सुख धर्मात्**' सूत्र स्मृति में रहना चाहिए ।

५. **तीर्थंकर भक्ति** . देवाधिदेव तीर्थंकर भगवान का नामस्मरण, दर्शन-पूजन और उनके अनन्त उपकारों का सतत स्मरण-चिन्तन जरूरी

है। साथ ही उनके प्रति अनन्य प्रीति-भाव धारण करने से हमारे शुभ भावों में निरन्तर वृद्धि होती रहती है।

६ सुसाधु-सेवा मोक्षमार्ग के अनुकूल आचरण रखने वाले साधु पुरुषों की आहार, वस्त्र, जल, पात्र, औषधादि से उत्कट सेवा और भक्ति करनी चाहिए।

७ उत्तर गुण श्रद्धा पच्चक्खाण, गुरुवंदन, प्रतिक्रमण, तप-त्याग, विनय विवेक आदि विभिन्न शुभ-क्रियाओं में सदा-सर्वदा प्रवृत्तिशील रहना चाहिये।

इस तरह की प्रवृत्ति से सम्यग्ज्ञानादि, संवेग निर्वेद आदि भाव नष्ट नहीं होते और जिनमें ये प्रगट नहीं हुए हैं, उनमें ये भाव पैदा होते हैं। और अन्तिम ध्येय स्वरूप परमानंद की प्राप्ति होती है।

> क्षायोपशमिके भावे, या क्रिया क्रियते तया।
> पतितस्यापि तद्भावप्रवृद्धिर्जायते पुन ॥६॥७०॥

अर्थ क्षायोपशमिक भाव में जो तपसंयम-पूजन क्रिया की जाती है, उसके माध्यम से गिरी हुई जीवात्मा में पुन उस भाव की वृद्धि होती है।

विवेचन आत्मविशुद्धि की साधना यानी नगाधिराज हिमालय की ऊँची पर्वत-श्रेणियों का आरोहण! यह कार्य अत्यन्त कठिन और दुष्कर है! सजग आरोहक भी यदि सावधानी न बरते और सूझ-बूझ से काम न ले तो कभी-कभार फिसलते देर नहीं लगती। इसमें आश्चर्य करने जैसी कोई बात नहीं है, बल्कि आश्चर्य और अचरज तब होता है, जब गहरी खाई में गिरा आरोहक पुन दुगुने उत्साह से और अपूर्व जोश से गिरि-आरोहण करने का साहस करता है, पुरुषार्थ करता है।

ऐसे आत्मविशुद्धि के भावशिखर पर आरोहण करते हुए फिसलकर गिरे, पतन की गहरी खाई में दबे आराधक की निराशा को परमाराध्य उपाध्यायजी महाराज पूरी तरह दूर करके उसे पुन आरोहण के लिये सन्नद्ध करते हैं। उनका स्पष्ट शब्दों में मार्ग-दर्शन करते हैं।

यदि ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय एवं अन्तराय कर्मों के क्षयोपशम से तप और संयम के अनुकूल क्रिया करने लगे, तब निःसंदेह

तुम्हारे अन्तर की गहराईयों मे तप एवं सयम, ज्ञान और वैराग्य, दान और शील के भावों की वृद्धि होने लगेगी। तप और संयम के अनुकूल जो भी अनुष्ठान करो, वह निर्विवाद रूप से सुदृढ और उग्र पुरुषार्थरूप होना चाहिए।

यह बात उस पतित आराधक को परिलक्षित कर कही गयी है, जो साधु-वेष मे है, जिसका दैनंदिन आचरण और दिनचर्या भी साधु जैसी ही है, लेकिन जो भाव-साधुता के भाव से कोसों दूर चला गया है। जिसमे सयमभाव का अंश तक नही है। ठीक उसी तरह वेश श्रावक की है, लेकिन जिसमे श्रावकजीवन के लिये आवश्यक तप-संयम-भाव का पूर्णतया अभाव है। ऐसी विषम परिस्थति मे यदि उसे साधु/श्रावक को पुन शुभ भाव मे स्थिर होना है, अपने मूल स्वरुप को प्राप्त करना है, तो उसे दृढ संकल्प के साथ ज्ञान-दर्शन चारित्र के लिये पोषक क्रियाये करने का पुरुपार्थ करना चाहिये।

मान लो, किसी साधु का मन विपय वासना से उद्दीप्त हो गया। उसका ब्रह्मचर्य का भाव भग हो गया। तव वह सोचने लगे कि "मै विषय-वासना से पराजित हो गया हूँ। मै चौथे व्रत का पालन करने मे पूर्ण रूप से असमर्थ हूँ। अत· अव साधुता मे क्या रखा है? क्यो न इसका (साधु-जीवन का) परित्याग कर गृहस्थ बन जाऊँ...?" तव उसका उत्कर्ष और उत्थान प्राय: असंभव है। पुन: वह संयम-मार्गी हर्गिज नही बन सकता। लेकिन इससे विपरीत, उसे यो सोचना चाहिए कि "अरे, यह मेरी कैसी दुर्बलता है? मुझमे कैसी कमी रह गयी है कि साधुता ग्रहण करने के बावजूद भी मै साधु-जीवन के मूलाधार ऐसे ब्रह्मचर्य व्रत के भाव से च्युत हो गया हूँ, निःसत्त्व और पंगु बन गया हूँ, अव मेरी आत्मा का क्या होगा? मैं परम विशुद्धि की मंजिल कैसे पा सकूंगा? फिर एक बार मैं ससार-सागर मे डूब जाऊँगा? मेरा सत्यानाश हो जायेगा। यह मुझे किसी भी कीमत पर मजूर नही / स्वीकार नहीं। अत मैं प्रयत्नों की पराकाष्ठा कर खोये हुए ब्रह्मचर्य के भाव को दुवारा पाये बिना चैन की साँस न लूँगा। मै ब्रह्मचर्य का दृढ़ता से पालन करुँगा। उन्माद और पागलपन को छोड़ दूँगा। घोर तप करुँगा, मन को ज्ञान की शृंखला से जकड़ रखूँगा। चारित्र की

हर क्रिया मे अप्रमत्त बन दुष्ट आचार-विचारो को दुवारा घुसने न दूँगा । मुझे अपने सकल्प मे पराजित होकर पीछे नही हटना है ।

ऐसे समय मे पूज्य उपाध्यायजी महाराज विश्वास दिलाते हैं कि अगर इस तरह दृढ सकल्प से वह साधुजीवन की साधना म लग जाए, तो अल्पावधि मे ही पुन व्रत के पवित्र भाव से प्लावित होते देर नही लगेगी ।

शुभ क्रिया तो शुभ भाव की बाड है, कटीली और मजबूत । यदि उसमें कोई छेद कर दे, तो अशुभ भाव रुपी पशुओ को घुसते देर नहीं लगेगी । और शुभभाव की हरी-भरी फसल को पल भर मे चट कर जायेंगे । गँवार किसान भी यह भली-भाति जानता है कि बाड के बिना फसल की रक्षा नही हो सकती । तब भला बुद्धिमान साधक इस तथ्य और सत्य को क्या नही समझ सकता ? वह जरूर समझता है । लेकिन क्या करे, राह जो भटक गया ह । महाव्रत/अणुव्रतादि के भाव और दर्शन ज्ञान चारित्र के भावो की सुरक्षा तथा सरक्षण के लिये ही अनतज्ञानी परमात्मा जिनेश्वरदेव ने तप-सयमादि अनेकविध क्रियाओं का निरुपण किया है । अत क्रियाओ का परित्याग कर शुभ-भाव मे वृद्धि और रक्षा की बात करना सरासर मूर्खता है । यह शाश्वत् सत्य है कि अशुभ भावा की जन्मदात्री अशुभ क्रियायें ही है जिसे कोई झूठला नही सकता । अत इसका सदन्तर त्याग ही मोक्ष-माग का सुनहरा सोपान है, जिसका आरोहण करना हर साधक का परम कतव्य है ।

गुणवृद्ध्यै तत कुर्यात् क्रियामस्खलनाय वा ।
एक तु सयमस्थान, जिनानामवतिष्ठते ।।७।।७१।।

अथ — अत गुण की वृद्धि हेतु अथवा उसम से स्खलन न हो जायें इसलिये क्रिया करना आवश्यक है । एक सयम-स्थानक तो केवलज्ञानी का ही होता है ।

विवेचन : जीवात्मा का साधना के समय केवल एक ही लक्ष्य, एक ही ध्येय और एक ही आदर्श रहना चाहिये और वह है, 'गुणवृद्धि' । प्रत्येक शुभ/शुद्ध क्रिया का लक्ष्य / ध्येय और आदश एक मात्र आत्मगुणा की अभिवृद्धि ही होना चाहिये । व्यापारी दुकान के जरिये सिफ एक

ही मकसद पूरा करने में हमेशा जुटा रहता है और वह मकसद है धनवृद्धि । धन बटोरने के लिये, संपत्ति इकट्ठी करने के लिये वह हर संभव मार्ग अपनाता है, उपाय और योजनाओ को कार्यान्वित करता रहता है । भले ही उसका प्रयास, अपनाया हुआ मार्ग अपार कष्ट और अथक परिश्रम वाला क्यो न हो ? लेकिन वह लक्ष्य–पूर्ति के लिये सदा-सर्वदा सचेत, सजग और सन्नद्ध रहता है । और जैसे-जैसे धन-वृद्धि होती जाती है, उसके पुरुषार्थ मे बढोतरी होती जाती है । उसका पुरुषार्थ दीर्घकालीन होता जाता है और यह सब करते हुए उसके उत्साह का ठिकाना नही रहता ।

ठीक उसी तरह धार्मिक क्रियात्मक साधना, गुणवृद्धि हेतु खोली गयी दुकान ही है । और क्रियात्मक व्यापारी की प्रत्येक क्रिया का लक्ष्य/ध्येय गुणों की वृद्धि ही होना चाहिए । जिन-जिन क्रियाओं के माध्यम से गुणवृद्धि होने की संभावना है, भले ही वे क्रियाये कष्टप्रद और परिश्रम से परिपूर्ण क्यो न हों, गुणवृद्धि के अभिलाषी को हँसते-हँसते करनी चाहिये । और जैसे-जैसे गुणवृद्धि होती जायेगी, वैसे-वैसे उसके पुरूषार्थ में एक प्रकार की स्थिरता और दीर्घकालीनता का आविर्भाव होता जाएगा । फलतः उक्त क्रिया का आनन्द ब्रह्मानन्द-चिदानन्द मे परिवर्तित होते विलंब नहीं होगा ।

यहाँ हम कुछ महत्वपूर्ण क्रियाओ पर विचार करते है ।

सामायिक : इसका ध्येय/लक्ष्य समतागुण की वृद्धि होना चाहिये । जैसे-जैसे सामायिक की क्रिया कार्यान्वित होती जाये, वैसे-वैसे आत्म-कोष में समतागुण की वृद्धि होनी चाहिये और सुख-दु.ख के प्रसंग पर उन्माद-शोक की वृत्तियाँ मंद होनी चाहिये । साथ ही प्रतिदिन, प्रतिमाह और प्रतिवर्ष हमें आत्मनिरीक्षण करना चाहिये कि सामायिकक्रिया के माध्यम से हमने क्या पाया ? राग-द्वेष कम हुए है या नही ? क्रोध-वृत्ति मे कमी हुई है अथवा नही ? वैसे सामायिक की क्रिया निरन्तर गुणवृद्धि करने वाली और समतागुण की एकमेव संरक्षण-शक्ति है ।

प्रतिक्रमण : पापजुगुप्सा, पापनिन्दा, पाप-त्याग के गुण की वृद्धि के लिये क्रिया की जाती है । इस के माध्यम से गुणवृद्धि के साथ-साथ जीवात्मा पाप-स्खलन से बच जाता है ।

तपश्चर्या आत्मा के अनाहारीपन के गुण की वृद्धि के लिये और आहारसंज्ञा के दोष के क्षय हेतु प्रस्तुत क्रिया अनिवार्य है। इसके बिना दोष-क्षय अथवा अनाहारीत्व गुण की वृद्धि प्राय असभव है।

गुरुसेवा विनय, विवेक, आज्ञाकिता, लघुता, नम्रतादि, गुणो की अभिवृद्धि के लिये गुरुसेवा और गुरुभक्ति जैसी क्रियायें अनन्य साधन हैं। सावधानी के साथ यदि इसका अवलबन लिया जाय, तो गुण-वृद्धि दूर नही है। अन्यथा जो गुण है, उनका लोप होते देर नही लगती।

तीर्थयात्रा परमात्मा के प्रति प्रीति, भक्ति और श्रद्धाभाव प्रदर्शित करने के लिये और स्व-गुणवृद्धि हेतु तीर्थयात्रा एक महत्वपूर्ण आलबन है। विविध तीर्थों की यात्रा, जीवात्मा मे परमेश्वर के प्रति अगाध भक्ति अनुपम प्रीति और अनिर्वचनीय श्रद्धाभाव पैदा करती है और गुणवृद्धि करने में सहायक सिद्ध होती है। लेकिन प्रस्तुत गुणो को विकसित करने की तमन्ना होना आवश्यक है। गुणो के बिना सारा जीवन सूना लगना चाहिये।

इस तरह दान, शील, तप, स्वाध्याय, सलेखना, अनशन इत्यादि विविध अभिग्रह वगैरह क्रियाये नित नये गुणो के विकास और वृद्धि के लिये करनी चाहिये। इसके अभाव मे गुणप्राप्ति, गुणवृद्धि और गुणरक्षा प्राय असभव है। क्योकि छद्मस्थ जीवो के सयम-स्थान, अध्यवसाय-स्थान चचल होने के साथ साथ लोप होने के स्वभाववाले हैं। केवलज्ञानी समस्त गुणो से युक्त होते है। अत उनके लिये गुण क्षय अथवा गुणो के पतन जैसा कोई भय नही है। साथ, ही उनका सयमस्थान अप्रतिपाती स्थिर होता है।

वचोऽनुष्ठानतोऽसगाक्रियासगतिमगति
सेय ज्ञान क्रियाऽभेदभूमिरानन्दपिच्छला ॥८॥७२॥

अर्थ : वचनानुष्ठान से असग क्रिया की योग्यता प्राप्त होती है। वह ज्ञान और क्रिया की अभेद भूमि है, साथ ही आत्मा म अभेद से आप्लावित है।

विवेचन जब देवाधिदेव जिनेश्वर भगवन्त की प्रीति- भक्ति में जीवात्मा पूर्णरूप से आप्लावित हो जाए, आत्मा का एक एक प्रदेश भक्तिभाव

के सुगंधित जल से अभिषिक्त हो जाता है, तब उसमें ऐसा अद्भुत विशुद्ध वीर्य उल्लसित हो उठता है कि जिसके माध्यम से अपने प्रियतम परमात्मा के गहन वचनों को यथार्थ रूप मे समझने में शक्तिमान बन जाता है और तदनुसार यथासंभव पुरुषार्थ करने के लिये कटिबद्ध बनता है।!

फलतः उत्सर्ग और अपवाद, निश्चय और व्यवहार, नय और प्रमाणादि के वास्तविक ज्ञान के साथ-साथ सर्वत्र वह आत्मा के लिये अनुकूल प्रवृत्ति करने के लिये तत्पर बन जाता है। तब वह 'असंग-अनुष्ठान' की सर्वोत्तम योग्यता प्राप्त करता है। ऐसी स्थिति मे ज्ञान और क्रिया के बीच रहा अन्तर / भेद अपने आप दूर हो जाता है और दोनों परस्पर एक दूसरे के भाव मे समरस हो जाते है।

असंग-अनुष्ठान की भूमि में भाव स्वरुप क्रिया, शुद्ध उपयोग और शुद्ध वीर्योल्लास मे एकाकार हो जाती है। तीनों का स्वरुप भिन्न नही रहता, बल्कि सुभग-सुन्दर त्रिवेणी-संगम बन जाता है। वे अपने अलग अस्तित्व को तिलांजलि देकर परस्पर तादात्म्य साध लेते हैं। तब आत्मा स्वाभाविक आनन्द के अमृतरस मे तरबतर हो जाती है। फलतः इससे परम तृप्ति का अनुभव करते हुए 'जिनकल्पी' 'परिहार विशुद्धि' साधु/महात्मा इस जीवन में परम सुख का रसास्वादन करते रहते हैं।

ऐसी सर्वोच्च अवस्था प्राप्त करने के लिये निम्नांकित चार बातें बतायी है।

१. परमात्मा जिनेश्वर देव के प्रति अनन्य प्रीति।

२. परमात्मा जिनेश्वर देव के प्रति श्रद्धा-भक्ति।

३. परमात्मा जिनेश्वर देव के वचनो का सर्वांगीण ज्ञान।

४. उक्त ज्ञान के माध्यम से जिनवचनानुसार जीवन पावन करने हेतु महापुरुषार्थ।

जब परमात्मा जिनेश्वर देव के प्रति प्रीति-भक्ति का भाव हो जाता है, तब संसार के भौतिक / पौद्गलिक पदार्थों के साथ स्नेह-संबन्ध नही रह पाता। शब्द, रूप, रस और गंध के बन्धन टूटने लगते हैं। मोहान्ध कामान्ध जीवो का आदर-सत्कार करने की प्रवृत्ति बन्द हो जाती है। संसारविषयक, बातों को जानने की, समझने की, अवलोकन करने की और

सुनने की वृत्ति अप्रिय लगने लगती है। जीवन में से पापमय पुरुषार्थ लुप्त होने लगता है और एक दिन ऐसा आता है, जब इन समस्त कुप्रवृत्तियों से पीछा छुडाकर परमात्मा के मधुर मिलनार्थ जीवात्मा सयम मार्ग की ओर अग्रसर होता है, दौड लगा देता है। उस समय उसे किसी बात की परवाह नही होती। भले फिर मार्ग कटकाकीर्ण और उबड-खावड क्यो न हो? मूसलाधार वर्षा और देह को कपायमान करने वाली सद रात क्यो न हो? उसे इनका कतई अनुभव नही होता। अपितु उसकी कल्पना-सृष्टि मे सिर्फ एक 'परमात्मा' के अतिरिक्त, कुछ नही होता। वह निरन्तर बढता ही जाता है। गति मे बाधा नही पडने देता और जैसे-जैसे आगे बढता है, वसे-वैसे उसके आनन्द, उत्साह और उल्लास का पार नही रहता है।

तात्पर्य यह है कि जब तक गुणो की पूर्णता प्राप्त न हो तब तक जीवात्मा को चाहिये कि वह जिनेश्वर देव द्वारा निरूपित क्रियाओ को निरतर करता ही रहे। उन क्रियाओ की जानकारी प्राप्त कर केवल कृतकृत्य होना नही है। यदि क्रिया को त्याग दिया, तिलाजलि दे दी, तो ज्ञान एक तरफ धरा रह जाएगा और जीवन नानाविध पाप-क्रियाओ से सराबोर हो जाएगा। तब तुम्हारे ज्ञान का उपयोग उन्हे जडमूल से उखाड फकने के बजाय उनको पुष्ट करने के लिये होगा और तब परिणाम यह होगा कि आत्मा की उन्नति के बजाय अवनति / पतन होते पल का भी विलब न होगा। आत्मा की ऐसी दुर्दशा न हो, अत उपाध्यायजी महाराज धर्मक्रियाओ को कार्यान्वित करने मे मन वचन काया से लग जाने की/जुट जाने की प्रेरणा देते हैं।

१०. तृप्ति

अतृप्त मानव संसार की गलियों में भटक-भटक कर तृप्ति की परिशोध कर रहा है । उत्तरोत्तर उसकी अतृप्ति एवं तृष्णा बढ़ती ही जा रही है । अतिशय श्रम, संताप, बेचैनी और उद्विग्नता से थका-हारा वह निरुद्देश्य, जहाँ आशा की धुंधली किरण देखी, वहाँ अनायास आगे बढ़ जाता है । ऐसे तन-मन से बावरे बने मानव को यहाँ परम तृप्ति का मार्ग बताया गया है । इस पर चलकर ऐसी तृप्ति प्राप्त कर लो कि फिर जीवन में दुबारा अतृप्ति की तड़प और बेचैनी पैदा होने का सवाल ही न उठे । अमृत-सिंचन से जीवन-बगिया पुनः महक उठेगी । जहाँ नजर डालोगे, सर्वत्र तृप्ति ही तृप्ति के दर्शन होंगे । साथ ही कभी न अनुभव किया हो, ऐसे परमानन्द की प्राप्ति होगी ।

अतृप्ति की धधकती ज्वालाओं को शान्त कर जीवन को हरा-भरा बनाने हेतु प्रस्तुत अष्टक का पठन-मनन करना अत्यावश्यक है ।

पीत्वा ज्ञानामृत भुक्त्वा, क्रियासुरलताफलम् ।
साम्यताम्बूलमास्वाद्य, तृप्ति याति परा मुनि ॥ १ ॥ ७३ ॥

अर्थ — ज्ञान रुपी अमृत का पान कर और क्रिया रुपी कल्पवृक्ष के फल खाकर, समता रुपी ताबूल चखकर साधु परम तृप्ति का अनुभव करता है ।

विवेचन परम तृप्ति, जिसका पाने के बाद कभी अतृप्ति की आग प्रदीप्त न हो, यह पाने का कैसा तो सुगम/सरल और निर्भय माग बताया है ! हमेशा ज्ञानामृत का मधुर पान करो, क्रिया सुरलता के फलो का रसास्वादन करो और तत्पश्चात् उत्तम मुखवास से मुँह को सुवासित करो ।

ऐसे अलौकिक ज्ञानामृत को छोडकर भला, किसलिये जगत के भौतिक पेय का पान करने के लिये ललचाना ? अपने आप मे मलिन, पराधीन और क्षणाध मे विलीन हो जाने वाले भौतिक पेय पदार्थो का पान करने से जीवात्मा का मन राग–द्वेष से मलिन बनता है । साथ ही इन पेय पदार्थों की प्राप्ति हेतु प्राय अन्य जीवो की गुलामी, अपेक्षा और खुशामदखोरी करनी पडती है। अवाछित लोगो का मुँह देखना पडता है । और यदि मिल भी जाये तो उनका सेवन क्षणिक सिद्ध होता है । पुन इन की प्राप्ति के लिये पहले जैसी ही गुलामी और चाटुकारिता ! तब कही घटे दो घटे का आनन्द ! ऐसी परिस्थिति मे ससार के विषचक्र मे फसा जीव भला, किस तरह अन्तरग/आन्तरिक आनन्द–महोदधि मे गोतें लगा सकता है ? उसके लिये प्राय यह सब असभव है । इसके बजाय बेहतर है कि भौतिक पेय पदार्थों का पान करने की लत का ही छोड दिया जाय । क्षणिक माह को त्याग दिया जाए । मेरे आत्मदेवता ! जागो, कुभकर्णी नीद का त्याग करो और ज्ञान से छलकत अमृतकुभ की तरफ नजर करो । इसे अपनाने के लिये तत्पर बनो । प्रस्तुत अमृत–कुभ को निरन्तर अपने पास रखो और जब कभी तृषा लगे, तब जी भर कर इसका पान करो । यह करने से ना ही राग–द्वेष से मलिन बनोगे, ना ही स्वार्थी लोगो की खुशामद करनी पडेगी और ना ही इस ससार मे दर–दर भटकने की बारी आएगी ।

तब यह प्रश्न खडा होगा कि भोजन कौन सा किया जाए ? लेकिन यो घबराने से काम नही चलेगा । शान्ति मे विचार करोगे, तो उसका मार्ग भी निकल आएगा । सर्व रसो से परिपूर्ण, अजेय शक्ति-दायी और यौवन को अखड रखने वाला भोजन भी तुम्हारे लिये तैयार है । तुम इसे ग्रहण करने के लिये अपना भोजन-पात्र जरा खोलो । उफ, तुम्हारा पात्र तो गंदा है । उसमे न जाने कैसी गदगी है ? दुर्गन्ध उठ रही है ! पहले अपने पात्र को स्वच्छ करो । अस्वच्छ और गदे पात्र मे भला ऐसा उत्तम और स्वादिष्ट भोजन कैसे परोसा जाये ? गदे पात्र मे ग्रहण किया गया सर्वोत्तम भोजन भी गन्दा, अस्वच्छ और दुर्गन्धमय होते देर नही लगती । वह असाध्य बीमारी और रोगो का मूल बन जाता है । अरे भाई, तुम्हारे सामने ऐसा सरस, स्वादिष्ट और सर्वोत्तम भोजन तैयार होने पर भी भला तुम्हे जूठे भोजन का मोह क्यो है ? क्या तुम जूठन का मोह छोड नही सकते ? आज तक बहुत खा ली जूठन ! अब तो जूठन खाने का दुराग्रह छोडो । क्या तुम नही जानते कि जूठन खा-खाकर तुम्हारा शरीर न जाने कैसी भयंकर बीमारी और असाध्य रोगो का घर बन गया है ?

श्रावक-जीवन और साधु-जीवन की पवित्र क्रियाये ही यथार्थ मे कल्पवृक्ष के मधुर फल हैं, उत्तम खाद्य है । लेकिन भोजन करने के पूर्व आत्मा रुपी भाजन मे रही पाप-क्रियाओं की जूठन को बाहर फेक, कर भाजन को स्वच्छ करना आवश्यक है । मतलब यह है कि पाप-क्रियाओ का पूर्णरूप से त्याग कर धर्मक्रियाओ का आलबन ग्रहण किया जाए, तभी भोजन के अपूर्व स्वाद का अनुभव हो सकता है ।

भोजनोपरान्त मुखवास की भी गरज होती है न ? स्वर्गीय सुवास से युक्त समता ही मुखवास है । ज्ञान का अमृत-रस पीकर और सम्यक्-क्रिया के स्वादिष्ट भोजन का सेवन करने के पश्चात् यदि समता का मुखवास ग्रहण न किया, तो सारा मजा किरकिरा हो जाएगा । भोजन का अपूर्व आनन्द अधूरा ही रह जाएगा और तृप्ति की डकारे नही आयेगी ।

गहन/गभीर चिन्तन-मनन के पश्चात् प्राप्त पर तृप्ति के मार्ग को परिलक्षित कर, जब हृदयभाव-संचार की ओर प्रवृत्त होता है

तभी मार्मिक प्रभाव का उदभव होता है । यहा उपाध्यायजी महाराज के तक की कोई करामात नही है, बल्कि उनकी अपनी भावप्ररित प्रतीति है । जब हमे भी इसकी प्रतीति हो जाएगी, तब हम भी सोत्साह उक्त परम तृप्ति के माग ,पर दौड लगायेंगे । फलस्वरूप जगत के जड भोजन की और गदे पेय पदार्थो की मोहमूर्च्छा मृतप्राय बन जाएगी । ज्ञान क्रिया और समता भाव का जीवात्मा मे प्रादुर्भाव होगा और तदुपरान्त मुनिजीवन की उत्कट मस्ती प्रकट होगी, पूर्णानन्द की दिशा मे महाभिनिष्क्रमण होगा । वह सारे ससार के लिये एक चमत्कारपूण अदभुत घटना होगी । परिणाम यह होगा कि असख्य जीव, मुनिजीवन के प्रति आकर्षित होगे, उससे उत्कट प्रेम करने लगेंगे और उसे अपनाने के लिये उत्सुक बन कर सोत्साह आगे बढ़ेंगे ।

अत हे जीव ! क्षणिक तृप्ति का पूर्णरूप से परित्याग कर परम/शाश्वत तृप्ति की प्राप्ति हतु मगल पुरुषाथ का श्री गणेश करो ।

> स्वगुणरेव तृप्तिश्चेदाकालमविनश्वरी ।
> ज्ञानिनो विषय किं तर्यैर्भवेत तृप्तिरित्वरी ।। २ ।। ७४ ।।

अथ – यदि ज्ञानी को अपने ज्ञानादि गुणो से कालान्तर मे कभी विनाश न हो, ऐसी पूर्ण तृप्ति का अनुभव हो तो जिन विषयो की सहायता से अल्पकालीन तृप्ति है ऐसे विषयो का क्या प्रयोजन ?

विवेचन पाच इन्द्रियो के प्रिय विषयो का आकर्षण तब तक ही सभव है, जब तक आत्मा ने स्वय मे झाक कर नही देखा है, वह अन्तर्मुख नही हुई है । उसके ज्ञान नयन खोल कर अपनी ओर देखने भर की देर है कि उसे ऐसे अभौतिक रूप, रग गध, स्पर्श और रसादि के दर्शन होगे कि उसकी अनादिकाल पुरानी अतृप्ति क्षणार्ध मे ही खत्म हो जायेगी । सदा सवदा के लिये उसके पास रहने वाली अनुपम तृप्ति की भाजी होगी ! ऐसी अदभुत तृप्ति की प्राप्ति के पश्चात भला, कौन जगत के पराधीन, विनाशी और अल्पजीवी विषयो की ओर आकर्षित होगा ?

हृदय-मदिर की देवी-प्राणप्रिया के मजुल स्वरो की मृदुता और प्रीतिरस से आप्लावित भक्तगणो की मीठी बोली सुनकर जो तृप्ति

होती है, मानो या न मानो वह अल्पजीवी ही है, अल्पावधि के लिये है। क्योंकि समय के साथ प्रेयसी के स्वभाव मे भी परिवर्तन की संभावना है और तब उसके हृदय-भेदी शब्द-बाणों मे तुम्हारा मन छिन्न-भिन्न होते देर नही लगती। ठीक वैसे ही भक्तिशून्य बने भक्तो को विषैली बाते जब तुम्हारा अपवाद फैलाती है, तब कहां जाती है वह तृप्ति ?

तब क्या मादक सौन्दर्य का दर्शन कर तृप्त मिलती है ? नही, यह भी असभव है। भले ही स्वर्गलोक की अनुपम सुन्दरी उर्वशी-सा मादक रूप क्यो न हो ? एक-सा रूप कभी किसी का टिका है ? एक ही वस्तु या व्यास को बार-बार देखने से मन कभी भरा है ? मतलब यह कि एक ही वस्तु निरन्तर आनद नही देती सुख का अनुभव नही कराती। ज्ञानी-जनो को इसकी सही परख होती है। ज्ञानदृष्टि, शरीर के सौन्दय के नीचे रहे हड्डी-मास के अस्थि-पिंजर को भली-भांति देखती है। उसकी बीभत्सता को जानती है। अतः रूप-रग उन्हें आकर्षित नही कर सकते। बल्कि उन्हे तो आत्म-देवता के मदिर मे प्रतिष्ठित परमात्मा के कमनीय बिंब की सुन्दरता इस कदर प्रफुल्लित कर देती है कि निर्निमेष नेत्रो से उसकी ओर देखते नही अघाते। उसके दर्शन मे लयलीन हो जाते हैं, साथ ही इसमे ही परम-तृप्ति का अनुभव करते हैं।

विश्व मे ऐसा कौन सा रस है, जिसका वर्षों तक कई जन्म में उपभोग करने के पश्चात् भी मानव को तृप्ति हुई है ? तुमने जन्म से लेकर आज तक क्या कम रसो का अनुभव किया है ? तृप्त हो गये ? मिल गयी तृप्ति ? नही, कदापि नही। और मिली भी तो क्षणिक ! पल दो पल के लिये, घटे दो घटे के लिये। इसी तरह दिन, मास और एकाध वर्ष के लिये। बाद में वही अतृप्ति !

अब तो तुम्हारे मन में किसी विशेष फूल की सुवास और विशेष प्रकार के इत्र की सुगन्ध की चाह नही रही न ? तृप्ति हो गयी ? अब तो उस सुवास और सुगन्ध के लिये कभी आकुल-व्याकुल, अधीर नही बनोगे न ? जब तक स्वगुण की सुवास के भ्रमर नही बनेंगे, तब तक जड़ पदार्थो की परिवर्तनशील सुवास के लिये इस संसार मे निरुद्देश्य भटकते ही रहेगे। यह सत्य और स्पष्ट है कि स्वगुणो में

(ज्ञान-दर्शन-चारित्र) तल्लीन/तन्मय बनते ही भौतिक पदार्थों की मादक सौरभ भी तुम्हारे लिये दुर्गन्ध बन जाएगी।

कोमल, कमनीय और मोहक काया का स्पर्श भले तुम आजीवन करते रहो उसमे ओत प्रोत होकर स्वर्गीय सुख निरंतर लुटते रहो, लेकिन यह शाश्वत सत्य है कि उससे तृप्ति मिलना असभव है। 'अब बस हो गया। विषय भोग बहुत कर लिये, अब तो तृप्ति मिल गयी।" ऐसे उद्गार भी तुम्हारे मुख से प्रकट नही होगे।

जहा स्वगुण मे सत् चिद् आनन्द की मस्ती छा गयी, वहा परम ब्रह्म के शब्द, परम ब्रह्म का सौन्दर्य, परम ब्रह्म का रस, परम ब्रह्म की सुगन्ध और परम ब्रह्म के स्पर्श की अनोखी, अविनाशी, अलौकिक सृष्टि मे पहुँच गये, तब भला जड पदार्थों के शब्द, रूप, रस गन्ध, स्पर्शादि विषयो की क्षणिक तृप्ति का प्रयोजन ही क्या है ?

नदनवन मे पहुँचने के बाद पृथ्वी के बगीचे की क्या गरज है ? किन्नरियो की मादक सुरावलि की तुलना मे गदभ-राग की क्या आवश्यकता ? अद्वितीय रूप यौवना अप्सराओ की कमनीयता के मुकाबले भीलनियो की सुन्दरता किस काम की ? कल्पवृक्ष के मधुर फल चखने के बाद नीम के रस का क्या प्रयोजन ? देवागनाओ के मादक स्पर्श सुख की विसात मे, हड्डी-मांस के बने मानव की सगति का क्या मोह ? ज्ञानी वही है, जिसके मन मे शब्दादि विषयो की अपेक्षा न रही हो, आकर्षण खत्म हो गया हो, सग व्यासग की वृत्ति नष्टप्राय हो गयी हो। क्योंकि ज्ञानी बनने के लिये भी यही उपाय सर्वश्रेष्ठ है।

> या शान्तरसास्वादाद भवेत तृप्तिरतीन्द्रिया।
> सा न जिह्वेन्द्रियद्वारा षड्रसास्वादनादपि ॥ ३ ॥ ७५ ॥

अर्थ शान्त रस के अद्वितीय अनुभव से (आत्मा को) जो अतीन्द्रीय अगोचर तृप्ति होती है वह जिह्वेन्द्रिय के माध्यम से षड्-रसभोजन से भी नही होती।

विवेचन ना ही इष्ट-वियोग का दुःख, ना ही इष्ट-सयोग का सुख! न कोई चिन्ता-सन्ताप, ना ही किसी पुद्गल विशेष के प्रति राग द्वेष। न कोई इच्छा-अपेक्षाएँ, ना ही कोई अभिलाषा महत्त्वाकांक्षाएँ! जगत के सभी भावो के प्रति समदृष्टि, वही शांतरस कहलाता है।

न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता,
न राग-द्वेषो न च काचिदिच्छा ।
रसः स शांत कथितो मुनीन्द्रैः,
सर्वेषु भावेषु समप्रमाणः ।।

— साहित्यदर्पण

ऐसे शातरस का जन्म 'शम' के **स्थायी भाव** से होता है । और यह भी सत्य है कि विना पुरुषार्थ किये अपने आप ही शात रस पैदा नही होता । उसके लिये अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसारादि भावनाओ का सतत चिन्तन-मनन करते हुए विश्व के पदार्थो की नि:सारता, निर्गुणता का ख्याल मन में दृढ-सुदृढ बनाना पडता है । साथ ही परमात्म-स्वरूप के संग प्रीति-भाव प्रगट करना आवश्यक है । क्योकि शांतरस का यही एकमेव **'आलंबन-विभाव'** है ।

यह सब करने के बावजूद भी 'रस' का उद्दीपन तभी और उस स्थान पर सभव है, जहा योगी पुरुषों का पुण्य-सान्निध्य हो । एकाध पवित्र, शात और सादा आश्रम हो । कोई रम्य और पवित्र तीर्थ-स्थान हो । वह हरी-भरी दूब और चारो ओर हरियाली हो । जहाँ कल कल नाद की मधुर ध्वनि के साथ शीतल झरने निरन्तर प्रवाहित हो । सत-श्रमणश्रेष्ठों की शास्त्रपाठ और स्वाध्याय की धूनी रमी हो । निकटस्थ पर्वतमाला पर स्थित मनोरम मदिरो पर देदीप्यमान कलश हो और धर्मध्वज पूरी शान से इठलाता हुआ गगन में फहराता हो। साथ हो मधुर घटनाद से आसपास का वातावरण आनद की लहरियो से भरा हो । क्योंकि शांत रस के ये सब उद्दिपन-विभाव जो हैं ।

ऐमे मनोहारी वातावरण मे 'शांतरस' का प्रादुर्भाव होता है और तभी इसका जी भरकर आस्वादन करनेवाले मुनिराज परम सुख का/पूर्णानन्द का अनुभव करते हैं । ऐसे आह्लादक सुख की परम तृप्ति की अनुभूति तो क्या, वल्कि इसकी शताश अनुभूति भी वेचारी इन्द्रियो को नही होती । षड्रस भोजन का रस भी शात रस की तुलना मे नीरस और स्वादहीन होना है । तव भला जिह्वेन्द्रिय को ऐसे शातरस की अद्वितीय अनुभूति कैसे और कहां से सभव है ? मतलब, सर्वथा असभव है ।

इसके लिये परम पूज्य उपाध्यायजी महाराज ने 'शातरस का आस्वाद' शीर्षक का प्रयोग किया है। 'साहित्य दपरा'' मे शातरस के लिए विविध छह विशेपणो का उपयोग किया गया है

सत्त्वोद्रेक – बाह्य विपयो से विमुख कराने वाला कोई आतरिक धम अर्थात सत्त्व । सत्त्व का उद्‌गम रज और तम भाव के पराभव के पश्चात् होता है और इसी मे से सत्व के उत्कट भाव का प्रगटीकरण होता है। तथाविध अलौकिक काव्याथ का परिशीलन सत्त्वोद्रेक का मुख्य हेतु बनता है।

अखड – विभाव, अनुभाव, सचारी और स्थायी, ये चारो भाव एकात्मक (ज्ञान और सुख स्वरूप) रूप धारण कर लेते हैं, जो परम आह्‌लादक और चमत्कारिक सिद्ध होते हैं।

स्वप्रकाशत्व – रस स्वय मे ही ज्ञान-स्वरूप स्वप्रकाशित है।

आनन्द – रस सवथा आनन्द रूप है।

चिन्मय रस स्वय सुखमय है।

लोकोत्तरचमत्कारप्राण – विस्मय का प्राण ही रस है।

'स्वाद' की परिभापा करते हुए स्वय 'साहित्यदपरा'कार ने लिखा है कि 'स्वाद काव्याथसम्भेदादात्मानन्दसमुद्‌भव' काव्याथ के परिशीलन से होने वाले आत्मानन्द के समुद्‌भव का अथ ही स्वाद है। शातरस के महाकाव्यो के परिशीलन से पैदा हुआ स्वाद और उसमे उत्पन्न महान् अतीन्द्रिय तृप्ति, षड्‌रसयुक्त मिष्टान्न-भोजन से प्राप्त क्षणिक तृप्ति से बढकर होती है।

यहा षडरस की तृप्ति उपमा है और ज्ञान तृप्ति उपमेय। प्रस्तुत मे 'व्यतिरेकालकार रहा हुआ है। 'व्यतिरेकालकार' का वणन 'वाग्भटालकार' ग्रन्थ मे निम्नानुसार किया गया है —

> केनचिद्यत्र धर्मेण द्वयो ससिद्धसाम्ययो ।
> भवत्येकतराधिक्य व्यतिरेक स उच्यते ॥

किसी भी धम मे उपमान अथवा उपमेय की विशेपता होती है, तब इस अलकार का सृजन हो जाता है। प्रस्तुत मे उपमेय 'ज्ञान-तृप्ति' मे विशेपता का निरुपण किया गया है।

ज्ञान-तृप्ति अनुभवगम्य है। यह किसी वाणी विशेष का विषय नही है। तृप्ति के अनुभव-हेतु आत्मा को अपने ही गुणो का अनुरागी बनना होता है।

संसारे स्वप्नवन्मिथ्या तृप्ति स्यादाभिमानिकी।
तथ्या तु भ्रान्तिशून्यस्य, साऽऽत्मवीर्यविपाककृत् ॥ ४ ॥ ७६ ॥

अर्थ :- सपने की तरह संसार मे तृप्ति होती है, अभिमान-मान्यता से युक्त। [लेकिन] वास्तविक तृप्ति तो मिथ्याज्ञान-रहित को होती है। वह आत्मा के वीर्य की पुष्टि करने वाली होती है।

विवेचन : ससार मे तुम विविध प्रकार की तृप्ति का अनुभव करते हो न? वैषयिक सुखो मे तुम्हे तृप्ति की डकार आती है न? लेकिन यह निरा भ्रम है... हमारी भ्रान्ति! केवल मृगजल, जो वास्तविकता से परिपूर्ण नही। यह भलीभाँति समझ लो कि सासारिक तृप्ति असार है, मिथ्या है और मात्र भ्रम है।

सपने मे षड्रसयुक्त मिष्टान्नों का भर-पेट भोजन कर लिया, सुवासित शर्बत का पान कर लिया और ऊपर से तांबूल-पान का सेवन! बस, तृप्त हो गये! इसी मे जीव ने अलौकिक तृप्ति का अनुभव कर लिया। लेकिन स्वप्न-भग होते ही, निद्रा-त्याग करते ही, तृप्ति का कही अता-पता नही।

सुरा-सुन्दरी और स्वर्ण के स्वप्नलोक में निरन्तर विचरण करने वाली जीवात्मा, जिसे तृप्त समझने की गलती कर बैठी है, वह तो सिर्फ कल्पनालोक मे भरी एक उडान है जो वास्तविकता से परे और परमतृप्ति से कोसों दूर है। उससे जरूर क्षणिक मनोरजन और मौज-मस्ती का अनुभव होगा, लेकिन स्थायित्व बिल्कुल नही। ससार के एशो-आराम और भोग-विलास की धधकती ज्वालाओ को पल, दो पल शात करने के पीछे भटकता जीव यह नही समझ पाता कि पल-दो पल के बाद ज्वाला शात होते ही, जो अकथ्य वेदना, असह्य यातना, ठडे निश्वास, दीनता, हीनता और उदासीनता उसके जीवन मे छा जाती है, वह हमेशा के लिये बेचैन, निर्जीव, उद्विग्न बनकर अशान्ति के गहरे सागर में डूब जाता है।

पाच इन्द्रियो के भोग्य विषयो का ऐश्वय प्राप्त करने और विलासिता मे स्वच्छदतापूवक केलि क्रीडा करने के लिये जीवात्मा न जाने कैसा पामर दीन नि सत्त्व और दुबल वन जाता है कि पूछो मत। स पर शात चित्त से विचार करना परमावश्यक है। उद्दीप्त वासनाओ के नग्न नत्य मे हो परमानद की कल्पना कर आकठ डूबे मानव को काल और कम के क्रूर थपेडो मे फँसकर कसा करुण रुदन, आक्रदन करना पडता है। उसकी कल्पना मात्र से रोम रोम सिहर उठना है। इसको वास्तविकता और सदभ को जानना हर जीव के लिये जरूरी है।

तभी भ्रम का जाल फटेगा और भ्रानि दूर हागी, तभी वास्तविक तृप्ति का मार्ग सुवह बनेगा। मिथ्या तृप्ति के अनादि आकषण का वेग कम होता जाएगा।

इस तरह आत्मा के निर्भ्रान्ति होते ही समकित की दिव्य दृष्टि प्राप्त हागी। इसम आत्मा, महात्मा और परमात्मा के मनोरम स्वरूप का दशन होगा, वास्तविक दशन होगा। और तव स्वाभिमुख बनी आत्मा को सही आत्मगुणा का अनुभव होता है। इसी अनुभ व की परम तृप्ति आत्मा के अनन्त वीय को पुष्ट करती है। इस प्रकार जब वीय पुष्टि हाने लगे, तब समझ लेना चाहिये कि, परम तृप्ति की मजिल मिल गयी है। क्याकि परम तृप्ति का लक्षण ही वीय पुष्टि है।

अध्यात्ममाग के यागी श्रीमद् देवचन्द्रजी ने निर्भ्रान्ति वन, आत्मानुभव की परम तृप्ति करने के लिये आवश्यक तीन उपाय बताये हैं —

गुरु–चरण का शरण,
जिन–वचन का श्रवण,
सम्यक् तत्त्व का ग्रहण

इन शरण, श्रवण और ग्रहण में जितना पुरुषाथ होता है, उतना ही जीवात्मा अनादि भ्राति से मुक्त होता है। आत्मतत्त्व के प्रति प्रीति भाव उत्पन्न होता है। अनुत्तर धम-श्रद्धा जागृत हाती है। अनन्तानुवधी कषायादि विकारा का क्षयोपशम होता है, गाढ कर्म-बधन कम होते हैं। दशाएन सासारिक काम लिप्सा और भ गोपभोग के प्रति

अनासक्ति पैदा होती है। आरंभ-समारंभ का त्याग करता है। संसार-मार्ग का विच्छेद होता रहता है और मोक्ष-मार्ग के प्रयाण की गति में स्वयं स्फूर्त बन, गतिमान होता जाता है।

इस तरह गृहस्थाश्रम का परित्याग कर अणगार-धर्म अंगीकार करता है। और कालान्तर से शारिरीक, मानसिक अपरंपार दुःखों का क्षय कर अजरामर, अक्षय पद को प्राप्त करता है। परन्तु परम पद की प्राप्ति के लिये मूलभूत मिथ्या तृप्ति के अभिमान को छोडना परमावश्यक है। सांसारिक पदार्थों की वास्तविकता से परिचित हो, उसमे से तृप्ति प्राप्त करने की प्रवृत्ति को तिलांजलि देना है। तभी भविष्य का विकास और पूर्णानन्द–परम-पद संभव है।

पुद्गलैः पुद्गलास्तृप्ति, यान्त्यात्मा पुनरात्मना।
परतृप्तिसमारोपो, ज्ञानिनस्तन्न युज्यते ॥ ५ ॥ ७७ ॥

अर्थ – पुद्गलो के माध्यम से पुद्गल, पुद्गल के उपचयरूप तृप्ति प्राप्त करते हैं। आत्मा के गुणो के कारण आत्मा तृप्ति पाती है। अतः सम्यग्ज्ञानी को पुद्गल की तृप्ति मे आत्मा का उपचार करना अनुचित है।

विवेचन :– किस से भला, किसको तृप्ति मिलती है? जड पुद्गल द्रव्यो से भला चेतन आत्मा को क्या तृप्ति मिलती है? किसी द्रव्य के धर्म का आरोपण किसी अन्य द्रव्य मे कैसे कर सकते हैं? जड वस्तु के गुणधर्म अलग होते है, जबकि चेतन के अलग। जड के गुणधर्म से चेतन की तृप्ति सर्वथा असंभव है। आत्मा अपने गुणो से ही तृप्ति पाती है।

सुन्दर स्वादिष्ट भोजन से क्या आत्मा को तृप्ति मिलती है? नही, शरीर के जड पुद्गलो का उपचय होता है। जीवात्मा उस तृप्ति का आरोप स्वयं मे कर रहा है। लेकिन यह उसका भ्रम है, निरी भ्रान्ति। और वह मिथ्यात्व के प्रभाव के कारण दृढ से दृढतम बन गयी है। पौद्‌गलिक तृप्ति मे आत्मा की तृप्ति मानने की भयंकर भूल के कारण जीवात्मा पुद्‌गलप्रेमी बन गया है। पौदगलिक गुण–दोषो को देख, राग–द्वेष में खो गया है। राग–द्वेष के कारण मोहनीयादि कर्मो के नित नये कर्म–बन्धनो का शिकार बन, चार गति मे भटक

रही है। अपार दु ख, नारकीय यातना और भीषण दद का यही तो मूलभूत कारण है। जीव की इस भूल का उन्मूलन करने हेतु पूज्य उपाध्यायजी महाराज 'निश्चय नय' की दृष्टि का अजन लगाकर उसके माध्यम से पुदगल एव आत्मा का मूल्याकन करने का विधान करते हैं।

"मधुर शब्द रूप-रग-रस गध और स्पश कितने ही सुखद, मादक, माहक, मधुर क्यो न हो, लेकिन है तो जड ही। इनके उपभोग से मेरी ज्ञान-दशन-चारित्रमय आत्मा की परमतृप्ति होना असभव है। तो फिर उन शब्दादि परिभोग का प्रयोजन ही क्या है? ऐसी काल्पनिक मिथ्या तृप्ति के पीछे पागल बन, पुदगल-प्रम के प्रति प्रोत्साहित हो, मैं अपनी आत्मा की कदथना (दुदशा) क्यो करु? इसके बजाय मैं अपनी आत्मतृप्ति हेतु श्रेष्ठ पुरुषाथ करुगा।"

यह है ज्ञानी पुरुष की ज्ञान-दृष्टि और ज्ञान-वाणी। इसी दृष्टि को जीवन मे अपनाकर जड पदार्थों के प्रति रही आसक्ति का मूलोच्छेदन करने का उद्यम करना चाहिये।

लेकिन सावधान! कही तुमसे भूल न हो जाए और अथ का अनथ न हो जाय! तुम असली माग से भटक न जाओ। "जड जड का उपभोग करता है, इससे भला आत्मा का क्या सम्बध? उससे आत्मा को क्या लेना-देना?" इस तरह का विचार कर यदि मति भ्रम हो गया और जड पदार्थों के उपभोग मे खो गये तो यह तुम्हारी सबसे बडी भूल होगी, भयकर भूल-निरी आत्मवचना। फलत पुन एक बार तुम उसी चक्र मे फस जाओगे। क्योकि इससे जड पद्गलो की तृप्ति मे आत्म तृप्ति मानने की अनादिकाल से चली आ रही मिथ्या मान्यता दुबारा दृढ बन जायेगी। भोगासक्ति का भाव गाढ बन जाएगा। "जड जड का उपभोग करता है, मेरी आत्मा भला कहाँ उपभाग करती है?" आदि विचार यदि तुम्हे जड-पदार्थों के उपभोग के लिये उकसाये पुदगल की सगति करने के लिये प्रेरित करे, तो समझ लो कि तुम अभी जिनेश्वर भगवत के वचना से कासो दूर हो, बल्कि जिनवचनो को कतई समझ नही पाये हो। तुम्हारे लिये सम्यगज्ञान की मजिल अभी काफी दूर है, तुम सम्यगदशन पाने मे सवया असमथ सिद्ध हुए हो।

वास्तव में तो तुम्हे अहर्निश इस बात का विचार करना चाहिये कि 'यदि जड पुद्गलो के परिभोग मे मेरी आत्मा को चिरतन तृप्ति का लाभ नही मिलता तो भला, जड पुद्गलो के उपभोग से क्या लाभ ? उनका प्रयोजन किस लिये ? इसके बजाय उसका परित्याग ही क्यो न कर लु ? न रहेगा बास, न बजेगी बासुरी । फिर ज्ञान-ध्यान मे लग जाऊँ । आत्मगुणो की प्राप्ति, वृद्धि और संरक्षण के लिये पुरुषार्थ करु ।' इस तरह का दृढ सकल्प कर आत्मा के आन्तरिक उत्साह को उल्लसित करना चाहिये । ठीक वैसे ही विविध प्रकार की तपश्चर्या, व्रतनियमादि को अगीकार कर कामलिप्सा एव भोगविलास के विविध प्रसगो का परित्याग कर पुद्गलो से तृप्त होने की आदत को सदा-सर्वदा के लिये भुला देना चाहिये । हमेशा याद रहे कि अनादि काल से जिसके साथ स्नेह-सबध और प्रीति-भाव के बन्धन अटूट है, वे तभी टूट सकते हैं, खत्म हो सकते है, जब हम उसकी सगति, सह-वास और उपभोग लेना सदा के लिये बन्द कर दे । पुद्गल-प्रीति के स्नेह-रज्जुओ को तोडने के लिये पुद्गलोपभोग से मुह मोडे बिना कोई चारा नहो है । इसी तथ्य को दृष्टिगत कर, ज्ञानी महापुरुषो ने तप-त्याग का मार्ग बताया है ।

आत्मगुणो के अनुभव से प्राप्त तृप्ति चिरस्थायी होती है । उसमे निर्भयता और मुक्ति का सुभग सगम है । जब कि जड पदार्थों के उपभोग से मिली तृप्ति क्षणभगुर है । उसमे भय और गुलामी की बदबू है । अत: ज्ञानी महापुरुषो को आत्मगुणो के अनुभव से प्राप्त तृप्ति के लिये ही सदा-सर्वदा प्रयत्नशील रहना चाहिये, जो लाभप्रद है और हितकारक भी ।

मधुराज्यमहाशाका ग्राह्ये बाह्ये च गोरसात् ।
परब्रह्मणि तृप्तिर्या जनास्तां जानतेऽपि न ।।६।।७८।।

अर्थ :- जिनको मनोहर राज्य मे उत्कट आशा और अपेक्षा है, वैसे पुरुषो से, प्राप्त न हो ऐसी वाणी से अगोचर परमात्मा के सबध मे जो उत्कट तृप्ति मिलती है; उसको सामान्य जनता नही जानती है ।

विवेचन :- परम ब्रह्मानदस्वरूप अतल उदधि की अगाधता को स्पर्श करने की कल्पना तक उन पामर/नाचीज जीवों के लिये स्वप्नवत् है,

जो मनोहर और निरकुश राजसत्ता की अनन्त आशा, अपेक्षा और महत्वाकाक्षा अपने हृदय मे सजोये, ससार मे दर-दर की ठोकरें खाते भटक रहे हैं। सत्ता और शासन के लाल वसूवल मदिरा के पात्र मे ही जिसने तृप्ति की मिथ्या कल्पना कर रखी हो, उसे भला, परम ब्रह्म की तृप्ति का एहसास कम हो सकता है ?

ठीक वमे ही मृदु वाणी के मजुल स्वरा मे भी परम ब्रह्म की तप्ति का अनुभव असभव है। क्योकि वह तृप्ति तो अगम अगाचर है, पूर्णतया कल्पनातीत है। वह वचनातीत है, आन्तरिक है और मन के अनुभवा स अलग थलग है। इसे प्राप्त करने के लिये चचल मन और विषयासक्त इद्रियो का निराश होकर लौट जाना पडता है।

तब भला परम ब्रह्म की तप्ति कैसी है ? इसका प्रत्युत्तर किसी पद से देना असभव है। 'अपयस्स पय नत्थि' पदविरहित आत्मा के स्वरुप का, किसी पद वचन मे वणन करना सभव नही। और तो क्या स्वय वृहस्पति अथवा केवलज्ञानी महापुरुष भी उसका वणन करने मे असमथ है। क्याकि वह कथन की सीमा से सवथा परे जो है। इसका केवल अनुभव किया जा सकता है। यदि कोई पूछे शक्कर का स्वाद कसा ? इसका क्या जवाब हो सकता है ? क्याकि शक्कर का स्वाद वणनातीत होकर अनुभव लेने की बात है।

वस जगत के सामान्य जीव भोजनतृप्ति से भलीभाँति परिचित हैं। क्याकि उसका अनुभव मधुर घी, मेवा-मिठाई और स्वादिष्ट सब्जियो के सेवन स प्राप्त होता ह। उसमे गोरस (दूध-दही), मीठे फल चटपटी चटनी, अचार मुरब्बा का समावेश होता है। ऐसे उत्तमोत्तम भोजन से तृप्ति का अनुभव करने वाले सासारिक जीव परम तृप्ति का अनुभव तो क्या, वल्कि उसे ठीक से समझने मे भी सवथा असमथ हैं। परम ब्रह्म की तृप्ति का वास्तविक स्वरूप जानने और समझने के लिये घोर तपश्चर्या करनी पडती है। जबकि परम ब्रह्म मे तृप्त बनी आत्मा इस तृप्ति म ऐसी खो जाती है कि जगत के अन्यान्य पदाथ उसे अपनी ओर आकर्षित नही करते, रिझा नही सकते।

कोटिशिला पर श्री रामचन्द्रजी ने क्षपक-श्रेणी की समाधि लगा दी। आत्मानद पूर्णानन्द के साथ तादात्म्य साध लिया। इसकी

जानकारी बारहवें देवलोक के इन्द्र सीतेन्द्र को प्राप्त हुई, तब वह विह्वल हो उठा । क्योंकि पूर्वभव का अद्भुत स्नेहभाव उसके रोम-रोम मे अब भी व्याप्त था । फलस्वरूप उसने श्री रामचन्द्रजी की समाधि को भग करने के लिये नानाविध उपसर्ग आरंभ कर उन्हे ध्यानयोग से विचलित करने का मन ही मन सकल्प किया । रामचन्द्रजी का मोक्ष-गमन सीतेन्द्र को तनिक भी न भाया । उसे तो उनके सहवास की भूख थी और थी तीव्र चाह । आनन-फानन में वह देवलोक से नीचे उतर आया ।

उसने अपनी दैवी शक्ति से रमणीय उद्यान, कलकल नाद करते स्रोत, हरियाली से युक्त प्रदेश.. यहाँ तक कि साक्षात् बसत-ऋतु को धरती पर उतार दिया । कोयल की मनभावन कूक, मलयाचल की मथर गति से बहती हवा, क्रीडारसिक भ्रमरराज का मृदु गुजन आदि मनोहारी दृश्यो की बाढ आ गयी । सर्वत्र कामोत्तेजक वातावरण का समाँ बध गया और तब इन्द्र स्वय नवोढा सीता बन गया । साथ ही असख्य सखियो के साथ गीत-सगीत की धुने जगा दी । वह विनीत भाव से रामचन्द्रजी के सामने खडा हो गया । नतमस्तक हो सौन्दर्य का अनन्य प्रतीक बन, उसने गद्गद् कठ से कहा - "नाथ ! हमारा स्वीकार कर दिव्य सुख का उपभोग कीजिये और परम तृप्ति पाईये । मेरे साथ रही मेरी इन असख्य विद्याधर युवतियो के उन्मत्त यौवन का रसास्वादन कर हमे कृतकृत्य कीजिये ।" नूपुर के मजुल स्वर के साथ स्मरदेव केलि-क्रीडा मे खो गये ।

लेकिन सीतेन्द्र के मृदु वचन, दिव्य सौन्दर्य की प्रतीक असख्य विद्याधर युवती अद्भुत गीत-सगीत और कामोत्तेजक वातावरण से महामुनि रामचन्द्रजी तनिक भी विचलित न हुए, ना ही चचल बने । क्योकि वे तो पहले से ही परम ब्रह्म के रसास्वादन मे परम तृप्ति का अनुभव कर रहे थे । फिर तो क्या, अल्पावधि मे ही उन्हे केवलज्ञान हुआ । फलत. विवश हो, सीतेन्द्र ने अपने माया-जाल को समेट लिया । उसने भक्तिभाव से श्री रामचन्द्रजी को वन्दना, उनकी स्तुति की और केवलज्ञान का महोत्सव आरभ कर भक्तिभाव मे लीन हो गया ।

विषयोर्मिविषोदगार स्यादतृप्तस्य पुदगलै ।
ज्ञानतप्तस्य तु ध्यानसघोद्‌गार–परम्परा ॥७॥७६॥

अर्थ – जो पुग्गलो से तप्त नही हैं, उन्हें विषयो के तरग रूप जहर की डकार आती है । ठीक उसी तरह जो ज्ञान से तृप्त हैं उन्हें ध्यान रूप अमृत क डकार की परपरा होती है ।

विवेचन – पुद्‌गल के परिभोग मे तप्ति ? एक नही, सौ वार असभव बात है । तुम चाहे लाख पुद्‌गलो का परिभोग करो, उसमे लिप्त रहो, अतप्ति की ज्वाला प्रज्वलित ही रहेगी । वह बुझने/शान्त होने का नाम नही लेगी । पूज्य उपाध्यायजी महाराज ने 'अध्यात्म सार' ग्रथ मे कैसी युक्तिपूर्ण बात कही है !

विषय क्षीयते कामो नेन्धनैरिव पावक ।
प्रत्युत प्रोल्लसच्छक्ति–र्भूय एवोपवर्धते ॥

'आग मे इन्धन डालने से आग शान्त होने के बजाय अधिकाधिक भडक उठती है और उसमे मे स्फोट ही होता है । ठीक उसी तरह सासारिक पुदगलो के भोगोपभोग मे तप्ति तो दूर रही, बल्कि अतृप्ति की ज्वालायें आकाश को छूने लगती है जिसका अन्त सर्वनाश मे होता है ।'

इसी तरह पुदगलो के अति सेवन से, (जो पुदगलभोजन विष-भोजन है) ऐसा अजीर्ण होता है कि उसके असख्य विकल्प स्वरूप डकारो की परपरा निरन्तर चलती रहती है वह, बन्द नही होती ।

कडरिक ने पुदगलसेवन की अति लालसा के वशीभूत होकर साधु-जीवन का परित्याग किया । वह भागता हुआ राजमहल पहुँचा और अधीर बन उसने मनभावन स्वादिष्ट भोजन का सेवन किया । पेट भर कर खाया । तत्पश्चात मखमली, मुलायम गद्दा पर गिरकर लोटने लगा । बचनी मे करवटें बदलने लगा । राज कर्मचारी एव सेवकगण असतोष से विषभोजी कडरिक को हय-दृष्टि से देखने लगे । मारे अजीर्ण के वह बावरा बन गया । उसे भयकर हिंसक विचारो के डकार पर डकार आने लगे ।

परिणाम यह हुआ कि विषभोजन स उसे अपने प्राणो से हाथ धोना पडा और वह सातवी नरक में चला गया ।

'विषयेषु प्रवृत्तानां वैराग्यः खलु दुर्लभम्', जो पुद्गलपरिभोग में लिप्त है, उनमे वैराग्य दुर्लभ होता है। और जब वैराग्य ही नही, तब सम्यग् ज्ञानी कैसा ? सम्यग् ज्ञान के अभाव मे ज्ञानानन्द की तृप्ति कैसी ? और ज्ञानानन्द मे तृप्ति मिले बिना ध्यान-अमृत की डकारे कैसे संभव है ? जबकि ज्ञानतृप्त आत्मा को निरन्तर ध्यानामृत की डकार आती ही रहती है। आत्मानुभव में तादात्म्य साधने के पश्चात् आत्मगुणो मे तन्मयता रुपी ध्यान चलता ही रहता है। परिणामस्वरूप ऐसे दिव्य आनन्द की अनुभूति होती है कि वह ससार के जड-चेतन, किसी भी पदार्थ के प्रति आकर्षित नही होता।

निर्मम भाव से चले जा रहे खधकमुनि ज्ञानामृत का पान कर परितृप्त थे। ध्यान की साधना का आवेग उनके रोम-रोम मे सचारित था। सहसा राजसैनिको ने उन्हे दबोच लिया। उनकी चमड़ी उधेडने पर उतारू हो गये। खून की प्यासी छुरी लेकर तैयार हो गये। खधक मुनि तनिक भी विचलित न हुए। टस से मस न हुए। वे ध्यानसुधा को डकारे खा रहे थे। उनका प्रशान्त मुखमडल पूर्ववत् ज्ञान-साधना से देदीप्यमान था। नयनो मे शान्ति और समता के भाव थे। सैनिको ने चमडी उधेडना आरभ किया। रक्तधारा प्रवाहित हो उठी। जमीन रुधिराभिषेक से सन गयी। मास के कतरे इधर-उधर उड़ने लगे। फिर भी यह सब महामुनि की ज्ञानसुधा की डकारो की परपरा को नही तोड सका। वे पूर्ववत् ज्ञान-समाधि लगाये स्थितप्रज्ञ बने रहे। उनकी अविचलता ने, उच्चकोटि की ध्यान-साधना ने उन्हे धर्मध्यान से शुक्लध्यान की मजिल की ओर गतिमान कर दिया। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय एव अन्तराय- इन घाती कर्मों का क्षय कर वे केवलज्ञान के अधिकारी बन गये। उनके सारे कर्मबन्धन टूट गये और भव-भवान्तर के फेरे खत्म हो गये।

तात्पर्य यह है कि ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् ज्ञानी के मन मे उसके मूलभूत गुण, तत्त्व अविरत सचारित रहने चाहिये। उमे उसका बार-बार अवगाहन करते रहना चाहिये। तभी ज्ञान-अमृत मे परिवर्तित हो है और उसका सही अनुभव मिलता है। तत्पश्चात् सासारिक सुख, भोगोपभोग अप्रिय लगते हैं, उनके प्रति घृणा की भावना अपने आप पैदा हो जाती है। शास्त्रार्जन और शास्त्र-परिशीलन से आत्मा

ऐसी भावित बन जाती है कि उस के लिये ज्ञान ज्ञानी का भेद नही रहता । ऐसी स्थिति प्राप्त करने के लिये प्रस्तुत अष्टक मे बताये गये उपायों का जीवन मे क्रमश प्रयोग करना जरुरी है ।

सुखिनो विषयातृप्ता, नेन्द्रोपेन्द्रादयोऽप्यहो ।
भिक्षुरेक सुखी लोके, ज्ञानतृप्तो निरजन ॥८॥८०॥

अर्थ — यह आश्चय है कि विषया से अतृप्त देवराज इन्द्र एव कृष्ण भी सुखी नहीं हैं । ससार म रहा, ज्ञान से तृप्त एव कर्ममल रहित साधु, श्रमण ही सुखी है ।

विवेचन — ससार मे कोई सुखी नही है । विषयवासना के विष-प्याले गटगटानेवाला इन्द्र अथवा महेन्द्र, कोई सुखी नही है । निरतर अतृप्ति की ज्वाला मे प्रज्वलित राजा महाराजा अथवा सेठ–साहुकार कोई सुखी नही है । भले तुम उन्हे सुखी मान लो । लेकिन तुम्हारी कल्पना कितनी गलत है, यह तो जब किसी सेठ साहूकार से जाकर पूछोगे, तभी ज्ञात होगा ।

विश्वविख्यात धनी व्यक्ति हेनरी फोर्ड से एक बार किसी पत्रकार ने पूछा था "ससार मे सभी दृष्टि से आप सुखी और सपन्न व्यक्ति हैं, लेकिन ऐसी कोई चीज है, जो आप पाना चाहते हैं फिर भी पा नही सके हैं ?"

"आप का कथन सत्य है । मेरे पास धन है, कीर्ति है, और अपार वैभव है । फिर भी मानसिक शाति का अभाव है । लाख खोजने पर भी ऐसा कोई सगी–साथी नही मिला, जिसके कारण मुझे शाति और मानसिक स्वस्थता मिले ।" हेनरी ने गभीर बन, प्रत्युत्तर मे कहा ।

विश्व के धनाढ्य और सपन्न व्यक्तियो को देखकर ऐसा कभी न मानो कि 'वे कितने सुखी और सपन्न हैं !' भौतिक पदार्थों के सयोग से शाति नही मिलती । भले इन्द्रियजन्य सुख से तुम प्रसन्न होंगे, लेकिन कदापि न भूलो कि वे सुख क्षणभगुर हैं और दु खप्रद हैं। जब तुम उनकी अन्तर्वेदना का कहानी सुनोगे, तब तुम्हे अपनी घास-फूस की छोटी झोपडी/कुटिया लाख दर्जे अच्छी लगेगी, बजाय उनके विशाल बगले और चमचमाती भव्य रगमहल के । उनकी धनिकता के बजाय तुम्हे अपनी दरिद्रता सौगुनी बेहतर महसूस होगी । धन, कीर्ति, वैभव, परिवार के पात्र लगेंगे ।

तब क्या इस ससार मे कोई सुखी नही है ? नहीं भाई, यह भी गलत है । इस ससार में सुखी भी है और वे है– मुनि । '**भिक्षुरेक: सुखो लोके**" एकमात्र भिक्षुक/अणगार/मुनि संसार में सर्वाधिक सुखी और संपन्न व्यक्ति हैं । लेकिन जानते हो उनके सुख का रहस्य क्या है ? क्या उन्हे द्रव्यार्जन करना नही पडता, अत: सुखी हैं ? नहीं, यह बात नही है । जिस विषय-तृष्णा के पोषण हेतु तुम्हे द्रव्यार्जन करना पड़ता है, वह (विषय-तृष्णा) उनमे नही है । अत: वे परम सुखी हैं ।

श्री उमास्वातिजी ने उन्हे '**नित्य सुखी**' संज्ञा से सबोधित किया है ।

निर्जितमदमदनानां, वाक्कायमनोविकाररहितानाम् ।
विनिवृत्तपराशानामिहैव मोक्षः सुविहितानाम् ।।२३८।।
स्वशरोरेऽपि न रज्यति शत्रावपि न प्रदोषमुपयाति ।
रोगजरामरणभयैरव्यथितो यः स नित्यसुखी ।।२४०।।

ऐसे महात्माओ के लिये यही इसी धरती पर साक्षात् मोक्ष है, जिन्होने प्रचड मद और कामदेवता-मदन को पराजित किया है । जिनके मन-वचन-काया मे से विकारो का विष नष्ट हो गया है । जिनकी पर-पुद्गल–विषयक आशा और अपेक्षायें नामशेष हो गयी है और जो स्वय परम त्यागी व सयमी हैं । ऐसे महापुरुष शब्दादि विषयों के दारुण परिणाम को सोच, उसकी अनित्यता एवं दु खद फल का अन्तर की गहराई से समझ और सासारिक राग-द्वेषमय भयंकर विनाशलीला का खयाल कर, अपने शरीर के प्रति राग नही करते, शत्रु पर रोष नही करते, असाध्य रोगो से व्यथित नही होते, वृद्धावस्था की दुर्दशा से उद्विग्न नही बनते और मृत्यु से भयभीत नहीं होते । वे सदा-सर्वदा 'नित्य सुखी' है, परम तृप्त हैं ।

परमाराध्य उपाध्यायजी ने इन सब बातों का समावेश केवल दो शर्तों मे कर दिया है । **ज्ञानतृप्त और निरंजन महात्मा सदा सुखी हैं ।** महा सुखी बनने के लिये उपाध्यायजी द्वारा अनिवार्य शर्ते बतायी गयी हैं । इन दो शर्तो को जीवन मे क्रियात्मक स्वरूप प्रदान करने के लिये श्री उमास्वातिजी भगवत का मार्गदर्शन शत-प्रतिशत वास्तविक है ।

११. निर्लेपता

जीव का निर्लेप होना जरूरी है। हृदय को निर्लिप्त-अलिप्त रखना आवश्यक है। राग और द्वेष से लिप्त हृदय की व्यथा और वेदना कहाँ तक रहेगी ? निर्लिप्त हृदय ससार मे रहकर भी मुक्ति का परमानद उठा सकता है।

और अलिप्तता का एकमात्र उपाय है–भावनाज्ञान। प्रस्तुत अष्टक मे तुम्हे भावनाज्ञान की पगडडी मिल जाएगी। विलब न करो, किसी की प्रतीक्षा किये बिना इस पगडडी पर आगे बढो। राग–द्वेष से हृदय को लिप्त न होने दो। इसके लिये आवश्यक उपाय और माग तुम्हें इस अष्टक मे से मिल जायेंगे। अत इसका एकचित्त हो, अध्ययन-मनन और चिन्तन करो।

संसारे निवसन् स्वार्थसज्जः कज्जलवेश्मनि ।
लिप्यते निखिलो लोकः ज्ञानसिद्धो न लिप्यते ॥ १ ॥ ८१ ॥

अर्थ : कज्जलगृह समान ससार मे रहता, स्वार्थ मे तत्पर (जीव) समस्त लोक, कर्म से लिप्त रहता है, जब कि ज्ञान से परिपूर्ण जीव कभी भी लिप्त नही होता है ।

विवेचन :– संसार यानी कज्जल गृह। उसकी दीवारे काजल से पुती हुई हैं; छत काजल से सनी हुई है और उसका भू–भाग भी काजल से लिप्त है। जहाँ स्पर्श करो, वहाँ काजल। पांव भी काजल से सन जाते है और हाथ भी। सीना भी काजल से काला और पीठ भी काली हो जाती है। जहाँ देखो, वहाँ काजल ही काजल! मतलब, जब तक उसमे रहोगे, तब तक काले बनकर ही रहना होगा।

सभवत. तुम यह कहोगे कि यदि उसमे सावधानी से सतर्क बनकर रहा जाए तो काला बनने का सवाल ही कहाँ उठता है? लेकिन कैसी सावधानी का आधार लोगे? जब कि कज्जल-गृह मे वास करने वाला हर जीव अपने स्वार्थ के प्रति ही जागरूक है, सावधान है। क्योंकि स्वार्थ-सिद्धि के नशे में धुत्त उन्हें कहां पता है कि वे पहले से ही भूत जैसे काले बन गये हैं! उन्हें तभी ज्ञान होगा, जब वे दर्पण मे अपना रूप निहारेंगे। और तब तो वे अनायास चीख उठेंगे: 'अरे, यह मैं नही हूँ, कोई दूसरा है!' लेकिन दर्पण मे अपना रूप देखने तक के लिये भी उन्हें समय कहाँ है? वे तो निरन्तर दूसरो का रूप–रंग और सौन्दर्य देखने के लिये पागल कुत्ते की तरह घिघिया रहे है और वह भी स्वार्थान्ध बन कर। यदि परमार्थ-दृष्टि से किसी का सौन्दर्य, रूप-रंग देखेंगे तो तत्क्षण घबरा उठेंगे। उनकी संगत छोड देंगे और कज्जल–गृह के दरवाजे तोड़ कर बाहर निकल आयेंगे।

ससार मे ऐसा कौनसा क्षेत्र है, जहा जीवात्मा कर्म–काजल से लिप्त नही होता? जहां मृदु-मधुर स्वरो का पान करने जाता है, ... लिप्त हो जाता है। मनोहर रुप-रंग और कमनीय सौन्दर्य का अवलोकन करने के लिये आकर्षित होता है... लिप्त हो जाता है। गध –सुगन्ध का सुख लूटने के लिये आगे बढता है.... लिप्त हो जाता है। स्वादिष्ट भोजन की तृप्ति हेतु ललक उठती है... लिप्त हो जाता है।

कोमल काया का उपभोग करने के लिए उत्तेजित होता है, लिप्त हो जाता है। फिर भले ही उसे शब्द, रूप, रस, गन्ध स्पर्श आदि के सुख के पीछे दर-दर भटकते समय यह भान न हो कि वह कर्म-काजल से पुता जा रहा है। लेकिन यह निर्विवाद है की वह पुता अवश्य जाता है और यह प्रक्रिया ज्ञानी-पुरुषों से अज्ञात नहीं है। वे सब जानते हैं। जीव ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय, नाम, गोत्र और वेदनीय, इन सात कर्मों से लिप्त बनता रहता है। यह काजल-लेप चर्मचक्षु देख नहीं पाते। इसे देखने के लिये जरूरत है – ज्ञानदृष्टि की, केवलज्ञान की दृष्टि की।

तब क्या चतुर्गतिमय संसार में रहेंगे तब तक कर्म काजल से लिप्त ही रहना होगा? ऐसा कोई उपाय नहीं है कि संसार में रहते हुए भी इससे अलिप्त रह सकें? क्यों नहीं? इसका भी उपाय है। पूज्य उपाध्यायजी महाराज फरमाते हैं *'ज्ञानसिद्धो न लिप्यते'*, ज्ञानसिद्ध आत्मा, कज्जल-गृह समान इस संसार में रहते हुए भी निरन्तर अलिप्त रहती है। यदि आत्मा के अंग प्रत्यंग को ज्ञान-रसायन के लेप से पुत दिया जाय, तो फिर कर्म रूपी काजल उसे स्पर्श करने में पूर्णतया असमर्थ है। ऐसी आत्मा कर्म-काजल से पुती नहीं जा सकती। जिस तरह कमल दल पर जल-बिन्दु टिक नहीं सकते, जल-बिन्दुओं से कमल-पत्र लीपा नहीं जाता, ठीक उसी तरह कर्म-काजल से आत्मा भी लिप्त नहीं होती। लेकिन यह अत्यन्त आवश्यक है कि ऐसी स्थिति में आत्मा को ज्ञान-रसायन से भावित कर देना चाहिये। ज्ञान-रसायन से आत्मा में ऐसा अद्भुत परिवर्तन आ जाता है कि कर्म-काजल लाख चाहने पर भी उसे लेप नहीं सकता।

ज्ञान रसायन सिद्ध करना परमावश्यक है और इसके लिये एकाध वैज्ञानिक की तरह अनुसंधान में लग जाना चाहिये। भले इसके अन्वेषण में, प्रयोग में कुछ वर्ष क्यों न लग जाएँ! क्यों कि भयंकर संसार में ज्ञान-रसायन के आधार की अत्यन्त आवश्यकता है। इसे सिद्ध करने के लिये इस ग्रंथ में विविध प्रयोग सुझाये गये हैं। हमें उन प्रयोगों को आजमाना है और आजमा कर प्रयोग सिद्ध करना है। फिर भय नाम की वस्तु नहीं रहेगी। ज्ञान-रसायन सिद्ध होते ही

निर्भयता का आगमन होगा और परमानंद पाने में क्षणार्ध का भी विलंब नही होगा ।

नाहं पुद्गलभावानां, कर्ता कारयिताऽपि च ।
नानुमन्ताऽपि चेत्यात्मज्ञानवान् लिप्यते कथम् ? ॥२॥ ८२॥

अर्थ – मै पौद्गलिक-भावों का कर्ता, प्रेरक और अनुमोदक नही हूँ, ऐसे विचारवाला आत्मज्ञानी लिप्त कैसे हो सकता है ?

विवेचन :- ज्ञान- रसायन की सिद्धि का प्रयोग बताया जाता है । " मैं पौद्गलिक भावो का कर्ता नही हूँ, प्रेरक नही हूँ । साथ ही पौद्गलिक भावो का अनुमोदक भी नही हूँ ।" इसी विचार से आत्मतत्त्व को सदा सराबोर रखना होगा । एक बार नही, बल्कि बार-बार । एक ही विचार और एक ही चिन्तन !

निरन्तर पौद्गलिक-भाव में अनुरक्त जीवात्मा उसके रुप-रंग और कमनीयता मे खोकर, पौद्गलिक भाव द्वारा सर्जित हृदय-विदारक व्यथा-वेदना और नारकीय यातनाओं को भूल जाता है, विस्मरण कर देता है । वास्तव मे पौद्गलिक सुख तो दु:ख पर आच्छादित क्षणजीवी महीन पर्त जो है, और क्रूर कर्मों के आक्रमण के सामने वह कतई टिक नहीं सकती । क्षणार्ध में ही चीरते, फटते देर नही लगती और जीवात्मा रुधिर बरसता करुण क्रन्दन करने लगता है । पौद्गलिक सुख के सपनो मे खोया जीवात्मा भले ही ऐश्वर्य और विलासिता से उन्मत्त हो फूला न समाता हो, लेकिन हलाहल से भी अधिक घातक ऐश्वर्य और विलासिता का जहर जब उसके अग-प्रत्यग में व्याप्त हो जाएगा, तब उसका करुण क्रन्दन सुनने वाला इस धरती पर कोई नही होगा । वह फूट-फूट कर रोयेगा और उसे शान्त करने वाले का कही अता-पता न होगा ।

"मैं खाता हूँ.... मैं कमाता हूँ.... मै भोगोपभोग करता हूँ .... मैं मकान बनाता हूँ ।" आदि कर्तृत्व का मिथ्याभिमान, जीवात्मा को पुद्गल-प्रेमी बनाता है । पुद्गलप्रेम ही कर्म-बन्धन का अनन्य कारण है । पुद्गल-प्रेमी जीव अनादि से कर्म-काजल से लिप्त होता आया है । फलत: अपरम्पार दु:ख और वेदनाओ का पहाड़ उस पर टूट पड़ता है । वह व्यथाओं की बेड़ियों मे हमेशा जकड़ा जाता है । यदि

उस दारुण दु ख के आधार को ही जड-मूल से उखाडकर फेंक दिया जाये, तो कितना सुभग और सुन्दर काय हो जाय ? और यह मत भूलो कि इस प्रकार की विषमता का मूल है - पुद्गलभाव के पीछे रही दुष्ट-बुद्धि उस को परिवर्तित करने के लिये जीव को विचार करना पडेगा कि 'मैं पौद्गलिक भाव का कता, प्रेरक और अनुमोदक नही हूँ ।'

दूसरी वासना है-पुद्गलभावो के प्रेरकत्व की । "मैंने दान दिलाया, मैंने घर दिलवाया, मैंने दुकान करवायी ।" इस तरह की भावना अपने मन मे निरन्तर सजोकर जीव स्वय को पुदगलभाव का प्रेरक मान कर मिथ्याभिमानी बनता है । फलस्वरूप वह कम कीचड मे धँसता ही जाता है । अत "मैं पुद्गलभाव का प्रेरक नही हूँ,' इस भावना को दृढ-सुदृढ बनाना चाहिये । इसी भाति तीसरी वासना है पुदगलभाव की अनुमोदना ! पुद्गलभाव का अनुमोदन मतलब आन्तरिक और वाचिक रूप से उसकी प्रशसा करना । "यह भवन सुन्दर है ! यह रूप/ सौदय अनुपम है ! यह शब्द मधुर, मजुल है ! यह रस मीठा है ! यह स्पश सुखद है ।" आदि चिन्तन से जीव पुदगल-भाव का अनुमोदक बन, कमलेप से लिप्त होता रहता है और असह्य यातना का शिकार बनता है । अत "मैं पुदगल-भाव का अनुमोदक नही ।" इस भाव के वशीभूत हो, भावना ज्ञान की शरण लेनी चाहिये । प्रस्तुत भावना को हजार नही लाख बार अपने मन मे स्थिर कर उसका रसायन बनाना चाहिये । तभी भावना ज्ञान की परिणति सिद्ध-रसायन मे होगी । फलत कैसा भी शक्तिशाली कम लेप आत्मा को लग नही सकेगा ।

आत्मा स्वय अपने मूल स्वरूप मे स्वगुणो की कर्ता और भोक्ता है । पुद्गलभाव का कर्तृत्व–भोक्तृत्व आत्मा के विशुद्ध स्वरूप मे है ही नही ! 'तब भला, जीव पुदगल भाव मे क्या कर कतृत्व का अभिमान करता है ?' इस प्रश्न के प्रत्युत्तर में यो कह सकते हैं कि जीव और कम का अनादि सबन्ध ह । कर्मो से प्रभावित होकर जीव पुद्गलभाव के साथ अनन्त काल से कतृत्व-भोक्तृत्व आदि भाव धारण करता रहा है । आत्मा के शुद्ध स्वरूप के अनुराग से कर्मो का प्रभाव उत्तरोत्तर क्षीण होता जाता है । परिणामस्वरूप पुद्गलभाव के प्रति रही कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि मिथ्या भ्रान्ति भी क्षीण होती जाती है । ज्यो ज्यो आत्मा

के शुद्ध स्वरूप का राग वृद्धिगत होता जाता है, त्यों-त्यों जड़ पुद्गल-भाव के प्रति वैराग्य वृत्ति का उदय होता जाता है और जीव त्याग-मार्ग की ओर गतिमान होता रहता है।

लिप्यते पुद्गलस्कन्धो, न लिप्ये पुद्गलैरहम् ।
चित्रव्योमांजनेनैव, ध्यायन्निति न लिप्यते ॥३॥८३॥

अर्थ 'पुद्गलों का स्कन्ध पुद्गलों के द्वारा ही लिप्त होता है, ना कि मैं। जिस तरह अंजन द्वारा विचित्र आकाश।' इस प्रकार ध्यान करती हुई आत्मा लिप्त नहीं होती।

विवेचन.- आत्मा की निर्लिप्तावस्था का ध्यान भी न जाने कैसा असरकारक/प्रभावशाली होता है! ध्यान करो! जब तक ध्यान की धारा अविरत रूप से प्रवाहित है, तब तक आत्मा कर्म-मलिन नहीं बन सकती।

यदि यह दृढ प्रणिधान कर दिया जाए कि 'मुझे कर्म-कीचड में फँसना ही नहीं है, तभी कर्म से निर्लिप्त रहने की प्रवृत्ति होगी। तुम्हारा प्रणिधान जितना मजबूत और दृढ होगा, प्रवृत्ति उसी अनुपात मे वेगवती और प्रबल होगी। अतः जीव का प्रथम कार्य है-प्रणिधान को दृढ-सुदृढ बनाना और उसके लिये कर्म के चित्र-विचित्र विपाकों का चिन्तन करना।

कर्मों से मुक्त होने की चाह पैदा होते ही कर्मजन्य सुख-सुविधाओं के प्रति नफरत/घृणा पैदा होगी। अति आवश्यक सुख-सुविधा मे भी अनासक्तिभाव होना जरूरी है। और उसी अनासक्ति-भाव को स्वाभाविक रूप देने के लिये पूज्य उपाध्यायजी महाराज ने 'पुद्गल-विज्ञान' का चिन्तन-मनन करने का प्रभावशाली उपाय सुझाया है।

'जिस तरह अंजन से विविध वर्ण युक्त आकाश लिप्त नही होता, ठीक उसी तरह पुद्गलसमुदाय से चैतन्य लिप्त नही बनता।"

यदि जीव अति आवश्यक पुद्गल-परिभोग के समय यह चिन्तन अविरत करता रहे तो पुद्गल-परिभोग की क्रिया के बावजूद भी वह लिप्त नही बनता। साथ ही पुद्गल-परिभोग मे सुखगृद्धि अथवा रस-गृद्धि पैदा नही होती। और यदि सुख-गृद्धि या रस-गृद्धि पैदा होती हो तो समझ लेना चाहिये कि ध्यान प्रबल नही है, ना ही ध्यान की

पूर्व भूमिका मे प्रणिधान दृढ है। ऐसी परिस्थिति मे जीव कभी भटक जाता है, अपना निर्दिष्ट मार्ग छोड देता है और मान बैठता है कि 'पुद्‌गलो से पुद्‌गल उपचय पाता है, बल्कि मेरी आत्मा उसमे लिप्त नही होती। फलत पूर्ववत् मनमौजी बन पुदगलपरिभोग मे आकंठ डूब जाता है। उसमे हो निर्भयता का अनुभव करता है। यह एक प्रकार की भयंकर आत्मवंचना ही है।

इस विचार से कि 'पुद्‌गलो से पुद्‌गल बँधता है।' जीव मे रहा यह अज्ञान कि 'पुदगलो से मुझे लाभ होता है पुद्‌गलो से मैं तृप्त होता हू', सर्वथा नष्ट हो जाता है। और फिर पुदगल के प्रति रहा हुआ आकर्षण तथा परिभोग वृत्ति शनै शनै क्षीण होती जाती है।

एक पुदगल दूसरे पुदगल से कैसे आबद्ध होता है, जुडता है, इसका वर्णन श्री जिनागमो मे सूक्ष्मतापूर्वक किया गया है। पुदगल मे स्निग्धता एव रुक्षता दोनो गुणो का समावेश है। स्निग्ध परिणाम वाले और रुक्ष परिणाम वाले पुदगलो का आपस मे बन्ध होता है, वे परस्पर जुडते हैं। लेकिन इसमे भी अपवाद है। जघन्य गुणधारक स्निग्ध पुद्‌गल और जघन्य गुणधारक रुक्ष पुद्‌गलो का परस्पर बंध नही होता। वे आपस मे नही जुड पाते। जब गुण की विषमता होती है, तब सजातीय पुद्‌गलो का भी परस्पर बन्ध होता है। अर्थात समान गुण वाले स्निग्ध पुद्‌गलो का, ठीक वैसे ही तुल्य गुण वाले रुक्ष पुदगलो का सम-धर्मी पुद्‌गलो के साथ आपस मे बन्ध नही होता।

आत्मा के साथ पुदगलो का जो सबन्ध है, वह तादात्म्य सबंध' नहीं' बल्कि 'संयोग-सबन्ध' है। आत्मा और पुदगल के गुणधर्म परस्पर विरोधी, एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न है। अत ये दोनो एकरूप नही बन सकते। ठीक इसी तरह पुद्‌गल और आत्मा का भेदज्ञान परिपक्व हो जाने के पश्चात् कर्मपुद्‌गलो से लिप्त होने का प्रश्न ही नहीं उठता। भेदज्ञान को परिपक्व करने के लिये निम्नांकित पंक्तियो को आत्मसात करना परमावश्यक है।

लिप्त होते पुद्‌गल सभी, पुद्‌गलों से मैं नही।
अंजन स्पर्शे न आकाश, है शाश्वत सत्य यही॥
लिप्ता ज्ञानसपात-प्रतिघाताय केवलम्।
निर्लेपज्ञानमग्नस्य, क्रिया सर्वोपयुज्यते ॥४।'८४॥

पूर्णतया असमर्थ हैं, ऐसा कहें तो अतिशयोक्ति न होगी। वे कपोल-कल्पनाओं के आग्रही बन वास्तविक आत्मोन्नति के मार्ग से हमेशा के लिये विमुख बन जाते हैं। फलस्वरूप, जब तक अप्रमत्त दशा प्राप्त न हो तब तक अविरत रूप से आवश्यकादि क्रियाओं को करते रहना चाहिये। इन क्रियाओं के आलंबन से आत्मा प्रमाद की गहरी खाइ में गिरने से बच जाती है। विभावदशा के प्रति रहा अज्ञान उसके मनोमंदिर में प्रवेश नहीं कर सकता। 'श्री गुणस्थान क्रमारोह' में कहा है

> तस्मादावश्यकै: कुर्यात प्राप्तदोषनिकृन्तनम्।
> यावन्नाप्नोति सद्ध्यानमप्रमत्तगुणाश्रितम् ॥३१॥

सातवें गुणस्थान के सम्यग् ध्यान में यानी निर्लेप ज्ञान में जब तक तल्लीनता का अभाव हो, तब तक आवश्यकादि क्रियाओं के माध्यम से विषय कषायों की बाढ को बीच में ही अवरुद्ध करके हमेशा के लिये उसका नामोनिशान मिटा दो।

लिप्तता-ज्ञान अर्थात् विभाव दशा। कर्मजन्य भावों के प्रति मोहित होने की अवस्था। उसी लिप्तता-ज्ञान को नष्टप्राय बनाने हेतु परमाराध्य उपाध्यायजी महाराज ने आवश्यक क्रियाओं का एकमेव उपाय बताया है। 'बाह्य क्रियाकांड से कभी आत्मज्ञान की प्राप्ति नहीं होती।' कहने वाले महानुभाव जरा अपनी बुद्धि की मार्मिकता की कसौटी पर परख कर तो देखें। वे पायेंगे कि उत्साही वृत्ति से विषय-कषायों से युक्त सांसारिक क्रियायें सम्पन्न कर, अनात्मज्ञान को किस कदर दृढ-सुदृढ कर दिया है? क्या उसी ढंग से पाप-निदार्गभित, प्रभु-भक्तियुक्त, अभिनव गुणों की प्राप्तिस्वरूप आवश्यकादि क्रियायें करते हुए आत्मज्ञान दृढ प्रबल नहीं हो सकता? अवश्य हो सकता है। यह असंभव नहीं, बल्कि सौ बार संभव है! जिन्होंने तर्क और विविध युक्तियों से मंडित अनेकविध उत्तमोत्तम ग्रंथों के अध्ययन-मनन-चिन्तन और परिशीलन में समस्त जीवन व्यतीत कर दिया था ऐसे महापुरुष तार्किक शिरोमणि उपाध्यायजी महाराज के धीर-गंभीर वचन पर गंभीरता से विचार करना चाहिये। ठीक उसी तरह आवश्यकादि क्रियाओं के महत्त्व को समझना भी परमावश्यक है। वर्ना प्रमाद वृत्ति उन्मत्त बनते देर नहीं लगेगी।

तप·श्रुतादिना मत्तः क्रियावानपि लिप्यते ।
भावनाज्ञानसंपन्नो, निष्क्रयोऽपि न लिप्यते ॥५॥८५॥

अर्थ - श्रुत और तपादि के अभिमान से युक्त, क्रियाशील होने पर भी कर्म-लिप्त बनता है, जब कि क्रियाविरहित जीव यदि भावना-ज्ञानी हो तो वह लिप्त नहीं होता ।

विवेचन - प्रतिक्रमण- प्रतिलेखनादि विविध क्रियाओ मे रात- दिन खोया, तप- जप और ज्ञान- ध्यान का अभिलाषी हो, फिर भी अपनी क्रिया का अभिमान करता हो तो उसे कर्म- लिप्त हुआ ही समझो । 'मैं तपस्वी .... मैं विद्वान् ... मैं विद्यावान्.... मैं बुद्धिमान् .... मैं क्रियावान हूँ–' इस तरह अपने उत्कर्ष का खयाल अथवा अभिप्राय, मिथ्याभिमान है । एक तरफ तप- त्याग और शास्त्राध्ययन चलता रहे और दूसरी तरह अपनी क्रिया के लिये मन मे अभिमान की धारा जोरो से प्रवाहित रखता हो । यह निहायत अनिच्छनीय बात है । साधक को अभिमान की परिधि से बाहर आना चाहिये । मिथ्याभिमान के घेरे को तोड़ देना चाहिये ।

अपना उत्कर्ष और दूसरे का अपकर्ष करते हुए जीव, आत्मा के शुद्ध-विशुद्ध अध्यवसायों को मटियामेट कर देते है । परिणामस्वरूप आत्मा विशुद्ध अध्यवसायो का श्मशान बनकर रह जाता है । जिस स्मशान मे क्रोध, अभिमान, मोह, माया, लोभ, लालच के भूत-पिशाच निर्बाध रूप से ताडव नृत्य करने लगते है और आहार, भय, मैथुन एव परिग्रह की डाकिनिया निरन्तर अट्टहास करती नज़र आती है । साथ ही सर्वत्र विषय-विकार के गिद्ध बेबाक उडते रहते है

पूज्य उमास्वातिजी '**प्रशमरति**' मे साधक-आत्मा से प्रश्न करते हैः-
'लब्ध्वा सर्व मदहरं तेनैव मदः कथं कार्यः ?'

तप–त्याग–ज्ञानादि के आलबन से जहाँ मदहरण होता है, वहां उन्ही की सहायता से भला अभिमान कैसे किया जाये ?

याद रखो, और जीवन मे आत्मसात् कर लो कि अभिमान करना बुरी बात है और उसके दुष्परिणाम प्रायः भयंकर होते हैं ।

'केवलमुन्मादः स्वहृदयस्य संसारवृद्धिश्च ।'

मद से दो तरह का नुकसान होता है - हृदय का उन्माद और ससार-परिभ्रमण म वृद्धि । इससे तुम्हें कोई नही बचा सकता ।

तप, त्याग और श्रुतज्ञान के माध्यम से 'भावनाज्ञान' की भूमिका तक पहुँचना है । समस्त सत्क्रियाओ के द्वारा आत्मा को भावनाज्ञान से भावित करनी है । और यदि एक बार भावनाज्ञान से भावित हो जाओगे, तो दुनिया का कोई ताकत, किसी प्रकार की कोई क्रिया न करने पर भी तुम्हे कर्मलिप्त नही कर सकती ।

श्रुतज्ञान और चिन्ताज्ञान के पश्चात् भावनाज्ञान की कक्षा प्राप्त होती है । तब ध्याता, ध्येय और ध्यान म किसी प्रकार का भेद नही रह पाता । बल्कि वहा सदा-सर्वदा होती है ध्याता, ध्येय और ध्यान के अभेद की अद्भुत मस्ती । लेकिन उसकी अवधि केवल अन्तर्मुहूर्त की होती है । उस समय बाह्य धर्म-क्रिया की आवश्यकता नही होती । फिर भी वह कर्म-लिप्त नही होता ।

लेकिन जिसके श्रुतज्ञान का कोई ठौर-ठिकाना नहीं है ऐसा जीव यदि आवश्यकादि क्रियाओ का सदन्तर त्याग दे और मनमाने धर्मध्यान का आश्रय ग्रहण कर निरन्तर उसमे आकण्ठ डूबा रहे तो वह कर्म-बधन से बच नही सकता । ठीक उसी तरह श्रुतज्ञानप्राप्ति के पश्चात किसी प्रकार के प्रमाद अथवा मिथ्याभिमान का शिकार बन जाए तो भावनाज्ञान की मजिल तक पहुँच नही पाता ।

अत तप और ज्ञान रूपी अक्षयनिधि प्राप्त करने के पश्चात् उस से पदच्युत न होने पाये, इसलिये निम्नाकित भावनाओ से भावित होना नितान्त आवश्यक है ।

* पूर्व पुरुषसिंहो के अपूर्वज्ञान की तुलना मे मैं तुच्छ/पामर जीव मात्र हूँ भला किस बात का अभिमान करु ?

* जिस तप और ज्ञान के सहारे मुझे भवसागर से तिरना है, उसी के सहयोग स मुझे अपनी जीवन-नौका को डुबाना नहीं है ।

* श्रुतज्ञान के बाद चिन्ताज्ञान और भावनाज्ञान की मजिल तक पहुँचना है, अत मैं मिथ्याभिमान से कोसो दूर रहूगा ।

* भावनाज्ञान तक पहुचने के लिये आवश्यकादि क्रियाओ का सम्मानसहित आदर करुगा ।

अलिप्तो निश्चयेनात्मा, लिप्तश्च व्यवहारतः ।
शुद्धयत्यलिप्तया ज्ञानी, क्रियावान् लिप्तया दृशा ॥६॥८६॥

अर्थ :- निश्चयनय के अनुसार जीव कर्म-बन्धनो मे जकडा हुआ नही है, लेकिन व्यवहार नय के अनुसार वह जकडा हुआ है । ज्ञानीजन निर्लिप्त दृष्टि से शुद्ध होते हैं और क्रियाशील लिप्त दृष्टि से ।

विवेचन .- "मैं अपने शुद्ध स्वभाव मे अज्ञानी नही.... पूर्णरूपेण ज्ञानी हूँ... पूर्णदर्शी हूँ.... अक्रोधी हूँ.... निरभिमानी हूँ.... मायारहित हूँ.... निर्लोभी हूँ... निर्मोही हूँ... अनत वीर्यशाली हूँ.... अनामी और अगुरुलघु हूँ । अनाहारी और अवेदी हू । मेरे स्वभाव मे न तो निद्रा है ना ही विकथा, ना रूप है; ना रग । मेरा स्वरूप सच्चिदानन्दमय है ।" आत्मा की इसी स्वभाव दशा के चिन्तन-मनन से ज्ञानीजन शुद्ध-विशुद्ध वनते हैं । 'निश्चयनय,* की यही मान्यता है । निश्चयनय के अनुसार आत्मा अलिप्त है ।

जवकि लिप्तता 'व्यवहार नय'+ के अनुसार है । "मैं जघन्य/अशुद्ध प्रवृत्तियो के कारण कर्म-वन्धनो से जकडा हुआ हूँ । कर्म-लिप्त हूँ । लेकिन अव सत्प्रवृत्तियो को अपने जीवन मे अपनाकर कर्म-वन्धनो को तोडने का, उससे मुक्त होने का यथेष्ट प्रयास करूंगा । साथ ही ऐसा कोई कार्य नही करुगा कि जिससे नये सिरे से कर्म-वन्धन होने की जरा भी सभावना हो । इस सद्भावना और सत्-प्रवृत्ति के माध्यम से मैं अपनी आत्मा को शुद्ध वनाऊँगा ।" इस तरह के विचारो के साथ यह लिप्त-दृष्टि से आवश्यकादि क्रियाओ को जीवन मे आत्मसात् करता हुआ आत्मा को शुद्ध वनाता है ।

शुद्ध वनने के लिये ज्ञानीजनो को, योगी पुरुषो को 'निश्चय नय' का मार्ग ही अपनाना है । जव कि रात-दिन अहर्निश पापी दुनिया मे खोये जीवात्मा के लिये 'व्यवहारनय' का क्रियामार्ग ही सभी दृष्टि मे उचित है । उसे अपनी कर्ममलिन अशुद्ध अवस्था का खयाल कर उसकी सर्वांगीण शुद्धि हेतु जिनोक्त सम्यक्-क्रिया का सम्मान करते हुए आत्म-शुद्धिकरण का प्रयोग करना चाहिये । ज्यों-ज्यो पाप-क्रियाओ से मुक्त

---

* निश्चयनय का विस्तृत स्वरुप परिशिष्ट मे देखिए ।

* व्यवहारनय की जानकारी के लिए परिशिष्ट देखिए ।

होते जाओगे, त्यो-त्यो निश्चयनय की अलिप्त दृष्टि का अवलबन लेकर शुद्ध-ध्यान की तरफ निरन्तर प्रगति करते रहोगे ।

ज्ञान-क्रियासमावेश सदैवोन्मीलने द्वयो ।
भूमिकाभेदतस्त्वत्र, भवेदेकैक मुख्यता ।।७।।८७।।

अर्थ - दोनों दृष्टियो के साथ खुलने से ज्ञान क्रिया की एकता होती है। यहाँ ज्ञान-क्रिया म गुणस्थानक स्वरूप अवस्था के भेद से प्रत्येक की महत्ता होती है ।

विवेचन – शुद्धि के लिये दो दृष्टियाँ खुलनी चाहिये । लिप्त दृष्टि और अलिप्त दृष्टि । जब दोनो दृष्टिया एक साथ खुलती हैं, तब ज्ञान और क्रिया की एकात्मता सधती है। गुणस्थानक की भूमिका के अनुसार ज्ञान क्रिया का प्राधान्य रहता है ।

इसमे भी सव प्रथम वात है शुद्धि की । मन मे शुद्धिकरण की भावना पैदा होनी चाहिये।

एक वार एक मनुष्य किसी योगी के पास गया । उन्हे प्रणिपात-वन्दन कर विनयभाव से कहा । "गुरुदेव, मैं परमात्मा के दर्शन करना चाहता हूँ । आप करायेंगे तो वडी मेहरवानी होगी ।"

योगीराज ने नजर उठाकर उसे देखा । क्षण दो क्षण उसे निर्निमेष दृष्टि से देखते रहे । तब उसका हाथ अपने हाथ मे लेकर चल पडे । गाव के बाहर वडा तालाव था । योगीराज ने उसके साथ शीतल जल मे प्रवेश किया । जैसे-जैसे वे आगे बढते गये, जल का स्तर वढता गया। वे दोनो कमर से ऊपर तक गहरे जल मे चले गये । फिर भी आगे बढते रहे । पानी सीने तक पहुँच गया। लेकिन रुके नही। दाढी तक पहुँच गया, फिर भी आगे वढते रहे और जब नाक तक पहुँच गया, तब योगीराज ने विद्युत वेग से अविलब उसे पानी के भीतर पूरी ताकत के साथ दबोच लिया। वह छटपटाने लगा। तडपने लगा । ऊपर आने के लिये हाथ पाँव मारने लगा । लेकिन योगीराज ने उसे दबोचे ही रखा । उसने लाख कोशिश की बाहर निकलने की, लेकिन वह अपने प्रयत्न मे कारगार न हुआ । इस तरह पाँच-दस सेकड व्यतीत हो गये । तब योगीराज ने उसे ऊपर उठाया और तालाब

से वाहर निकल आये । योगीराज की क्रिया से हैरान-परेशान वह सकते मे आकर उनका मुंह ताकने लगा ।

वातावरण मे नीरव शान्ति छा गयी । एक-दूसरे की धड़कनें साफ सुनायी दे रही थीं । पानी मे रहने के कारण मनुष्य अधमरा हो गया था फिर भी कुछ नही वोला । तव शान्ति भंग करते हुए योगीराज ने गभीर स्वर मे प्रश्न किया :" मैंने जव तुम्हे पानी मे डुवा दिया था, तव तुम किसलिये छटपटा रहे थे ?"

" हवा के लिये ।"

" और छटपटाहट कैसी थी ?"

" यदि ज्यादा समय लगता तो मेरे प्राण–पखेरू उड़ जाते । मैं मर जाता ।"

" क्या ऐसी छटपटाहट परमात्मा के दर्शन की है ? जिस पल ऐसी छटपटाहट, तड़प का अनुभव होगा, उसी पल परमात्मा के दर्शन हो जायेगे ।"

शुद्धिकरण हेतु ऐसी तीव्र लालसा पैदा होते ही, खुद जिस भूमिका पर है, उसी के अनुरुप वह ज्ञान अथवा क्रिया पर भार दे और शुद्ध होने के पुरुषार्थ मे लग जाये ।

दोनो मे से किसी को भी भूमिका के अनुसार प्राधान्य देना चाहिये । ज्ञान को प्राधान्य दो अथवा क्रिया को, दोनो ही वरावर हैं । छठे गुणस्थानक तक (प्रमत्तयति का गुणस्थानक) क्रिया को ही प्राधान्य देना चाहिये । लेकिन उसमे भी ज्ञान की सापेक्षता होना परमावश्यक है । ज्ञान की सापेक्षता का मतलव है, जो भी क्रिया की जाए, उसके पीछे ज्ञान–दृष्टि होनी चाहिये । ज्ञान की उपेक्षा अथवा अवज्ञा नही होनी चाहिये । जव कि व्यवहारदशा मे क्रिया का ही प्राधान्य होता है, लेकिन यदि जीव एकान्त क्रिया–जड वन जाए, तो आत्मशुद्धि असभव है । अतः उसमे भी ज्ञान–दृष्टि की आवश्यकता है । ठीक इसी प्रकार ध्यानावस्था मे ज्ञान का प्राधान्य रहे, लेकिन भूलकर भी यदि जीव एकान्त ज्ञानजड वन जाए, तो आत्मशुद्धि नही होती । अतः वहाँ आवश्यक क्रियाओ के प्रति सजगता और समादर होना चाहिये ।

व्यवहार से तीथ (प्रवचन) की रक्षा होती है, जबकि निश्चय से सत्य-रक्षा। जिनमत का रथ, निश्चय और व्यवहार के दो पहियो पर अवस्थित है। अत जिनमत द्वारा आत्मविशुद्धि का प्रयोग करने वाले साधक को हमेशा व्यवहार और निश्चय के प्रति सापेक्ष दृष्टि रखनी चाहिये। सापेक्ष दृष्टि एक प्रकार से सम्यग् दृष्टि ही है जबकि निरपेक्षदृष्टि मिथ्यादृष्टि है।

सापेक्षदृष्टि उद्घाटित होते ही जीवात्मा मे ज्ञान–क्रिया का अद्भुत सगम होता है। फलस्वरूप आत्मा निरन्तर विशुद्ध बनती जाती है और उसकी गुण-समृद्धि प्रकट होती है। सापेक्ष दृष्टि के मेघ से बरसता आनन्द अमृत आत्मा को अजरामर–अक्षय बनाने के लिये पूण रूप से समथ होता हे। जबकि निरपेक्ष दृष्टि से रिसता रहता है क्लेश, अशान्ति और असतोप का जहर।

> सज्ञान यदनुष्ठान, न लिप्त दोषपकत ।
> शुद्धबुद्धस्वभावाय, तस्म भगवते नम ॥८॥८८॥

अथ - जिसका ज्ञानसहित क्रियारूप अनुष्ठान दोषरूपी मल से लिप्त नही है और जो शुद्ध बुद्ध ज्ञान स्वरूप स्वभाव के धारक हैं, ऐसे भगवान को मेरा नमस्कार हो।

विवेचन – जो भी क्रिया हो, ज्ञानसहित होनी चाहिये। ठीक उसी तरह ज्ञानयुक्त क्रियानुष्ठान दोष के कीचड से सना हुआ न हो।

ज्ञानयुक्त (सज्ञान) क्रियानुष्ठान क्या होता है और किसे कहा जाता है? मतलब, जो भी क्रिया हम करते हो, उसका स्वरूप, विधि और फल की जानकारी हमें होनो चाहिये। सिफ आत्मशुद्धि के एकमेव पवित्र फल की आकाक्षा से हमे प्रत्येक क्रियानुष्ठान करना चाहिये। यह आदश सदा–सवदा हमारे आचार–विचार से प्रकट होना चाहिये कि 'मुझे अपनी आत्मा की शुद्ध–बुद्ध अवस्था प्राप्त करना है।' क्रिया मे प्रवत्त होते ही उसकी विधि जान लेनी चाहिये और विधिपूवक क्रिया-नुष्ठान करना चाहिये। क्रियानुष्ठान के विधि–निषेध के साथ–साथ जिनमतप्रणीत मोक्षमार्ग का यथाथ ज्ञान मुमुक्षु आत्मा को होना निहायत जरूरी है।

क्रियानुष्ठान करते समय इस बात से सतर्क रहना चाहिये कि वह अतिचारो से दूषित न हो जाये । मोह, अज्ञान, रस, ऋद्धि और शाता गारव, कषाय, उपसर्ग–भीरुता, विषयो का आकर्षणादि से अनुष्ठान दूषित नही होना चाहिये । इसकी प्रतिपल सावधानी बरतनी चाहिये । इस तरह दोष-रहित सम्यग् ज्ञानयुक्त, क्रियानुष्ठान के कर्ता और शुद्ध-बुद्ध स्वभाव के धनी भगवान को मेरा नमस्कार हो । कहने का तात्पर्य सिर्फ इतना है कि दोष-रहित क्रियानुष्ठान करने से आत्मा का शुद्ध-बुद्ध स्वरूप अपने आप ही प्रकट होता है । जबकि दोषयुक्त और ज्ञानविहीन क्रियाये करते रहने से आत्मा का शुद्ध-बुद्ध सहज स्वरूप प्रकट नही होता । लेकिन उससे विपरीत मिथ्याभिमान का ही पोषण होता है । फलतः भवचक्र के फेरों मे दिन-दुगुनी रात चौगुनी वृद्धि हो जाती है । कर्म-निर्लेप होने के लिये ज्ञान-क्रिया का विवेकपूर्ण तादात्म्य साधना जरूरी है ।

१२. नि:स्पृहता

स्पृहाए कामनाए और असत्य अभिलाषाओ के बधन से अब तो मुक्त बनोगे? बिना इनसे मुक्त हुए, बधन काटे, तुम निर्लेप नही बन सकते! प्रिय आत्मन्! जरा तो अपना और अपने भविष्य का ख्याल करो! आज तक तुमने स्पृहाओ की धू-धू प्रज्वलित अग्निशिखाओ की असह्य जलन मे न जाने कितनी यातनाएँ सही हैं? युगयुगान्तर से स्पृहा के विष का प्याला गले मे ऊडेलते रहे हो, पीते रहे हो। क्या अब भी तृप्त नहीं हुए? और भी पीना बाकी है? नहीं, नहीं, अब तो नि स्पृह बनना ही श्रेयस्कर है! मन की गहरायी मे दबी स्पृहाओ को जडमूल से उखेड कर फेंक दे! और फिर देख, जीवन मे क्या परिवतन आता है? अकल्पित सुख, शाति और समृद्धि का तू धनी बन जाएगा! साथ ही आज तक अनुभव नहीं किया हो ऐसे दिव्यानद से तेरी आत्मा आकठ भर जायेगी! तू परिपूर्ण बन जायेगा।

स्वभावलाभात् किमपि प्राप्तव्यं नावशिष्यते ।
इत्यात्मैश्वर्यसम्पन्नो निःस्पृहो जायते मुनिः ॥१॥८३॥

अर्थ :— आत्मस्वभाव की प्राप्ति के पश्चात् पाने योग्य कुछ भी शेष नही रहता है ! इस तरह आत्मा के ऐश्वर्य से युक्त साधु स्पृहारहित बनता है ।

विवेचन : हे आत्मन् ! तुम्हे क्या चाहिये ? किस चीज की चाह है तेरे मन में ? किस अरमान और उमगा के आधीन होकर तू रात-दिन भटकता रहता है, दौड-धूप करता रहता है ? कैसी झखनाए तेरे हृदय को विदीर्ण कर रही हैं ? क्या तुम्हे सोने—चादी और मोती-मुक्ताओं की चाह है ? क्या तुम्हे गगनचुम्बी महल और आलिशान भवनों को अभिलाषा है ? क्या तुम्हे रुप-रग की अम्बार देवागनाओ की वृन्द में खो जाना है ? क्या तुम्हें यश—कीर्ति की उत्तुंग चोटिया सर करनी है ? अरे भाई, जरा सोच, समझ और ये सब अरमान छोड़ दे ! इस मे खुश होने जैसी कोई बात नही है । न तो शाति है, ना ही स्वस्थता !

मान लो की तुम्हें यह सब मिल गया, तुम्हारी सारी अभिलाषाएँ पूरी हो गयी ! लेकिन आकाक्षापूर्ति हो जाने के पश्चात् भी क्या तुम सुखी हो जाओगे ? तुम्हे परम शांति और दिव्यानद मिल जाएगा ? साथ ही, एक बार मिल जाने पर भी वह सब सदैव तुम्हारे पास ही रहनेवाला है ? तुम उसे दीर्घावधि तक भोग सकोगे ? यह तुम्हारा मिथ्या भ्रम है, जिसके धोखे मे कभी न आना ! अरे पागल, यह सब तो क्षणिक, चचल, और अस्थिर है । भूतकाल में कई बार इसे पाया है....फिर भी हमेशा दरिद्र ही रहा है, भिखारी का भिखारी ! अब तो कुछ ऐसा पाने का भगीरथ पुरुषार्थ कर कि एक बार मिल जाने के बाद कभी जाएँ नही ! जो अविनाशी है, अक्षय है, अचल है उसे प्राप्त कर ! यही स्वभाव है, आत्मा का स्वभाव !

मन ही मन तुम दृढ संकल्प करलो कि 'मुझे आत्म-स्वभाव की प्राप्ति करना है और करके ही रहूँगा ! इसके अलावा मुझे और कुछ नही चाहिए ! विश्व-साम्राज्य का ऐश्वर्य नही चाहिए, ना ही आकाश से बात करती आलीशान अट्टालिकाओ की गरज है ! अगर

'कसी की आवश्यकता है तो सिफ आत्मस्वभाव के ऐश्वर्य की और परमानद की! मुनिराज इस तरह का दृढ निश्चय कर नि स्पृह बने। नि स्पृहता की शक्ति से वह विश्वविजेता बनता है! फलत ससार का कोइ ऐश्वय अथवा सौदय उसे आकर्षित करने मे असफल रहेगा, उसे लुभा नही सकेगा। दिन-रात एक ही तमन्ना होनी चाहिए मुझे तो आत्मस्वभाव चाहिए, उसके अलावा कुछ नही!" जिसमे आत्म-स्वभाव के अतिरिक्त दूसरी कोई स्पहा नही हैं, उसका ऐश्वय अद्वितीय और अनूठा होता है!

श्रेष्ठिवय धनावह ने महाश्रमण वज्रस्वामी के चरणो मे स्वण-मुद्राओ का कोष रख दिया! उसकी पुत्री रुप रभा रूक्मिणी ने अपना रूप यौवन समर्पित कर दिया! लेकिन वज्रस्वामी जरा भी विचलित न हुए! वे तो आत्म स्वभाव के आकाक्षी थे! उन्हे सुवणमुद्रा और मोती मुक्ताओ की स्पृहा न थी, ना ही रुप यौवन की कामना! धनावह और रुक्मिणी उनके अन्त करण को अपनी ओर आकर्षित नही कर सके! लेकिन महाश्रमण ने आत्मस्वभाव के ऐश्वय का ऐसा तो रुक्मिणी को रग दिखाया कि रुक्मिणी मायावी ऐश्वय मे ही अलिप्त बन गयी विरक्त हो गई! आत्म-स्वभाव के अनूठे ऐश्वय की प्राप्ति हेतु पुरुपाथशील हो गई!

आत्मस्वभाव का ऐश्वय जिस मुनिराज को आकर्षित करने मे असमथ है, वे (मुनिराज) ही पुदगलजन्य अधम ऐश्वय की और आकर्षित हो जाते हैं और अपने श्रमणत्व, साधुता को कलकित कर बठते हैं। दीनता की ददनाक चीख पुकार, आत्मपतन के विध्वसकारी आघात और वषयिक-भोगोपभोग के प्रहारो से लुढक जाते हैं, क्षत-विक्षत हो जाते हैं! नटो के पीछे पागल अषाढाभूति की विवशता, अरणिक मुनि का नवयौवना के कारण उद्दीप्त वासना नत्य, सिह-गुफावासी मुनि की कोशा गणिका के मोह मे सयम विस्मृति यह सब क्या ध्वनित करता है? सिफ आत्मस्वभाव के ऐश्वय की सरासर विस्मृति और भौतिक पार्थिव ऐश्वय पाने की उत्कट महत्वाकाक्षा! वैषयिक ऐश्वय की अगणित वासनाएँ और विलासी-वत्ति ने उन्हे अशतक कर दिया। अशक्त होकर वे दर दर को ठोकरें खाने के लिए विश्व

के गुलाम वन गये ! कालान्तर से उन्हे दुवारा आत्मस्वभाव के ऐश्वर्य का भान हुआ और नि:स्पृहता की दीप-ज्योति पुन: उनमे प्रज्वलित हो उठी ! दिव्यशक्ति का अपने आप सचार हुआ ! फलस्वरूप उन्होने आनन-फानन में स्पृहा की वेडिया तोड दी और पामर मे महान् वन गये, निर्वल से सवल वन गये !

परस्पृहा महादु खं, नि स्पृहत्वं महासुखम् ।
एतदुक्तं समासेन लक्षण सुखदु.खयो: ॥

पुद्गल की स्पृहा करना संसार का महादु ख है, जव कि नि स्पृहता मे सुख की अक्षय-निधि छिपी हुई है ! श्रमण जितना नि.स्पृह होगा उतना ही सुखी होगा ।

संयोजितकरै: के के प्रार्थ्यन्ते न स्पृहावहै ।
अमात्रज्ञानपात्रस्य नि स्पृहस्य तृणं जगत् ॥ ॥२॥६०॥

अर्थ :– जो करवद्ध है, नतमस्तक है, ऐसे मनुष्य भला, किस किस की प्रार्थना नही करते ? जवकि अपरिमित ज्ञान के पात्र ऐसे नि:स्पृह मुनिवर के लिए तो समस्त विश्व तृण-तुल्य है !

विवेचन :– स्पृहा के साथ दीनता की सगाई है ! जहा किसी पुद्गलजन्य स्पृहा मन में जगी नही कि दीनता ने उसके पीछे-पीछे दवे पाँव प्रवेश किया नही ! स्पृहा और दीनता, अनत शक्तिशाली आत्मा की तेजस्विता हर लेती है और उसे भवोभव की सूनी-निर्जन सडको पर भटकते भोगोपभोग का भिखारी वना देती है !

महापराक्रमी रावण के मन मे परस्त्री की स्पृहा अकुरित हो गई थी ! सीता के पास जाकर क्या कम दीनता की थी उसने ? करवद्ध हो, दीन-वाणी मे गिडगिडाते हुए सीता से भोग की भीख मांगी थी । दीर्घकाल तक सीता की स्पृहा मे वह छटपटाता रहा, तड़फता रहा ! और अत मे अपने परिवार, पुत्र, निष्ठावान् साथी और राजसिंहासन से हाथ धो बैठा ! अपने हाथो ही अपना सत्यानाश कर दिया ! स्पृहा का यह मूल स्वभाव है . जीव के पास दीनता का प्रदर्शन कराना ! गिडगिड़ाने के लिए जीव को विवश करना और प्रार्थना-याचना करवाना ! अत: मुनि को चाहिये कि वह भूलकर भी कभी पर पदार्थ की स्पृहा के पीछे दीवाना न हो जाए । और यह तथ्य

किसी से छिपा नहीं है कि जो-जो लोग उसके शिकार बने, उन्हें सवस्व का भोग देकर दान हीन याचक बनना पडा है। महीन वस्त्र, उत्तम पात्र, उपधि, मान-सम्मान, खान पान, स्तुति स्वागत किसी की भी स्पृहा नहीं करनी चाहिए। स्पृहा की तीव्रता होते ही भलभले अपना स्थान भूमिका और आचार विचार को तिलाजलि दे देते हैं। "मैं कौन ? मैं भला ऐसी याचना करूँ ? करबद्ध और नतमस्तक हो दीन स्वर मे भीख माँगू ? यह सवथा उचित नही है।"

नि स्पृह मुनिराज ही अनतज्ञान के, केवलज्ञान के पात्र ह ? जो अनतज्ञान का अधिकारी है वह भूले भटके भी कभी पुदगलो की स्पृहा नही करेगा। सोना और चादी उसके लिए मिट्टी समान है। गगन चुम्बी इमारत ईंट पत्थर से अधिक कीमत नही रखतो और रूप-सौंदय का समूह केवल अस्थिपजर है। सारे ससार को तृणवत् समझ, नि स्पृह बना रहने वाला योगी/मुनि परमब्रह्म का आनद अनुभव करता है। असीम आत्मस्वातत्र्य की मस्ती में खोया रहता है। ऐसी उत्कट नि स्पृह वृत्ति पाने के लिए जीवन में निम्नाकित उपायो का अवलम्बन करना चाहिए

• "मेरे पास सब कुछ है। मेरी आत्मा सुख और शाति मे परिपूर्ण है। मुझे किसी बात की कमी नही। मेरी आत्मा म जो सर्वोत्तम सुख भरा हुआ है, दुनिया मे ऐसा सुख कही नही। तब भला, मैं इस का स्पृहा क्या करूँ ?" ऐसी भावना से निज आत्मा को भावित रखनी चाहिए।

• "मैं जिस पदाथ की स्पहा करता हूँ, जिसके पीछे दीवाना बन, रात दिन भटकता रहता हू, जिसकी वजह से परमात्म-ध्यान अथवा शास्त्र-स्वाध्याय में मन नहीं लगता, वह मिलना सवथा पुण्याधीन है। पुण्योदय न होगा तो नही मिलेगा। जब की उसकी निरतर स्पृहा करने मे मन मलिन बनता है। पाप का बधन और अधिक कसता जाता है। अत ऐसी परपदाथ की स्पृहा से क्यो न मुख मोड लू?" ऐसे विचारो का चितन मनन करते हुए, जीवन की दिशा का ही बदल देना चाहिए।

• "यदि मैं परपदार्थों की स्पृहा करूँगा तो नि सदेह जिनके पास ये हैं, उनकी मुझे गुलामी करनी पडेगी, दीघकाल तक उसका गुलाम

बन कर रहना होगा ! उसके आगे दीन बन याचना करनी पडेगी। यदि याचना के बावजूद भी नही मिले वे पदार्थ तो रोष अथवा रुदन का आधार लेना पडेगा ! प्राप्त हो गये तो राग और रति होगी ! परिणामस्वरुप दु.ख ही दु.ख मिलेगा ! साथ ही यह सब करते हुए आत्मा-परमात्मा की विस्मृति होते देर नही लगेगी। सयम-आराधना मे शिथिलता आ जाएगी और फिर पुन:-पुनः भव-चक्कर मे फंसना होगा !" इस तरह जीवन मे होने वाले अगणित नुकसान का खयालकर स्पृहा के भावो का निर्मूलन करना होगा !

जैसे भी संभव हो, जीवन में परपदार्थो की आवश्यकता को कम करना चाहिए। पर पदार्थो की विपुलता के बल पर अपनी महत्ता अथवा मूल्याकन नही करना चाहिए, बल्कि उनकी अल्पता में ही अपना महत्त्व समझना चाहिए !

० सदा-सर्वदा नि:स्पृह आत्माओं से परिचय बढाकर उसे अधिकाधिक दृढ करना चाहिए ! नि स्पृह महापुरुषो के जीवन-चरित्रो का पुन.पुन: परिशीलन करना चाहिए !

० आवश्यक पदार्थो (गोचरी, पानी, पात्र, उपधि, वस्त्रादि) की भी कभी इतनी स्पृहा न करें कि जिसके कारण किसी के आगे दीन बनना पडे, हाथ जोडना पडे और गिडगिडाना पडे ! समय पर कोई पदार्थ न भी मिले तो उसके बिना काम चलाने की वृत्ति होनी चाहिए। तपोबल और सहनशक्ति प्राप्त करनी चाहिये !

छिन्दन्ति ज्ञानदात्रेण स्पृहाविषलतां बुधा. !
मुखशोषं च मूर्च्छा च दैन्यं यच्छति यत्फलम् ॥.३॥९१॥

अर्थ – अध्यात्म-ज्ञानी पडित पुरुष स्पृहा रूपी विष-लता को ज्ञान-रुपी हँसिये से काटते है, जो स्पृहा विषलता के फलरुप, मुख का सुखना, मूर्च्छा पाना, और दीनता प्रदान करते हैं।

विवेचन. यहाँ स्पृहा को विष-वल्लरी की उपमा दी गयी है !
स्पृहा यानी विष- वल्लरी ! यह विषवल्लरी अनादिकाल से- आत्मभूमि पर निर्बाध रुप से फलती-फूलती और विकसित होती रही है ! आत्मभूमि के हर प्रदेश में वह विभिन्न रूप–रग से छायी हुई है। उस पर भिन्न- भिन्न स्वाद और रंग-बिरगे फल-फूल लगते हैं ! लेकिन

उन फलो की खासियत यह है कि उनका प्रभाव हर कही, किसी भी मौसम मे एकसा होता है।

हमे यहा पौदगलिक- स्पृहा अभिप्रेत है। जब अनुकूल पदार्थो की स्पृहा जग पडे तब समझ लेना चाहिए कि विष-वल्लरी पूर-बहार मे प्रस्फुटित हो उठी है। इसके तीव्र होते ही मनुष्य मूच्छित हो जाता है, उसका चेहरा निस्तेज पडता है, मुख सूख जाता है और एक प्रकार का पीलापन तन बदन पर छा जाता है। उसकी वाणी मे दीनता होती है और जीवन का आतरिक प्रसन्न सवेदन लुप्त होता दृष्टि गोचर होता है।

स्पृहा!! अरे भाई, स्पृहा की भी कोई मर्यादा है, सीमा है ? नही, उसकी कोई मयादा, सीमा नही है। स्पहा का विष आत्मा के प्रदेश-प्रदेश मे व्याप्त हो गया है। ऊपर से नीचे तक आत्मा जहरीली बन गयी है। उसने विकराल सप का रुप धारण कर लिया है। मानवदहधारी जहरीले सर्पो का विष निखिल भमडल को, बिश्व को मूच्छित, नि सत्व और पामर बना रहा है। धन-धान्य की स्पहा, गध-सुगध की स्पहा, रग रूप की स्पृहा, कमनीय षोडसी रमणिया की स्पृहा, मान-सम्मान और आदर-प्रतिष्ठा की स्पहा। न जाने किस-किस की स्पृहा के विष के फुहारे निरतर उडते रहते हैं। तब भला, स्वस्थता, सात्विकता और शौय कहाँ से प्रकट होगा ? फिर भी मानव पागलपन दोहराता हुआ दिन-रात स्पृहा करता ही रहता है। दुख, कष्ट, कलह, खेद, अशाति आदि असख्य बुराइयो के बावजूद भी वह स्पृहा करता नही थकता। मान लो उसने समझ लिया है कि 'स्पृहा किये बिना जी ही नही सकते, जिंदगी बसर करने के लिए स्पृहा का सहारा लिये बिना कोई चारा नही।' सभव है कि अमुक अश मे यह बात सच हो ।

लेकिन क्या स्पृहा की कोई मयादा निर्धारित नही हो सकती ? तीव्र स्पृहा के बधन से क्या जीव मुक्त नही हो सकता ? अवश्य मुक्त हो सकता है, यदि ज्ञान का माग अपनाये तो। उसके बल पर वह विषय वासना की लालसा को नियत्रित कर सकता है। ज्ञान–माग का सहयोग लेना मतलब जड और चेतन के भेद का यथार्थ ज्ञान

होना ! स्पृहाजन्य अशांति की अकुलाहट होना और स्पृहा की पूर्ति मे प्राप्त सुख के प्रति मनमे पूर्णरूपेण उदासीनता होना !

"मैं आत्मा हूँ.... चैतन्यस्वरूप हूँ.... सुख मे परिपूर्ण हूँ ! जड़ पौद्गलिक पदार्थों के साथ मेरा कोई सबध नही है ! फिर भला, मुझे उसकी स्पृहा क्यो करनी चाहिये ?"

'जड-पदार्थों की स्पृहा करने से चित्त अशांत होता है ! स्वभाव मे से परभाव मे गमन होता है, और स्पृहा करने के उपरात भी इच्छित पदार्थों की प्राप्ति नही होती, तब हिंसा, असत्य, चोरी आदि पापो के माध्यम से उसे पूरा करने का अध्यवसाय पैदा होता है ! अशाति .. असुख मे तीव्रता आ जाती है ! अत ऐसे जड पदार्थों की स्पृहा से दूर ही भले !

यदि स्पृहा पूर्ण हो जाए तो प्राप्त पदार्थों के प्रति आसक्ति बढ़ जाती है, उसकी सुरक्षा की चिंता पैदा होती है... आत्मा के ज्ञानादि गुणों को सरक्षित रखने की विस्मृति हो जाती है ! तब नौबत यहाँ तक आ जाती है कि व्यवहार के लिए आवश्यक ऐसे न्याय-नीति, सदाचार, उदारतादि गुण भी लुप्त हो जाते हैं ! साथ ही, एक स्पृहा पूरी होते ही दूसरी अनेक स्पृहाओ का पुनर्जन्म होता है ! और उन्हे पूरी करने के लिए प्रयत्न करते समय प्राप्त सुख-शाति का अनुभव नही पा सकते ! इस तरह नित्य नई स्पृहा का जन्म होता रहे और उसे पूर्ण करने के भगीरथ प्रयास निरतर चलते रहते हैं ! फलत. जीवन मे शाति, प्रसन्नता का सवाल ही नही उठता । ऐसे समय यदि हमारी ज्ञानदृष्टि खुल जाय तो स्पृहा की विष–वल्लरी सूखते देर नही लगेगी ! इसीलिए कहा गया है कि ज्ञान रूपी हँसिये से स्पृहा रूपी विष–वल्लरिओ को काट दो ।

> निष्कासनीया विदुषा स्पृहा चित्तगृहाद् बहि ।
> अनात्मरतिचाण्डाली संगमङ्गीकरोति या ।।४।।९२।।

अर्थ – विद्वान के लिए अपने मन–घर मे तृष्णा को बाहर निकाल देना ही योग्य है, जो तृष्णा आत्मा से भिन्न पुद्गल में रति–रूप चाडालनी का सग स्वीकार करती है ।

विवेचन स्पृहा और अनात्म–रति का गाढ सम्बन्ध है। दोनो एक-दूसरे से घुल–मिलकर रहती है। स्पृहा अनात्म-रति के बिना रह नही सकती और अनात्म रति स्पृहा के सिवाय नही रहती। यहा पूज्य उपाध्यायजी महाराज तष्णा का घर मे बाहर करने की सलाह देते हुए कहते ह कि स्पृहा अनात्म-रति की सगत करती है। अर्थात् उसे घर-बाहर कर देना चाहिए। क्योकि वह अनात्म-रति का सग करती रहती है।

स्पृहा कहती है 'मेरा ऐसा कौन सा अपराध ह कि मुझ घर बाहर करने के लिए तत्पर हैं?

उपाध्यायजी तुम अनात्म रति की सगत जो करती हो।'

स्पृहा " इसम भला, आपका क्या नुकसान होता है?"

उपाध्यायजी 'बहुत बडा नुकसान, जिसकी पूर्ति करना प्राय असभव है। तुम दोनो साथ मे मिलकर हमारी गहलक्ष्मी जसो आत्म-रति' को ही हरान-परेशान और निरतर व्यथित करती हो। जब कि वह हमारे घर की सुशील रानी है। और हमारे घर की एक मात्र आधारस्तभ है। उसका अस्तित्व ही मटियामेट करने के लिए तुम दोना तुली हुई हो। यदि तुम महाभयकर अनात्म-रति का साथ छोडकर सुदर, सुभग, कमनीय ऐसी आत्म-रति का हाथ पकड लो तो हम प्रसन्नतापूवक तुम्ह हमारे मन मदिर मे रहने की अनुमति द सकत हैं। बशर्ते कि तुम्ह उस चाडालिनी (अनात्म-रति) का साथ छोड देना होगा।

तब सवाल यह उठता है कि 'अनात्म रति' क्या है, जिसे छोडने का उपाध्यायजी महाराज ने बार-बार आग्रह किया है! अनात्म-रति मतलब जडरति पुदगलानद। जड पदार्थों के प्रति एक बार आकर्पण हो जाने पर उससे जिस सुख की कल्पना की जाती है, और उस कल्पना के जरिये जो विविध प्रकार की मृदुता–मधुरता का आभास होता है, उसे ही अनात्म रति कहा गया है। यदि अनात्म रति को समय रहते सद्विचार, तत्त्वचितन और अध्यवसाय से रोका न जाए उसका माग अवरुद्ध न किया जाय तो वह जिन पदार्थों को लेकर जागृत होती है, उन्हीं पदार्थों के पीछे स्पृहा उतावली बन दौडने लगती है। और उसकी गति इतनी तो तीव्र वेगवती होती है कि कालान्तर

से वही स्पृहा का रूप धारण कर लेती है ! ऐसी स्थिति में स्पृहा आत्म-प्रदेश में विस्फोट कर देती है !

लेकिन उपाध्यायजी महाराज सर्वथा उसका निषेध नहीं करते, वल्कि उसका गौरवपूर्ण उल्लेख भी करते हैं ! वे स्पृहा की एकांत हेयता का इन्कार कर उसकी उपादेयता का भी वर्णन करते नहीं अघाते ! वह कहते है : अनात्म-रति से स्फुरित स्पृहा हेय होती है, जब कि आत्म-रति से स्फुरित स्पृहा उपादेय होती है ।

व्यक्ति के जीवन मे अनेक प्रकार की स्पृहाओं के द्वन्द्व निरंतर चलते रहते है। जब उसके मन में आत्मोत्थान की अभिलाषा जगती है तब उसे सद्गुण की स्पृहा होती है, सम्यग्ज्ञान की स्पृहा होती है, संयम के लिए आवश्यक उपकरणो की स्पृहा होती है और होती है संयम मे सहायक साधु/संतो की कामना...! .... शासनसरक्षण की तीव्र इच्छा, समग्र जीवो की कल्याण–भावना ! साथ ही मोक्षप्राप्ति की उत्कट चाहना होती है ! प्रस्तुत सभी स्पृहाएँ उपादेय मानी जाती है ! क्यो कि इन सब आकांक्षाओं के मूल मे 'आत्मरति' जो होती है !

ऐसी स्पृहाएँ, कामनाएँ, अभिलाषाएँ कि जिनके मूल मे अनात्मरति है, वह दिखावे में भले ही तप, त्याग, और सयममय हो, ज्ञान और ध्यान की हो, भक्ति और सेवाभाव की हो, लेकिन सभी हेय है, सर्वथा त्याज्य हैं । "मैं तपाराधना करूँगा तो मान-सन्मान मिलेगा ! मैं ज्ञानी-ध्यानी बनूगा तो सर्वत्र मेरा पूजा-सत्कार होगा । मैं भक्ति-सेवा-व्रती हूँगा तो लोक मे वाह-वाह होगी !" इन स्पृहाओ के मूल मे 'अनात्मरति' कार्यशील हैं । अतः ऐसी स्पृहाओं को पास भी आने नही देना चाहिए ! वल्कि उन्हे हमेशा के लिए निकाल वाहर करना चाहिए ! फलस्वरूप, किसी भी प्रकार की स्पृहा पैदा होते ही साधकवर्ग को विचार करना चाहिए कि उक्त स्पृहाओ से कहीं अनात्मरति का पोषण तो नही हो रहा है ? अन्तर्मुख होकर इसके वारे मे सभी दृष्टि से विचार करना परमावश्यक है ! जब तब इसके सम्बन्ध मे अन्तर की गहराई मे विचार नही होगा, तब तक अनात्म-रति से युक्त स्पृहाएँ, हमारे आत्म-गृह को भग्नावशेष मे परिवर्तित करते विलम्ब नही करेगी ! भूलो भ्रमत, तकाल में भी इसी के कारण हमारा सत्यानाश हुआ है।

ऐसे अवसर पर तुम्हारी विद्वत्ता, आराधकता और साधकता का दारो-मदार इस बात पर अवलम्बित है कि तुम अनात्म-रति समेत स्पृहा को अपने आत्म-गृह से निकाल बाहर करते हो अथवा नहीं। यदि उन्हें निकाल बाहर करते हो तब तो तुम सही अर्थ में साधक, आराधक और विद्वान हो, वर्ना कतई नहीं।

स्पृहावन्तो विलोक्यन्ते, लघवस्तृणतूलवत्।
महाश्चर्य तथाप्येते, मज्जन्ति भववारिधौ ॥५॥९३॥

अर्थ – स्पृहावाले तिनके और आक के कपास के रोएँ की तरह हलके दिखते हैं, फिर भी वे संसार-समुद्र में डूब जाते हैं। यह आश्चर्य की बात है।

विवेचन – याचना और भीख, मनुष्य का नैतिक पतन करती है। किसी एक विषय की स्पृहा जगते ही उसकी प्राप्ति के लिए याचना करना, भीख मांगना और चापलूसी करना साधनासंपन्न मुनिराज के लिए किसी भी रूप में उचित नहीं है। साधु का भूलकर भी कभी स्पृहावन्त नहीं बनना चाहिए।

महा सामर्थ्यशाली स्थूलिभद्रजी की स्पर्धा करने के लिए कोशा गणिका के आवास में जाने वाले सिंहगुफावासी मुनिवर की कलक-कथा क्या तुम्हें विदित नहीं है? 'मगध-नृत्यांगना कोशा की चित्रशाला में भी चातुर्मास करूँगा,' ऐसे मिथ्या आत्मविश्वास और संकल्प के साथ वे उसके द्वार पर गये, और कोशा की कमनीय काया के प्रथम दर्शन से और उसके मधुर स्वर से प्रस्फुटित शब्दों का श्रवण करते ही सिंह-गुफावासी मुनिवर का सिंहत्व क्षणार्ध में हिरन हो गया। वे गलित-गात्र हो गये। अनात्म रति पुरजोर से जग पड़ी। स्पृहा ने उसका सक्रिय साथ दिया। फलतः सिंहगुफावासी मुनिवर नृत्यांगना कोशा के सुकोमल काया की स्पृहा के विष से व्याप्त हो गए। प्रगाढ अरण्य, घने जंगल और असंख्य वनचर पशु पक्षियों पर अधिपत्य रखने वाले वन-राजों के बीच चार-चार माह तक एकाग्रचित्त ध्यानस्थ रहनेवाले महान सात्विक और मेरु सदृश निष्प्रकम्प बनकर, चातुर्मास करनेवाले महा-पुरुषार्थी, महातपस्वी मुनिवर कोशा के सामने तिनके से भी हलके दुर्बल बन गए। आक की रूई से भी तुच्छ बन गए। कोशा गणिका को

बाँकी भगिमा, नेत्र-कटाक्ष की झपट से वे नेपाल जा पहुँचे ! कोशा के कटाक्ष का वायु उन्हे नेपाल उडा ले गया। क्योकि वैषेयिक स्पृहा ने उनमे रही संयमदृढता, सकल्पशक्ति की दृढता को क्षणार्ध मे छिन्न-भिन्न कर मुनिवर को एकाध तिनका और आक की रूई की भाँति हलका जो कर दिया था।

आपाढाभूति के पतन मे भी स्पृहा की करूण करामत काम कर गयी ! 'मोदक' की स्पृहा ! जिह्वेन्द्रिय के विषय की स्पृहा... यही स्पृहा उन्हे बार-बार अभिनेता के घर खिच गयी... अभिनेत्रियो के गाढ परिचय मे आने की हिकमत लडा गयी .। स्पृहा ने अपने कार्य-क्षत्र का विस्तार किया.... मोदक की स्पृहा का विस्तार हुआ ... मदनाक्षी मानिनियो की स्पृहा रग जमा गयी.... स्पृहा की तूफानी हवा जोर-शोर से आत्म- प्रदेश पर सर्वत्र छा गयी । चारो दिशाओ मे तहलका मच गया । स्पृहा से हलका बना आपाढाभूति का पामर जीव उस चक्रवात/ आधी मे उडा और सौन्दर्यमयी नारियो/ अभिनेत्रियो के प्रागण मे जा गिरा ! एकाध तिनके की तरह तुच्छ बन वह स्पृहा की आधी का शिकार बन गया !

(जिस तरह वेगवान तूफान और तेज आधी मेरूपर्वत को प्रकम्पित नही कर सकती, हिला नही सकती, हिमाद्रि की उत्तु ग चोटियो को अपनी गरिमा और अस्मिता से चलित नही कर सकती, ठीक उसी तरह योगीश्वर/ महापुरुषो की आत्मा मेरूपर्वत की तरह अटल-अचल होती है। स्पृहा का तूफान उसे विचालित नही कर सकता, ना ही अस्थिर कर सकता है ! अरे, स्पृहा उसके अन्तस्थल मे प्रवेश करने मे ही असमर्थ है ! लेकिन यदि स्पृहा प्रवेश करने मे समर्थ बन जाए तो सभव है कि उसमे रही लोह-शक्ति सदृश आत्मपरिणति नष्ट होते विलम्ब नही लगता। जहाँ वह शक्ति नष्ट हो जाती है, वहाँ वायु के वेगवान प्रहार उसे तोड-फोड़कर भूमिशायी बना देते हैं।)

प्राय. देखा गया है कि स्पृहावन्त व्यक्ति हलका बन जाता है और वह ससार-समुद्र मे डूब जाता है । जब कि वास्तविकता यह है कि हलका (वजन मे कम) व्यक्ति समुद्र तैर कर पार कर लेता है ! साथ ही हलकी वस्तु को हवा का झोका उड़ा ले जाता है, जब पृहसवन्त को

वह अपने स्थान से हिला तक नही कर सकता ! क्यो कि स्पृहावन्त व्यक्ति वजन मे हलका नही बनता, बल्कि स्व-व्यक्तित्व से हलका बनता है ! तब भला स्पृहावन्त का वायु क्यो उडा ले जाएगा ? वायु भी सोचता है !"

"यदि इस भिखारी को ले जाऊँगा तो बार बार यह भीख मागेगा और विविध पदार्थों की याचना करेगा !' अत वह भी उसे ले जाने मे उत्सुक नही रहता !

यह कभी न भुलो कि स्पृहा करने से तुम दुनिया की नजर मे हलके बनते हो । तुम्हारी गणना तुच्छ और ओछे लोगो मे होती है ! साथ ही तुम्हें भव-सागर की उत्ताल तरगो का भोग बनते पल की देर नही लगेगी !

> गौरव पौरव-वन्द्यत्वात् प्रकृष्टत्व प्रतिष्ठया ।
> ख्याति जातिगुणात् स्वस्य प्रादुष्कुर्यान्न निस्पृह ॥६॥६४॥

अर्थ – स्पृहारहित मुनि, नगरजनों द्वारा वदन करने योग्य होने के कारण अपने बडप्पन को, प्रतिष्ठा से प्राप्त सर्वोत्तमता को, अपने उत्तम जातिगुण से प्राप्त प्रसिद्धि को प्रकट नहीं करता है ।

विवेचन जीवन मे व्याप्त अनात्मरति/पुद्गलरति को जिस श्रमण ने तिलाजलि दे दी है, वह भला पौद्गलिक भावो पर आधारित गौरव, प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा की क्या लालसा करेगा ? वह खुद होकर क्या उसका भोडा प्रदर्शन करेगा ? नगरजनो द्वारा किये गये भावभीने अभिनदन, राजा-महाराजादि सत्ताधीश और सज्जनो द्वारा दी गयी व्यापक मान्यता उच्च कुल महान् जाति और विशाल परिवार द्वारा प्रकट प्रसिद्धि आदि सब महामना मुनि की दृष्टि मे कोई मोल/महत्व नही रखते ! ब्रह्मानन्द महात्मा की दृष्टि नजर इन सबके प्रति निर्मम और नि स्पृह होती है ।

नागरिको के द्वारा की गयी प्रशसा-स्तवना और अर्चन-पूजन के माध्यम से मुनि अपना गौरव नही मानता । उसके मन पर इसका कोई प्रभाव नही पडता । राजा-महाराजा और सर्वसत्ताधीश व्यक्तियो द्वारा दुनिया मे गायी जानेवाली यशकथा के बल पर नि स्पृह

योगी अपनी उच्चता, सर्वोपरिता की कल्पना नही करता । देश-परदेश मे आबाल-वृद्ध के मुखपर रहे अपने नाम से उसके हृदय को खुशी नहीं होती । उसके मन यह सब 'परभाव-पुद्गलभाव' होता है ! जब पुद्गल पर से उसका जी पहले ही उचट गया है, तब भला वह आनंद कैसे मानेगा ?

अरे, इतना ही नही बल्कि निखिल विश्व मे फैली उसकी कीर्ति, यश, प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा का वह जाने-अनजाने स्वसुख, स्वसरक्षण के लिए भूलकर भी कभी उपयोग नही करेगा ! क्यो कि वह शरीर और शारीरिक सुख से सर्वथा निःस्पृह होता है ! जब कंचनपुर-नरेश क्रोधित हो, नगी तलवार लिये, उत्तेजित बन भाँझरिया मुनि की हत्या करने झपट पड़ा, जानते हो, तब मुनिवर ने क्या किया ? उन्होने क्या यह बताया कि 'राजन् ! तुम किसकी हत्या करने आये हो ? क्या तुम मुझे जानते हो ? प्रतिष्ठानपुर के मदनब्रह्मकुमार को तुम नही जानते ? क्या तुम्हे नही मालूम कि कुमार ने राजपद का परित्याग कर श्रमण-जीवन स्वीकार कर लिया है ? शायद आप नही जानते कि मैं आपका साला हूँ ?"

यदि वह अपना राजकुल, अपनी त्याग-तपस्या, राज-परिवार के साथ रहे सबंध आदि का प्रदर्शन करते, साफ-साफ शब्दो मे बता देते तब सभव था कि राजा शस्त्र त्याग कर और क्रोध को थूक कर महामुनि के चरणों मे झुक जाता ! नतमस्तक होते पल का भी विलम्ब न लगता ! लेकिन वे तो पूर्णतया नि·स्पृह, त्यागी और तपस्वी थे ! अत. उन्होंने अपना परिचय परपुद्गलभाव के वशीभूत हो कर देना पसंद न किया ! बल्कि उनके लिए खोदे गये गड्डे मे शात भाव से ध्यानस्थ हो, राजा के शस्त्र-प्रहार को झेलना अधिक पसद किया और सिद्धि-पद प्राप्त कर लिया !

अपने ही मुख से अपने बडप्पन की डिंग हाकना, खुद हो कर अपना गौरव-गान गाना, अपनी जबान से खुद की सामाजिक प्रतिष्ठा के किस्से गढकर सुनाना और अपने कुल, वश, पाडित्य तथा वरिष्ठता की स्तवना करना....यह नि स्पृह मुनि के लिए सर्वथा अनुचित एवं अयोग्य है । यदि मुनि स्वप्रशसा करता है तो समझ लेना चाहिए

कि मुनि–जीवन मे रही नि स्पृहता नाम की वस्तु सदा–सर्वदा के लिए नष्ट हो गयी है । उसमे उसका नामोनिशान तक नही बचा है । प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि की स्पृहा साधक का आत्मभाव की प्राप्ति नही होने देती । तब साधक नाममात्र के लिए ही रह जाता है, बल्कि असल मे वह आत्मसाधक नही रहता । उसकी साधकता लुप्त हो जाती है । और पीछे रहते हैं सिर्फ उसके भग्नावशेष । यह शाश्वत सत्य है कि प्रतिष्ठा–प्रसिद्धि की स्पृहा कभी तृप्त नही होती, बल्कि समय के साथ वह बढती ही जाती है । और जिंदगी की आखिरी सास तक उसे पूरा करने की कोशिश अबाध रूप से जारी रहती है। परिणामस्वरूप अनात्म–रति दृढ बनती है और आत्मा, अनात्मरति की वासना को मन मे सजोये परलोक सिधार जाती है ।

अत इसके लिए अच्छा उपाय यही है कि नि स्पृह बनने के लिए, मुनि अपने मुख से स्व–प्रतिष्ठा और आत्मगौरव की प्रस्तावना ही नही करे ।

भूशय्या भक्ष्यमशन जीर्णं वासा गृह वनम ।
तथाऽपि नि स्पृहस्याऽहो चक्रिणोऽप्यधिक सुखम् ॥७॥६५॥

अर्थ – आश्चर्य इस बात का है कि स्पृहारहित मुनि के लिए पृथ्वी शय्या है, भिक्षा से मिला भाजन है जीर्ण–शीर्ण वस्त्र हैं और अरण्य-स्वरूप घर है, फिर भी वह चक्रवर्ती से अधिक सुखी है ।

विवेचन नि स्पृह महात्मा इस ससार म सर्वाधिक सुखी है । फिर भले ही वह भूमि पर शयन करता हो, भिक्षावृत्ति का अवलम्बन कर भाजन पाता हो, जीर्णशीर्ण जर्जरित वस्त्र धारण करता हो और अरण्य मे निवास करता हो । वह उन लोगो से अधिक भाग्यशाली और महान् सुखी है, जो सुवर्णमडित पलग पर बिछे मखमल के गद्दो पर शयन करते हैं, प्रतिदिन स्वादिष्ट षड्रस का भोजन करते हैं, नित्य नये वस्त्र परिधान करते हैं और आधुनिक साधन–सुविधाओ से सज्ज गगनचुम्बी महलो मे निवास करते है ।

नि स्पृह योगी प्राय ऐसा जीवन पसद करते हैं, जिसमे उन्हे कम से कम पर–पदार्थों की आवश्यकता रहती हो ।'' पर–पदार्थों की स्पृहा जितनी कम उतना ही सुख अधिक । मान के लिए पत्थर की

शिला, खाने के लिए रुखा-सूखा भोजन, शरीर ढंकने के लिए कपड़े का एकाध टुकडा और रहने के लिए खुले आकाश के तले बिछावन! यही सिद्ध योगी की धन-संपदा है। यदि उनमे स्पृहा है तो सिर्फ इतनी! और दुःख क्लेश का प्रसग कभी आ भी जाए तो इतनी स्पृहा की वजह से ही! इससे अधिक कुछ भी नही!

बिचारे चक्रवर्ती का तो कहना ही क्या? मूढ और पागल दुनिया भले ही उसे विश्व का सर्वाधिक सुखी करार दे दे, लेकिन स्पृहा की धधकती ज्वालाओ से दग्ध चक्रवर्ती अतरात्मा के सुख से प्राय कोसो दूर होता है! उसके नसीब मे सुख है कहा? अगर किसी सुख-ऐश्वर्य की गरज है तो उसे किसी न किसी का गरजमद होना ही पडता है। जैसे भोजन के लिए पाकशास्त्री का, वस्त्राभूषण के लिए नौकर-चाकर का, मनोरजन के लिए नृत्यांगनाओ का अथवा कलाकारो का और भोगोपभोग के लिए रानी-महारानियो का मुँह ताकना पडता है। उनकी खुशीपर निर्भर रहना पडता है। नही तो पुण्यकर्म के आधीन तो सही!

परनिरपेक्ष सुख का अनुभव ही वास्तविक सुखानुभव है। जबकि पर-सापेक्ष सुख का अनुभव भ्रामक सुखानुभव है! क्यो कि पर-सापेक्ष सुख जब चाहो तब मिलता नही और मिल जाए तो टिकता नही! हमारे मन मे सुख-त्याग की इच्छा लाख न हो, फिर भी समय आने पर जब चला जाता है तब जीव को अपार दु ख और वेदनाएँ होती है और उसकी पुन·प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने मे वह कोई कसर नही रखता। साथ ही जब पराधीन सुख की स्पृहा जग पडती है तब पाप-पुण्य के भेद को भी वह भूल जाते है। इस की प्राप्ति हेतु वह घोर पापाचरण करते नही अघाते! सीता का सभोगसुख पाने की तीव्र स्पृहा महाबली रावण के मन मे पैदा होते ही सीता-हरण की दुर्घटना घटित हुई! और उसी स्पृहा की भयकर आग मे लका का पतन हुआ! असंख्य लोगो को प्राणोत्सर्ग करना पडा! रावण-राज्य की महत्ता, सुन्दरता और समृद्धि मटियामेट हो गयी! और महापराक्रमी रावण को नरक मे जाना पडा!

मालवपति मुज को हाथी के पैरो तले कुचलवाया गया, रौंदा गया, किस लिए? सिर्फ एक नारी मृणालिनी के लिए! इस ससार

मे मनुष्य जो भी अनुचित कर रहा है दिन रात पापाचरण मे डूबा हुआ है, उसके मूल मे पर पदार्थ की स्पृहा ही काम कर रही है। जब जीवात्मा पराधीन सुख की स्पृहा से ऊपर उठेगा तब ही उस के दु ख दर्द और अशान्ति का निर्मूलन होगा । ठीक वैसे ही प्राप्त पौद्गलिक सुख भी पराधीन ही हैं स्वाधीन नही । अत उसके प्रति भी मनमे इस कदर ममत्व नही होना चाहिए कि जिस के काफूर होते ही मनुष्य विलाप कर उठे, आक्रन्दन करने लगे ।

इसीलिए नि स्पृह महात्मा महान सुखी माने गये हैं। क्योकि पराधीन सुखो की स्पृहा से ऊपर उठ चुके होते हैं। जैसे कीचड बीच कमल । यदि कोई उन्हे भोगोपभोग का आग्रह करें तब भी वे स्वीकार नही करते । ठीक उसी उनके पास रहे अति अल्प पराधीन पदार्थों के प्रति भी वे ममत्व नही रखते । भले ही वे (पराधीन-पदार्थ) चले जाए शरीर का भी विसर्जन हो जाय, योगी पुरुषो को उसकी तनिक भी परवाह नही होती, अत वे सुखी है ।

परस्पृहा महादु ख नि स्पृहत्व महासुखम ।
एतदुक्त समासेन लक्षण सुखदु खयो ॥८॥२६॥

अर्थ - परायी आशा-लालसा रखना महादु ख है, जब कि नि स्पृहत्व महान सुख है । सक्षेप मे दु ख और सुख का यही लक्षण बताया है ।

विवेचन यदि सुख और दु ख की वास्तविक परिभाषा करने मे भूल हो जाए तो मनुष्य सुख का दु ख और दु ख को सुख मान लेता है । फलत अशाति, कलह और सताप से दु खी बन जाता है । सामान्य तौर पर मनुष्य बाह्य पदार्थों के सयोग वियोग को सुख-दु ख मान लेता है। ठीक वैसे ही बाह्य दुनिया के जड-चेतन पदार्थ को वह सुख-दु ख का दाता मान लेता है । अत उस का कभी समाधान नहीं होता ।

जब कि सुख दु ख तो मन की कोई धारणा, कल्पना मात्र है । बाह्य दुनिया के किसी पदार्थ की प्राप्ति न हुई हो, फिर भी उसकी स्पृहा पैदा हो जाए तो दु खारभ हो जाता है । जहा 'जहा पर-स्पृहा वहा-वहा दु ख' जहा पर- स्पृहा का अभाव वहा दु ख का नामोनिशान नहीं ।' प्रस्तुत सिद्धान्त मे न तो अतिव्याप्ति है, न अव्याप्ति है और ना ही असभव दोष है । हर व्यक्ति का अपने जीवन पर दृष्टिपात

करना चाहिए । यदि उसके जीवन मे कही कोइ दु:ख है तो निरीक्षण करना चाहिए कि वह कहा से उत्पन्न हुआ और किस कारण हुआ ? तव उसे ज्ञात होते विलम्व न लगेगा कि किसी जड-चेतन पदार्थ की स्पृहा वहा विद्यमान है, जिसके कारण उस के जीवन मे दु:ख का प्रादुर्भाव हुआ है । भोगी हो या योगी, पर- पदार्थ की स्पृहा पैदा होते ही वह दु:ख का शिकार बन जाता है । जव कि पर-पदार्थ की स्पृहा दूर होते ही अनायास सुख का आगमन होता है ! जव तक राजकुल का भोजन प्रिय, स्वादिष्ट न लगा तव तक कडरिक मुनि परम सुखी थे ! लेकिन राजकुल का भोजन इष्ट लगते ही स्पृहा जग पडी ! परिणामत शीघ्र ही वे दु:खी वन गये । उन्होने साधु-जीवन की मर्यादाओ का उल्लघन किया, श्रमण-जीवन का त्याग किया और अपनी स्पृहा को पूरी करने के प्रयास मे कालकवलित हो गये ! सातवी नरक के महादु:ख के भँवर मे फँस गये !

जीवन मे जाने-अनजाने कही पर-पदार्थ की स्पृहा जाग न पडे, अत पर- पदार्थो से जहा तक हो सके कम परिचय करना चाहिए ! पर-पदार्थो के माध्यम से प्राप्त सुख की कामना का परित्याग करना चाहिए । क्यो कि यही वह स्थान है, जहाँ जीव को फिसलते देर नही लगती । 'पर- पदार्थ सुख का द्योतक है,' यह कल्पना मानवजीवन में इतनी तो रूढ हो गयी है कि जीव निरतर उस की झंखना करता रहता है ! और जैसे जैसे पर पदार्थो की प्राप्ति होती जाती है, वैसे-वैसे लालसा, स्पृहा, आशातीत बढती ही जाती है। उसी अनुपात मे दु:ख भी वढता जाता है । फिर भी समय रहते वह समझ नही पाता कि उसके दु:ख का मूल कारण पर-पदार्थ की स्पृहा ही है । वह तो यही मान बैठा है कि 'मुझे इच्छित पदार्थ नही मिलते इसलिये मे दु:खी हूँ ।' उसकी यही कल्पना उसे मनपसद पदार्थ की प्राप्ति हेतु, पुरुषार्थ करने के लिए प्रेरित करती है ! फलस्वरूप उसका दु:ख दूर होना तो दूर रहा, बल्कि अपना जीवन पूरा कर वह अनत विश्व की जीव-सृष्टि मे खो जाता है ।

पूज्य उपाध्यायजी की **'निःस्पृहत्वं महासुखम्'** सूक्ति के साथ 'भक्तपरिज्ञा पयन्ना' सूत्र का **निरवेक्खो तरइ दुत्तरभवोऽयं'** वचन

भी जोड दे। 'निरपेक्ष आत्मा प्राय दुष्कर दुस्तर भव-समुद्र से तैर जाती है।' हमेशा नि स्पृहता से प्राप्त महासुख का अनुभव करने वाली आत्मा दु खमय भवोदधि का पार कर परम मुक्त अनत सुख की अधिकारी बनती है। नि स्पृहता की यह अतिम सिद्धि है। अथवा यो कहे तो अतिशयोक्ति न होगी की अतिम सिद्धि का प्रशस्त राजमार्ग नि स्पृहता है।

निरतर स्पृहा के वशीभूत हो, प्राप्त सुख के बजाय उस स्पृहा के त्याग से प्राप्त किया हुआ सुख चिरस्थायी, अनुपम और निर्विकार है।' प्रस्तुत तथ्य मे आस्था रख कर नि स्पृहता के महामार्ग पर जीव को गतिमान होना चाहिए।

१३. मौन

मौन धारण कर ! निःस्पृह बनते ही अपने आप मौन का आगमन हो जाएगा ! मौन धारण करने से अनेकविध स्पृहाए शान्त हो जाएंगी !

मौन की वास्तविक परिभाषा यहाँ ग्रंथकार ने आलेखित की है ! व्यक्ति को ऐसा ही मौन धारण करना चाहिए !

हे श्रमणश्रेष्ठ ! तुम्हारा चारित्र ही एक तरह से मौन है ! मौन-रहित भला चारित्र कैसा ? पुद्गलभाव में मन का मौन धारण कर ! यहां तक कि पौद्-गलिक विचारों को भी तिलांञ्जलि दे देनी चाहिए ! उत्तमोत्तम मानसिक स्थिति का सृजन करने मे प्रस्तुत अष्टक स्पष्ट रूप से हमारा मार्गदर्शन करेगा ।

मन्यते यो जगत् तत्त्व स मुनि परिकीर्तित ।
सम्यक्त्वमेव तन्मौन मौन सम्यक्त्वमेव वा ॥१॥१६७॥

अर्थ – जो जगत के स्वरूप को जानता है, उसे मुनि कहा गया है । अत सम्यक्त्व ही श्रमणत्व है और श्रमणत्व ही सम्यक्त्व है ।

विवेचन – मोक्षमार्ग की आराधना का अर्थ ही है मुनि-जीवन की आराधना । अत मोक्षमार्ग के अभिलाषी आराधकों को प्राय श्रमण-जीवन की आराधना करनी चाहिए ! साथ ही आराधना करने के पूर्व श्रमण जीवन की वास्तविकता का यथार्थ स्वरूप में आत्मसात करना चाहिए, समझना चाहिए । जिसका दिग्दर्शन/ विवेचन सर्वज्ञ-सर्वदर्शी परमात्मा ने किया है ! श्रमणत्व के यथार्थ स्वरूप को जानकर श्रद्धाभाव से उस का आचरण करना चाहिए !

यहाँ मुनि जीवन का स्वरूप 'एवभूत' नयदृष्टि* से बताया गया है, विश्व में रहा प्रत्येक जड-चेतन पदार्थ अनत धर्मात्मक होता है, अर्थात एक वस्तु में अनेक धर्मों का समावेश होता है ! हर वस्तु का अपना अलग विशिष्ट धर्म होता है ! मतलब, एक एक धर्म, वस्तु का एक एक स्वरूप है ! वस्तु भले ही एक हो, लेकिन उस का स्वरूप अनत है, विविध है ! जब कि वस्तु की पूर्णता उसके अनत स्वरूप के समूहरूप में होती है ! वस्तु के किसी एक स्वरूप को लेकर जब विचार किया जाता है, तब उसे 'नयविचार' कहते हैं ! प्रस्तुत में 'मुनि' जो स्वय में एक चेतन पदार्थ है, उसके अनत स्वरूपों में से किसी एक स्वरूप का विचार किया जाता है ! अत यह विचार 'एवभूत' नय का विचार है !

'एवभूत नय शब्द और अर्थ दोनों का विशिष्ट स्वरूप बताता है ! उदाहरण के लिए हम 'घडा' शब्द को ही लें ! यहाँ 'घडा' शब्द और 'घडा' पदार्थ-दोनों के सम्बन्ध में 'एवभूत' नय की विशेष दृष्टि है ! *शब्दशास्त्र के नियमानुसार शब्द की जो व्युत्पत्ति होती है,* वह व्युत्पत्ति-प्रदर्शित पदार्थ ही वास्तविक पदार्थ माना गया है ! साथ ही शब्द भी वह तात्त्विक है, जो उसकी नियत क्रिया में पदार्थ का स्थापित करता है ! इस तरह नयदृष्टि में घडे को तभी घडा माना जाता

* देखिए परिशिष्ठ

है, जब वह किसी नारी अथवा अन्य के सिर पर हो और उसका उपयोग पानी लाने-ले जाने के लिए किया जाता हो ! एक स्थान से दूसरे स्थान पर पानी लाने-ले जाने की क्रिया के स्वरूप में 'एवंभूत' नय घडे को देखता है ! और वह प्रसिद्ध क्रिया मे रहे हुए घड़े का बोध कराने वाले के रूप मे 'घड़ा' शब्द, इस नय को सहमत है !

'मुनि' शब्द की व्युत्पत्ति है 'मन्यते जगत्तत्वं सो मुनिः।' अर्थात् जो जगत् के तत्त्व का ज्ञाता है, वह मुनि कहलाता है। ऐसे ही मुनि के अनत स्वरूपो में एक स्वरूप का 'एवभूत' नयदृष्टि से विचार किया गया है ! जगत्-तत्त्व को जानने के स्वभाव-स्वरूप मुनि का उल्लेख किया गया है ! मतलब, जगत्-तत्त्व का परिज्ञान ही मुनि-स्वरुप का माध्यम बना है ।

जिस स्वरूप मे जगत् का अस्तित्व है उसी स्वरूप मे जानना' यही श्रमणत्व है.... और वही सम्यक्त्व है ! क्योकि जगत्-स्वरूप का यथार्थ ज्ञान ही समकित है ।

जगत्-तत्त्व का ज्ञान = सम्यक्त्व
सम्यक्त्व = श्रमणत्व
जगत्-तत्त्व का ज्ञान = श्रमणत्व

मुणी मोणं समायाए धुणे कम्मसरीरगं !
पंतं लूहं च सेवन्ति वीरा समत्तदंसिणो ।।

उत्तराध्ययने

ऐसी साधुता को अगीकार कर श्रमण, कार्मण शरीर को समाप्त करता है, अर्थात् आठो कर्मो का विध्वस करता है, क्षय करता है । जब जगत्-तत्त्व के ज्ञानरूप श्रमणत्व का प्रादुर्भाव होता है, तब वह सम्यक्त्वदर्शी नर-पुगव रूखे-सूखे भोजन का सेवन करता है ! क्योकि इष्ट, मिष्ट और पुष्ट भोजन के सम्बन्ध मे उसके मन मे कोई ममत्व नही होता, स्पृहा नही होती !

जगत्-तत्त्व का ज्ञान, द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नयदृष्टि से, द्रव्य-गुण-एव पर्याय की शैली से तथा निमित्त-उपादान की पद्धति से तथा उत्सर्ग-अपवाद के नियमो से होना चाहिए ।

* देखिए परिशिष्ट :

आत्माऽऽत्मन्येव यच्छुद्ध जानात्यात्मानमात्मना ।
सेय रत्नत्रये ज्ञप्तिरुच्याचारैकता मुने ॥२॥१६८॥

अर्थ – आत्मा के विषय मे ही आत्मा सिर्फ कर्मरहित आत्मा को आत्मा से जानती है । वह ज्ञान, दर्शन, एव चारित्र रूपी तीन रत्नो मे ज्ञान श्रद्धा और आचार की अभेद परिणति मुनि मे होती है।

विवेचन – आत्मसुख की स्वाभाविक सवेदना हेतु ज्ञान, श्रद्धा एव आचार की 'अभेद परिणति' होना आवश्यक है । इस 'अभेद परिणति' सबधित उपाय एव उस का स्वरूप यहाँ बताया गया है ।

आत्मा
आत्मा मे ही
आत्मा द्वारा
विशुद्ध आत्मा को जान ।

जानने वाली आत्मा, आत्मा मे जाने आत्मा द्वारा विशुद्ध आत्मा को जाने । ऐसी स्थिति मे ज्ञान, श्रद्धा और आचार एकरूप हो जाते हैं । आत्मा सहज/स्वाभाविक आनद से सराबोर हो जाती है । परपुद्गल से बिलकुल अलग हो निर्लेप । निरपेक्ष बन कर आत्मा को जानने की क्रिया करनी पडती है और आत्मा को ही जानना है । तब सहज ही मनमे प्रश्न उठता है 'कैसी आत्मा को जानना है ?' हमे कर्मों के काजल से मुक्त आत्मा को जानना है । ऐसी आत्मा का, जिसपर ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय-मोहनीय अतराय, नाम, गोत्र, वेदनीय और आयुष्य-इन आठ कर्मों का बिलकुल प्रभाव न हो, बल्कि इन सब कर्म-बधनो से वह पूर्णतया निर्लिप्त हो। हमे एक स्वतत्र आत्मा को जानना है । उसका दर्शन करना है । प्रस्तुत तथ्य को जानने के लिए यदि किसी की सहायता की आवश्यकता हो तो आत्मा की ही सहायता लेनी चाहिए । आत्मगुणो का सहयोग प्राप्त करना चाहिए ।

हाँ एक बात है । और वह यह कि जानने की क्रिया करते समय दो बातो की ओर ध्यान देना जरुरी है ज्ञपरिज्ञा और प्रत्याख्यान परिज्ञा० इन दो परिज्ञा मे हमे आत्मा को जानना है, पहचानना है । आम

० देखें परिशिष्ट * देखिए परिशिष्ट

और पच्चक्खाण-परिज्ञा? ज्ञपरिज्ञा आत्मा का स्वरूप दर्शाती है और प्रत्याख्यान-परिज्ञा उसके अनुरूप पुरुषार्थ कराती है।

आत्मा को जानने के लिए कहीं और भटकने की आवश्यकता नहीं है, आत्मा में ही जानना है। अनंत गुणयुक्त और पर्याययुक्त आत्मा में ही विशुद्ध आत्मा की खोज करनी है, जानना है। लेकिन जानने की अभिलाषा रखनेवाली आत्मा को मोह का त्याग करना होगा; तभी वह इसे सही स्वरूप में जान सकेगी।

आत्मानमात्मना वेत्ति मोहत्यागाद् यदात्मनि ।
तदेव तस्य चारित्रं तज्ज्ञानं तच्च दर्शनम् ।।

न जाने कैसी रोचक/आकर्षक दिल-लुभावनी बात कही है! मोह का त्याग करो और आत्मा में ही आत्मा को देखो। सचमुच यही ज्ञान है, श्रद्धा है और चारित्र है। और इसका होना निहायत जरूरी है! फलत श्रुतज्ञान द्वारा जहाँ आत्मा ने आत्मा को पहचान लिया वहाँ 'अभेदनय' के अनुसार श्रुतकेवलज्ञानी बन गया! क्योंकि आत्मा स्वयं में ही सर्वज्ञानमय है।

- आत्मा (मोहत्याग कर)
- आत्मा को (सर्वज्ञानमय)
- आत्मा द्वारा (श्रुतज्ञान)
- आत्मा में (सर्वगुण-पर्यायमय जाने)

जो हि सुण्णाभिगच्छइ अप्पाणमणं तु केवलं शुद्धं ।
तं सुअकेवलिमिसिणो भणंति लोगप्पदीवयरा ।।

— समयप्राभृते

"जिस श्रुतज्ञान के द्वारा केवल शुद्ध आत्मा को जानते हैं, उन्हें लोकालोक में प्रखर ज्योति फैलाने वाले श्रुतकेवली कहते हैं!"

जब ऐसा दृढ निश्चय हो जाय कि आत्मा अनादि-अनंत, केवल-ज्ञान-दर्शनमय है, कर्मों में अलिप्त और अमूर्त है,' तब 'मैं साध्य-साधक और सिद्धस्वरूप हूँ! ज्ञान-दर्शन और चारित्रादि गुणों से युक्त हूँ', ऐसी ज्ञान-दृष्टि अपनेआप प्रकट हो जाती है। वह रत्नत्रयी की अभेद परिणति है। उस में ही आत्मसुख की अनुपम संवेदना का यथार्थ अनुभव होता है।

चारित्रमात्मचरणाद ज्ञान वा दर्शन मुने ।
शुद्धज्ञाननये साध्य क्रियालाभात् क्रियानये ॥२॥६६॥

अर्थ – आत्मा के सबध म चरना चारित्र है और ज्ञाननय की दृष्टि स मुनि के लिए ज्ञान और दर्शन साध्य है । जब कि क्रियानय के अनुसार ज्ञान के फलस्वरूप क्रिया ही साध्यरूप है ।

विवेचन – आत्मा के सम्बन्ध मे अनुगमन करना मतलब चारित्र । मुनि का ध्येय साध्य यही चारित्र है ।

इसी चारित्र का स्वरूप शुद्ध ज्ञाननय एव क्रियानय के माध्यम से यहा तोला गया है ।

शुद्धज्ञान नय (ज्ञानाद्वैत) का कहना है कि चारित्र बोधस्वरूप है । आत्म स्वरूप का अवबोध ही चारित्र है । उसका विश्लेषण निम्नानुसार है ।

चारित्र

= आत्मा म अनुगमन करना ।
= पौद्गलिक भावो से निवृत्त होना ।
= आत्म-स्वरूप मे रमणता करना ।
= आत्मा, जो कि अनतज्ञानरूप है, उसम आकठ डूब जाना ।
= आत्मा के ज्ञानस्वरूप मे रमणता ।

तात्पर्य यही है कि आत्मज्ञान म स्थिरता यही चारित्र है और चारित्र का मतलब आत्म-ज्ञान मे रमणता । ज्ञान और चारित्र म अभेद है ।

ज्ञाननय (ज्ञानाद्वैत) आत्मा के दो गुण मानता है ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग । चारित्र ज्ञानोपयोगरूप और दर्शनोपयोगरूप है । उसका अभेद है । इस व्यापार के भेद मे ज्ञान त्रिरूप भी है । जब तक विषयप्रतिभास का व्यापार होता है तब तक ज्ञान है और जब आत्म-परिणाम का व्यापार हो तब सम्यक्त्व है । जब आश्रव निरोध होता है तब तत्त्वज्ञान म व्यापार होता है तब वही ज्ञान और वही चारित्र ।

क्रियानय का मंतव्य है कि सिर्फ आत्मस्वरुप का ज्ञान ही चारित्र और साध्य है, ऐसा नही है ! जीव को आत्मा का ज्ञान होने के बाद तदनुरुप क्रिया उसके जीवन में घुल-मिल जानी चाहिए !

ज्ञानस्य फलं विरति
विरतिफलं आस्रवनिरोध·
संवरफलं तपोबलम्
तपसो निर्जराफल दृष्टम् ।'

श्रमण के लिए जो चारित्र साध्य है, वह ज्ञानस्वरुप नही, बल्कि ज्ञान के फलस्वरूप है । ज्ञान का फल है विरतिरुप क्रिया, आश्रव-निरोधात्मक क्रिया, तपश्चर्या की क्रिया और निर्जरा की क्रिया । यह क्रिया की प्राप्ति के फलस्वरुप चारित्र मुनि को साध्य होता है। ऐसे साध्य को सिद्ध करने के लिए कठोर पुरुषार्थ की आवश्यकता है । इस तरह पुरुषार्थ करते हुए आत्मतत्त्व निरावरण- कर्मरहित प्रकट होता है, तब आत्मा ज्ञाननय से साध्य बनती है ।

"जो भी करना है आत्मा के लिए कर । हे जीव, मन-वचन और काया का विनियोग आत्मा मे ही कर दे । तुम अपनी आत्मा को केन्द्र मे रख उस के विशुद्ध आत्मस्वरुप को परिलक्षित कर, वाणी, विचार और व्यवहार को रख," इसी को चारित्र कहते है । साथ ही ज्ञाननय/ज्ञानाद्वैत को मान्य ऐसे आत्मज्ञान को घर में बसा कर विशुद्ध आत्मज्ञान के प्रकटोकरण हेतु निरन्तर पुरुपार्थ करते रहना चाहिए । यही तो दोनो नयो का उपदेश है ।

पौद्गलिक भाव के नियत्रण को छिन्न-भिन्न करने के लिए आत्मभाव की रमणता अविरत रुप से वृद्धिगत होती रहे, उसी रमणता के लिए ज्ञान-दर्शन और चारित्र की आराधना मुनि के लिए साध्य है ।

यत प्रवृत्तिर्न मणौ, लभ्यते वा न तत्फलम् ।
अतात्विकी मणिज्ञप्ति-र्मणिश्रद्धा च सा यथा ॥४॥१००॥

तथा यतो न शुद्धात्मस्वभावाऽऽचरणं भवेत् ।
फलं दोषनिवृत्तिर्वा, न तद् ज्ञानं न दर्शनम् ॥५॥१०१॥

अर्थ – जिस तरह मणि (रत्न) के संबंध में कोई प्रवृत्ति न की जाय अथवा उक्त प्रवृत्ति का फल निष्पन्न न हो वह मणि का ज्ञान और मणि की श्रद्धा अवास्तविक (कृत्रिम) है,

ठीक उसे ही शुद्ध आत्म स्वभाव का आचरण अथवा दोष की निवृत्ति स्वरूप कोई फल प्राप्त न हो, वह ज्ञान नहीं और ना ही श्रद्धा है ।

विवेचन – वास्तव मे जो मणि नहीं है, वल्कि निरा काच का टुकड़ा है उस अपनी कल्पना के बल पर रत्न मानकर, 'वह रत्न है' कहने से, क्या हमारा माना हुआ रत्न, असली रत्न की प्रवृत्ति करेगा ? वास्तविक रत्न का काम देगा क्या ? साथ ही, असली मणि-मुक्ता से प्राप्त होने वाला फल उक्त कल्पित वस्तु से प्राप्त हो जाएगा क्या ? अर्थात् जिस में मणि मुक्ता के गुणों का सर्वथा अभाव है, उसमे कोई फल मिलने वाला नहीं है । उसके प्रति 'यह रत्न है, कह कर श्रद्धा रखना अतात्विक है, असत्य है । वास्तविक मणि भयंकर से भयंकर विषधर का विष उतारने का सर्वोत्तम कार्य करता है । तब क्या काच का टुकड़ा (कृत्रिम मणि) विष उतारने का कार्य करेगा ? असली मणि यदि किसी जौहरी के हाथ बेचा जाए तो लाखों की संपत्ति देगा, लेकिन काच के टुकड़े के लाख रुपये प्राप्त होंगे क्या ?

ठीक उसी तरह, जिससे आत्मस्वभाव में किसी प्रकार की कोई प्रवृत्ति न हो और शुद्ध आत्मा का फल 'दोषनिवृत्ति' का भी प्राप्त न होता हो ऐसा ज्ञान ज्ञान नहीं और ना ही ऐसी श्रद्धा श्रद्धा है ।

ज्ञान और श्रद्धा को नापने का न जाने कैसा अद्भुत यंत्र यहाँ बताया गया है ! क्या शुद्ध आत्मस्वभाव की निकटता साधनेवाला आत्मस्वभाव का सही अनुसरण करनेवाला आचरण है ? क्या तुम्हारे भीतर वर्षों से घर कर गए राग-द्वेष और मोह, समय के साथ कम होते जा रहे हैं ? यदि इन प्रश्नों का उत्तर हकार में है तो तुम्हारा आत्म ज्ञान और तुम्हारी आत्मश्रद्धा शत प्रतिशत यथार्थ है । तुम्हारे आचरण में विशुद्ध आत्मा की ओजस्विता होनी चाहिए कर्मों के कलंक-पंक की गहरी कालिमा नहीं, ना ही कर्मों के विचित्र प्रभाव !

जीवात्मा का आत्मज्ञान एवं आत्मश्रद्धा प्रायः मानसिक, वाचिक और कायिक आचरण को प्रभावित करती है। 'मैं विशुद्ध आत्मा हूँ.... सच्चिदानदस्वरुप हूँ ।' परिणामस्वरुप उसके मनोरथ कल्पनाएँ, स्पृहाएँ कामनाएँ और अनत अभिलाषाएँ पौद्‌गलिक भावो से पराङमुख बन आत्मभावो के प्रति अभिमुख हो जाती है। उसकी वाणी विभावो की निदा-प्रशसा से निवृत हो, आत्मभाव की अगम-अगोचर रहस्य-वार्ताओ को प्रकट करने का सर्वोत्तम साधन बन जाती है। उसका इन्द्रिय-व्यापार शब्द, रूप, रस, गध, और स्पर्श के सुख-दुःख से निवृत्त हो आत्माभिव्यक्ति के पुरुषार्थ मे लीन हो जाता है।

ऐसे किसी ज्ञान अथवा श्रद्धा के सहारे हाथ पर हाथ धर बैठे न रहना चाहिए कि जिस ज्ञान-श्रद्धा द्वारा विशुद्ध आत्मस्वरुप प्रकट करने का पुरुषार्थ न होता हो। आत्मा के ज्ञानादि गुणो मे रमणता न होती हो। पौद्‌गलिक प्रेम की धारा अविरत रूप से प्रवाहित हो, दारूण द्वेष की ज्वाला तन-बदन को झुलसा रही हो और मोह-माया का घना अधेरा आत्मा पर आच्छादित होता हो। ज्ञान के तीक्ष्ण शस्त्र से पुद्‌गल-प्रेम की विष--वल्लरी का छेदन करना चाहिए। ज्ञान के शीतल जल से दारुण द्वेष की ज्वाला को बुझाना/शात करना चाहिए। ज्ञान की दिव्य-ज्योति से मोह-माया के अधकार को दूर भगाना चाहिए। यही तो ज्ञान-श्रद्धा का परिणाम है, फल है।

हृदय की पवित्र वृत्ति और वचन-काया के विशुद्ध कार्य-कलाप, दोनो की विशुद्धि दिन दुगुनी रात चौगुनी वृद्धिगत होनी चाहिए। फलस्वरूप आत्मा आन्तरिक सुख का अनुभव करती जाती है। मधुर-तम शान्ति और अद्‌भुत आनन्द मे खो जाती है। तात्पर्य यही कि हमे ऐसे ज्ञान और श्रद्धा को आत्मसात् करना चाहिए कि जिससे वृत्ति एव प्रवृत्ति दोनो आत्माभिमुख बन जाए। फलतः दोष क्षीण होते जायेंगे और गुणो का विकास होता जाएगा।

यथा शोफस्य पुष्टत्वं यथा वा वध्यमण्डनम् ।
तथा जानन्भवोन्मादमात्मतृप्तो मुनिर्भवेत् ॥ ६ ॥१०२॥

अर्थ :-- जिस तरह नित्य बढते सूजन अथवा वध करने योग्य पुरुष (बलि) को कर्ण-पुष्पो (कनेर-फूल) की माला पहना कर सुशोभित करते

है, ठीक उसी तरह ससार के उन्माद को जानने वाला मुनि—श्रमण स्व आत्मा को लेकर ही सतुष्ट होता है ।

विवेचन एक अदना-सा इन्सान । सामान्य देहयष्टि, दुबला पतला, कमजोर तिनके जैसा । फूक मारे तो उड जाए । वह अपने तन-बदन को पुष्ट-शक्तिशाली बनाने की इच्छा करता है । तभी एक दिन सूजन के मारे हाथ, पाव, गाल, चेहरा फूल गया ।

एक बार किसी परिचित से भेंट हो गयी । कई दिनों की जान-पहचान थी । उसने उसे गौर से देखा और तपाक से कह दिया

"दोस्त, क्या बात है ? बडे तन्दुरुस्त नजर आ रहे हो ।"

अब आप ही कहिए वह अपने दोस्त को क्या जवाब दे ? क्या वह दोस्त के कहने से सूजे हुए शरीर को तन्दुरुस्त मान लेगा ? अपने को पुष्ट मान लेगा ? वास्तव मे देखा जाए तो वह निरोगी तो नही, रोग से परिपूर्ण मानता है । और उसे ऐसी कृत्रिम पुष्टता की कतई चाह नही है ।

ठीक इसी तरह कर्मोदय से, पुण्यकर्म के उदय से प्राप्त भौतिक सपत्ति के प्रति मुनि का यह रूख होता है । कर्मजन्य सौदर्य, रूप, रग, आरोग्य, सुशीलता परिपुष्टतादि पौद्गलिक भावो के प्रति मुनि की यह दृष्टि होती है कि 'यह वास्तविक पुष्टता नही है, बल्कि कर्म जन्य भयकर व्याधि है ।' जैसे शरीर के प्रति ममत्व रखने वाले को 'सूजन' रोग लगता है ठीक उसी तरह जिसे आत्मा पर ममत्व है उसके लिए पूरा शरीर ही रोग प्रतीत होता है । शारीरिक पुष्टता को वास्तविक पुष्टता नही मानता ।

प्राचीनकाल मे ऐसी परपरा थी कि जिसका वध करना हो, बलि चढानी हो वलिदान के पूर्व उसका श्रृगार किया जाता था । नये वस्त्र और पुष्पमालाएँ पहनायी जाती थी । ढोल, तुरही और जयघोष के बीच उसकी शोभायात्रा निकाली जाती । ऐसे समय वधस्तम्भ की ओर ले जाये जानेवाले मनुष्य को श्रृगार और वाद्य-वृद क्या आल्हादक लगते ? क्या वह जय जयकार और श्रृगार से प्रसन्न होता ? नही, बिल्कुल नही । श्रृगार जय जयकार और तुरही

घोष उसके लिए मृत्युघोष से कम नही होता । वह आकुल–व्याकुल और अधीर होता है ।

बहुमूल्य वस्त्रालकार और मान-सन्मानादि पौद्गलिक भावों के प्रति मुनि प्राय उदासीन होता है । मृत्यु की निर्धारित सजा भुगतने के लिए निरंतर आगे बढता मनुष्य, क्या पौद्गलिक भाव मे कभी सुख का अनुभव कर सकता है ? यदि वह पौद्गलिक भाव के वास्तविक रूप मे परिचित है तो उसके लिए संसार की पौद्गलिक भाव मे रम-णता एकाध उन्माद से ज्यादा कुछ नही है ।

ऐसे समय उसका एक मात्र लक्ष्य निर्मल, निष्कलंक....परम चैतन्य स्वरूप.... निरजन....निराकार ऐसा आत्मद्रव्य होता है । मन-मंदिर मे प्रस्थापित अनतज्ञानी परमात्मा का योगीपुरुष निरंतर ध्यान धरते है, उसके आगे नतमस्तक होते है और उसकी स्तुति करते है । साथ ही उक्त ध्यान, वदन और स्तवन मे वे ऐसे अलौकिक आनन्द का रसास्वादन करते है कि उसकी तुलना मे पुद्गलद्रव्य का उपभोग उन के लिए तुच्छ और नीरस होता है।

आत्म-ध्यान मे हमेशा सतुष्टि का पुट होना चाहिए । क्योंकि बिना सतुष्टि के पौद्गलिक भावो की रमणता नष्ट नही होगी । मन संतुष्टि चाहता है और यह उसका मूलभूत स्वभाव है। यदि आत्मभाव में सतुष्टि नही मिली तो पुद्गलभाव मे तृप्ति प्राप्त करने के लिए वह खूटे से छुटे साड की तरह भाग खडा होगा। बालक को यदि पौष्टिक आहार न दिया जाए तो वह मिट्टी खाए बिना चैन नही लेगा ।

'आत्मतृप्तो मुनिर्भवेत्' मुनि को स्व-आत्मा मे ही तृप्त होना चाहिए । और वह भी इस हद तक की, उसमे पुद्गलभाव के प्रति कोई आस्था, स्पृहा अथवा आकर्षण नही रहना चाहिए । दीक्षित होने के पश्चात् श्री रामचद्रजी आत्मभाव मे इस कदर तृप्त हो गये थे कि सीतेन्द्र ने उनके आगे दिव्य-गीत / सगीत की दुनिया रचा दी । नृत्य-नाटक की महफिल सजा दी । फिर भी वे उन्हे अतृप्त न कर सको । इतना ही नही बल्कि घाती-कर्मो का क्षय कर रामचन्द्रजी वही केवल-ज्ञान के अधिकारी बन गये !

सुलभं वागनुच्चारं मौनमेकेन्द्रियेष्वपि ।
पुद्गलेषु अप्रवृत्तिस्तु योगीनां मौनमुत्तमम् ॥७॥१०३॥

अर्थ – वाणी का अनुच्चार रूप मौन एकेंद्रिय जीवों में भी आसानी से प्राप्त सके वसा ह, लेकिन पुद्गलों म मन, वचन, काया की कोई प्रवृत्ति न हो यही योगी पुरुषों का सर्वश्रेष्ठ मौन है।

विवेचन मौन की परिभाषा सिर्फ यहां तक ही सीमित अथवा पर्याप्त नहीं है कि मुह से बोलना नहीं, शब्दोच्चार भी नहीं करना । प्राय 'मौन' शब्द इस अर्थ में प्रचलित है । लोग समझते हैं कि मुंह से न बोलना मतलब मौन । और आमतौर से लोग ऐसा ही मौन धारण करते दिखायी देते है । लेकिन यहां पर ऐसे मौन की महत्ता नहीं बतायी गई है । सब साधारण तौर पर मनुष्य की भूमिका को परिलक्षित कर, मौन की सर्वांगसुन्दर और महत्वपूर्ण परिभाषा की गयी है ।

मुंह से शब्दोच्चार नहीं करने जसा मौन तो पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, और वनस्पतिकाय जैसे एकेंद्रिय जीवों में भी पाया जाता है, दिखाइ पडता है । लेकिन प्रश्न यह है कि क्या ऐसा मौन मोक्षमार्ग की आराधना का अनन्य साधन/अंग बन सकता है ? क्या ऐसे मौन से एकेंद्रिय जीव कर्ममुक्त अवस्था की निकटता साधने में सफल बनते हैं ? सिर्फ 'शब्दोच्चार नहीं करना', इसको ही मौन मानकर यदि मनुष्य मान धारण करता हो और ऐसे मौन को मुक्ति का सोपान समझकर प्रवृत्तिशील हो, तो यह उसका भ्रम है ।

१. मन का मौन मानसिक मौन
२. वचन का मौन वाचिक मौन
३. काया का मौन कायिक मौन

आत्मा से भिन्न ऐसे अनात्मभावपोषक पदार्थों का चिंतन मनन नहीं करना । स्वप्न में भी उसका विचार नहीं करना । इस मन का मौन अर्थात् मानसिक मौन कहा जाता है । हिंसा, चोरी, झूठ, दुराचार, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभादि अशुभ पापविचारों का परित्याग करने की प्रवृत्ति रखना ही मन का मौन है । प्रिय पदार्थ

का मिलन हो और अप्रिय का वियोग हो, प्रिय का कभी विरह न हो और अप्रिय का मिलन....!' ऐसे सकल्प-विकल्पो के माध्यम से उत्पन्न विचारो के त्याग का ही दूसरा नाम मन का मौन है।

मिथ्या वचन न बोले, अप्रिय और अहितकारी शब्दोच्चार न करे, कड़वे और दिल को आहत करनेवाली वाणी का जीवन मे कभी अवलम्बन न ले। क्रोधजन्य, अभिमानजन्य कामजन्य, मायाजन्य, मोहजन्य और लोभजन्य बात जबान पर न लाना, यानी वचन का मौन। वाचिक मौन कहा जाता है। पौद्गलिक भाव की निंदा और प्रशसा न करना वाचिक मौन है!

काया से पुद्गल-भावपोषक प्रवृत्ति का परित्याग करना, यह काया का मौन कहलाता है। इस तरह मन, वचन, काया के मौन को ही यथार्थ मौन की संज्ञा दी गई है। जिस तरह मौन का यह निषेधात्मक स्वरूप है, उसी तरह विधेयात्मक स्वरूप भी है.

निरतर अपने मन मे आत्मभावपोषक विचारो का सचार कर क्षमा, नम्रता, विनय, विवेक, सरलता एव निर्लोभता के भावो मे सदा-सर्वदा खोये रहना। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह के मनोरथ रचाना! आत्मा के वास्तविक स्वरूप का ध्यान धरना आदि क्रियाए मानसिक मौन ही है। इसी तरह वाणी से आत्मभावपोषक कथा करना... शास्त्राभ्यास और शास्त्र-परिशीलन करना, परमात्म-स्तुति मे सतत लगे रहना....जैसे कार्य वाचिक मौन के ही द्योतक है। वचन का मौन कहलाता है। जब कि काया के माध्यम से आत्मभाव की ओर प्रेरित और प्रोत्साहित करती प्रवृत्तिया करना, कायिक मौन है।

मन, वचन, काया के योगों की पुद्गलभावो से निवृत्ति और आत्मभाव मे प्रवृत्ति, यह मुनि का मौन कहलाता है। ऐसे मौन को धारण कर मुनि मोक्षमार्ग पर आगे बढ़ता जाता है। इस तरह के मौन से आत्मा को पूर्णानन्द की अनुभूति होती है। इसी मौन के कारण आत्मा की अनादिकालीन अशुभ वृत्ति-प्रवृत्तिओं का अंत आता है और वह शुद्ध एवं शुभ प्रवृत्तिओ की ओर गतिमान होती है। ऐसे मौन

का आदर किया जाए ऐसे मौन का जीवन मे आत्मसात् कर के मोक्षमार्ग का अनुगामी बना जाए, ऐसा अनुरोध पूजनीय उपाध्यायजी महाराज करते है।

ज्योतिर्मयीव दीपस्य क्रिया सर्वाऽपि चिन्मयी ।
यस्यानन्यस्वभावस्य तस्य मौनमनुत्तरम् ॥८॥१०४॥

अर्थ — जिस तरह दीपक की समस्त क्रियाए (ज्योति का ऊँचा-नीचा होना वक्र होना और कम-ज्यादा होना) प्रकाशमय होती हैं, ठीक उसी तरह आत्मा की सभी क्रियाए ज्ञानमय होती है—उस अनन्य स्वभाव वाले मुनि का मौन अनुत्तर होता है ।

विवेचन मौन की सर्वोत्कृष्ट अवस्था बताते हुए दीपक की ज्योति का उदाहरण दिया गया है । जिस तरह दीपक की ज्योति ऊँची-नीची वक्र अथवा कम-ज्यादा होते हुए भी दीपक प्रकाशमय होता है ठीक उसी तरह योगी पुरुषो के योग पुद्गल-भाव से निवृत्त होते हैं । ऐसे महात्माओ के मन, वचन, काया की क्रिया ज्ञानमय होती है । उसके आंतर-बाह्य सार व्यवहार ज्ञान से परिपूर्ण होते है । उनकी आहार-क्रिया, परोपदेश-क्रिया, सभी ज्ञानमय होती है ।

आश्रव क्रिया का भी ज्ञानदृष्टि निर्जरा-क्रिया मे परिवर्तित कर देती है । वह प्रत्येक क्रिया मे चैतन्य का संचार करती है । कुरगडु मुनि आहारग्रहण की क्रिया कर रहे थे । उस पर ज्ञानदृष्टि का पूरा प्रभाव था । फलत क्रिया चैतन्यमयी हो गयी । परिणाम-स्वरुप आहारग्रहण करते हुए वे केवलज्ञानी बन गये । गुणसागर विवाह-मडप मे परिणय की वेदी पर बैठे थे । विवाह की रस्म पूरी कर रहे थे, कि सहसा क्रिया मे चैतन्य का संचार हो गया और वह परिणय की क्रिया करते हुए वीतराग, निर्मोही बन गये । आषाढाभूति रगभूमि पर अभिनय क्रिया मे खोये हुए थे । उनकी क्रिया ज्ञानदृष्टि से प्रभावित हो गई और फलत भरत का अभिनय करनेवाले आषाढा-भूति की आत्मा केवलज्ञान की अधिकारी बन गयी ।

यहाँ हमें ज्ञानदृष्टि के अजीबोगरीब चमत्कारो की दुनिया मे परिभ्रमण कर उक्त चमत्कारो का वैज्ञानिक मूल्यांकन और महत्व समझने का प्रयत्न करने की आवश्यकता है । ज्ञानदृष्टि के यथार्थ स्वरूप को आत्मसात् कर ज्ञानदृष्टि प्राप्त करने की जरूरत है ।

ज्ञान होना अलग बात है, और ज्ञानदृष्टि होना अलग ! संभव है ज्ञान हो और ज्ञानदृष्टि का अभाव हो ! लेकिन ज्ञानदृष्टि वाले मे ज्ञान अवश्य होता है। आज हम ज्ञानप्राप्ति के लिए जरूर प्रयत्न करते है, लेकिन ज्ञानदृष्टि के मामले में पूर्णतया अनभिज्ञ है। ज्ञानी का पतन संभव है, लेकिन ज्ञानदृष्टि वाले का नही। वस्तुत ज्ञानदृष्टि खुली होनी चाहिए।

जब तक सिर्फ इतना ज्ञान कि 'मे शुद्ध आत्म-द्रव्य हूं.... पर-पुद्गलों से सर्वथा भिन्न हूं,' तब तक परपुद्गलो का आकर्षण, ग्रहण और उपभोग आदि पुद्गलभाव की क्रिया जीवन मे निरन्तर होती है। पुद्गल-निमित्तक राग-द्वेप और मोह के कोडे अबाध रुप से दिल को कचोटते रहते हे। लेकिन ज्ञानदृष्टि का द्वार खुलने भर की देर है कि पुद्गल के मनपसन्द रुप रग, गंध-स्पर्शादि का व्यापार आत्मा मे राग-द्वेप और मोह-माया को पैदा करने मे असमर्थ होते है ! साथ ही राग के स्थान पर विराग, द्वेप के बदले करुणा और मोह के स्थान पर यथार्थदर्शिता का उद्भव होता है।

ज्ञानदृष्टि का द्वार बन्द रहने पर पुद्गलभाव जीवन मे राग-द्वेप पैदा करते थे, लेकिन ज्ञानदृष्टि का द्वार खुलते ही वह पुद्गल-भाव होते हुए भी राग-द्वेप और मोह पैदा करने मे सर्वथा असमर्थ बनते है! यह ज्ञानदृष्टि के द्वार खुलने का निशान है, सकेत है। ज्ञानदृष्टि से युक्त आत्मा में विषयो का आकर्षण और कपायों का उन्माद नही होगा ! उनकी प्रत्येक क्रिया एक ही प्रकार की होती है, लेकिन मोहदृष्टि का प्रभाव उसे विनिपात की और खिच जाता है! जब कि ज्ञानदृष्टि का प्रभाव उसे भवविसर्जन की ओर ले जाता है ! ज्ञानदृष्टि से युक्त और पुद्गल–परान्मुख स्वभाव वाली आत्मा का मौन अनुत्तर होता है।

१४ विद्या

अविद्या के प्रभाव से प्रभावित जीव "विद्या" के परम तत्त्व को समझ भी पाएंगे ?

भवभवान्तर से अविद्या की वासना से युक्त जीवात्मा न जाने कैसे दारुण दुखो का अनुभव लेती है !

ऐसी स्थिति मे करुणासागर परम दयालु ग्रथकार, पौद्गलिक सुख के साधनो के प्रति अभिनव दृष्टि से देखने की, अवलोकन करने की प्रेरणा उन्हें प्रदान करते हैं। साथ ही आत्मा का यथार्थ दर्शन करने की अनोखी सूझ देते हैं !

'विद्या' प्राप्त करो और अविद्या से दूर रहो ।

नित्यशुच्यात्मताख्यातिरनित्याशुच्यनात्मसु ।
अविद्या तत्त्वधीर्विद्या, योगाचार्यैः प्रकीर्तिता ॥१॥१०५॥

अर्थ : योगाचार्यों ने बताया है कि अनित्य, अशुचि और आत्मा से भिन्न पुद्‌गलादि मे नित्यत्व, शुचित्व और आत्मत्व (ममत्व) की बुद्धि अविद्या कहलाती है । तात्त्विक बुद्धि विद्या कहलाती है ।

विवेचन · जो पुद्‌गल अनित्य है, अशुचि—अपवित्र है और आत्मतत्त्व से भिन्न है, उन्हे तुम नित्य, पवित्र और आत्मतत्त्व से अभिन्न मान रहे हो, तब समझ लेना चाहिए कि तुम पर 'अविद्या' का प्रबल प्रभाव है । और जब तक पुद्‌गल-द्रव्यों को नित्य पवित्र एव आत्मतत्त्व से अभिन्न मानते रहोगे तब तक तुम तत्वज्ञानी नही, आत्मज्ञानी नही, बल्कि अविद्या से आवृत्त/अज्ञान से अभिभूत, साथ ही विवेकभ्रष्ट ऐसी एक पामर जीवात्मा हो । न जाने पामर जीवात्मा की यह कैसी दुर्दशा—करूणाजनक स्थिति है ?

- परसयोग को नित्य समझता है !
- अपवित्र शरीर को पवित्र समझता है !
- जड —पुद्‌गल द्रव्यो को अपना समझता है !

यही अहबुद्धि और ममबुद्धि अविद्या कहलाती है ! मौन मे यही अविद्या बाधक है । साधुता की साधना मे अविद्या एक विघ्न है । जब तक तुम इस पर विजय प्राप्त नही करोगे, तब तक साधुता की सिद्धि असंभव है । युग-युगान्तर से जो कर्मो का सितम और नारकीय यंत्रणाए सहन करनी पडी है, इस का मूल यही अविद्या है । अनित्य को नित्य, अपवित्र को पवित्र, और भिन्न को अभिन्न मानने की वृत्ति अनादिकाल से चली आ रही है । उस वृत्ति का विनाश करना, उसे नष्ट-भ्रष्ट करना सरल काम नही है, ठीक वैसे दृढ संकल्प हो तो असभव भी नही है ।

- आत्मा को हमेशा नित्य समझो,
- आत्मा को पवित्र समझो,
- आत्मा मे ही 'अहं'बुद्धि का प्रादुर्भाव करो ।

इसी तत्त्वबुद्धि स यानी विद्या से अविद्या का विनाश सभव है। परसयोग को नित्य मानकर उसमे रात-दिन खाया रहनेवाला रागी जीव उसका वियोग होते ही न जाने कैसा चित्कार/विलाप करता है? यह तथ्य समझ मे न आता हो तो श्री रामचद्रजी के विरह मे व्याकुल सीता की ओर दृष्टिपात करो। समझते दर नही लगेगी! गदगी आर असाध्य रागा के घर मे ऐस शरीर को पवित्र/शुद्ध मानकर उस पर बेहद प्रेम, प्यार आर ममता रखनवाले मनुष्य को जब उसके असलियत का पता चलता है, तब वह कैसा दिग्मूढ/सभ्रान्त बन जाता है? क्षणाध मे ही उसकी सिट्टी पिट्टी गुम हो जाती है। यदि इस तथ्य पर विश्वास न हो तो सनत्कुमार चक्रवर्ती की ऐतिहासिक जीवन-गाथा का अवगाहन अवश्य कर। जड-चेतन मे रहे भेद का न समझनवाले मनुष्य की उलझन का मूर्तिमत उदाहरण तुम स्वय ही हो। जड पुद्गल के विगडने या सुधरने पर तुम स्वय ही कितने राग-द्वेष-ग्रस्त हो जाते हो? न जाने कितनी चिंताए अनायास तुम्हें सताने लगती ह?

"जड से मैं अलग हू, भिन्न ह। जड से मेरा क्या नाता? वह बिगडे या सुधरे, उस से मुझे कोई सरोकार नही"। प्रस्तुत वृत्ति राग द्वेष की भयकर समस्या को सुलझा सकती है और आत्मा समभाव मे रह सकती है।

"पुद्गल का सयोग अनित्य ह। उसके बल पर मे सुख का भवन खडा नही करुगा, सुहान सपने नही सजाऊँगा। ऐसे सयाग को भूलकर भी कभी नित्य नहीं मानूगा बल्कि मेरी अपनी आत्मा ही नित्य है।" इस तत्त्व-वृत्ति के अगीकार करने पर सयोग वियोग के विकल्प मे उत्पन्न विकलता/विह्वलता को दूर किया जा सकता है और फलस्वरूप आत्मा प्रशम-सुख का अनुभव कर सकती है।

"सिर्फ मेरी आत्मा ही पवित्र है। वह पूर्णतया शुद्ध/विशुद्ध और सच्चिदानन्द से युक्त है।' ऐसा यथार्थ दर्शन होते ही अपने शरीर को पवित्र एव निरागी बनाये रखने का पुरुषार्थ रुक जाएगा। साथ ही पुरुषार्थ करते हुए प्राप्त निष्फलता/असफलता के कारण उत्पन्न अशाति दूर हो जाएगी। तब परिणाम यह होगा कि शरीर साध्य नही लगेगा,

बलिक साधन प्रतीत होगा । उसके साथ का व्यवहार केवल एक साधन रूप मे रह जाएगा । फलत: शरीर-संबंधित अनेकविध पापो से सदा के लिए बच जाओगे, मुक्त हो जाओगे ।

अत: अविद्या के गाढ आवरण को छिन्न-भिन्न/विदीर्ण करने का भगीरथ पुरूपार्थ प्रणिधानपूर्वक शुरु कर देना चाहिए । यह सब करते हुए यदि कोई बाधा अथवा रुकावट आये तो उसे दूर कर सिद्धि प्राप्त करनी चाहिए ।

यः पश्येद् नित्यमात्मानमनित्यं परसंगमम् ।
छलं लब्धुं न शक्नोति तस्य मोहमलिम्लुचः ॥२॥१०६॥

अर्थ :- जो आत्मा को सदा—अविनाशी देखता है, और परपदार्थ के सम्बन्ध को विनश्वर समझता है, उसके छिद्र पाने मे मोह रुपी चोर कभी समर्थ नही होता ।

विवेचन . जो मुनि अपनी आत्मा को अविनाशी मानता है और पर-पदार्थ के सम्बन्ध को विनाशी देखता है, उस के आत्मप्रदेश में घुसने के लिए मोह रूपी चोर को कोई राह नही मिलती ! उसकी स्खलना देखने के लिए उसे कोई जगह उपलब्ध नही होती ।

यहा निम्नांकित तीन बातो की ओर हमारा ध्यान आकर्पित करने का प्रयास किया गया है :

- आत्मा का अविनाशीरूप मे दर्शन ।
- परपुद्गल—सयोग का विनाशी रूप में दर्शन ।
- आत्मप्रदेश में मोह का प्रवेश—निषेध ।

यदि मारक मोह की असह्य विडम्बनाओ से मन उद्विग्न हो गया हो और उससे मुक्त होने की कामना तीव्र रूप से उत्पन्न हो गयी हो, तो ये तीन उपाय इस कामना को सफल बनाने मे पूर्णतया समर्थ है । लेकिन इसके पूर्व मोह को आत्मप्रदेश पर पाँव न रखने देने का दृढ संकल्प अवश्य होना चाहिए । मोह के सहारे आमोद—प्रमोद और भोग-विलास करने की वृत्तियो का असाधारण दमन होना चाहिए । तभी आत्मा की ओर देखने की प्रवृत्ति पैदा होगी और आत्मा का अविनाशी स्वरुप अवलोकन करने की आनन्दानुभूति होगी । फलत: पर-पुद्गलो का सयोग व्यर्थ प्रतीत होगा ।

हमे आत्मा के अविनाशी स्वरुप का दशन केवल एकाध पल, घटा, माह अथवा वप के लिए नही करना है, अपितु जब-जब स्व आत्मा अथवा अन्य आत्मा की ओर दृष्टिपात करे तब-तब 'आत्मा अविनाशी है,' का सवेदन होना चाहिए। अविनाशी आत्मा का दशन जब सुखद सवेदन पदा करेगा तब नश्वर शरीर और भौतिक सपदा के दर्शन/अनुभव के प्रति निरसता एव अनाकपण-वृत्ति का जम हागा। अविनाशी आत्मा के साथ स्नेह सम्बध जुडते ही 'परपुद्गल-सयोग अनित्य है। और जो अनित्य ह उनके समागम से मेरा क्या वास्ता ?' इस दिव्यदृष्टि का आविर्भाव होता है। पर-सयोग की अनित्यता का दर्शन मन पर ऐसा प्रभाव डालता है कि पर-सयाग करने कराने आर उसका सुखद अनुभव करने मे या उसके विरह वियोग मे न आनद न प्रमोद और ना ही किसी प्रकार का विपाद!

परसयाग की अवस्था मे मोह का आत्मप्रदश मे प्रवेश करन का माग मिल जाता है। इस मत भूलो कि जहा पर-सयोग मे सुख सुविधा पाने की कल्पना की नही कि माह महाराजा का दब पाव बिना किसी आहट के, आत्म भूमि मे प्रवेश हुआ समझो। अत पर-सयोग मे सुख की कल्पना का उच्छेदन करने हतु 'पर-सयोग अनित्य है,' ऐसी नानदृष्टि अपलक खुली रखने का आदेश दिया गया है।

आत्मा ने स्वय सुख की कल्पना नहीं की ह। अनादि काल से उसने स्वय मे सुख का दशन नही किया है! अत आत्मा का स्वय मे सुख का दर्शन हो, इसलिए 'मैं नित्य, अविनाशी, अविनश्वर हूँ', ऐसी तत्वदृष्टि दी गयी है! जब तक ये दोनो दृष्टिया खुल नही जाती तब तक मोह आत्म-भूमि मे प्रवेश पाने मे सफल बन जाता ह और भयकर विनाश करता ह। अलवत्ता, बर्बादी के साथ वह मोह आत्मभूमि के मालिक को कुछ सुख-सुविधाए अवश्य प्रदान करता है। ताकि सुख-सुविधाओं का चाहक लालची मालिक उसके खिलाफ बगावत न कर दे। जेहाद का नारा बुलद न कर द! जिस तरह अग्रेजा द्वारा प्रदत्त आर्थिक मान-सम्मान और सर्वोच्च पदो के इनाम-इकराम के लालची कुछ भारतीय लाग भारत-भूमि पर उनके राज्य शासन की आखिरी दम तक देशद्रोही हिमायत करते रहे! ठीक उसी तरह जब

तक हम मोह-महाराज द्वारा प्रदत्त आंशिक सुख—सुविधाएं भोगते रहेंगे तबतक आत्म-द्रोह करते नहीं अघाएंगे। बल्कि समय पड़ने पर अपनी इस कलुषित वृत्ति को नष्ट करने के बजाय बढाते ही जाएंगे। क्या ऐसे घृणित आत्मद्रोही बने रहकर, हम अपनी आत्मभूमि पर मोह-महाराज का राज्य—शासन चिरकाल तक बना रहे, इसमें खुश हैं?

तरंगतरलां लक्ष्मीमायुर्वायुवदस्थिरम् ।
अदभ्रधीरनुध्यायेदभ्रवद् भंगुरं वपुः ॥३॥१०७

अर्थ : – निपुण व्यक्ति लक्ष्मी को समुद्र—तरंग की तरह चपल, आयुष्य को वायु के झोंके की तरह अस्थिर और शरीर को बादल की तरह विनश्वर मानता है!

विवेचन : ❁ लक्ष्मी ❁ आयुष्य ❁ शरीर

इन तीन तत्वों के प्रति जीवात्मा का जो अनादि—अनंत काल से दृष्टिकोण रहा है, उसको मिटाकर एक नया लेकिन यथार्थ दृष्टि-कोण अपनाने का आग्रह पूज्य उपाध्यायजी कर रहे हैं। और 'अविद्या' के आवरण को छिन्न—भिन्न, तार—तार करने के लिए ऐसे नव्य दृष्टि-कोण की नितान्त आवश्यकता है—यह बात समझने के लिए 'अदभ्रबुद्धि, निपुण—बुद्धि का आधार लेने सूचना दी है।

लक्ष्मी की लालसा, जीवन की चाहना और शरीर की स्पृहा ने जीवात्मा की बुद्धि को कुंठित कर दिया है, दिशाहीन बना दिया है। साथ ही साथ उसकी विचारशक्ति को सीमित बना दिया है! जीव की अन्त.चेतना को मिट्टी के ढेर के नीचे दबा दिया है! वस्तुत. लक्ष्मी, जीवन और शरीर के 'त्रिकोण' के व्यामोह पर समग्र संसार का बृहद् उपन्यास रचा गया है! इस उपन्यास का कोई भी पन्ना खोलकर पढो, यह त्रिकोण दिखायी देगा! राग और द्वेष, हर्ष और विषाद, पुण्य और पाप, स्थिति और गति, आनद और उद्वेग....आदि असख्य द्वंद्वो के मूल में लक्ष्मी, जीवन और शरीर का त्रिकोण ही कार्यरत है! आशा को मीनारे और निराशाओ के कब्रस्थान इसी त्रिकोण पर खड़े है। यदि यों कहे तो अतिशयोक्ति न होगी की पवित्र, उदात्त, आत्मानुलक्षी एवं सर्वोच्च भावनाओं का स्मशान एक-मात्र यही त्रिकोण है! उक्त 'अविद्या त्रिकोण' को उसके वास्तविक

स्वरूप मे देखने के लिए यथार्थदर्शी दृष्टिकोण की आवश्यकता है। इसके बिना आत्मा की पूर्णता की ओर प्रयाण असभव है। साथ ही पूर्णानन्द की अनुभूति भी अशक्य है।

इसको जानने परखने के यथार्थ दृष्टिकोण ये है

☐ लक्ष्मी समुद्र-तरग जैसी चपल है।
☐ जीवन वायु के झोके की तरह अस्थिर है।
☐ शरीर बादल की भाति क्षणभगुर है।

पूर्णिमा की सुहानी रात्रि मे किसी समुद्र के शात किनारे आसन जमाकर सागर की केलि-क्रीडा करती उत्ताल तरगो मे लक्ष्मी की चपलता के दर्शन कर उसकी लालसा को सदा के लिए तिलाजलि दे देना। किसी पर्वतमाला की ऊची चोटी पर चढकर दृष्टि अनत आकाश की ओर स्थिरकर, सनसनाते वायु के झोको मे जीवन की अस्थिरता का करुण सगीत श्रवण करना और तब जीवन की चाहना से निवृत्त होने का दृढ सकल्प कर लेना। वर्षाऋतु के मनोहर मौसम मे वन निकुज मे अड्डा जमा कर आकाश मे आखमिचौली खेलते बादलो मे काया की क्षणभगुरता की गभीर ध्वनि सुन लेना। और काया की स्पृहा का तजने का मन ही मन निर्णय कर लेना। परिणाम यह होगा कि अविद्या का अनादि आवरण विदीर्ण हो जायेगा और 'विद्या' का देदीप्यमान सौन्दर्य सोलह कलाओ से विकसित हो जायगा। तब तुम इस दुष्ट 'निकाएा' से मुक्त हो जाओगे। परिणाम यह होगा कि तुम सहज/स्वाधीन नानादि लक्ष्मी, आत्मा का स्वतत्र अनत जीवन और अक्षय आत्मद्रव्य की अगम/अगोचर सृष्टि मे पहुँच जाओगे। जहाँ पूर्णानन्द और सच्चिदानन्द की सुखद अनुभूति होती है।

लक्ष्मी, जीवन और शरीर-विषयक यह नूतन विचार-प्रणालि कैसी आह्लादक, अनुपम और अन्तस्पर्शी है! कैसा मृदु आत्मसवेदन और रोम-रोम को विकस्वर करने वाला मोहक स्पदन पैदा होता है! जीर्ण शीर्ण प्राचीन-अनादिकालीन विचारधारा की विक्षुब्धता विवशता और विवेक विकलता का तनिक मात्र स्पर्श नही! कैसी सुखद परमानन्दमय अवस्था!

शुचीन्यप्यशुचीकर्तुं समर्थेऽशुचीसंभवे ।
देहे जलादिना शौचभ्रमो मूढस्य दारुणः ॥४॥१०८॥

अर्थ : – पवित्र पदार्थ को भी अपवित्र करने में समर्थ और अपवित्र पदार्थ से उत्पन्न हुए इस शरीर को पानी वगैरह से पवित्र करने की कल्पना दारुण भ्रम है ।

विवेचन : शरीरशुद्धि की तरफ झुके हुए मनुष्य को तनिक तो सोचना चाहिए कि शरीर की उत्पत्ति कैसे हुई है, वह कहा से उत्पन्न हुआ है और उसका मूल स्वभाव कैसा है ।

सुक्कं पिउणो माउए सोणियं तदुभयं पि संसट्ठं ।
तप्पढ़माए जीवो आहारइ तत्थ उप्पन्नो ॥

—भवभावना

पिता का शुक्र और माता का रुधिर, इन दोनो के संसर्ग से शरीर की उत्पत्ति होती है । जीवात्मा वहाँ प्रवेश कर प्रथम वार शुक्र-रुधिर के पुद्‌गलों का आहार ग्रहण कर, शरीर का निर्माण करता है । यह हुई उसकी उत्पत्ति की वात ।

भला, उस शरीर का स्वभाव कैसा है ? पवित्र को अपवित्र करने का, शुद्ध को अशुद्ध वनाने का, सुगंध को दुर्गंध मे वदलने का और सुडौल को वेढंगा वनाने का । तुम लाख कपूर, कस्तुरी और चंदन का विलेपन करो, शरीर उस विलेपन को अल्पावधि मे ही अशुद्ध, अपवित्र और दुर्गंधमय वना देगा । गर्म/शीतल फव्वारे के नीचे वैठकर सुगंधित सावुन मल—मलकर लाख स्नान कर लो, ऊँचे इत्र का उपयोग कर भले महका दो,....लेकिन दो तीन घंटे बीते न वीते, शरीर अपने मूल स्वभाव पर गये विना नही रहेगा । पसीने से तर-वतर, मल से गंदा और नानाविध रोग-व्याधि से ग्रस्त वन जाते देर नही लगेगी । इस तरह शरीर को जल और मिट्टी से पवित्र वनाने की जीव की कल्पना न जाने कैसी भ्रामक और असंगत है ? शारीरिक पवित्रता को ही अपनी पवित्रता मानने की मान्यता कैसी हानिकारक है ? यह सोचना चाहिए ।

अत शरीर को साध्य मानकर उसके साथ जो व्यवहार किया जाता है उस मे आमूल परिवर्तन होना जरुरी है । लेकिन प्रवृत्ति के

परिवर्तन मे वृत्ति का परिवर्तन पहले होना चाहिए । शरीर तो साधन है, ना कि साध्य । अत शरीर के साथ सम्बन्ध सिर्फ एक साधन के रूप मे ही होना चाहिए । ठीक वैसे व्यवहार भी साधन के रूप मे ही होना चाहिए ।

मानव-शरीर मोक्षमार्ग की आराधना का सर्वोत्तम साधन है। अत शरीर की एक-एक धातु, एक-एक इन्द्रिय और एक-एक स्पदन का उपयोग मोक्षमार्ग की आराधना के लिए करना चाहिए । शरीर के माध्यम से आत्मा को पवित्र, शुद्ध और उज्जवल बनाना है । लेकिन खेद और आश्चर्य की बात तो यह है कि भ्रान्त मनुष्य आत्मा का ही साधन बनाकर शरीर को शुद्ध और पवित्र बनाने की चेष्टा करता है। उसे पवित्र बनाने हेतु वह ऐसे अजीबोगरीब उपायो का अवलम्बन करता है कि जिससे आत्मा अधिकाधिक कर्म-मलिन होती जाती है । साधन/साध्य का निर्णय करने मे गफलत कर साध्य को साधन और साधन का साध्य मान लेता है ।

यह कभी न भूलें कि आत्मा साध्य है । अत साध्य को जरा भी क्षति न पहुँचे इस तरह साधन के साथ व्यवहार रखना चाहिए। लेकिन अविद्या यह करने नही देती । अविद्या के प्रभाव म रहा जीवात्मा शरीर क लिये एक प्रकार का ममत्म धारण कर लेता है । उसका सारा ध्यान, पूरा लक्ष शरीर ही होता है । वह हमेशा शरीर का पानी से नहलाएगा । उस पर जरा भी धब्बा न रह जाए इसकी खबरदारी बरतेगा । वह गदा न हो जाए इसकी सावधानी रखेगा । यह सब करते हुए वह आत्मा को साफ करना तो भूल ही जाता है । उसे उसका (आत्मा का) तनिक भी ख्याल नहीं रहता ।

अरे भाई, कोयले का हजार बार दूध अथवा पानी से धोया जाए तो भी क्या वह सफेद होगा ? ठीक उसी तरह काया, जो पूर्णरूप स अपवित्र तत्वा से बनी है और दूसरे को अपवित्र बनाना ही जिस का मूल स्वभाव ह, उसे तुम स्वच्छ, शुद्ध और पवित्र बनाने की लाख कोशिश करो, तुम्हारा हर प्रयत्न निष्फल होगा ।

य स्नात्वा समताकुण्डे हित्वा कश्मलज मलम् ।
पुनर्न याति मालिन्य सोऽन्तरात्मा पर शुचि ॥५॥१०६॥

अर्थ : –जो समता रूपी कुंड में स्नान कर पाप से उत्पन्न मल को दूर करती है, दुबारा मलिन नहीं बनती, ऐसी अन्तरात्मा विश्व में अत्यन्त पवित्र है।

विवेचन . तो क्या तुम्हे स्नान करना ही है ? पवित्र बनना ही है ? आओ, तुम्हे स्नान करने का सुरम्य स्थान बताता हूँ, स्नान के लिए उपयुक्त जल बताता हू ...। एकबार स्नान किया नही कि पुनः स्नान करने की इच्छा कभी नही होगी । इसकी आवश्यकता भी नही लगेगी। तुम ऐसे पवित्र बन जाओगे कि वह पवित्रता कालान्तर तक चिर-स्थायी बन जाएगी ।

लो यह रहा समता का कुड ! यह उपशम के अथाह जल से भरा पडा है । इसमे प्रवेश कर तुम सर्वांगीण स्नान करो । स्वच्छंद बनकर इसकी उत्ताल तरंगो के साथ जी भरकर केलि–क्रीडा करो । तुम्हारी आत्मा पर लगा हुआ पाप-पक धुल जाएगा और आत्मा पवित्र बन जाते विलम्ब नही लगेगा । साथ ही समकित की परम पवित्रता प्राप्त होगी ।

एकबार जिस आत्मा ने सम्यग्दर्शन की अमोघ शक्ति पा ली, वह आत्मा कर्म के समरागरण मे कभी पराजित नही होगी । ऐसी समकिती आत्मा कर्मो की उत्कृष्ट स्थिति नही बाधती है ।

अंत कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति से ज्यादा स्थिति नही बाधती है । यह उसकी सहज पवित्रता है ।

मनुष्य को समता का स्नान करते रहना चाहिए । समता से समकित की उज्वलता मिलती है, जो स्वय मे ही आत्मा की उज्वलता और पवित्रता है । समतारस मे निमज्जित आत्मा के तीन प्रकार के मल का नाश होता है ।

दृशां स्मरविषं शुष्येत्, क्रोधतापः क्षयं व्रजेत् ।
औद्धत्यमलनाशः स्यात् समतामृतमज्जनात् ।।

—अध्यात्मसार

दृष्टि मे से विषय–वासना का जहर दूर होता है, क्रोध का आतप शात हो जाता है और स्वच्छंदता की गदगी धुल जाती है । बस, समता–कुण्ड मे स्नान करने भर की देरी है ।

समता-कुंड की महिमा तुम क्या जानो ? वह कैसा चमत्कारिक और अलौकिक है ! तुम कैसी भी असाध्य व्याधि मे ग्रस्त हो, भयंकर रोग से पीडित हो, उसमें स्नान कर लो। क्षणार्ध मे सब व्याधि और रोग दूर हो जायेंगे। तुम्हारा शरीर कंचन सा निरोगी बन जाएगा। जीवन मे कैसे भी आंतरिक दोष हो, समता-कुंड में स्नान कर लो ! दोष कही नजर नही आयेंगे। जानते हो भरत चक्रवर्ती ने अपने जीवन मे कौन सा दुष्कर तप किया था ? कौन सा बडा त्याग किया था ? किन महाव्रतो का पालन किया था ? कुछ भी नहीं ! फिर भी उन्होने आत्मा के अनंत दोष क्षणार्ध मे दूर कर दिये। जड-मूल से उखाड दिये। किस तरह ? सिर्फ समता-कुंड मे स्नान करके ! पूज्य उपाध्यायजी महाराज ने स्वरचित ग्रन्थ 'अध्यात्मसार' में इसका रहस्य अनूठी शैली मे आलेखित किया है।

> आश्रित्य समतामेका निवृत्ता भरतादय।
> न हि कष्टमनुष्ठानमभूत्तेषा तु किंचन।।

बाह्य शरीर को पानी और मिट्टी से पवित्र करने का पागलपन दूर कर और समता-जल से आत्मा को पवित्र बनाने का मार्गदर्शन कर, पूज्य उपाध्यायजी महाराज ने न जाने कैसा महान् उपकार किया है ! समता द्वारा समकित की प्राप्ति होते ही समझ लेना चाहिए कि 'मै पवित्र हो गया मैं पवित्र हूं।' यदि यह भावना अहर्निश बनी रहे तो फिर शरीरादि को पवित्र करने का विचार ही नही आएगा। जब हमारे मन मे 'मैं अपवित्र हूं गंदा हूं !' भावना काम करती है तब पवित्र बनने की प्रवृत्ति पैदा होती है।

समता को स्थिर बनाये रखने के लिए भूल कर भी कभी जीवो मे कर्म-निर्मित वैविध्य का दर्शन नही करना चाहिए। जैसे-जैसे विशुद्ध आत्म-दर्शन दृढ होता जाता है, वैसे-वैसे समता की नींव दृढ और स्थिर बनती जाती है। समता का अनुपम सुख और आनंद वो अनुभव वही ले सकता है, जिसने उसे अपने जीवन मे आत्मसात की हो।। शरीरादि पुद्गलो मे अविरत आसक्त जीवात्मा भला, उसके वचनातीत सुख का क्या अनुभव कर सकेगा ? जिसके सिर पर शरीर को पवित्र बनाने की धुन सवार हो, वह भूलकर भी कभी समता के कुंड मे निमज्जित हो कर अनुपम पवित्रता प्राप्त नही कर सकता।

आत्मबोधो नव: पाशो, देहगेहधनादिषु ।
यः क्षिप्तोऽनात्मना तेषु स्वस्य बन्धाय जायते ॥६॥११०॥

अर्थ :– शरीर, घर और धनादि मे आत्मबुद्धि, यानी एक नये पाश का बंधन ! आत्मा द्वारा शरीरादि पर फेंका गया पाश, शरीर के लिए नहीं बल्कि आत्मबन्धन के लिए होता है ।

विवेचन : ★ शरीर ★ घर ★ धन

इन सब मे आत्मबुद्धि यानी एक अभिनव...अलौकिक पाश! भले ही आत्मा शरीर, धन, घर आदि पर पाश फेंकती है, लेकिन उस पाश से खुद (आत्मा) ही बन्धन मे बंधती है । जब कि वास्तविकता यह है कि जिस पर पाश डाला जाए वही बंधन मे आना चाहिए । लेकिन यहाँ ठीक उसके विपरीत घटना घटित होती है । पाश डालने वाला स्वय ही उसमे बंधता है । इसीलिए वह अलौकिक और अभिनव पाश है ।

'मैं और मेरा'—इसी अविद्या से आत्मा बंधनयुक्त बनती है । इसे परिलक्षित कर पूज्य उपाध्यायजी महाराज ने ससार के तीन तत्वों की ओर निर्देश किया है ।

शरीर में 'मैं' !
घर और धन मे 'मेरा' !

यही 'मैं और मेरा'–का अनादिकालीन अहकार और ममकार (अविद्या), जीव को ससार की भुलभुलैया मे भटका रहा है । कर्म के बंधनो मे जकड रहा है । नरक–निगोद के दुःखो मे सड़ा रहा है । दुःख–सुख के द्वद्व मे झुला रहा है ।

शरीर के प्रति 'मैं—पने की बुद्धि बहिरात्मभाव है । **'कायादि बहिरात्मा'**—शरीर मे आत्मीयता की बुद्धि बहिरात्म–दशा है । ऐसी अवस्था में प्रायः विषयलोलुपता और कषायों का कदाग्रह स्वच्छंदता से पनपता है । उक्त अवस्था के लक्षण है : तत्व के प्रति अश्रद्धा और गुणो मे प्रद्वेष । आत्मतत्व का अज्ञान बहिरात्मभाव का द्योतक है । तभी पूज्य उपाध्यायजी महाराज ने **'अध्यात्मसार'** मे कहा है :

विषयकषायावेश तत्त्वाश्रद्धा गुणेषु द्वेष ।
आत्माऽज्ञान च यदा बाह्यात्मा स्यात् तथा व्यक्त ॥

इस तरह शरीर मे अहत्व की बुद्धि रखनेवाला विषय-कषाय के आवेशवश अपनी ही आत्मा का कर्म-बन्धन मे आबद्ध करता है। तत्त्व के प्रति अश्रद्धा और गुणो मे द्वेषभाव बनाये रखती आत्मा को कर्मलिप्त करता है, जो खुद के दुःख के लिए ही होता है।

खुद कर्म-बन्धन मे जकडता जाता है। फिर भी उसे होश नही रहता कि 'मैं बन्धन मे फँस रहा हूँ।' यही तो आश्चर्यचकित करने वाली बात है। जब तक इसका अहसास न होगा, तब तक कर्म-बंधन असह्य नही लगेंगे। जब तक कर्म-बन्धन-प्रेरित त्रास और सीतम का अनुभव न हो, तब तक कर्मबधनो को ताडन का पुरुषार्थ नही होता। पुरुषार्थ मे उत्साह वेग और विजय का लक्ष्य नही होता। मोहमदिरा के जाम पर जाम चढाकर नशे मे धुत्त बहिरात्मा के सामने दर्पण धर दिया जाता है "तू अपने आपको पहचान!"

यदि उस दर्पण मे ध्यानपूर्वक देखा जाए तो हम खुद को कैसे लगेंगे? अनतानत कर्म-बन्धनो से जकडे, श्रमित, निस्तेज, पराधीन, परतंत्र और सर्वस्व गँवाकर हारे हुए दर दर के भिखारी से।

घर और धन के प्रति ममता की बुद्धि, पराधीनता और परतत्रता मे वृद्धि करती है। ज्ञानादि स्व-सपत्ति को देखने नही देती और बाह्यभाव के रगमच पर नानाविध नाच नचाती है। 'अह' और 'मम' के मार्ग पर गतिमान जीव की न जाने कैसी दुर्दशा होती है इसे जानने के लिए भूतकालीन पुरुषो की ओर दृष्टिपात करना जरूरी है। सुभूम चक्रवर्ती और ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के दिल दहलाने वाले वृत्तान्तों को जानना आवश्यक है। मगधसम्राट् कोणिक और वर्तमान म जर्मनी के भूतपूर्व तानाशाह हिटलर के करुण अन्त का इतिहास जानना परमावश्यक है! 'सेंट हेलना' द्वीप पर जीवन-सध्या की अन्तिम किरणो मे सास लेते महाबली नेपोलियन की कहानी का जरा अवगाहन करो।

अहंकार और ममकार के महा भयकर पाश की पाशविकता और क्रूरता को जानकर, उस पाश से मुक्त होने का महान् पुरुषार्थ करना चाहिए।

मिथोयुक्तपदार्थानामसंक्रमश्चमत्क्रिया ।
चिन्मात्रपरिणामेन विदुषैवानुभूयते ॥७॥१०७॥

अर्थ :— आपस में परस्पर मिश्रित जीव-पुद्गलादि पदार्थों का भिन्नतारूप चमत्कार, ज्ञानमात्र परिणाम के द्वारा विद्वान पुरुष अनुभव करते हैं।

विवेचन : जड-चेतन तत्त्वों का यह अनादि-अनन्त विश्व है! हर जड-चेतन तत्त्व का अस्तित्व स्वतन्त्र है। उसका स्वरूप भी स्वतन्त्र है। लेकिन जड चेतन क्षीर-नीर की तरह एक-दूसरे में घुल-मिलकर रहे हुए हैं। उक्त तत्त्वों की भिन्नता मात्र ज्ञान—प्रकाश से देख सकते हैं।

प्रधानतया पाच द्रव्य [जड-चेतन] इस विश्व में विद्यमान हैं :

१ धर्मास्तिकाय, २ अधर्मास्तिकाय, ३ आकाशास्तिकाय ४ पुद्गलास्तिकाय और ५ जीवास्तिकाय।

इन में आकाश द्रव्य आधार है और शेष चार द्रव्य आधेय हैं, यानी आकाश में स्थित है। फिर भी हरएक का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है, स्वरूप है, और कार्य है। एक द्रव्य का अस्तित्व भूल कर भी दूसरे में विलीन नहीं होता। ठीक वैसे ही एक द्रव्य का कार्य दूसरा द्रव्य कभी नहीं करता। भिन्नता का यह चमत्कार, मनुष्य बिना ज्ञान के देख नहीं पाता।

प्रत्येक द्रव्य अपना अस्तित्व बनाये रखता है, अपने स्वरूप को निराबाध/अबाध रखता है और अपने-अपने कार्य में सदा मग्न रहता है। धर्मास्तिकाय -द्रव्य अरूपी है। उसका अस्तित्व अनादि-अनन्तकाल है और उसका कार्य है जीव को गति करने में सहायता करने का। अर्थात् प्रत्येक जीव गति कर सकता है, उसके पीछे अदृश्य सहयोग/मदद 'धर्मास्तिकाय' नामक अरूपी, विश्वव्यापी और जड ऐसे द्रव्य की होती है। 'अधर्मास्तिकाय' स्थिति में सहायता देता है। अर्थात् जीव किसी एक स्थान पर स्थिर बैठ सकता है, खडा रह सकता है और शयन कर सकता है, इसके पीछे अरूपी विश्वव्यापी और जड ऐसे 'अधर्मास्तिकाय' की मदद होती है। 'आकाशास्तिकाय' का काम है अवकाश-स्थान देने का। जब कि 'पुद्गलास्तिकाय' का कार्य तो सर्वविदित ही है!

० देखिए परिशिष्ट 'पंचास्तिकाय'

जो कुछ हमें दिखता है वह सब पुद्गलमय है। इन पाच द्रव्यो मे सिर्फ पुद्गल ही रूपी है। हानि, वृद्धि और निरतर परिवर्तन-यही पुद्गल का स्वरूप है। 'जीवास्तिकाय' का स्वरूप है चैतन्य। ज्ञानादि स्वपर्याय मे रमणता उसका कार्य है। पुद्गल द्रव्य मे आत्मगुणों का प्रवेश नहीं होता है। आत्मा मे पुद्गल–गुणों का प्रवेश नहीं होता। अर्थात् आत्मा के ज्ञानादि गुण पुद्गल के गुण कभी नहीं होते। पुद्गल का स्वभाव आत्मा का स्वभाव नहीं बन सकता। इसी तरह हर द्रव्य के पर्याय भी स्वगुण के परिणामरूप भिन्न भिन्न हैं। हालाकि वे परस्पर इतने ओत प्रोत होते हैं कि उनका भेद करना, वर्गीकरण करना अशक्य है। लेकिन ज्ञानी पुरुष अपने श्रुतज्ञान के माध्यम से उन्हें भलीभाँति जानते हैं और परख सकते हैं।

सिद्धसेन दिवाकरजी ने अपने ग्रथ 'सम्मतितर्क' मे कहा है

> अन्नोन्नाणुगयाण इम त च त्ति विभयणमसक्क।
> जह दुद्धपाणियाण जावत विसेसपज्जाया ॥

"दूध और पानी की तरह आपस मे ओत–प्रोत, समरस बने जीव और पुद्गल के विशेष पर्याय मे 'यह जीव है और यह पुद्गल है,' ऐसा वर्गीकरण करना असंभव है। अत उन दोनो के अविभक्त पर्यायों को समझना चाहिए।' इस तरह श्रुत-ज्ञान के माध्यम से जीव और पुद्गल का भेदज्ञान यही 'विद्या' है।

> अविद्यातिमिरध्वसे दृशा विद्याञ्जनस्पृशा।
> पश्यन्ति परमात्मानमात्मन्येव हि योगिन ॥८॥१९७॥

अर्थ – योगीपुरुष, अज्ञान रूपी अधकार का नाश होते ही विद्या-अंजन को स्पर्श करनेवाली दृष्टि से आत्मा में ही परमात्मा का दर्शन हैं!

विवेचन – अनादिकाल से चला आ रहा अविद्या का अधकार नष्ट होते ही योगीजनों की दृष्टि में तत्त्वज्ञान के अजन का स्पर्श होता है। इस अजन अचित दृष्टि से वह अतरात्मा मे दृष्टिपात करता है। तब उन्हें क्या दिखाई देता है? सच्चिदानन्दमय परमपिता परमेश्वर के! फलस्वरूप महायोगी सच्चिदानन्द की पूर्ण मस्ती मे डोल उठता है, और जन्म जन्मान्तर के दुष्कर सघर्ष के पश्चात प्राप्त अपूर्व, अद्भुत

और कल्पनातीत सफलता से अभिभूत हो, उनका हृदय पूर्णानन्द से भर जाता है। वे पूर्णानन्दी बन जाते हैं।

* अविद्या का नाश !
* तत्त्वदृष्टि का अंजन !
* अंतरात्मा में परमात्म-दर्शन !

परमात्म-दर्शन की पार्श्वभूमि में दो प्रमुख बातें रही हुई हैं, जिनका प्रस्तुत अष्टक में समग्र-दृष्टि से विवेचन किया गया है। वह है, अविद्या का नाश और तत्त्वबुद्धि का अंजन !

अब हम गुणस्थानक❀ के माध्यम से प्रस्तुत विकासक्रम का विचार करें ! अविद्या का अंधकार प्रथम गुणस्थानक पर होता है ! अंधकार से आवृत्त जीवात्मा 'बाह्यात्मा' कहलाती है। चतुर्थ गुणस्थानक पर अविद्या के अंधकार का नाश होता है और 'तत्त्वबुद्धि' (विद्या) का उदय ! बारहवें गुणस्थानक तक तत्त्वबुद्धि विकसित होती रहती है ! ऐसे तत्त्वबुद्धि-धारक जीवात्मा को 'अंतरात्मा' कही गयी है। जब कि यही 'अंतरात्मा' तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानक पर पहुँचकर परमात्मा का रूप धारण कर लेती है, परमात्मा बन जाती है। तब यह प्रश्न उपस्थित होगा कि भला, हम कैसे जान सकते हैं कि हम बाह्यात्मा हैं ? अंतरात्मा हैं ? अथवा परमात्मा हैं ? इसका उत्तर है: हम स्पष्ट रूप में जान सकते हैं कि हम क्या हैं। उसे जानने की पद्धति निम्नानुसार है

卐 यदि हम में विषय और कषायों की प्रचुरता है, तत्त्वों के प्रति अश्रद्धा है, गुणों के प्रति द्वेष है और आत्मज्ञान नहीं है, तो समझ लेना चाहिए कि हम 'बाह्यात्मा' हैं।

卐 यदि हम में तत्त्वश्रद्धा जगी है, अणुव्रत-महाव्रतों से जीवन संयमित है, कम-ज्यादा प्रमाण में मोह पर विजयश्री प्राप्त की है, विजयश्री पाने का पुरुषार्थ चालू है, तब समझ लेना चाहिए कि हम 'अंतरात्मा हैं और चतुर्थ गुणस्थानक से लेकर बारहवें गुणस्थानक तक कहीं न कहीं अवश्य हैं।

卐 केवलज्ञान प्राप्त हो गया हो, योगनिरोध कर दिया हो, समग्र कर्मों का क्षय हो गया हो, सिद्धशिला पर आरुढ हो गये हो, तब समझ

❀ देखिए परिशिष्ट में : गुणस्थानक का स्वरूप

विद्या

लेना चाहिए कि हम 'परमात्मा' हैं। तेरहवें या चौदहवें गुणस्थानक पर अधिष्ठित हो गये हैं।

मानसिक शांति के विना यानी शोक, मद, मदन, मत्सर, कलह, कदाग्रह, विषाद, और वैरवृत्ति शांत हुए विना अविद्या भस्मीभूत नही होती। मोहान्धता दूर नही होती। अत मन को शात करना चाहिए, तभी परमात्मदर्शन संभव है।

परमात्मऽनुध्येय संनिहितो ध्यानतो भवति'।

—अध्यात्मसार

संसार के सभी आल पपाल को छोडछाड कर, मन को शुभ आलम्बन मे स्थिर कर, यदि ध्यान धरा जाय तो मन शांत होता है। शोकादि विकार उपशांत हो जाते हैं। तब आत्मा की ज्योति सहज प्रकाशित हो उठेगी।

'शान्ते मनसि ज्योति प्रकाशते शातमात्मन सहजम्'

अध्यात्मसारे

१५. विवेक

यहां संसार के व्यवहार में उपयोगी "विवेक" की बात नही है, बल्कि भेद-ज्ञान के विवेक की बात है। कर्म और जीव की जुदाई/भिन्नता का ज्ञान कराए वह विवेक।

अनादिकाल से अविवेक के प्रगाढ़ अंधकार में खोये जीव को यदि विवेक का प्रकाश प्राप्त हो जाए तो उसका काम बन जाए!

परम विशुद्ध आत्मा में अशुद्धियाँ निहारना यह भी एक प्रकार से अविवेक ही है।

विवेक के प्रखर प्रकाश में तो सिर्फ आत्मा की परम विशुद्ध अवस्था का ही दर्शन होता है। इसके अपूर्व आनंद का अनुभव करने के लिए प्रस्तुत अष्टक को ध्यानपूर्वक दो-तीन बार अवश्य पढ़ना चाहिए, और उसका चिंतन-मनन करना चाहिए।

विवेक

कर्म जीव च संश्लिष्टं सर्वदा क्षीरनीरवत् ।
विभिन्नीकुरुते योऽसौ मुनिहंसो विवेकवान् ॥१॥११३॥

अर्थ — दूध और पानी की तरह ओत प्रोत बने जीव और कर्म को जो मुनि रूपी राजहंस सदैव अलग करता है, वह विवेकवंत है ।

विवेचन जीव और अजीव का जो भेद ज्ञान, वह है विवेक ।

कर्म और जीव एक दूसरे मे इस तरह ओत-प्रोत हैं, जिस तरह दूध और पानी । आज ही नहीं बल्कि अनादिकाल मे परस्पर ओत-प्रोत हैं । उन्हे उनके लक्षण द्वारा भिन्न समझने का अर्थ ही विवेक है । क्योंकि अनादिकाल मे आत्मा कर्म और जीव को अभिन्न मानती आयी है और उसी के फलस्वरूप अनंतकाल से ससार मे भटकती रही है । उसका भव-भ्रमण तभी मिट सकता है जब वह जीव और अजीव का विवेक पा ले ।

अहमिक्को खलु सुद्धो दसणणाणमइओ सदारूवी ।
णवि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्ण परमाणुमित्तंपि ॥३८॥
—समयसार

अविद्या से मुक्त आत्मा अपने आपको पुद्गल से भिन्न समझते हुए 'वास्तव मे एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शन ज्ञानमय हूँ और निराकार हूँ । दूसरा कोई परमाणु भी मेरा नहीं है ।' ऐसा सोचता है ।

जिस तरह किसी मनुष्य की मुट्ठी मे सोने का सिक्का हो लेकिन वह भूल गया हो कि उसकी मुट्ठी मे सोने का सिक्का है और याद आते ही अचानक महसूस करता है कि उसकी मुट्ठी मे सोने का सिक्का है । ठीक उसी तरह मनुष्य अनादिकालीन मोहरूपी अज्ञान की उन्मत्तता के वशीभूत हो कर अपने परमेश्वर स्वरूप आत्मा को भूल गया था । लेकिन उसे भव-विरक्त सद्गुरु का समागम होते ही और उनके निरंतर उपदेश से सहसा अनुभव हुआ कि 'मैं तो चैतन्यस्वरूप परम ज्योतिर्मय आत्मा हूँ मेरे अपने अनुभव से मुझे लगता है कि मैं चिन्मात्र आकार की वजह से समस्त क्रम एवं अक्रम स्वरूप प्रवर्तमान व्यवहारिक भावों से भिन्न नहीं हूं । अतः मैं एक हूँ—अकेला हूँ । नर नारकादि जीव के विशेष पर्याय अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव संवर, निर्जरा बंध और मोक्ष, इन व्यवहारिक नौ तत्त्वों के ज्ञायक स्वभावरूप भाव के कारण

अत्यत भिन्न हूँ। इसीलिए मैं पूर्णतया विशुद्ध हूँ। मैं चिन्मात्र हूँ! सामान्य-विशेपात्मकता का अतिक्रमण नही करता। अतः दर्शन-ज्ञानमय हूँ। स्पर्श, रस, गध और वर्ण से मै भिन्न होने की वजह से परमार्थ से सदा अरुपी हूँ।

आत्मा के असाधारण लक्षणो से सर्वथा अज्ञात/अपरिचित अत्यंत विमूढ मनुष्य तात्त्विक आत्मा को समझ नही पाता और पर को ही आत्मा मान बैठता है! कर्म को आत्मा मानता है! कर्म-संयोग को आत्मा मान लेता है! कर्म-जन्य अध्यवसायो को आत्मा मानता है! तब कर्मविपाक को ही आत्मा मान लेता है। लेकिन यह सत्य भूल जाता है कि प्रस्तुत सभी भाव पुद्गल-द्रव्य के परिणाम से निप्पन्न हैं, अत उसे जीव कैसे कहा जाए? श्री जिनेश्वर भगवान ने कहा है कि उक्त आठ प्रकार के कर्म पुद्गलमय है।

अट्ठविहं पि य कम्मं सव्व पुग्गलमयं जिणा विंति'।

—समयसारे

कर्म और कर्मजनित प्रभावो से आत्मा की भिन्नता जानने के लिए मुनि को हंसवृत्ति का अनुसरण करना चाहिए। जिस तरह हंस दूध-पानी के मिश्रण मे से सिर्फ दूध को गहण कर पानी को छोड़ देता है, ठीक उसी तरह मुनि को भी कर्म-जीव के मिश्रण मे से जीव को ग्रहण कर कर्म को छोड़ देना चाहिए। उसके लिए यह आवश्यक है कि, जीव के असाधारण लक्षणो को वह भली-भाति जान ले, अवगत कर ले, और तदनुसार जीव का श्रद्धान करें।

इस तरह का विवेक जब मुनि मे पनपता है, जागृत होता है, तब वह अपने आप में पूर्णानन्द का अनुभव करता है। उसके रागादि दोषों का उपशम हो जाता है और चित्त प्रसन्न/प्रफुल्लित हो जाता है।

देहात्माद्यविवेकोऽयं सर्वदा सुलभो भवे।
भवकोट्यापि तद्भेद-विवेकस्त्वति दुर्लभः ॥२॥११४

अर्थ :— ससार मे प्रायः शरीर और आत्मा वगैरह का अविवेक आसानी से प्राप्त हो सके वैसा है। लेकिन करोडो जन्मों के उपरात भी उसका भेदज्ञान अत्यत दुर्लभ है।

विवेक विवेचन इस ससार मे रहे जीव, शरीर और आत्मा के अभेद की वासना से वासित हैं और अभेद वासना का अविवेक दुलभ नही, बल्कि सुलभ है । यदि कोई दुलभ है तो सिफ भेद-परिज्ञान । लाखो करोडो जन्मो के बावजूद भी भेद ज्ञानरूपी विवेक सवथा दुलभ है ।

सासारिक जीव इस शाश्वत सत्य से पूणतया अनभिज्ञ है कि शरीर से भिन्न ऐसा 'आत्मतत्त्व' नामक कोई तत्त्व भी है। वे तो आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व तक को नही जानते, तब आत्मा का शुद्ध ज्ञानमय स्वरूप जानने का प्रश्न ही कहा उठता है ? हर एक के लिए आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व समझना और उसके प्रति पूरी श्रद्धा रखना कि 'मन से भिन्न, वचन से भिन्न और काया से भिन्न ऐसी चैतन्य स्वरूप आत्मा है।' सुलभ नही है। कोई महात्मा ही ऐसे भेद-ज्ञान के ज्ञाता हो सकते है ।

सुदपरिचिताणुभूता, सव्वस्स वि कामभोगबधकहा ।
एगत्तस्सुवलभो णवरिण सुलभो विभत्तस्स ।।४।।

—समयसार

"काम भोग की कथा किसने नही सुनी ? कौन उससे परिचित नही है ? किसके अनुभव मे वह नही आयी ? मतलब काम भोग की कथा सबने सुनी है, सब उससे परिचित हैं और सबने उसका अनुभव किया है । क्यो कि वह सवथा सुलभ है । जबकि शरीरादि से भिन्न आत्मा की एकता सुनने मे नही आयी, उसमे कोई परिचित नही है और ना ही उसका किसी ने अनुभव किया है, क्योकि वह दुलभ है।

असलियत यह है कि काम-भोग की कथा तो असख्य बार सुनी है, हृदय मे सजोकर जीवन मे उसका जी भर कर अनुभव किया है। त्रिभुवन विजेता सम्राट मोह के राज्य मे यही सुलभ और सभव था, जब कि दुलभ था सिफ भेद ज्ञान । विशुद्ध आत्मा के एकत्व का सगीत वहा कही सुनाया नही पड रहा था ।

भेद ज्ञान के रहस्यो को जानने के लिए अतरात्मदशा प्राप्त करना जरूरी है । उसके लिए पचेन्द्रिय के विषयो के प्रति विरक्ति, उपेक्षा-भाव और तत्सबधित विषयो का त्याग करते रहना चाहिए । उसके

प्रति त्यागवृत्ति का अवलम्बन करते रहना आवश्यक है। जब तक हमारे मे विषयों के प्रति अनुराग रहेगा, तब तक हमारा मन बाह्य भावो से ओत-प्रोत रहेगा, वह आत्मा की ओर कभी उन्मुख नहीं होगा। विषयो के त्याग के साथ ही कषायों का उपशम करना भी उतना ही अनिवार्य है। कषायो से संतप्त मन जड-चेतन का भेद समझने और अनुभव करने मे पूर्णतया समर्थ नही होता। कषायो का आवेग जिस गति से क्षीण होता जाएगा, उसी गति से उसका (कषाय) ताप कम होता जाता है। कषाय-बंध शिथिल होते ही सहज ही तत्त्व की ओर आकर्षण बढता है और श्रद्धा पैदा होती है। जीव-अजीवादि नौ तत्त्वों मे निष्ठा और श्रद्धा बढते ही विशेष रूप से जीवात्मा के स्वरूप के प्रति अनुराग उत्पन्न होता है। परिणाम स्वरूप, जीव के क्षमादि गुणो के बारे मे द्वेष भावना नही रहती और उससे जीवन उज्वल बनाने की तमन्ना पैदा होती है। फलस्वरूप, अणुव्रत एवं महाव्रतो को अंगीकार करने की तथा आसेवन करने की वृत्ति और प्रवृत्ति का आविर्भाव होता है। यह वृत्ति और प्रवृत्ति ज्यों-ज्यों बढती जाती है त्यों-त्यों मोह-वासना नष्ट प्रायः होती जाती है। फलतः मोहजन्य प्रमाद की वृत्ति-प्रवृत्तिया नष्ट हो जाती है।

ऐसा वातावरण निर्माण होने पर 'भेद-ज्ञान' करने की योग्यता प्राप्त होती है। भेद-ज्ञान की कथा प्रिय लगती है। भेद-ज्ञान की प्रेरणा और निरूपण करनेवाले सद्गुरुओं का समागम करने को जी चाहता है! जो भेद-ज्ञानी नही है, उनके प्रति अद्वेष रहता है। इस तरह, उसे जब भेद-ज्ञान का अनुभव करने का प्रसग आता है, तब उसे एक अलभ्य वस्तु की प्राप्ति का अंतरग आनद होता है।

अतः भेद-ज्ञान की वासना से वासित होने की जरूरत है। इससे मन के कई क्लेश और विक्षेप मिट जाएंगे। जीवन की अगणित समस्याएं क्षणार्ध मे हल हो जाएँगी और अपूर्व आनन्द का अनुभव होगा।

शुद्धेऽपि व्योम्नि तिमिराद् रेखाभिर्मिश्रता यथा।
विकारैर्मिश्रता भाति तथाऽऽत्मन्यविवेकतः ॥३॥११५॥

अर्थ : जिस तरह स्वच्छ आकाश मे भी तिमिर-रोग से नील पीतादि रेखाओं के कारण संमिश्रता दृष्टिगोचर होती है, ठीक उसी तरह आत्मा में अविवेक से विकारो के कारण संमिश्रता प्रतीत होती है। (आभासित होती है)

विवेच

विवेचन आकाश स्वच्छ और सुंदर है। लेकिन उसको देखनेवाले की आखे तिमिर रोग से ग्रसित होने के कारण उसे आकाश मे लाल-पीली विविध प्रकार का रेखाए दिखायी पड़ती हैं और वह बोल उठता है "आकाश कैसा चित्र विचित्र लगता है।"

'निश्चयनय' से आत्मा निर्विकार, निर्मोह, वीतराग और चैतन्य-स्वरूप है। लेकिन उसे देखने वाले की दृष्टि मे क्रोधादि विकारो का राग है। अत क्रोधादि विकारों मे युक्त अविवेकी दृष्टि के कारण उस काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह, मत्सरादि रेखाएँ दिखायी देती हैं। और वह चीख पड़ता है, "देखो, जरा दृष्टिपात करो। आत्मा तो क्रोधी, कामी, विकारी और विषय वासनाग्रस्त लगती है।"

इस तरह निश्चयनय हमे अपने मूलस्वरूप का वास्तविक दर्शन कराते हुए अनादिकाल मे घर कर बैठी अपनी ही हीन भावना को उखाड़ फेंकने के लिए प्रेरित करता है। वाकई मे हमने अपने आपको दीन हीन, अपंग अपाहिज और पराश्रित पराजित समझ लिया है। जिस तरह किसी परदेशी शासन के नृशंस अत्याचार और दमन-चक्र मे प्रताड़ित, कुचली गयी देहाती जनता मे दीनता, हीनता और पराधीनभाव देखने न आते है। मानो वे उसी स्थिति मे जिंदगी बसर करने मे ही पूरा सताप मानते हैं। लेकिन जब एकाध क्राति कारी उनमे पहुँचता है और उनकी दारुण अवस्था का सही ज्ञान देता हुआ उत्तेजित स्वर मे कहता है "अरे कैसे तुम लोग हो? तुम यह न समझो कि यही तुम्हारी वास्तविक जिंदगी है और तुम्हारे कर्मों ने ऐसा जीवन बीताने का लिखा है। तुम्हे भी एक नागरिक के रूप मे पूरे अधिकार हैं। तुम भी आजाद बनकर अपनी जिंदगी बसर करने के पूरे हकदार हो। और यही तुम्हारा वास्तविक जीवन है। अत यह परदेशी शासन/राजसत्ता द्वारा तुम पर लादा गया जीना है। अत उसे उखाड़ फेंको और खुशहाल जीवन जीने के लिए तत्पर बनो।"

कर्मो की जुल्मी सत्ता के तले दबे-कुचले जानेवाले जीव, उन के द्वारा लादे गये स्वरूप को ही अपना वास्तविक स्वरूप समझ बैठे हैं। कर्मानुशासन को अपना अनुशासन मान लिया है। फलत दीनता, हीनता और पराधीनता की भावना उसके रोम रोम म बस गयी है। एसे म परम क्रांतिकारी परमात्मा जिनेश्वर भगवत आह्वान करते हैं।

"जीवात्माओ, यह तुम्हारा वास्तविक जीवन नही है। पूर्ण स्वतंत्र, स्वाधीन जीवन जीने का तुम्हारा पुरा अधिकार है। तुम अपने आप मे शुद्ध हो, बुद्ध हो, निरजन-निराकार हो। अक्षय और अव्यय हो, अजरामर हो। तुम अपने मूल स्वरुप को समझो। कर्माधीनता के कारण उत्पन्न दीनता, हीनता और न्यूनता के बधन तोड दो। तुम्हे पदपद पर जो रोग, शोक, जरा, और मृत्यु का दर्शन होता है, वह तो कर्म द्वारा तुम्हारी दृष्टि मे किये गये विकार—अजन के कारण होता है। तुम्हारी मृत्यु नही, तुम्हारा जन्म नही, तुम रोग-ग्रस्त नही, नाही कोइ दु.ख है। तुम अज्ञानी नही, मोहान्ध भी नही, साथ ही शरीरधारी नही।" ऐसा आत्मज्ञान प्राप्त होते ही मुक्ति की मजिल शनै शनै निकट आती जाती है।

आत्मज्ञानफलं ध्यानमात्मज्ञान च मुक्तिदम्।
आत्मज्ञानाय तन्नित्यं यत्नः कार्यो महात्मना ॥

—अध्यात्मसारे

आत्मज्ञान हेतु निरतर प्रयत्नशील रहना चाहिए। सिर्फ आत्मा को जान लो। शेष कुछ जानने की आवश्यकता नही है। आत्मज्ञान के लिए ही नौ तत्त्वो का ज्ञान हासिल करना जरुरी है। जो आत्मा को न जान पाया, वह कुछ भी न जान पाया। कर्मजन्य विकृति को आत्मा मे आरोपित कर ही अज्ञानी जीव भवसागर मे प्राय भटकते रहते है। अत. भेद-ज्ञान, आत्म-ज्ञान प्राप्त करना परमावश्यक है।

यथा योधैः कृतं युद्ध स्वामिन्येवोपचर्यते।
शुद्धात्मन्यविवेकेन कर्मस्कन्धोर्जित तथा ॥४॥ ११६॥

अर्थ जिस तरह योद्धाओं द्वारा खेले गये युद्ध का श्रेय राजा को मिलता है, ठीक उसी तरह अविवेक के कारण कर्मस्कन्ध का पुण्य–पाप रुप फल, शुद्ध आत्मा मे आरोपित है।

विवेचन. सैनिक युद्ध करते है और सैनिक ही जय-पराजय पाते है। लेकिन प्रजा यही कहती है: "राजा की जय हुई अथवा पराजय हुई" अर्थात् सैनिको द्वारा प्राप्त विजय का श्रेय उनके राजा को मिलता है। उसी तरह सेना का पराजय भी राजा का पराजय कहा जाता है!

इसी तरह कम-पुद्गल रूप पाप पुण्य का उपचय अपचय अविवेक करता है, फिर भी उसका उपचार शुद्ध आत्मा में किया जाता है। अर्थात 'आत्मा ने पुण्य किया और आत्मा ने पाप किया।'

कम-ज य भावों का कर्ता आत्मा नही बल्कि आत्मा तो स्वभाव का कर्ता है। लेकिन आत्मा और कम परस्पर इस तरह ओन प्रोत हो गये हैं कि कमज य भावो का कर्तुत्व आत्मा मे भासित होता है। यही हमारी अज्ञानावस्था ह, जो जीव के भवभ्रमण का कारण है।

ज मादिकोऽपि नियत परिणामो हि कमणाम् ।
न च कम कृतो भेद स्यादात्म यविकारिणि ।।१५।।

आरोप्य केवल कम-कृता विकृतिमात्मनि ।
भ्रम ति भ्रष्टविज्ञाना भीमे ससारसागरे ।।१६।।

उपाधिभेदज भेद वेत्यज्ञ स्फटिके यथा ।
तथा कमकृत भेद-मात्मन्येवाभिम यते ।।१७।।

—अध्यात्मसारे–आत्मनिश्चयाधिकारे

'ज म जरा मृत्यु आदि सब कर्मों का परिणाम है। वे कम-ज य भाव अविकारी आत्मा के नही है, फिर भी अविकारी आत्मा म कमज य विकृति को आरोपित करनेवाले ज्ञानभ्रष्ट जीव भववन मे भटकते रहते ह। इस तरह कमज य विकृति को अविकारी आत्मा मे आरोपित करनेवाले लोग स्फटिक रत्न को लाल पीला समझने वाला की तरह अज्ञानी है। वे इस तथ्य से सवथा अनभिज्ञ होते हैं कि जिस स्फटिक को वे लाल-पीला समझत ह वह तो उसके पीछे रहे लाल-पीले वस्त्र के कारण दिखायी पडता है। उसी तरह आत्मा म जो ज मादि विकृति के दशन होते ह वह कमज य है, कमकृत ह, ना कि आत्मा की है, लेकिन अज्ञानदशा इस तथ्य को समझने नही देती, बल्कि वह तो मिथ्या आरोप करके ही रहती है।

आत्मा और कम भले ही एक आकाशक्षेत्र मे रहते हो, लेकिन कम के गुण आत्मा मे सक्रमण नही कर पाते। आत्मा अपने भव्य स्वभाव के कारण सदैव शुद्ध विशुद्ध ह। जिस तरह धर्मास्तिकाय ह। अर्थात धर्मास्तिकाय भी आकाशक्षेत्र म ही ह, फिर भी कमज य विकृति धर्मास्तिकाय मे सक्रमण नही कर पाती। धर्मास्तिकाय अपने

शुद्ध स्वरूप में निर्बाध रहता है, उसी तरह आत्मा भी शुद्ध-विशुद्ध स्वरूप में रही हुई है।

कर्मजन्य विकृतियों को आत्मा में आरोपित कर ही जीव राग-द्वेष में जल-गल रहा है, नारकीय यंत्रणाएं सह रहा है। दुःख में वह चीखता चिल्लाता है, विलाप करता है। सुख में आनंदित हो, नृत्य कर उठता है। तदुपरांत भी अपने को ज्ञानी और विवेकशील होने का मिथ्याडम्बर रचाता है। उसी तरह अन्य जीवों के प्रति भी वह इसी अज्ञान-दृष्टि का अवलम्बन करता है। कर्मजन्य विकृति को आत्मा की विकृति मानता है। अपनी इसी समझ और मान्यता के आधार पर प्रायः कर आचरण करता है। फलतः उसका व्यवहार भी मलिन हो हो गया है।

आजतक वह, कर्मजन्य विकृतियों को आत्मा में आरोपित कर निरंतर मिथ्यात्व को दृढ़ करता रहा है। लेकिन अब उसी मिथ्यात्व का नेस्त-नाबूद करने के लिए भेद-ज्ञान की राह चलने की आवश्यकता है। आत्म-ज्ञान प्राप्त करने की अत्यन्त आवश्यकता है। तभी हृदय शुद्ध होगा, दृष्टि पवित्र होगी और मोक्ष-मार्ग सुगम बन जाएगा। सदा-सर्वदा अपने हृदय में निश्चयनय की दृष्टि को अखंड ज्योति की तरह ज्योतिर्मय रखने की नितान्त आवश्यकता है। प्रस्तुत उपदेश को हृदयस्थ कर तदनुसार कदम उठाना जरूरी है।

> इष्टकाद्यपि हि स्वर्णं पीतोन्मत्तो यथेक्षते ।
> आत्माऽभेदभ्रमस्तद्वद् देहादावविवेकिनः ॥५॥१२७

अर्थ : जिस तरह जिसने धतूरे का रस पिया हो वह ईंट-पत्थर वगैरह को सोना देखता है, ठीक उसी तरह अविवेकी-जडमति को भी शरीरादि में आत्मा का भ्रम होता है।

विवेचन धतूरे का पेय मनुष्य की दृष्टि में विपर्यास पैदा करता है। जो भी वह देखता है, उसे सर्वत्र सोना ही सोना दिखता है। अविद्या अविवेक का प्रभाव धतूरे के पेय से कम नहीं होता। शरीर इन्द्रिय .. मन...आदि में वह आत्मा का अभेद मानता है... और उसे ही आत्मा समझ लेता है।

विवेक

पुन पुन जड तत्त्वो से आत्मा की भिन्नता समझाने के लिए अनेकविध दृष्टातो का आधार लिया जाता है, आत्मा के गुण अलग हैं और जड-पुद्गल के अलग। जड पुद्गल मूत हैं, रूपी हैं जबकि आत्मा पूर्णतया अरूपी/निराकारी है। व्यवहारनय भले ही शरीर के साथ आत्मा के एकत्व को मान्य करता हो लेकिन निश्चयनय का यह मान्य नही है। वह शरीर के साथ आत्मा की एकता मान्य नही करता।

तां नश्चयो न सहते यदमूर्तो न मूर्तताम।
अ शेनाप्यवगाहते पावक शीततामिव ॥३५॥
उष्णस्याग्नेर्यथा योगाद् घृतमुष्णमिति भ्रम ।
तथा मूर्ताङ्गसबन्धादात्मा मूत इति भ्रम ॥३६॥
न रूप न रसो ग धो न स्पर्शो न चाकृति ।
यस्य धर्मो न शब्दो वा तस्य का नाम मूर्तता ॥३७॥

अमूत आत्मा क्या अमुर्त अश मे भी मूर्तता धारण करता है? क्या अग्नि अणमात्र भी शीतलता धारण करती है? आत्मा मे मूर्तता की निरी भ्रमणा है। जिस तरह उष्ण अग्नि के कारण 'घी उष्ण है' का भ्रम होता है, ठीक उसी तरह मूत शरीर के सयोग म आत्मा मूत है' का भ्रम मान लेता है। जिसका धम रूप नही रस नही, गध नही, स्पश नही, आकृति नही, ना ही शब्द है ऐसी आत्मा भला, मूत कभी और किस तरह? रूप, रस, गध, स्पश, आकृति गाग शब्द-ये सब जड के गुणधम है, ना कि आत्मा के। तब भला, शरीरादि पुद्गल मे आत्मा की एकता कैसे मान ले?

वास्तव मे आत्मा तो सच्चिदानन्द स्वरूप है। उस मूर्तता स्पश तक नही कर सकती।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्य पर मन ।
मनसोऽपि परा बुद्धिर्यो बुद्ध परतस्तु स ॥

"इन्द्रियो" को 'पर अन्य' कही जाती है, इन्द्रिया से मन 'पर' है, मन से बुद्धि "पर" है और बुद्धि से आत्मा 'पर' है। ऐसी अमूत आत्मा मे मूर्तता आरोपित कर, अज्ञानी मनुष्य इन भ्रमणा मे भटक जाता है।

⊙पुद्गल द्रव्य का धर्म मूर्तता है और आत्मा का गुण ज्ञान है। अतः पुद्गलो से आत्म–द्रव्य भिन्न है।

⊙धर्मास्तिकाय का धर्म गतिहेतुता है और आत्मा का गुण ज्ञान है, अतः धर्मास्तिकाय से आत्मद्रव्य भिन्न है।

⊙अधर्मास्तिकाय का धर्म स्थितिहेतुता है और आत्मा का गुण ज्ञान है। अतः अधर्मास्तिकाय से आत्म-द्रव्य भिन्न है।

⊙आकाशास्तिकाय का धर्म 'अवकाश' है और आत्मा का गुण ज्ञान है। अतः आकाशास्तिकाय से भी आत्म-द्रव्य भिन्न है।

इन्द्रिय, बल, श्वासोश्वास, आयुष्यादि द्रव्य-प्राण पुद्गल के ही पर्याय है और आत्मा से बिलकुल भिन्न है। अतः द्रव्य-प्राण मे आत्मा की भ्राति वर्जनीय है। आत्मा द्रव्य-प्राण के बिना भी जिंदा है जीवित है।

जीवो जीवति न प्राणैर्विना तैरेव जीवति।

इस तरह शरीरादि पुदगल-द्रव्यो मे आत्मा की भेदबुद्धि विवेकशील को होनी चाहिए, यही परमार्थ है।

इच्छन् न परमान् भावान् विवेकाद्रे पतत्यधः।
परमं भावमन्विच्छन् नाविवेके निमज्जति ॥६॥११८॥

अर्थ परमोच्च भावो की इच्छा न रखनेवाला जीव विवेक रुपी पर्वत से नीचे गिर जाता है, और परम भाव को खोजनेवाला अविवेक मे कभी निमग्न नही होता।

विवेचन. शुद्ध चैतन्यभाव. सर्व विशुद्ध आत्मभाव का अन्वेषण जीव को विवेक की सर्वोच्च चोटी पर पहुँचा देता है। जब कि शुद्ध चैतन्यभाव की उपेक्षा, विवेक के हिमगिरि पर से जीव को गहरी खाई में पटक देती है। जहा अविवेक रुपी पशुओ के राक्षसी जबडे मे वह चबा जाता है।

विवेक-गिरिराज का शिखर है अप्रमत्तभाव। गिरिराज के शिखर पर अप्रमत्त आत्मा को दुर्लभ सिद्धियो की, लब्धिओ की प्राप्ति होती है, लेकिन विशुद्ध आत्मभावयुक्त जीव उन सिद्धियों और लब्धियों के प्रति उदासीन होता है। वह पूर्णतया अनासक्त होता है।

वाचकवरश्री उमास्वातिजी ने कहा है:

सार्तद्धिरसेष्वगुरु प्राप्यर्द्धिविभूतिमसुलभामन्यै ।
सक्त प्रशमरतिसुखे न भजति तस्या मुनि सगम् ॥२५६॥
या सवसुरर्द्धि विस्मयनीयापि सात्वनगारर्द्धे ।
नार्घति सहस्रभाग कोटिशतसहस्रगुणिताऽपि ॥२५७॥
—प्रशमरति

"विश्व मे अन्य जीवो को दुलभ वैसी ऋद्धि लब्धि की विभूति पाकर और रस ऋद्धि शाता-गारव रहित अरणगार भूलकर भी कभी उक्त लब्धि के सुख मे आसक्तिभाव नही रखता । वह तो प्रशमरति के सुख मे निमग्न होता है।"

"समस्त देवताओ की अद्भुत समृद्धि की गणना असख्य बार की जाय फिर भी उसकी तुलना मुनि की आध्यात्मिक-सपत्ति के हजारवें भाग के साथ भी नही की जा सकती।"

विवेक भेदज्ञान की गरिमामय पर्वतमालाओ पर अनुपम सुख बिखरा पडा है और अनुत्तर आत्म समृद्धि के अक्षय भडार भरे पडे हैं। लेकिन इस पवतमाला पर आरोहण करने के पूव जीव को कतिपय महत्व की बातें ध्यान मे रखना अत्यत आवश्यक है।

१ धम ध्यान मे निमग्नता,
२ भवोद्वेग
३ क्षमाप्रधानता,
४ निरभिमान,
५ मायारहित निमलता,
६ तृष्णाविजय,
७ शत्रु मित्र के प्रति समभाव,
८ आत्माराम,
९ तृण-मणि के प्रति समदृष्टि
१० स्वाध्याय ध्यानपरायणता,
११ दृढ अप्रमत्तता,
१२ अध्यवसाय विशुद्धि,
१३ वृद्धिगत विशुद्धि,
१४ श्रेष्ठ चारित्रशुद्धि,
१५ लेश्या विशुद्धि,

तभी 'अपूवकरण" रूपी शिखर पर पहुँचा जा सकता है। मन मे किया गया ऐसा दृढ सकल्प कि 'मुझे विवेक-गिरिराज पर आरोहण करना है,' उपयुक्त पन्द्रह बातो को आत्मसात् करने की अनन्य शक्ति प्रदान करता है। साथ ही शिखर पर पहुँचने के पश्चात् भी भेद ज्ञान के

अप्रमत्त भाव को जागृत रखना होता है। यदि वहाँ प्रमाद का अवरोध उपस्थित हो जाए, शुद्ध चैतन्यभाव से तनिक भी विचलित हो जाए, तब पतन हुए विना नहीं रहेगा।

भेद-ज्ञान की इसी सर्वोत्कृष्ट भूमिका पर विपुल प्रमाण में कर्म-क्षय होता है। आत्मा स्व-स्वभाव मे अपूर्व सत्‌चिदानन्द का अनुभव करती है, साथ ही प्रशम-रति मे केलि-क्रीडा करती है।

आत्मन्येवात्मन. कुर्यात् य: षट्कारकसंगतिम् ।
क्वाविवेकज्वरस्यास्य. वैषम्यं जडमज्जनात् ।।७।।११३।।

अर्थ : जो आत्मा आत्मा मे ही छह कारक का सम्बन्ध प्रस्थापित करती है, उसे भला जड-पुद्गल मे निमग्न होने से उत्पन्न अविवेक रूपी ज्वर की विषमता कैसे संभव है ?

विवेचन व्याकरण की दृष्टि से कारक के छह प्रकार होते हैं :

(१) कर्ता	(२) कर्म
(३) करण	(४) सप्रदान
(५) अपादान	(६) आधार-अधिकरण

जगत मे विद्यमान सब सम्बंधों का समावेश प्राय: इन छह कारकों मे हो जाता है। उक्त छह कारक का सम्बध आत्मा के साथ जोड़ देने से एक आत्माद्वैत की दुनिया का सर्जन होता है। जिस मे आत्मा कर्ता है और कर्म भी आत्मा ही है। कारण रूप से आत्मा का दर्शन होता है और सप्रदान के रूप मे भी आत्मा का ही दर्शन होता है ! अपादान मे भी आत्मा निहित है और अधिकरण मे भी आत्मा ! इस तरह आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी का प्रतिभास नही होता। जहाँ देखो वहाँ आत्मा ! तब कैसी आत्मनन्द से परिपूर्ण अवस्था होती है ? पुद्‌गलो के साथ रहे सबधो से अविवेक पैदा होता है, जो आत्मा में एक प्रकार की विषमता का सर्जन करता है। लेकिन '**मूलं नास्ति कुत. शाखा ?**' पुद्‌गल के साथ रहा सबध ही तोड दिया जाए, तब अविवेक का प्रश्न ही नही उठता और विषमता पैदा होने का अवसर ही नही आता।

* आत्मा स्वतत्र रूप से ज्ञान-दर्शन मे केलि-क्रीडा करती है। जानने-समझने और देखने-परखने का काम करती है। अत स्वय आत्मा 'कर्ता' है।

* ज्ञानसहित परिणाम का आत्मा आश्रय-स्थान है। अत आत्मा 'कर्म' है।

* उपभोग के माध्यम से ज्ञप्तिक्रिया (जानने की क्रिया) मे उपकारक होती है। अत आत्मा ही 'करण' है।

* आत्मा स्वय ही शुभ परिणाम का दानपात्र है। अत आत्मा 'सप्रदान' है। यही ज्ञानादि पर्यायो मे पूर्व पर्यायो के विनष्ट होने से और आत्मा से उसका वियोग हो जाने के कारण, आत्मा ही 'अपादान' है।

* समस्त गुण-पर्यायो के आश्रयभूत आत्मा के असख्य प्रदेश रूपी क्षेत्र होने की वजह से आत्मा ही 'अधिकरण' है।

आत्मचिंतन की ऐसी अनमोल दृष्टि खोल दी गयी है, कि जिस मे आत्मा आत्मा के ही प्रदेश मे निश्चित होकर परिभ्रमण करती रहे। जड पुद्गलो के साथ का सम्बध विच्छिन्न हो जाए और आत्मा के साथ अटूट बधन मे जुड जाए। कर्तृत्व आत्मपरिणाम का दिखायी दे और कार्य आत्म गुणो की निष्पत्ति का। सहायक भी आत्मा और सयोग वियोग भी आत्मा के पर्यायो मे दिखायी दे। साथ ही सब का आधार भी आत्मा ही लगे। बस, इसका ही नाम है विवेक।

जब तक इस विवेक का अभाव होता है तब तक जड पुद्गलो के कर्ता के रूप मे आत्मा का भास होता है। कार्यरूप जड पुद्गल दिखायी देते है। करणरूप जड-इन्द्रिया और मन, एव सप्रदान, अपादान, अधिकरण के रूप मे भी जड पुद्गल ही दिखायी देते है। आत्मा और पुद्गलो के अभेद की कल्पना पर ही समस्त सबधो को कायम किए जाते है। अत सारी दुनिया विषमताओ से परिपूर्ण नजर आती है। विषमताओ से परिपूर्ण विश्व को देखनेवाला भी विषमता से घिर जाता है। जड-चेतन के अभेद का अविवेक अनन्त यातनाओ से युक्त ससार मे जीव को गुमराह और भटकते रहने के लिए प्रेरित कर देता है।

तात्पर्य यह है कि जगत मे जो नाते रिश्ते होते हैं, उन सब का आत्मा के साथ विनियोग कर देना चाहिए। आत्मा, आत्मगुण और

आत्मा के पर्यायों की सृष्टि मे, उनमे परस्पर रहे सम्बन्ध और रिश्तों को भली-भांति समझना चाहिये । तभी भेद-ज्ञान अधिकाधिक दृढ होता है ।

संयमास्त्रं विवेकेन शाणेनोत्तेजितं मुनेः ।
धृतिधारोल्बणं कर्मशत्रुच्छेदक्षमं भवेत् ।।८।।१२०॥

अर्थ :- विवेकरूपी सान पर अत्यंत तीक्ष्ण किया हुआ और सतोष रूपी धार से उग्र, मुनि का सयमरूपी शस्त्र, कर्मरूपी शत्रु का नाश करने मे समर्थ होता है ।

विवेचन : कर्म-शत्रु के उच्छेदन हेतु शस्त्र चाहिए ना ? वह शस्त्र तीक्ष्ण/नुकीला होना चाहिए । शस्त्र की धार को तीक्ष्ण करने के लिए सान भी जरुरी है । यहा शस्त्र और सान, दोनो बताए गए हैं ।

सायम के शस्त्र की संतोषरुपी धार को विवेकरुपी सान पर तीक्ष्ण करो । तीक्ष्ण धारवाले शस्त्रास्त्रों से सज्ज होकर शत्रु पर टूट पड़ो और उसका उच्छेदन कर विजयश्री हांसिल कर लो । कर्म-क्षय करने हेतु यहां तीन बातों का निर्देश किया गया है :

* सयम * सतोष * विवेक

यदि संयम के शस्त्र को भेद-ज्ञान से तीक्ष्ण बनाया जाय तो कर्मशत्रु का विनाश करने मे वह समर्थ सिद्ध होगा । परम सायमी महात्मा खधक मुनि के समक्ष जब चमडी छिलवाने का प्रसग आया, तब मुनिराज ने अपूर्व धैर्य धारण कर सायमशस्त्र की धृतिधार को विवेक रुपी सान पर चढा दिया । राजसेवक बडी क्रुरता से मुनि की चमडी छिलने लगे और इधर वे मुनि स्वयं संयम-शस्त्र से कर्म की खाल उतारने मे तल्लीन हो गए । अर्थात् शरीर और आत्मा के भेद-ज्ञान की परिणति ने मरणात उपसर्ग मे भी धृति को बराबर टिकाये रख, सयम-वृत्ति को अभग रखा । फलत. क्षणार्ध मे ही अनत कर्मों का क्षय हो गया और आत्मा पुद्गल-नियंत्रणो से मुक्त हो गयी ।

शरीर पर की चमड़ी उतरती हो, असह्य वेदना और कष्ट होता हो, खून के फव्वारे फूट रहे हो, फिर भी जरा सी हलचल नही, कतई असंयम नही, तनिक भी अवृति की भावना नही ! यह कैसे

सभव है ? इतनी सहनशीलता, धैर्य और दृढ मन ! इसके पीछे कैसी अद्भुत शक्ति काम कर रही होगी ? कौन सा रहस्य छिपा होगा ? यह प्रश्न उठना साहजिक है। जानते हो वह अद्भुत शक्ति और रहस्य क्या था ? वह था भेदज्ञान ! अपूर्व विवेक-शक्ति !

शरीर से आत्मा की भिन्नता इस तरह समझ मे आ जानी चाहिये और फलस्वरुप उसकी वासना इस तरह बन जानी चाहिए कि शरीर की वेदना, पीडा, व्याधि, रोगादि विकृतिया हमारे धृति-भाव को विचलित करने मे समर्थ न हो ! हमें सयमभाव से जरा भी चलित न कर सकें । भले ही फिर हम पर तलवार का वार हो या छूरे का प्रहार हो । चाहे कोई 'स्टेनगन' की गोलियो से शरीर को छलनी छलनी कर दे । शरीर आत्मा के भेद ज्ञान की भावना अगर जाग्रत हो गयी है तो फिर हम में अधृति और असयम की भावना कतई पैदा नही होगी ।

झाझरिया मुनिवर पर तलवार का प्रहार किया गया, खधकसूरिजी के पाच सौ शिष्यो को कोल्हू मे पीला गया, गजसुकुमाल मुनि के सिर पर अगारो से भरा मिट्टी का पात्र रखा गया, अरे ! अवती सुकुमार मुनिवर के शरीर को सियारनी ने फाड खाया, फिर भी इन महात्माओ ने इसका किंचित भी विरोध या प्रतिकार न किया, बल्कि अद्भुत धैर्य, स्थिरता, अप्रमत्तता का परिचय देते हुए, धर्मध्यान और शुक्लध्यान मे लीन रहे मोक्ष-मार्ग की अतिम मजिल पार कर गये । इन सब घटनाओ के पीछे कोई अदृश्य शक्ति अथवा रहस्य है, तो वही भेद-ज्ञान और विवेक है ।

यदि भेदज्ञान का अभ्यास, चिंतन, मनन और प्रयोग जीवन मे निरतर चालु रहेगा, तभी मृत्यु के समय वह (भेदज्ञान) हमारी रक्षा करेगा । भेदज्ञान केवल बातो मे न हो, व्यवहार मे भी होना आवश्यक है । सतत चिंतन और मनन द्वारा उसे आत्मसात करना चाहिये । फलस्वरुप, जीवन के विविध प्रसगो मे शारीरिक-आर्थिक-पारिवारिक सकट काल मे वह हमारी सुरक्षा करेगा । हमारी धृति और सयम को तीक्ष्ण शस्त्र का रुप प्रदान कर अनतानत कर्मो का क्षय करेगा ।

जीव मात्र को ऐसे भेद ज्ञान का शाश्वत विवेक प्राप्त हो ...।

१६. मध्यस्थता.

तुम किसी एक विचारधारा के आग्रही मत बनो। बल्कि मध्यस्थ बनो। कुतर्क और कुविचारों का सर्वथा त्याग करो। यह तभी संभव है, जब तुम्हारी राग-द्वेषयुक्त वृत्ति शिथिल हो गयी हो, और तुम अंतरात्म-भाव में आकंठ डूब गये हो, पूरी तरह निमग्न हो गये हो!

'विभिन्ना अपि पन्थानः समुद्रं सरितामिव'

ग्रन्थकार महर्षि ने कैसी उत्कृष्ट बात कही है! नदियाँ भले ही विविध मार्गों से, प्रदेशों से प्रवाहित होती हों, लेकिन अंत में समुद्र में ही जाकर मिलती हैं। ठीक उसी तरह, संसार में रहे मध्यस्थ पुरूषों के मार्ग भले ही अलग-अलग हों, लेकिन आखिरकार वह सब अक्षय परमात्म-स्वरूप में विलीन हो जाते हैं।

मध्यस्थ-भाव को पाने के लिए इन आठ श्लोकों का बार-बार मंथन करना आवश्यक है।

स्थीयतामनुपालम्भं मध्यस्थेनान्तरात्मना ।
कुतर्ककर्करक्षेपैस्त्यज्यतां बालचापलम् ॥१॥१२१

अर्थ – शुद्ध आंतरिक परिणाम से मध्यस्थ हो कर, उपालंभ नहीं आये इस तरह रहो। कुतर्करूप कंकर फेंकनेरूप बाल्यावस्था की चपलता का त्याग करो।

विवेचन आत्मस्वभाव में निमग्न रहना, न किसी के प्रति राग, ना हि द्वेष, यही मध्यस्थता है। इस तरह मध्यस्थता की अधिकारी हमारी अंतरात्मा बने, यह पूर्ण सौभाग्य की बात है। सचमुच, जीवन का वास्तविक आनन्द हर्षोल्लास इसी मध्यस्थ दृष्टि में समाया हुआ है। जड चेतन द्रव्यों के प्रति राग-द्वेष करने से और विकृत आनंद से मन बहिर्मुख बनता है, भवाभिनंदी बनता है। तदुपरांत राग-द्वेषयुक्त बाह्यात्मा अपने कुत्सित कार्यों को प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए बालसुलभ क्रीडा की तरह कुतर्क का आधार लेता है। फलस्वरूप ऐसे जीवों को नानाविध उलाहनाओं का सामना करना पड़ता है। लोक-निंदा का भाग बनना पड़ता है।

मध्यस्थता को सिद्ध करने के लिए निम्नांकित बातों का पालन करना पड़ता है

- राग और द्वेष का त्याग,
- अंतरात्म-भाव की साधना,
- कुतर्क का त्याग

इन तीन बातों को जीवन में आत्मसात करनी चाहिए। राग-द्वेष के परित्याग हेतु हमें उन की पूर्वभूमिका का समुचित मूल्यांकन कर विचार करना चाहिए।

प्राकृत मनुष्य में राग द्वेष की जो प्रचुरता दिखायी देती है, उसके पीछे दो तत्त्व काम कर रहे हैं सुखासक्ति और भोगोपभोग की प्रवृत्ति। जब उसे सुख मिलता है और वासना-पूर्ति यथेष्ट मात्रा में होती है, तब वह रागी बनता है। लेकिन जब सुख नहीं मिलता और वासना-पूर्ति नहीं होती तब वह द्वेषी बनता है। ऐसी हालत में जड चेतन पदार्थों के प्रति उस के मन में असीम राग और अनहद द्वेष निरंतर उफनता रहता है। इस तरह रागी और द्वेषी ऐसा प्राकृत मनुष्य सुख-

संपदा और काम-वासना का पक्षपाती बनता है और उसके वशीभूत होकर नाना प्रकार के निंदनीय कार्य करता भटकता रहता है।

तटस्थ पुरुष इन्द्रिय-जन्य सुखों के प्रति विरक्त और भोगोपभोग वृत्ति से विमुख होता है। वह सुख-भोग का कभी पक्षधर नहीं होता! फलत. वह सुख-भोगजन्य राग-द्वेष से सर्वथा पर होता है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि वह पूर्णरूप से राग-द्वेष से मुक्त हो जाता है। विरक्त बन जाने के बावजूद भी उसमें रहे असत् तत्वों के प्रति अनुराग और सत् तत्त्वों के प्रति द्वेष, उसे तटस्थ नहीं होने देते। अत: असत् तत्त्व को सत् और सत् तत्त्व को असत् सिद्ध करने के लिए रात-दिन प्रयत्न करता रहता है। इसके लिए वह कुतर्क और दलीलों का आश्रय लेता है। तब फिर तटस्थता कैसी?

क्या जमालि में सुख के प्रति विरक्ति और काम-वासना के प्रति उदासीनता नहीं थी? अवश्य थी, लेकिन फिर भी वह राग-द्वेष से अलिप्त न रह सका। क्यों कि वह असत् तत्त्वों के प्रति राग और सत् तत्त्वों के प्रति द्वेष से उपर न उठ सका। उसे न जाने कितने लोगों के उपालम्भ और लोक-निंदा का भोग बनना पडा! खुद भगवान महावीर का उलाहना भी उसको सुनना पडा। जीवन-संगिनी आर्या प्रियदर्शना ने उसका त्याग किया। हजारो शिष्यों ने उसे छोड दिया! अरे, उसे सरे-आम अपमान, घृणा और बदनामी झेलनी पड़ी! फिर भी वह तटस्थ न बन सका सो न बन सका! असत् तत्त्व को सत् सिद्ध करने के लिए उसने असख्य कंकर उछाले, यहाँ तक कि उसकी वर्षा हो कर दी और दीर्घ काल तक असत् तत्वों का कट्टर पक्षधर बना रहा।

जबकि कुम्भकार-श्रावक ढक के कारण आर्या प्रियदर्शना तटस्थता प्राप्त कर गयी! उसने कुतर्क का त्याग किया! महावीर देव के पास पहुँच गयी और संयमाराधना करती हुई, राग-द्वेष से मुक्त हो परम मध्यस्थ भाव में स्थिर हो गयी!

इसीलिए कहा गया है कि जब तक कर्मजन्य भावों के प्रति तीव्र आसक्ति है, तब तक तटस्थता कोसों दूर है। अपनी आत्मा के स्वाभाविक गुणों में रमणता/निमग्नता यही वास्तविक मध्यस्थता है। स्वभाव का

सुतर्क किसे कहा जाए और कुतर्क किसे, यह समझाने की सूक्ष्म बुद्धि हम मे होना जरूरी है।

इस भूतल पर जो जो मत, पथ सप्रदाय अथवा गच्छो का प्रादुर्भाव हुआ है, वह किसी न किसी तर्क के सहारे हुआ है। अपने किसी विचार या मान्यता के पोषक ऐसे तर्क और उदाहरण मिल जाने पर एकाध पंथ अथवा सप्रदाय का जन्म होता है। और उस युक्ति और उदाहरणों की यथार्थता–अयथार्थता का सही मूल्यांकन करने मे असमर्थ जीव उस पथ या मत मे शामिल हो जाता है। लेकिन सिर्फ कुतर्क के आधार पर स्थित कपोल कल्पित मत-मतांतर, पथ और संप्रदाय वर्षाऋतु मे जन्मे कुकुरमुत्तों की तरह अल्प जीवी सिद्ध होते हैं! अथवा अज्ञान और मतिमंद जीवों के क्षेत्र में वह पंथ या संप्रदाय फल-फूल कर वृक्ष का रूप धारण कर लेता है!

सीधा-सादा जीव, कुतर्क को ही सुतर्क समझ कर नादानी मे उसकी ओर आकर्षित हो जाता है। जबकि कभी–कभी सुतर्क को कुतर्क समझ, उसमे कोसो दूर निकल जाता है। सुतर्क को सुतर्क और कुतर्क को कुतर्क समझने की क्षमता रखने वाला मनुष्य ही मध्यस्थ–दृष्टि प्राप्त कर सकता है।

यथार्थ वस्तु-स्वरूप की जानकारी हासिल करने हेतु युक्ति का आधार लेना अत्यंत आवश्यक है। ठीक उसी तरह युक्ति को यथार्थ रूप मे समझने के लिए उसकी परिभाषा को समझना जरूरी है। वर्ना मिथ्या भ्रम की भुलभुलैया में भटकते देर नहीं लगती। जानते हो, शिवभूति की कैसी दुर्दशा हुई? रथवीरपुर नामक नगर मे स्थित आचार्यश्री आर्यकृष्ण का परम-भक्त, और अनन्य शिष्य शिवभूति, मतिभ्रष्ट हो गया। आचार्यश्री द्वारा विवेचित 'जिनकल्प' के शास्त्रीय विवेचन को वह अपनी कल्पना की उडान पर उडा ले गया। आचार्य श्री ने अपने शिष्य को भ्रम के चक्रव्यूह मे फसने से बचाने हेतु 'जिनकल्प' का यथार्थ विवेचन करने के लाख प्रयत्न किये! अकाट्य तर्क देकर उसे समझाने का प्रयत्न किया। लेकिन सब व्यर्थ गया! शिवभूति के मन:कपि ने युक्ति रूप गाय की पूंछ पकड, हरबार अपनी ओर खिचने का प्रयत्न किया! यहाँ तक कि स्वयं वस्त्र-त्याग कर दिया!

वस्त्रहीन नगर मे सरे आम निकल पडा और जो भी तर्क उसको अपने मत के पोषक प्रतीत हुए, अनुकूल लगे, उन्हे ग्रहण कर एकागी बन गया। यह सब करते हुए उसने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का विचार नही किया। उसने उत्सर्ग और अपवाद का विचार नही किया। वह अपने मत का ऐसा दुराग्रही बन गया कि सापेक्षवाद का भी विचार नहीं किया। 'वस्त्रधारी मोक्ष नही पा सकता,' इसी एक हठाग्रह के कारण वह यथार्थ वस्तु स्वरूप के बोध से सर्वथा वचित रह गया। मतलब, हमेशा युक्ति को परख कर उस का अनुसरण करते रहा।

° नयेषु स्वार्थसत्येषु मोघषु परचालने।
समशील मनोयस्य स मध्यस्थो महामुनि ॥३॥१२६॥

अर्थ — अपने अपने अभिप्राय मे सच्चे और अन्य नयो के वचन के निराकरण करने मे सर्वथा निष्फल नयो मे जिन का मन सम स्वभावी है ऐसे मुनि वर वास्तव मे मध्यस्थ है।

विवेचन प्रत्येक नय अपने-आप मे सत्य होता है, वास्तविक होता है, लेकिन जब वह एक दूसरे के दृष्टिबिन्दु का खडन करते हैं तब असत्य होते हैं।

'स्वाभिप्रेतेनैव धर्मेणावधारणपूर्वक वस्तु परिच्छेत्तुमभिप्रैति स नय।

जिस का अभिप्राय, अपने अभिलषित धर्म के निर्णयपूर्वक वस्तु का ज्ञान पाने का है, उसे नय कहा जाता है।

जब एक नय किसी वस्तु के सामान्य अ श का प्रतिपादन कर, वस्तु को उस स्वरूप मे देखने/समझने का आग्रह रखता है और दूसरा नय वस्तु के विशेष अश का प्रतिपादन कर उसे उस स्वरूप मे जानने की चेष्टा करता है, तब जो मनुष्य मध्यस्थ नही है, वह किसी एक नय की युक्ति को सत्य मान, दूसरे नय के वक्तव्य को असत्य करार दे बैठता है। फलत वह एक नय का पक्षधर बन जाता है। लेकिन मध्यस्थ-वृत्ति वाला, समभाववाला मुनि सभी नयो को सापेक्ष मानता है। मतलब यह कि वह प्रत्येक नय के वक्तव्य का सापेक्ष दृष्टि से

° नयवाद परिशिष्ट देखिए

मूल्यांकन करता है। अतः वह भूलकर भी कभी ऐसा विधान नही करता कि 'यह नय सत्य है और वह नय असत्य है।'

> णियणियवयणिज्जसच्चा, सव्व नया परवियालणे मोहा ।
> ते पूण ण दिट्ठसमओ विभयइ सच्चे व अलिए वा' ।।२८।।
>
> —सम्मतितर्क

सर्व नय अपने-अपने वक्तव्य मे सत्य है, सही है। परन्तु दूसरे नय के वक्तव्य का खडन करते समय गलत हैं। मिथ्या हैं। अनेकान्त-सिद्धान्त का ज्ञाता पुरुप, उक्त नयो का कभी 'यह नय सत्य है, और वह नय असत्य है, ऐसा विभाग नही करते।'

यदि हम पारमार्थिक दृष्टि से विचार करे तो जो नय, नयान्तर-सापेक्ष होता है, वह वस्तु के एकाध अग को नही, अपितु सपूर्ण वस्तु को ही ग्रहण करता है। अत: वह "नय" नही बल्कि "प्रमाण" बन जाता है। नय वह है जो नयान्तर-निरपेक्ष होता है। अर्थात्, अन्य नयो के वक्तव्य से निरपेक्ष अपने अभिप्राय का वक्तव्य करनेवाला 'नय' कहलाता है। और इसीलिए नय मिथ्यादृष्टि ही होता है। तभी शास्त्रो मे कहा गया है, **'सव्वे नया मिच्छावाइणो'** सभी नय मिथ्यावादी है। श्री मलयगिरिसूरिश्वरजी ने 'श्री आवश्यकसूत्र' में कहा है :

'नयवाद मिथ्यावाद है। अत. जिनप्रवचन का रहस्य जाननेवाले विवेकशील पुरूष मिथ्यावाद का परिहार करने हेतु जो भी बोले उसमे **'स्यात्'** पद का प्रयोग करते हुए बोले। अनजान मे भी कभी स्यात्कार रहित न बोले। हालाँकि आम तौर से देखा गया है कि लोकव्यवहार मे सर्वत्र सर्वदा प्रत्यक्ष रूपमें 'स्यात्' पद का प्रयोग नही किया जाता। फिर भी परोक्षरुप मे उसके प्रयोग को मन ही मन समझ लेना चाहिए।

मध्यस्थ वृत्तिवाले महामुनि, प्रत्येक नय में निहित उसके वास्तविक अभिप्राय को भली-भाति समझते हैं। और तभी वे उसे उस रुप मे सत्य मानते है। 'प्रस्तुत अभिप्राय के कारण इस नय का वक्तव्य सत्य है।' इस तरह वे किसी नय के वक्तव्य को मिथ्या नही मानते!

वस्तु एक है, लेकिन प्रत्येक नय इस का विवेचन/वक्तव्य अपने-अपने ढंग से करता है।। उदाहरणार्थ, हाथी और सात अंधे ! एक कहता है "हाथी खभे जैसा है।" दूसरा कहता है हाथी सूपड़े जैसा है।" तीसरा

कहता है हाथी रस्से जसा है'।'चौथा कहता है "हाथी ढोल जसा है" पाचवा कहता है "हाथी अजगर जसा है।" छठा कहता है "हाथी लकडी जसा है" और सातवा सबको झूठा करार दे, कहता है "हाथी घडे जसा है।"

सातो अधो की बात और परस्पर हो रहे वाद-विवाद को समीप ही खडा एक सज्जन चुपचाप सुन रहा है। क्या वह किसी के प्रति पक्षपात करेगा? किसी का पक्षधर बन कर क्या यो कहेगा 'अमुक सही कह रहा है और अमुक झूठ बोल रहा है?" तनिक सोचिए, अपने दिमाग को कसिए, क्या वह यो कह सकेगा? नही, हर्गिज नही कहेगा। अपितु मध्यस्थ भाव से कहेगा तो यह कहगा "भाइया, तुम सब अपने अपने विचार, मत के अनुसार सच कह रहे हो। क्यो कि तुम्हारे हाथ मे हाथी का जो अवयव आया उसी का तुम अपने अपने हिसाब से वणन कर रहे हो। लेकिन तुम सभी के कथन का सामूहिक रुप है हाथी।'

स्वस्वकमकृतावेश स्वस्वकमभुजो नरा ।
न राग नापि च द्वेष मध्यस्थस्तेषु गच्छति ॥४॥१२४॥

अथ जिन्होने अपने अपने कर्मों का आग्रह किया है वसे अपने अपन कर्मो को भोगनवाले मनुष्य है। इसम मध्यस्थ पुरुष राग नहीं करता है।

विवेचन राग-द्वेष की शिथिलता-स्वरुप मध्यस्थ दृष्टि प्राप्त करने के लिए जगत के जड–चेतन द्रव्यो की और उनके पयायो को सही रुप मे देखना चाहिए। यदि प्रत्येक परिस्थिति को, हर एक प्रसग को और एक एक काय को यथाथ स्वरुप मे देखा जाए, यानी उसके काय–कारण भाव को समझा जाए तो नि सदेह राग द्वेष की उत्पत्ति नहीं होगी।

इस दृष्टि से केवलज्ञान के साथ वीतरागता का सम्बन्ध यथाथ है। केवलज्ञान मे विश्व के प्रत्येक द्रव्य पर्याय, सयोग, परिस्थिति और हर काय, यथाथ स्वरुप मे वास्तविक काय कारणभाव के रुप म दिखायी देता है। फलत, राग द्वेष का प्रश्न ही नहीं उठता। तात्पय यही है कि जसे जस विश्व के पदार्थों का यथाथ दशन होता जायेगा, वस-वसे

राग-द्वेष क्षीण होते जाएंगे। राग-द्वेष की तीव्रता में यथार्थ-दर्शन होना अशक्य है। वास्तव मे राग-द्वेष की उत्पत्ति विश्व के अस्पष्ट एव औंधे दर्शन से होती है।

यहा पर संसारी जीवों के प्रति देखने का एक ऐसा यथार्थ दृष्टि-कोण अपनाया गया है कि राग-द्वेष नष्ट हुए विना कोइ चारा नही। जिस जीव के प्रति जिन-जिन कार्य, संयोग और परिस्थिति के संदर्भ मे राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं, वह कार्य, संयोग और परिस्थिति वगैरह, उस जीव के पूर्वकृत कर्मो के कारण होते हैं। कर्मो को उपार्जित करनेवाला वह जीव है और उनको रोते-हँसते, चीखते भोगनेवाला भी वह खुद है।

जब हम अन्य जीवो की ऐसी किसी प्रवृत्ति के साथ अपने आपको जोड देते हैं, तब राग-द्वेष का जन्म होता है। अन्य जीवों के समग्र जीवन और व्यक्तित्व के पीछे उसके कर्म ही कारण हैं। उपादान कारण उसकी आत्मा है और निमित्त कारण उसके अपने ही कर्म है। यदी यह वास्तविकता हमारे गले उतर जाए तब राग-द्वेष पैदा होने का कोइ प्रयोजन ही नही रहता।

किसी एक नय के आग्रही मनुष्य के प्रति भी हमे यही दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। 'मिथ्यात्व-मोहनीय' कर्म का फल यह विचारा भोग रहा है। कर्मबधन खुद करता है और खुद ही उसे भोगता है। अत हमे भला क्यो कर राग-द्वेष करना चाहिए ?

अधमाधम व्यक्ति के प्रति भी सदा यही दृष्टि अपनानी चाहिए कि 'बेचारा न जाने किन जन्मों का पाप भोग रहा है ? यह ससार ही ऐसा है। पूज्यपाद उपाध्यायजी महाराज ने 'अध्यात्मसार' मे कहा है।

'निन्द्यो न कोऽपि लोके पापिष्ठेष्वपि भवस्थितिश्चिन्त्या।'

"विश्व मे किसी की निंदा न करो। पापी व्यक्ति भी निंदनीय नही है। भवस्थिति का हमेशा विचार करो।"

पूज्यपाद श्री का 'भवस्थिति'-चिंतन का आदेश सचमुच सुन्दर है। भवस्थिति का चिंतन अर्थात् चतुर्गतियुक्त संसार में निरंतर चल रहे

प्रत्येक जड-चेतन द्रव्य के पर्यायो के परिवतन का यथाथ-चितन। साथ ही विशुद्ध आत्म द्रव्य का भी सतत चितन करना चाहिए।

'स्तुत्या स्मयो न काय कोपोऽपि च निन्दया जनै ।

यदि कोई हमारी स्तुति करता है तो स्वय अपने कम से प्रेरित होकर करता है। हम भला उसमे अनुराग क्यो करें ? ठीक उसी तरह, अगर कोई निंदा करता है तो वह भी अपने कम से प्रेरित होकर। उसके प्रति द्वेष क्यो रखें ? हमे तो सिफ यह तत्त्वज्ञान प्राप्त करना चाहिए कि जीवो पर किन कर्मों का कसा प्रभाव पडता है, किस-किस काय के पीछे कौन से कम कायरत है ?' इस से मध्यस्थ दृष्टि का विकास अवश्य होता है । लेकिन प्रस्तुत दृष्टिकोण तो अन्य जड-चेतन द्रव्यो की तरफ अपनाना है ।

मन स्याद् व्यापृत यावत परदोषगुणग्रहे ।
कार्यं व्यग्र वर तावन मध्यस्थेनात्मभावने ॥५॥१२५॥

अर्थ – जब तक मन पराय दोष और गुणग्रहण करन म प्रवर्तित ह, तब तक मध्यस्थ पुरुष को अपना मन आत्म ध्यान म अनुरक्त करना श्रेष्ठ ह ।

विवेचन पर-द्रव्य के गुण-दोषो का विचार करने की आवश्यकता ही क्या है ? ऐसे गुण-दोष के विचार से ही मन रागी और द्वेषी होता है । रागी द्वेषी मन समभाव का आस्वाद नही ले सकता । किसी भी हालत मे अपने मन को पर-द्रव्य की ओर आकर्षित ही नही होने देना चाहिए । मन को आत्म-स्वरूप मे निमग्न करने से वह भूल कर भी पर-द्रव्य की ओर नही भटकता ।

हमे आत्म-स्वरूप मे अनुरक्तता का व्यवहारिक मार्ग खोज निकालना चाहिए । *जिसे साधक आत्मा प्रयोग मे ला सकें और आत्मानुभव का* आशिक स्वाद भी चख सके ।

सदागमो का अध्ययन चितन, परिशीलन, अनित्यादि भावनाओ का भान (भावन) आत्मा के स्वाभाविक वैभाविक स्वरूप का चितन, नय-निक्षेप और स्याद्वादशैली का पठन पाठन, आवरणरहित आत्मा के स्वरूप का ध्यान, आत्मभाव मे तल्लीन साधुओ का समागम-सेवा और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति, अनुभव ज्ञान की प्राप्ति, स्व कतव्यो के प्रति

निष्ठा और सर्वत्र औचित्य का पालन, ये हैं आत्मभाव में तल्लीन होने के विविध उपाय। इन का अवलम्बन लेकर मन को समाविस्थ किया जा सकता है! अनवरत अभ्यास के कारण समाधि मे तन्मयता सिद्ध हो सकती है। फिर भी कभी–कभार मन पर–द्रव्य के प्रति आकर्षित होने की सभावना है। ऐसे प्रसंग पर पर-पदार्थों को देखने की विशिष्ट दृष्टि का आधार लेना चाहिए। जीवों के प्रति मैत्री, प्रमोद, करुणा, और मध्यस्थ दृष्टि रखना परमावश्यक है। जब कि जड-पदार्थ के सम्बंध मे अनित्यादि भावों का आश्रय लेना चाहिए। इस तरह मध्यस्थता को बरकरार रखी जाए, तभी मन प्रशम का सुखानुभव कर सकता है।

पराये गुण-दोष देखने की बेचैनी का अनुभव किए बिना ऐसी गंदी आदत से मुक्त होना सरल नहीं है। पराये गुण-दोष देखने की गदी आदत पड गयी है, जिससे दृष्टि मध्यस्थ हो ही नही सकती। फल-स्वरूप निष्कारण ही मन किसी का पक्षपाती और किसी का कट्टर दुश्मन बनकर रह जाता है। किसी का अनुरागी तो किसी का द्वेषी! इससे मन को दु ख होता है सो बात नही, बल्कि इस में भी उसे एक प्रकार का अनोखा आनंद मिलता है! वह अपना कर्तव्य समझ बैठता है। और खासियत यह है कि इस के बावजूद भी वह अपने आप को मुनिधर्म का अनन्य आराधक समझता है!

प्राय: प्रत्येक जीव मे चेतन-द्रव्य के दोष और जड़-द्रव्य के गुण देखने की आदत होती है। वह चेतन (जीव) के दोष देख उसके प्रति द्वेष रखता है और जड के गुण देख उसका अनुराग करता है। जड़ माध्यम से जीव के प्रति भी वह राग-द्वेष से ग्रस्त बनता है तदुपरांत भी यह नही समझ पाता कि वह कोई गंभीर भूल कर रहा है। वह तो सिर्फ गुण-द्वेष देखने के हठाग्रह को मन मे संजोये रखता है और विविध युक्तियो से उसे पुष्ट करता रहता है।

इस तरह असत् तत्त्वो का आग्रह भी दूसरों के गुणदोष देखने के लिए निरत्तर प्रेरित करता है। अपनी स्थूल बुद्धि की समझ मे न आने के कारण वह मोक्षमार्ग को भी गुण-दोष की दृष्टि से देखता है! फलत. राग-द्वेष से ग्रसित हो जाता है। इन सभी विषमताओ से मुक्त होने का राजमार्ग है: 'सदा सर्वदा आत्मभाव में तन्मय होना और

परायी पचायत को तिलाजलि देना ।' 'स्व' के प्रति एकाग्रचित्त होना। जब तक 'पर' का विचार दिलो दिमाग मे राग-द्वेष की होली सुलगाता हो तबतक 'स्व' में लीन होना सभी दृष्टि से श्रेयस्कर है ।

'जब तक 'पर' का विचार मुझे रागी-द्वेषी और पक्षपाती बनाता है, तब तक मै अपनी आत्म-साधना आत्मभाव मे तल्लीन रहूँगा ।' ऐसा मन ही मन दृढ सकल्प कर, जीवन जीने का प्रयास किया जाए तो निसदेह मध्यस्थदृष्टि के पट खुल जाएगे और समभाव का मनभावन सवेदन पा सकेंगे । -

विभिन्ना अपि पन्थान समुद्र सरितामिव ।
मध्यस्थाना पर ब्रह्म प्राप्नुवन्त्येकमक्षयम् ॥६॥१२६॥

अर्थ – मध्यस्थो (तटस्थ) के विभिन्न भी मार्ग, एक ही अक्षय, उत्कृष्ट परमात्म स्वरूप म मिलते हैं। जिस तरह नदियो के अलग अलग प्रवाह समुद्र में मिलते है ।

विवेचन नदियो के प्रवाह भिन्न-भिन्न होते हैं । नदिया अलग अलग मार्गो म प्रवाहित होती है, लेकिन आखिरकार उसके विभिन्न प्रवाह एक ही समुद्र मे आ मिलते है, वह समुद्र म एकाकार हो जाते हैं ।

यह एक ऐसा उदाहरण है कि यदि इसके रहस्य को समझा जाए, गहराई से इस पर विचार किया जाए तो सभी जीवो के प्रति अटूट मित्रता एव सद्भाव प्रस्थापित होते देर नही लगती ।

यदि नदी उत्तर मे बहती है, तो कोई नदी दक्षिणाचल को अपने प्रवाह मे स्वरूप बनाती है, तो कोई पूर्वाचल को सिंचते हुए उपजाऊ भूप्रदेश के रूप मे परिवर्तित करती है। तो किसी नदी का प्रवाह पश्चिम किनार को हरियाली और घनी वनराजि से सुशोभित करता, समुद्र की ओर बढता रहता है । इस तरह भिन्न भिन्न मार्ग और विविध प्रदेशो म नदियाँ प्रवाहित होते हुए भी उनकी गति समुद्र की ओर होती है। सभव है किसी नदी का पट विशाल होता है तो किसी का सामान्य, किसी का गहराई विशेष होती है, तो किसी की सामान्य। किसी का प्रवाह तीव्र होता है तो किसीका मद। लेकिन उन सब की मजिल

एक होती है, और वह है अतल, अथाह समुद्र को मनभावन गोद! वे अपने अस्तित्व को भूला कर समुद्र मे पूर्णरूप मे एकाकार हो जाती हैं।

ठीक उसी तरह समस्त साधनाओ मे, आराधनाओ मे, उनकी पद्धति मे भले ही विभिन्नता हो, लेकिन आखिरकार वे सभी मोक्ष-मार्गकी ओर जीव को गतिशील बनाती हैं। फिर भले ही वह अपुनर्बंधक, मार्गाभिमुख, समकितधारी, देशविरति अथवा सर्वविरति क्यो न हों। क्योकि वे सब परमब्रह्म की ओर गतिशील हैं। फलस्वरूप, किसी के प्रति राग-द्वेष की भावना रखने का प्रश्न ही नही उठता। जो मध्यस्थ दृष्टिवाले होते हैं, उनको मध्यस्थता उन्हे परम ब्रह्म-स्वरूप महोदधि में मिला देती है। तब अनायास ही आत्मा और परमात्मा का सगम हो जाता है।

जो जीव तीव्र भावसे पाप नही करता, वह क्षुद्रता, लाभरति, दीनता, हीनता, तुच्छता, भय, शठता, अज्ञान, निष्फल आरभ आदि भवाभिनदी के दोषो से रहित होता है। शुक्ल-पक्ष के चन्द्र की तरह सतत तेजस्वी और वृद्धिगत ऐसे गुणो का स्वामी होता है। एक 'पुदगल-परावर्त' काल से अधिक जिस का भव-भ्रमण नही है, ऐसे जीव को शास्त्रो मे 'अपुनर्बंधक, कहा गया है। ठीक उसी तरह, मार्गपतित और 'मार्गाभिमुख' इसी अपुनर्बंधक की ही अवस्थाएँ हैं। मार्ग का अर्थ है चित्त का सरल प्रवर्तन। मतलब, विशिष्ट गुणस्थानक की प्राप्ति हेतु योग्य स्वाभाविक क्षयोपशम। क्षयोपशम पानेवाले को **'मार्गपतित'** की सज्ञा दी गयी है, जब कि मार्ग मे प्रवेश योग्य भाव को पानेवाली आत्मा को **'मार्गाभिमुख'** कहा गया है।

ये सभी जीव प्राय मध्यस्थ दृष्टिवाले होते है। ठीक वैसे ही समकितधारी, देशविरति और सर्वविरतिधर जीव भी मध्यस्थ दृष्टिवाले होते है[1] सर्वविरतिधारी के दो भेद है। स्थविरकल्पी और जिनकल्पी। वे भी तटस्थ दृष्टिवाले होते है। उपर्युक्त सभी तटस्थ दृष्टिवाले जीवो का एक ही लक्ष, एक ही साध्य परम ब्रह्मस्वरुप है। और ये सब अपना विभिन्न अस्तित्व, परम ब्रह्मस्वरुप मे विलीन कर देते हैं।

कोइ भी जीव आराधना की किसी भी भूमिका पर भले ही स्थित हो, स्थिर हो, यदि मध्यस्थ दृष्टिवाला है तो वह निर्वाण-पद का

---

(१) स्थविरकल्पी जिनकल्पी का स्वरुप देखिए परिशिष्ट मे

अधिकारी है। उसके लिए तुम्हारे मन मे हमेशा मित्रता और प्रमाद की भावना होना आवश्यक है।

आचार मे रही भिन्नता मध्यस्थ दृष्टि मे बाधक नही होती। ठीक वैसे ही पाशाक और वस्त्र की विविधता मे मध्यस्थता बाधक नही है। वस्त्र और आचार के माध्यम मे किसी जीव की योग्यता-अयोग्यता का मूल्यांकन दोषपूर्ण होता है, जबकि मध्यस्थ दृष्टि के माध्यम मे हर किसी की योग्यता अयोग्यता अपने आप सिद्ध हो जाती है। केवलज्ञान के अगाध, अतल महोदधि मे मध्यस्थता की विभिन्न धाराएँ मिल जाती है और केवलज्ञान का स्वरूप धारण कर लेती हैं।

स्वागमं रागमात्रेण द्वेषमात्रात् परागमम् ।
न श्रयामस्त्यजामो वा किन्तु मध्यस्थया दृशा ॥७॥१२७॥

अर्थ अपने शास्त्र का अनुरागवश स्वीकार नही करते और ना ही दूसरा के शास्त्र का द्वेषवश त्याग करते है। अपितु शास्त्र का मध्यस्थता की दृष्टि से स्वीकार अथवा त्याग करते है।

विवेचन यहा परम श्रद्धेय उपाध्यायजी महाराज एक आक्षेप का प्रत्युत्तर देते है। आक्षेप है "आप पक्षपात का त्याग कर मध्यस्थ-वृत्ति अपनाने का उपदेश अन्य जीवो को देते है। तब भला, आप अन्य दार्शनिको के शास्त्रो को स्वीकृति प्रदान क्यो नही करते? अपने ही शास्त्रो का स्वीकार क्यो करते हैं? क्या यह राग-द्वेष नही है?"

पूज्य उपाध्यायजी महाराज इस आक्षेप का प्रत्युत्तर देकर समाधान करते हैं "स्व-सिद्धान्त का स्वीकार हम सिर्फ अनुरागवश नही करते, बल्कि इसकी स्वीकृति के पीछे प्रदीर्घ चिंतन एव विशेष कारण है। ठीक वैसे ही, अन्य दर्शनो का त्याग हम किसी द्वेष के वशीभूत होकर नही करते, अपितु इसके पीछे भी हमारी विशिष्ट दृष्टि है। तात्पर्य यह कि किसी चीज का स्वीकार अथवा त्याग करने से राग द्वेष सिद्ध नही होते। बल्कि उसका स्वीकार अथवा त्याग किस विशिष्ट दृष्टि से किया गया है उस पर पक्षपात अथवा मध्यस्थता का निर्णय हो सकता है। मध्यस्थ दृष्टि से उसका सही मूल्यांकन कर किसी सिद्धात का स्वीकार अथवा त्याग किया जाता है। वैसे मध्यस्थ-दृष्टि हमेशा

युक्ति का अनुसरण करना है । जहा युक्ति-संगत लगा वहाँ झुकाव होता है । युक्तिहीन वचनों को हमेशा तज दिया जाता है । इसलिए यह स्पष्ट मत है कि—

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेष: कपिलादिषु ।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यं परिग्रह: ।।

प्रभु महावीर के प्रति हमारे मन मे कोई पक्षपात नही है, ना ही कपिलादि मुनियो के प्रति कोइ द्वेषभाव है । लेकिन जिनका वचन युक्तिसंगत है, वह हमारे लिए ग्राह्य है, अंगीकार करने योग्य है ।"

हमारे समक्ष दो वचन रखे जाते है । हम उन्हे शान्ति से सुनते है, उसका सही ढग से चिंतन-मनन करते है और तब जो युक्तिसंगत लगे उसका सादर स्वीकार करते है । क्या इसे आप पक्षपात कहेंगे ? और जो वचन वाजिब न लगे, उसका परित्याग कर देते है । क्या इसे आप हमारा द्वेष कहेंगे ?

किसी भी वचन की युक्तियुक्तता जानने के लिए त्रिविध परीक्षा करनी पडती है । जिस तरह सोने को सोना मानने के लिए उसकी कसौटी करते है ।

परिक्षन्ते कषच्छेदतापै: स्वर्ण यथा जना: ।
शास्त्रेऽपि वर्णिकाशुद्धि: परीक्षन्तां तदा बुधा: ।।१७।।
—अध्यात्मोपनिषत्

कष-च्छेद और ताप, इन तीन प्रकार की परीक्षा से शास्त्रवचन का यथोचित मूल्यांकन करना चाहिए । जिस शास्त्र मे विधि एव प्रतिषेधो का वर्णन किया गया हो और वे परस्पर अविरुद्ध हो, तो वह 'कष' परिक्षा में उत्तीर्ण कहा जाता है । विधि और निषेध के पालन का योग-क्षेम करनेवाली क्रियाये बतायी गयी हो तो उक्त शास्त्र 'च्छेद' परीक्षा मे उत्तीर्ण माना जाता है और उसके अनुरुप सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया गया हो तो उसे 'ताप' परीक्षा मे उत्तीर्ण कहा जाता है ।

"न श्रद्धयैव त्वयि पक्षपातो न द्वेषमात्रादरुचि परेषु ।
यथावदाप्तत्वपरीक्षया तु त्वामेव वीरप्रभुमाश्रिता: स्म ।।"

हे देवाधिदेव महावीर प्रभु ! सिर्फ श्रद्धावश हमे आपके प्रति कोइ पक्षपात नही है । ठीक उसी तरह सिर्फ द्वेष के कारण दूसरो के प्रति

अरुचि नहीं है। लेकिन यथार्थ आप्तत्व की परीक्षा से हम आपश्री का आश्रय ग्रहण करते हैं।"

जिस तरह युक्ति के अनुसरण में मध्यस्थता रही है, ठीक उसी तरह सिद्धान्त के द्रष्टा महापुरुष की आप्तता का भी मध्यस्थ दृष्टि विचार करती है। जो वक्ता आप्तपुरुष-वीतराग है, उसका वचन/उपदेश हमेशा स्वीकार्य होता है, सम्मान्य होता है। ठीक वैसे ही जो वक्ता वीतराग नहीं होता उसका कथन और वचन प्रायः राग-द्वेषयुक्त होता है, अतः त्याज्य है। इस तरह मध्यस्थ दृष्टि की आलीशान इमारत आत्मा के त्याग और स्वीकार नाम के दो स्तम्भों पर टिकी हुई है।

'मध्यस्थया दृशा सर्वेष्वपुनर्बन्धकादिषु ।
चारिसञ्जीविनीचारन्यायादाशास्महे हितम् ॥७॥१२८॥

अर्थ : अपुनर्बन्धकादि सबका मध्यस्थ दृष्टि से संजीवनी का चारा चराने के दृष्टान्त द्वारा कल्याण की कामना करते हैं।

विवेचन : स्वस्तिमती नाम का नगर था। वहाँ दो ब्राह्मण कन्याएँ वास करती थीं। दोनों में प्रगाढ़ मित्रता और अनन्य स्नेह भाव था। कालान्तर में दोनों विवाहित होकर अलग-अलग स्थान पर चली गयीं। किसी समय दोनों का आगमन स्वस्तिमती नगर में स्वगृह में हुआ। प्रदीर्घ समय के पश्चात भेंट होने पर दोनों आनन्द से पुलकित हो उठीं। दोनों आपस में अपनी अपनी सुनाने लगीं। बतियाते हुए एक सहेली ने सहज ही कहा "सचमुच मैं बहुत दुःखी हूँ, सखी, लाख प्रयत्न के बावजूद भी मेरा पति मेरी एक बात भी नहीं सुनता। हमेशा अपनी मनमानी करता है।'

'सखी तुम निश्चिन्त रहो। मैं तुम्हें ऐसी जड़ी-बूटी दूँगी कि उसके सेवनमात्र से वह बैल हो जाएगा। दूसरी ने कुछ सोच विचार कर कहा और उसे जड़ी-बूटी देकर वह चली गयी।

ससुराल जाकर उसने वह जड़ी-बूटी पीसकर अपने पति को पिला दी। जड़ी-बूटी खाते ही उसका पति बैल रूप में परिवर्तित हो गया! पति को बैल के रूप में देख, पत्नी को अत्यधिक दुःख हुआ। वह मन मार कर रह गयी। अब वह हमेशा उसे जंगल ले जाती। चराती घास-चारा। सदा पत्नी विरह का बोझ ढोने लगी।

एक दिन की बात है ! ब्राह्मण-कन्या नित्यानुसार बैल को लेकर जंगल मे गयी और एक वृक्ष नीचे चरने के लिए उसे छोड दिया ! उस वृक्ष पर विद्याधर-युगल बैठा हुआ था ! बैल को निहार कर विद्याधर ने अपनी पत्नी से कहा "यह स्वभाव से बैल नहीं है। लेकिन जडी-बुट्टी खिलाने से मनुष्य का बैल बन गया है।"

विद्याधर पत्नी विचलित हो गयी। उसे बेहद दुःख हुआ। उसमें करुणा भावना जग पड़ी ! उसने दयार्द्र होकर विद्याधर से कहा · "बहुत बुरा हुआ। क्या यह दुबारा मनुष्य नहीं बन सकता ?

"यदि इसे 'संजीवनी' नामक जडी खिला दी जाए तो यह पुनः पुरुष होसकता है और संजीवनी इसी वट वृक्ष के नीचे ही है।" विद्याधर ने शांत स्वर मे कहा।

जमीन पर बैठी ब्राह्मण-कन्या विद्याधर पति-पत्नी की बात सुन अत्यंत प्रसन्न हो उठी ! उसने अपने पति 'बैल' को संजीवनी खिलाने का मन ही मन निश्चय किया ! लेकिन बदनसीब जो ठहरी ! वह 'संजीवनी' जडी-बुट्टी से पूर्णतया अपरिचित थी ! वृक्ष के नीचे भारी मात्रा मे घास उगी हुई थी ! उसमे से अमुक जडी-बुट्टी ही 'संजीवनी' है, यह कैसे समझे ?

अजीब उलझन मे फँस गयी वह। कुछ क्षण विचार करती रही और तब उसने मन ही मन कुछ निश्चय कर, वृक्ष तले उगी वनस्पति चरने के लिए बैल को छोड दिया ! परिणाम यह हुआ कि वनस्पति चरते ही बैल पुनः मनुष्य मे परिवर्तित हो गया ! अपने पति को सामने खडा देख, उसकी खुशी की कोई सीमा न रही !

तात्पर्य यह है कि जीव भले ही अपुनर्बंधक हो मार्ग-पतित या मार्गाभिमुख, समकितधारी, देशविरति या सर्वविरति साधु हो ! यदि उसे मध्यस्थ भाव-आत्मानुकूल समभाव की जडी-बुट्टी खिलादी जाएँ, तो अनादि परभाव की परिणतिरुप पशुता खत्म हो जाएँ, और वह स्वरुपविषयक ज्ञान मे कुशल भेदज्ञानी पुरुष बन जाए। मध्यस्थ वृत्ति इस प्रकार हितकारी सिद्ध होती है। लेकिन उसके लिए कदाग्रह का त्याग किये बिना कोई चारा नही। वास्तविकता यह है कि असद् आग्रह जीव को पतन की गहरी खाई मे फेंक देता है।

व्रतानि चीर्णानि तपोऽपि तप्त
कृता प्रयत्नेन च पिण्डविशुद्धि ।
अभूत्फल यत्तु न निह्नवाना,
असदग्रहस्यैव हि सोऽपराध ।।

"व्रत, तप, विशुद्ध, भिक्षावृत्ति, - क्या नही था ? सब था ? परतु वह निह्नवो के लिये निष्फल गया । क्यो भला ? असद् आग्रह के अपराध के कारण !" अत असद् आग्रह का परित्याग कर मध्यस्थ दृष्टि वाले बनना चाहिए ।

आमे घटे वारि धृत यथा सद्,
विनाशयेत्स्वं च घटं च सद्य ।
असद्ग्रहग्रस्तमतेस्तथैव,
श्रुतप्रदत्तादुभयोर्विनाश ।।

"यदि मिट्टी के कच्चे घडे मे पानी भर दिया जाए तो ? घडा और पानी दोनो का नाश होता है ! ठीक उसी भाँति असद आग्रही जीव को श्रुतज्ञान दिया जाए तो-?-नि सदेह ज्ञान और उसे ग्रहण करनेवाला—दोनो का विनाश होते देर नही लगेगी । असद् आग्रह का परित्याग कर, मध्यस्थ दृष्टि वाले बन, परम तत्त्व का अन्वेषण करना चाहिए । तभी परम हित होगा ।

१७. निर्भयता

जहां भय वहां अशांति चिरस्थायी है ! अतः निर्भय बनो। निर्भयता में असीम शांति है और अनिर्वचनीय आनंद भी ! भयभीतता की धू-धू जलती अग्नि से बाहर निकलने के लिए तुम्हें प्रस्तुत प्रकरण अवश्य पढना चाहिए।

तुम्हारा मुखमंडल, निर्भयता की अद्भूत आभा से देदीप्यमान, परम तेजस्वी दृष्टिगोचर तो होगा ही, साथ ही जीवन से निराशा छू-मंतर हो जाएगी !

सुख के अनेक साधन उपलब्ध होने पर भी, यदि तुम्हारे मन में भय होगा तो तुम दुःखी ही रहोगे। सुख के साधन कोई काम के नहीं रहेगे।

निर्भयता ही सच्चे सुख की जननी है।

यस्य नास्ति परापेक्षा स्वभावाद्वैतगामिनः ।
तस्य किं न भयभ्रान्ति-क्लान्ति, सन्तानतानवम् ?॥१॥१२९॥

अर्थ : जिसे दूसरे की अपेक्षा नहीं है और जो स्वभाव की एकता को प्राप्त करनेवाला है, उस भय की भ्रान्ति से हुए खेद की परम्परा की अल्पता क्या न होगी ?

विवेचन : क्या तुमने कभी सोचा है कि तुम्हारे जीवन-गगन में भय के बादल किस कारण घिर आये हैं ? क्या कभी विचार किया है कि भय का भ्रम किस तरह पैदा होता है ? अनेक प्रकार के भय में तुम दिन-रात अशांत और संतप्त हो, फिर भी कभी यह सोचने का कष्ट नहीं उठाते कि वह क्या है, जिसकी वजह से तुम भयाग्नि में धू धू जल रहे हो।

क्या तुम्हारी यह आंतरिक इच्छा है कि सदा के लिए तुम भयमुक्त हो जाओ ? तुम्हारे निरभ्र जीवन-गगन में निर्भयता का सूर्य प्रकाशित हो, और तुम उसी प्रकाश-पुंज के सहारे निर्विघ्नरूप से मोक्षमार्ग पर चल पड़ो ! ऐसी भावना, आकांक्षा है क्या तुम्हारे मन में ? पूज्यपाद उपाध्यायजी महाराजने भयमुक्त होने के लिए दो उपाय सुझाये हैं :

- पर-पदार्थों की उपेक्षा
- स्व-भाव। अद्वैत की अपेक्षा।

भय-भ्रान्त अवस्था का निदान भी पूज्यश्री के इसी कथन से स्पष्ट होता है।

- पर-पदार्थों की अपेक्षा।
- स्वभाव- अद्वैत की उपेक्षा।

आइए, हम इस निदान को विस्तार से समझने का प्रयत्न करें।

"पर पदार्थ यानि आत्मा से भिन्न दूसरी वस्तु। जगत में ऐसे पर-पदार्थ अनंत हैं। अनादिकाल से जीव इन्हीं पर पदार्थों के सहारे जीवित रहने अभ्यस्त हो गया है। अरे, उसकी ऐसी दृढ़ मान्यता बन गई है कि, 'पर-पदार्थों की अपेक्षा से ही जीवित रह सकते हैं'। शरीर वैभव, संपत्ति, स्नेही-स्वजन, मित्र-परिवार, मान-सम्मान, और इनसे सम्बंधित पदार्थों की स्पृहा, ममत्व और रागादि से वह बार-बार भयाक्रांत बन जाता है।

"इनकी प्राप्ति कैसे होगी ? और नहीं हुई तो ? मैं क्या करूँगा ? मेरा क्या होगा ? मुझे कौन पूछेगा ? यह...नहीं सुधरेगा तो ? यदि बिगड गया तब क्या होगा...?" आदि असंख्य विचार उनके मस्तिष्क मे तूफान पैदा करते रहते है।

पर-पदार्थों के अभाव मे अथवा उनके बिगड जाने की कल्पना मात्र से जीव को दु:ख के पहाड टूट पडने जैसा आभास होता है। वह भयाकूल हो कांप उठता है! उसका मन निराशा की गर्त में फंस जाता है! वह खिन्न हो उठता है! मुख-मंडल निस्तेज हो जाता है! पर-पदार्थों के आस-पास चक्कर काटने में वह अपने आत्म-स्वभाव को पूर्णतया भूल जाता है। आत्मा की सरासर उपेक्षा करता रहता है। परिणाम यह होता है कि वह आत्म-स्वभाव और उसकी लीनता की घोर उपेक्षा कर बैठता है! ऐसी अवस्था मे भयाक्रांत नहीं होगा तो भला क्या होगा ?

इसीलिए ज्ञानी पुरुषो ने आदेश दिया है कि पर-पदार्थों की अपेक्षा-वृत्ति को हमेशा के लिए तिलाजलि दे दो! आत्म-स्वभाव के प्रति रहे उपेक्षाभाव को त्याग दो! भयभ्रान्त अवस्था की विवशता, व्याकुलता और विषाद को नामशेष कर दो! इतना करने से हमेशा के लिए तुम्हारे मन मे घर कर बैठी पर-पदार्थों की-अपेक्षावृत्ति खत्म हो जाएगी। परपदार्थों के अभाव में तुम दुःखी नहीं बनोगे, निराश नही होगे! फल यह होगा कि तुम्हारे रिक्त मनमे आत्म-स्वभाव की मस्ती जाग पड़ेगी! भय के परिताप से दग्ध मस्तिष्क शांत हो जाएगा! निर्भयता की खुमारी और विषयविराग की प्रभावी अभिव्यक्ति हो जाएगी। भय की आँधी थम जाएगी और जीवन मे शारदीय रात की शीतलता एव धवल ज्योति रूप निर्भयता का अविरत छिडकाव होने लगेगा।

भवसौख्येन किं भूरिभयज्वलनभस्मना।
सदा भयोज्झितज्ञान-सुखमेव विशिष्यते ॥२॥१३०॥

अर्थ : असंख्य भयरुपी अग्नि-ज्वालाओ से जलकर राख हो गया है, ऐसे सासारिक सुख से भला क्या लाभ ? प्राय. भयमुक्त ज्ञानसुख ही श्रेष्ठ है।

विश्व मे सुख के अनत प्रकार है। लेकिन सिर्फ 'ज्ञानसुख' ऐसा एकमेव सुख है, जिसे भयाग्नि कभी स्पर्श नही कर सकती! तब उसे जलाने का सवाल ही नही उठता है। ज्ञानसुख को भयाग्नि भस्मीभूत नही कर सकती! भय के भूत उसका कुछ बिगाड नही सकते और ना ही भय की आँधी उसे अपने गिरफ्त मे ले सकती है।

ज्ञान की विश्व-मगला वृष्टि से आत्मप्रदेश पर सतत प्रज्वलित विषय-विषाद की भीषण अग्नि शात हो जाती है। और सुख-आनंद के अमर पुष्प प्रस्फुटित हो उठते हैं! अपने मनोहर रूप-रंग से प्राणी मात्र का मन मोह लेते हैं! उन पुष्पो की दिव्य सौरभ से मन मे ब्रह्मोन्मत्तता, कठ मे अलख का कूजन और यौवन मे अलख की बहार आ जाती है। सारा वातावरण अद्भूत-रम्य बन जाता है और अलख की धडकन से हृदय सराबोर हो उठता है।

पामर जीव को परमोच्च और रक को वैभवशाली बनाने की अभूतपूर्व शक्ति 'ज्ञानसुख' मे है। आत्मा के अतल उदधि की अगाधता को स्पर्श करने की अनोखी कला 'ज्ञानसुख' मे है। जब कि ऐसी अगम्य शक्ति और कला ससार-सुख मे कतइ नही है। अतः ससार-सुख की तुलना मे ज्ञानसुख शत-प्रतिशत प्रभावशाली और अद्वितीय है। मतलब, ज्ञान से ही जब परम सुख और अवर्णनीय आनद की प्राप्ति हो जाएगी, तब ससारसुख अपनेआप ही भस्म-सा लगेगा।

न गोप्यं क्वापि नारोप्यं हेयं देयं च न क्वचित्।
क्व भयेन मुने स्थेयं ज्ञेयं ज्ञानेन पश्यत. ? ३ ॥ १३१ ॥

अर्थ जानने योग्य तत्त्व को स्वानुभव से समझते मुनि को कोई कही छिपाने जैसा अथवा रखने जैसा नही है। ना ही कही छोडने योग्य है! तब फिर भय से कहा रहना है? अर्थात मुनि के लिए कहा पर भी भय नही है।

विवेचन · हे मुनिवर! क्या आपने कुछ छिपा रखा है? क्या आपने कोई वस्तु कहां रख छोडी है? क्या आपने कोई चीज जमीन मे दबा रखी है? क्या आप को कुछ छोड़ना पडे ऐसा है? क्या आपको कुछ देना पडे ऐसा है? फिर भला, भय किस बात का?

मुनिश्रेष्ठ ! आप निभय हैं ! आप को निभय बनाने वाली ज्ञान-दृष्टि है ! ज्ञानदृष्टि से विश्वावलोकन करते हुए तुम निर्भयता की जिदगी बसर कर रहे हो ?

जहा ज्ञानदृष्टि वही निभयता ! समस्त सृष्टि का जानना है राग-द्वेष किये विना ! जगत की उत्पत्ति विनाश, और स्थिति का जानना-देखना यही ज्ञानदृष्टि कहलाती है। जब तुम ज्ञानदृष्टि के सहारे सारे ससार का देखोगे तब राग-द्वेष और मोह का कही नामा-निशान नही होगा। यदि विश्वावलोकन मे किंचित् भी राग द्वेप और मोह का अश आ गया तो समझ लेना चाहिए कि जो अवलोकन कर रहे हैं वह ज्ञानदृष्टि से युक्त नही है बल्कि ज्ञानदृष्टि-विहिन है और है अज्ञान से परिपूर्ण।

मारे क्रोध से राजा की आखें लाल-सुर्ख हो रही थी, नथूने फूल रहे थे, हाथ काप रहे थे और मुखमण्डल कोप मे खिचा हुआ था। पाव पछाडता राजा झाझरिया मुनिवर की ओर लपक पडा था मुनिवर की हत्या करने के लिये ! लेकिन क्षमाशील झाझरिया मुनिवरने इस घटना को किस रूप म लिया और किस रूप मे उसका मूल्याकन किया ? नही जानते तो जान लो। उन्होने इस घटना को सहज मे ही लिया और ज्ञानदृष्टि से उसका मूल्याकन किया। उनके मनमे राजा के प्रति न रोष था, ना कोप ! उन्हें अपने तन-वदन पर मोह ही नही था ! उन्होंने इस घटना पर विचार करते हुए मन ही मन सोचा "राजा भला मेरा क्या लूटने वाला है ? उस की तलवार का और रोप का डर किस लिये ? मैंने कुछ छिपा नही रखा है। जो है सबके सामने है ! और फिर शरीर का मोह कैसा ? वह तो विनाशी है। कभी न कभी नष्ट होगा ही ! तलवार का प्रहार जब शरीर पर होगा तब म परमात्मध्यान मे मग्न हो जाऊ गा, समता-समाधिस्थ बन जाऊ गा ! तब मेरे लूटे जाने का प्रश्न ही उपस्थित नही होता !" फलत मुनिवर निभयता की परम ज्योति के सहारे परम ज्योतिमय बन गये।

जब तक तुम कुछ छिपाना चाहते हो, सौदेबाजी करने मे खोये रहते हो, किसी बात को गोपनीय रखना चाहते हो, तबतक तुम्हारे

मन में सदैव भय की भावना, भयाक्रांतता बनी रहेगी और यही भावना तुम्हारी मोक्षाराधना के मार्ग में रोड़ा बनकर नानाविध मानसिक बाधाएं। अवरोध पैदा करती है। अतः इसे मिटाने के लिए ज्ञानदृष्टि का अमृत–सिंचन करना चाहिए। तभी मोक्ष-पथ की आराधना सुगम और सुन्दर बन सकती है।

- विश्व मे कुछ छिपाने जैसा नही है।
- विश्व मे लेन-देन करने जैसा कुछ नही है।
- विश्व मे संग्रह करने जैसा कुछ नही है।

इन तीन बातो पर गहराई मे चिंतन–मनन कर गले उतारना है, हृदयस्थ करना है। परिणामस्वरूप भय का कही नामोनिशान नही रहेगा। सर्वत्र अभय का मधुरनाद सुनायी देगा। मुनिमार्ग निर्भयता का राजपथ है। क्योकि वहा छिपाने जैसा, गुप्त रखने जैसा कुछ भी नही है। जड पदार्थो का नाही वहां लेन देन करना है, नाही भौतिक पदार्थों का संग्रह करना है।

हे मुनिवर! आपकी आत्मा के प्रदेश–प्रदेश पर निर्भयता की मस्ती उल्लसित है! उसकी तुलना मे स्वर्गीय मस्ती भी तुच्छ है।

एकं ब्रह्मास्त्रमादाय निघ्नन् मोहचमूं मुनिः।
बिभेति नैव संग्रामशीर्षस्थ इव नागराट् ॥४॥१३२॥

अर्थ ब्रह्मज्ञान रूपी एक शस्त्र धारण कर, मोहरूपी सेना का संहार करता मुनि, संग्राम के अग्रभाग मे ऐरावत हाथी की भांति भयभीत नही होता है।

विवेचन : भय कैसा और किस बात का? मुनि और भय? अनहोनी बात है! मुनि के पास तो 'ब्रह्मज्ञान' का शस्त्र है! इससे वह सदा-सर्वदा निर्भय होता है।

मुनि यानी घनघोर युद्ध में अजेय शक्तिशाली मदोन्मत्त हाथी! उसे भला पराजय का भय कैसा? उसे शत्रु का कोई हुंकार या ललकार भयाक्रान्त नही कर सकता।

मोह—रिपु से सतत संघर्षरत रहते हुए भी मुनि निर्भय और निश्चल होता है। ब्रह्मास्त्र के कारण वह नित्यप्रति आश्वस्त और निश्चित है! मोह—सेना की ललकार और उत्साह को क्षणार्ध मे ही मटियामेट करने की मुनिराज की योजना 'ब्रह्मास्त्र' की सहायता

स सागोपाग सफल होती है । मदोन्मत्त मोह सेना, मुनिराज के समक्ष तृणवत प्रतीत होती है । फिर भी उसकी हलचल, प्रयत्न और आवेग कुछ कम नही होते ।

महाव्रत–पालन म सागोपाग सफलता, भावनिक समता, विश्वमैत्री की भव्य भावना और इन सबकी सिरमौर–महत्त परमात्म-भक्ति । साथ ही आज्ञा-पालन, 'मुनिराज की शक्ति मे निरतर विद्युत-सचार करते रहते' ह । 'उनके' मुखमण्डल पर एक अद्भुत खुमारी दृष्टिगोचर होती है । वह खुमारी होती है निभयता की, शत्रु पर विजयश्री प्राप्त करने की असीम श्रद्धा की ।

मुनिवर दो प्रकार के युद्ध मे सावधान होते ह । 'ओफेन्सिव' और डिफेन्सिव' [OFFENSIVE AND DIFFENSIVE] । शत्रु पर आक्रमण कर उसे धराशायी करने के साथ साथ वह स्व-सपत्ति का सरक्षण भी करते है । ठीक उसी तरह किसी अन्य माग मे शत्रु घुसपैठ कर लूट-मार न मचा दे, इस की पूरी सावधानी भी बरतते हैं ।

मुनि उपवास छट्ठ अट्ठमादि उग्र तपश्चर्या करते हैं । यह भी मोह रिपु के खिलाफ एक जग है, जो समय समय पर खेलते रहते हैं । लेकिन फिर भी मुनिराज को अपनी जाल मे फसाने के प्रयत्न मे मोहराजा भी कोई कसर नही रखता । 'आहार सज्ञा' के मोर्चे पर मुनिराज को लडता छोड दूसरी ओर से वह उनके क्षेत्र म अभिमान और क्रोध के सुभटो को छद्मवेश मे घुसा देता ह । लेकिन मुनि भी इतने सीधे सादे और भोले नही है । मोहराजा सेर हैं तो मुनिवर सवासेर जो ठहरे । वे 'डिफेन्सिव' जग मे भी निपुण होते हैं । अत तपश्चर्या करते समय वो क्रोध और अभिमान से हमेशा दूर रहते हैं । मोहराज के इन सुभट–द्वय को वे अपने पास फटकने नही देते ।

ब्रह्मास्त्र की सहायता से महामुनि रणक्षेत्र म रणसिंघा फूक मोह-रिपु की विराट सेना का मार–काट करते हुए, लाशो को रौदते हुए आगे बढ जाते ह । बेचारा मोह ! सारी दुनिया को अपनी अगुली के इशारे पर नचाता है लेकिन मुनिवर का वह बाल भी बाका नही कर सकता । वह निस्तेज, अशक्त और निर्जीव सिद्ध होता है । मुनि राज की निर्भयता और अजेयता के आगे उसकी कुछ नही चलता ।

हमेशा एक बात याद रखो ! शत्रु की कैसी भी घेराबदी क्यो न हो ? तुम सदा निर्भय बने रहो । ब्रह्मज्ञान का हथियार हाथ मे रहने दो । उसे अपने से अलग न करो । उसे छिनने के लिए शत्रु

मनन करता है, वह सब रागदृष्टि से या द्वेषदृष्टि से करता है। फलत कर्म-बंधनो के मजबूत जाल मे खुद होकर फस जाता है। जबकि ज्ञान-दृष्टि मे राग और द्वेष का सर्वथा अभाव होता है। ज्ञानदृष्टि यानी मध्यस्थ दृष्टि! ज्ञानदृष्टि यानी यथार्थ दृष्टि!

अनादिकालीन अज्ञानपूर्ण कल्पना, मलिन पद्धति और मिथ्या वासना का अवलम्बन कर सृष्टि को निरखने और परखने मे भय रहता ही है! फलत निर्भयता नही मिलती है। एक उदाहरण से समझें इस बात को। शरीर रोगग्रस्त हो गया अज्ञानी मनुष्य इससे भयभीत हो उठेगा। मलिन विचारवाला रोगको मिटाने के लिए गलत उपायो का अवलम्बन करेगा। मिथ्यावासना वाला शरीर मे रहे राग की चिंता मे अपनी शाति खो बठेगा! और तब भय-सर्प उसके आनन्द-वृक्षो से लिपट जाएगे। मन वन म भय सर्पों की भरमार हो जाएगी!

लेकिन ज्ञानदृष्टि-मयूरी की सुरीली कूक सुनायी पडते ही भय-सर्पों को छठी का दूध याद आ जाएगा और जहाँ राह देखेंगे वहाँ भागते देर नही लगेगी! रागग्रस्त शरीर की नश्वरता, उसमे रही राग प्रचुरता और परिवर्तनशीलता का वास्तविक ज्ञान, ज्ञानदृष्टि ही कराती है। साथ ही, आत्मा और शरीर का भेद भी समझाती है। जबकि आत्मा की शाश्वतता, उसकी सपूर्ण निरोगिता और शुद्ध स्वरूप की ओर हमारा ध्यान भी केन्द्रित करती है। 'रोग का कारण पाप कर्म है,' का निर्देश कर, पाप-कर्मो का नष्ट करने हेतु पुरुषार्थ कराती है। सनत्कुमार चक्रवर्ती का शरीर एक साथ सोलह रोगो (मतान्तर से सात महारोग) का शिकार बन गया! लेकिन उनका मन उपवन नित्यप्रति ज्ञान दृष्टि रुपी मयूरी की मीठी कूक से गुजारित था! अत उसने समस्त रोगो के मूल कर्म बधनो को काटने का भगीरथ पुरुषार्थ किया। सात सौ वर्ष तक कर्मों के साथ भिडते रहे, उनका सफल सामना करते रहे। उस का कारण था ज्ञानदृष्टि से उन्हें मिली निर्भयता और अभय-दृष्टि! वे अपने उद्देश्य मे सफल हुए। हमारे प्रयत्न ऐसे हों कि सदा-सर्वदा हमारे मन वन मे ज्ञान-दृष्टि रुपी मयूरी की सुरीली ध्वनि गूजती रहे।

उन्हें पराजय का सामना न करना पडा । वल्कि विजयश्री की भेगी वजाते वे बहार निकल आये ।

अत हमेशा ज्ञान-कवच सम्हाल रखना चाहिए। भूलकर भी कभी दीवार पर टागने की मूर्खता की, अलमारी मे बद कर दिया और इधर एकाध मोहास्त्र कहा से आ टपका तो काम तमाम होते देर नही लगेगी । ज्ञान कवच कस कर बाध रखिए । जानबूझ कर ज्ञान-कवच दूर मत करो । वह दूर सरक नही जायँ-इसलिये सावधान रहें। चूकि कभी-कभी वह कवच सरक कर गिर जाता है ।

- इन्द्रियाधीनता
- गारव (रसादि)
- कषाय (क्रोधादि)
- परिषह-भीरुता

इन चारो मे से एकाध के प्रति भी तुम्हारे मनमे प्रेम पदा होने भर की देर है । कि ज्ञान-कवच सरक ही जाएगा और मोहास्त्र का जबरदस्त वार तुम्हारे सीने को छिन्न भिन्न कर देगा । तुम पराजित हो, धराशायी हो जाओगे ।

सवेग-वैराग्य और मध्यस्थदृष्टि को विकसित-विस्तारित करने-वाले शास्त्र-ग्रथो का नियमित रूप से पठन-पाठन चितन मनन और परिशीलन करते रहो । तुम्हारी जीवन-दृष्टि को उसके रग मे रग दो ।

तूलवल्लघवो मूढा भ्रमन्त्यभ्रे भयानिल ।
नैक रोमापि तैर्ज्ञानगरिष्ठाना तु कम्पते ।।७।।१३५।।

अर्थ आक की रुई की तरह हल्के और मूढ एस लोग भय रूपी वायु मे प्रचड झोंके के साथ आकाश मे उडते है जबकि ज्ञानकी शक्ति से परिपुष्ट ऐसे सशक्त महापुरुषो का एकाध रोगटा भी नहीं फरकता ।

विवेचन - प्रचड आंधी आने पर तुमने आकाश मे धूल के गुब्बारे उडते देखे होगे ? कपडे और घास-फूसके तिनके उडते देखे होंगे ? लेकिन कभी मनुष्य को उडते देखा है ? हा, बडे-बडे भारी-भरकम मनुष्य जसे मनुष्य भी उड जाते हैं । वायु के झझावाती झोंके उन्हें आकाश म उडा ले जाते हैं और जमीन पर पटक देते है ।

अच्छी तरह पहचान लो इस प्रचंड पवन को ।

इसका नाम भय है !

जिस तरह आँधी की तीव्र गति में आक की रूई उडकर आकाश मे निराधार उडती रहती है, ठीक उसी तरह भय के भयंकर तूफान का भोग बन मनुष्य भी उपर उड कर यहाँ-वहाँ भटकता रहता है। आश्रय के लिए आकुल-व्याकुल हो जाता है। विकल्पों की दुनिया में निरर्थक चक्कर काटता रहता है, बिना किसी आधार, निराधार निराश्रय बनकर ! भय की आहट मात्र से मनुष्य उडने लगता है !

और भय भी एक प्रकार का नही बल्कि अनेक प्रकार के हैं रोग का भय, बेइज्जत होने का भय, धन-संपत्ति चले जाने का भय, समाज में लाछित-अपमानित होने का भय और परिवार बिगड जाने का भय ! ऐसे कई प्रकार के भय का पवन सनसनाने लगता है ! और मूढ मनुष्य अपनी सारी सुध-बुध खोकर बावरा बन. उडता चला जाता है ! उसके मन मे न स्थैर्य होता है और ना ही शाति !

जबकि मुनिराज ज्ञान के भार से प्रबल भारी होते है ! सत्त्वगुण का भार बढता जाता है और तभी रजोगुण का भार नहिंवत् हो जाता है ।

हिमाद्रि सदृश ज्ञानी पुरूषो का रोंगटा तक नही फडकता, भले ही फिर प्रचंड आँधी और तूफान से सारी सृष्टि में ही क्यों न उथल-पुथल हो जाएं ! ज्ञानी पुरूष नगाधिराज हिमालय की भाँति सकटकाल में सदा अजेय, अटल, अचल और सदा निष्प्रकम्पित ही रहते हैं। झांझरिया मुनि को लाछित करने हेतु निर्लज्ज नारी ने उनके पाँव मे पैंजन पहना दिया और उनके पीछे हाथ धोकर पड गयी ! जब अपनी मनोकामना पूरी होते न देखी तब सरे आम चिल्ला पड़ी. "दौड़ो-दौड़ो, इस साधु ने मेरी इज्जत लूट ली !" परन्तु मुनिवर के मुख पर अथाह शाति के भाव थे । वे तनिक भी विचलित न हुए और त्रंबावटी नगरी के राजमार्ग पर बढते ही रहे ! वहाँ न भय था, न कोई विकल्प ! "अब मेरा क्या होगा ? मेरी इज्जत चली जाएगी ? नगरजन मेरे बारे मे क्या अनर्गल बातें करेंगे ?" क्योकि वह अपने आप में परमज्ञानी थे, पर्वत-से अजेय-अडिग थे ।

हम ज्ञानी बनेंगे तभी भय पर विजय पा सकेंगे। उसे अपने नियन्त्रण मे रख सकेंगे। सचमुच, जिसने भय को भयभीत कर दिया, उस पर विजयश्री प्राप्त करली, उसका आनद अनिवचनीय होता ह। उसका वणन करने मे लेखनी असमथ ह। सिर्फ उसका अनुभव किया जा सकता है। शब्दा मे वर्णन नही किया जा सकता। भयाक्रात मनुष्य उक्त आनन्द और असीम प्रसन्नता की कल्पना तक नही कर सकता।

ज्ञानी बनने का अथ सिफ जानकर बनना नहीं है, सौ-पचास बडे-बडे ग्रन्थ पढ लेना मात्र नहीं है। ज्ञानी का मतलब है ज्ञान-समृद्ध होना, निरतर आसपास मे घटित घटनाओ का ज्ञानदृष्टि से सागोपाग अभ्यास करना, चिंतन-मनन करना है। ज्ञानदृष्टि से हर प्रसग का अवलोकन करना। जिसके देखने मात्र से ही अज्ञानी थर-थर कांपना हो वहा ज्ञानी निश्चल और निष्प्रकम्प रहता है। जिन प्रसगो के कारण अज्ञानी विलाप करता है, ठडी आह भरता है और निश्वास छोड अपने कर्मों को कोसता है, वहाँ ज्ञानी पुरूष अतल अथाह जल-राशि सा धीर-गम्भीर और मध्यस्थ बना रहता है। जिस घटना को निहार अज्ञानी भाग खडा होता है, वहाँ ज्ञानी उसका धय के साथ सामना करता है।

ऐसे ज्ञान-समृद्ध बनने के लिए पुरूषाथ करना चाहिए। फल स्वरूप, भय के झझावात म भी तन-मन की स्वस्थता-निश्चलता को बनाये रख सकेंगे, शिव नगरी की ओर प्रयाण करने हेतु समथ बनेंगे।

तात्पर्य यह है कि निर्भयता का माग ज्ञानी-पुरूष ही प्राप्त करते हैं।

> चित्त परिणत यस्य चारित्रमकुतोभयम।
> अखण्डज्ञानराज्यस्य तस्य साधो कुतो भयम् ॥७॥१२६॥

अथ जिसके चित्त म जिसको किसी से कोई भय नही है, ऐसा चारित्र परिणत है उस अखण्ड ज्ञान रूपी राज्य के अधिपति साधु को भला, भय कहा ?

विवेचन चारित्र।

अभय चारित्र।

अभय का भाव प्रस्फुटित करनेवाला चारित्र जिस की अक्षय-निधि है और जो उसके पास है, उसे भला, भय कैसा ? किस बात का भय ? कारण वह तो अखंड, अक्षय ज्ञान रूपी-राज्य का एकमेव अधिपति है, महाराजाधिराज है !

अखड ज्ञान का साम्राज्य !
और उसका सम्राट है मुनि स्वय !

ऐसे साम्राज्य का अलबेला सम्राट क्या भयाक्रांत हो ? आकुल-व्याकुल हो ? अरे उसे भयप्रेरित व्यथाएँ शत-प्रतिशत असभव होती हैं। चारित्र की उत्कृष्ट भावना मे उसकी मति भावित होती है।

समस्त ससार के बाह्य भौतिक पदार्थ एव कर्मजन्य भावों की ओर मुनि इस दृष्टि से देखता है—

'क्षणविपरिणामधर्मा मर्त्यानामृद्धिसमुदया सर्वे ।
सर्वे च शोकजनका संयोगा विप्रयोगान्ताः ॥

—प्रशमरति

मनुष्य की ऋद्धि और सपत्ति का स्वभाव क्षणार्ध मे ही परिवर्तित होने का रहा है और समस्त ऋद्धि-सिद्धि के समुदाय शोकप्रद है !— सयोग वियोग मे परिणमित होते हैं !

जिसे इस शाश्वत् सत्य का पूर्ण ज्ञान है कि 'ऋद्धि सिद्धि और धनसपदा क्षणिक है,' वह कभी शोकग्रस्त अथवा भयातुर नही होता !

चारित्र मे स्थिरता और अभय प्रदान करनेवाली दूसरी भी भावनाओ का मुनि बार-बार चितन करता रहता है.

भोगसुखैः किमनित्यैर्भयबहुलै कांक्षितैः परायत्तै ।
नित्यमभयमात्मस्थ प्रशमसुखं तत्र यतितव्यम् ॥

—प्रशमरति

जो अनित्य भयमुक्त और पराधीन है ऐसे भोग सुखो से क्या मतलब ? अपितु मुनि को नित्य अभय और आत्मस्थ प्रशमसुख के लिए ही सदैव पुरूषार्थ करना चाहिए ।

वासनावृत्ति को जिसने प्रतिबधित कर दिया है, कषायो के उत्पात को जिसने नियत्रित कर दिया है, हास्य-रति-अरति एव. शोकउद्वेग की

ज्वालाग्रो को शात प्रशात कर दिया है, साथ ही अपनी दृष्टि को
सट्टिक बना दिया है, ज्ञान-ध्यान और तपश्चर्या का अतुल बल जिसने
प्राप्त कर लिया है, लोक-व्यापार और आचार-विचारो को हमेशा के
लिए तिलाजलि दे दी है, ऐसे महामुनि को भला भय कैसा ? उसे किसी
बात का डर नही होता । बल्कि वह ता निभय और नित्यानदी
होता है ।

अक्षय ज्ञान-साम्राज्य मे भय का नामोनिशान तक नही हाता है ।
ज्ञान साम्राज्य के उस पार भय, शाक, और उद्वग होता है । मुनिराज
का सिफ एक बात की सावधानी / दक्षता रखनी चाहिए कि भूलकर
भी कभी वह ज्ञान-साम्राज्य की सीमाआ के उस पार न चला जाए ।
वह अपने राज्य मे सदा निभय हाता है । साथ ही उक्त साम्राज्य के
नागरिको का वह एकमेव अभयदाता है । वास्तव मे देखा जाए तो
अभय का आनन्द ही सही आनन्द है । भयभीत अवस्था मे आनन्द
नही होता, बल्कि उसका अस्पष्ट आभास मात्र होता है, कृत्रिम आनन्द
होता है ।

अखड ज्ञान-साम्राज्य म ही अभय का आनन्द प्राप्त होता है ।

१८. अनात्मशंसा

आज जब स्वप्रशंसा के ढोल सर्वत्र बज रहे हैं और पर-निंदा करना हर एक के लिये एक शौक/फैशन बन गयी है, ऐसे में प्रस्तुत अध्याय तुम्हे एक अभिनव दृष्टि, नया दृष्टिकोण प्रदान करेगा। स्व के प्रति और अन्य के प्रति देखने की एक अनोखी कला सिखाएगा। यदि स्वप्रशंसा में आकंठ अहर्निश डूबे मनुष्य को पूज्यपाद उपाध्यायजी की यह दृष्टि पसन्द आ जाए, उसे आत्मसात् करने की बुद्धि पैदा हो जाए, तो निःसन्देह उसमें मानवता की मीठी महक फैल जायेगी ।

गुणैर्यदि न पूर्णोऽसि, कृतमात्मप्रशसया ।
गुणैरेवासि पूर्णश्चेत्, कृतमात्मप्रशसया ॥१॥१३७॥

अर्थ – यदि तुम स्व-गुणो स परिपूर्ण नही हो, तब आत्म प्रशसा का क्या मतलब ? ठीक वसे ही, यदि तुम स्व-गुणो से परिपूर्ण हो, तो फिर आत्मप्रशसा की जरुरत ही नही है।

विवेचन – प्रशसा ! स्व प्रशसा ! मनुष्य मात्र मे यह वृत्ति जन्मत होती है । उसे अपनी प्रशसा सुनना अच्छा लगता है । जी-भरकर स्व प्रशसा करना भी अच्छा लगता है । लेकिन यही वत्ति अध्यात्म-मार्ग मे बाधक होती है। मोक्ष-माग की आराधना मे स्व प्रशसा' सबसे बडा अवरोध है । अत वह त्याज्य है ।

नि सदेह तुम्हारे अन्दर अनत गुणो से युक्त आत्मा वास कर रही ह । तुम ज्ञानी हो, तुम दानवीर हो, तुम तपस्वी हो, तुम परोपकारी हो, तुम ब्रह्मचारी हो, फिर भी तुम्हें अपनी प्रशसा नही करनी चाहिए और ना ही सुननी चाहिये । क्योकि स्व प्रशसा स उत्पन्न आनद तुम्हे उन्मत्त और मदहोश बना देगा । परिणाम स्वरुप अध्यात्म-माग से तुम भ्रष्ट हो जाओगे । तुम्हारा अध पात होते विलम्ब नहीं होगा । यदि तुम अपनेआप मे गुणी हो, तब भला तुम्हे 'आत्म-प्रशसा' की गरज ही क्या है ? आत्मप्रशसा के कारण तुम्हारे गुणो मे वद्धि होने वाली नही, बल्कि उनके नामशेष हो जाने का डर है ।

'मेरे सत्कार्यों से लोग परिचित हो, मेरे मे रहे गुणो की जानकारी दूसरो को हो , लोग मुझे सच्चरित्र, सज्जन समझें " आदि इच्छा, अभिलाषा के कारण ही मनुष्य आत्म-प्रशसा करने के लिए प्रेरित होता है । इसमे उसे अपनी भूल नही लगती, ना ही वह किसी प्रकार का पाप समझता है । भले ही वह न समझे ! सभव है साधना, उपासना और आराधना माग का जो पथिक न हो, वह उसे पाप अथवा भूल न भी समझे ! लेकिन जिसे मोक्ष माग की साधना से आनन्दामृत की प्राप्ति होती है, आत्म-स्वरुप की उपासना मात्र से आनद की डकार आती हैं, उसे 'स्व प्रशसा, आत्म प्रशसा' की मिथ्यावृत्ति अपनाने का कभी विचार तक नही आता । 'स्व-प्रशसा' उस के लिए पाप ही नही बल्कि महापाप है और उससे प्राप्त आनद कृत्रिम और क्षणिक होता है।

लेकिन धरती पर ऐसे कई लोग है, जिनमे उन गुणों का अभाव होता है; सत्कार्य करने की शक्ति नही होती; वे भी अपनी प्रशंसा करते नही अघाते। अरे, तुम्हे भला किस बात की प्रशंसा करनी है ? गांठ में कुछ नही, और चाहिए सब कुछ ! गुणों का पता नही, फिर भी प्रशंसा चाहिए ? जो समय तुम आत्म-प्रशंसा मे बरबाद करते हो, यदि उतना ही समय गुण—संचय करने मे लगाओ तो? परंतु यह संभव नहीं। क्योंकि गुणप्राप्ति की साधना कठिन और दुष्कर है, जब कि विना गुणों के ही आदर सत्कार और प्रशंसा पाने की साधना बावरे मन को, मूढ जीव को सरल और सुगम लगती है !

यह न भूलो कि स्वप्रशंसा के साथ परनिन्दा का नाता चोली-दामन जैसा है। इसीलिये ऐसे कई लोग परनिंदा के माध्यम से स्व-प्रशंसा करना पसंद करते हैं, जिन मे आत्मगुण का पूर्णतया अभाव है, साथ ही जो स्वप्रशंसा के भूखे होते है। 'अन्य की तुच्छता साबित करने से खुद की उच्चता अपने आप सिद्ध हो जाती है।' इस संसार मे ऐसे जीवों की भी कमी नही है।

आत्मोत्कर्षाच्च बध्यते कर्म नीचैर्गोत्रं।
प्रतिभवमनेकभवकोटिदुर्मोचम् ॥

भगवान उमास्वातिजी फरमाते हैं "आत्मप्रशंसा के कारण ऐसा नीचगोत्र कर्म का बन्धन होता है कि जो करोडों भवो में भी छूट नही सकता।"

साथ ही, यह भी शाश्वत् सत्य है कि यदि हम सही अर्थ में धर्माराधक हैं, तो हमे अपने मुँह अपनी ही प्रशंसा करना कतई शोभा नही देता।

श्रेयोद्रुमस्य मूलानि, स्वोत्कर्षाम्भः प्रवाहतः।
पुण्यानि प्रकटीकुर्वन्, फलं किं समवाप्स्यसि ? ॥२॥१२८॥

अर्थ :— कल्याणरूपी वृक्ष के पुण्यरूपी मूल को अपने उत्कर्षवाद रूपी जल के प्रवाह से प्रकट करता हुआ तू कौन सा फल पायेगा ?

विवेचन :— कल्याण वृक्ष है।

उसका मूल पुण्य है, जड है।

जिसकी जड मजबूत है, मूल नीचे तक भीतर उतरा है, वह वृक्ष मजबूत । यदि जडें ही कमजोर हैं, तो वृक्ष के ढहते देर नहीं लगेगी । वह धराशायी हुआ ही समझो । सुख का विशाल वटवृक्ष पुण्य रूपी घनी जडो पर ही खडा है।

क्या तुम जानते हो कि वटवृक्ष की जड मे पानी का प्रवाह पहुँच गया है और उसके मूल बाहर दिखायी देने लगे हैं । उसके आसपास की मिट्टी पानी की धारा मे वह गई है । क्या तुम्हे पता है ? पानी की वजह से मूल कमजोर हो गये है और वृक्ष खतरनाक ढग से हिलने-डुलने लगा है । जरा आखें खोलो, होश मे आओ और ध्यान से देखो । वृक्ष कडाके की आवाज के साथ जमीन पर आ गिरेगा । उफ, इतनी उपेक्षा करने से भला, कैसे चलेगा ?

क्या तुम पानी के प्रवाह को नही देख रहे हो ? अरे, तुमने खुद ही तो नल खोल दिया है । क्या तुम अपनी प्रशसा नही करते ? अपनी अच्छाईयो और अच्छे कामो का बखान नहीं करते ? अपने गुण और प्रवृत्तियो की 'रिकार्ड' बजाते नहीं थकते ?

अरे मेरे भाई ! उसी स्व-प्रशसा का नल तुमने पुरजोश मे खोल दिया है और पानी 'कल्याण-वृक्ष' की जडो तक पहुँच गया है । लो, ये मूल दिखने लगे और वृक्ष धराशायी होने की तैयारी में है । अगर एक बार 'कल्याण वृक्ष' ढह गया कि फिर तुम्हारे नसीब का सितारा डूब गया समझो । पीछे दु ख भोगने के सिवाय कुछ नही बचेगा । सब मिट्टी मे मिल जाएगा । और तब स्व प्रशसा करने की धृष्टता ही नामशेष हो जाएगी ।

अलबत्ता, स्वप्रशसा कर तुम्हे कुछ न कुछ खुशी तो होती ही होगी और सुख का आस्वाद भी मिलता होगा । लेकिन स्व प्रशसा से प्राप्त आनद क्षणभगुर होता है । साथ ही उसका अजाम बुरा ही होता है । क्या तुम ऐसे दुखदायी सुख और आनद का त्याग नहीं कर सकते ? यदि कर सको, तो नि सदेह 'कल्याण-वृक्ष' स्थिर, मजबूत और दीर्घजीवी साबित होगा। फलत उसकी डाल पर सुख के मीठे फल लगेंगे और उन फलो का आस्वाद तुम्हे अजरामर बना देगा । बेशक, तब तक तुम्हे धैर्य रखना होगा । दूसरो को स्व प्रशसा का आनन्द लूटते देख भूलकर भी तुम उनका अनुसरण न करना । भले ही दूसरे स्व-प्रशसा के आनन्द

मे आकण्ठ डूब जाए, लेकिन तुम्हारे मन तो वह आनन्द अकल्प्य और अभोग्य ही है ।

हम अपनी प्रशंसा खुद करें, तो अच्छा नही लगता । आराधक आत्मा के लिए यह सर्वथा अनुचित और अयोग्य है कि वह नित्यप्रति अपना मूल्यांकन खुद ही करे, अपने महत्त्व का रटन/ जाप खुद ही करे और खुद ही लोगो को अपने गुण बताये । आराधक को चाहिए कि वह 'स्व-विज्ञापन' को घोर पाप समझे । मोक्ष-मार्ग का अनुगामी अपने दोष और दूसरो के गुण देखता है । जब वह अपने गुणो से ही अनभिज्ञ होता है, तब उसकी प्रशंसा (स्तुति) करने का प्रसंग ही कहाँ आता है ?

स्व.—प्रशंसा से कल्याण-वृक्ष की जड़े उखड़ जाती हैं । उसका तात्पर्य यह है कि स्वप्रशंसा करने से पुण्यबल क्षीण हो जाता है और पुण्य क्षीण होते ही सुख खत्म हो जाता है । यह निर्विवाद सत्य है कि स्वप्रशसा सुखो का नाश करनेवाली है ।

आलम्बिता हिताय स्युः परैः स्वगुणरश्मयः ।
अहो स्वयं गृहीतास्तु, पातयन्ति भवोदधौ ।।३।।१३९।।

अर्थ :– यदि दूसरे व्यक्ति ने तुम्हारे गुण रूपी रस्सी को थाम लिया, तो वह उसके लिए हितावह है, लेकिन आश्चर्य इस बात का है कि यदि स्वय गुणरूपी रस्सी को थाम लिया तो भव-समुद्र मे डूबा देती है।

विवेचन :– तुम्हारे में गुण हैं ? उन गुणो को दूसरों को देखने दो । दूसरों को उनका गुणानुवाद करने दो । वे उक्त गुणदर्शन, गुणानुवाद और गुण-प्रशंसा की रस्सी को पकड़ कर भव-सागर से पार हो जायेंगे ।

लेकिन तुम अपने गुणो की प्रशंसा अथवा दर्शन करने की कोशिश भूलकर भी न करो । यदि तुम अपनी प्रशसा खुद करने की बुरी लत मे फँस गये, तो तुम्हारा बेडा संसार-सागर मे गर्क होते देर नही लगेगी । तुम्हारी यह लत, आदत तुम्हे भवोदधि की अथाह जलराशि में डुबाकर ही रहेगी ।

वैसे देखा जाए तो गुण-प्रशंसा ऐसी शक्ति है, जो भवोदधि से तीरा सकती है और डूबा भी सकती है । हाँ, कौन किसके गुणों की प्रशंसा करता है, यह सब उस पर निर्भर है । खुद ही अपनी प्रशंसा करने भर

की दर है कि डुब गये समझो । जबकि अन्य जीव के गुणो की प्रशसा की, तो पार लगते देर नही । जब-जब तुम्हारे मन मे गुणानुवाद करने की इच्छा जगे, तब-तब दूसरो के गुणो की प्रशसा करनी चाहिये और स्व प्रशसा की बुरी लत मे कोसो दूर रहना चाहिये। हालाकि स्व प्रशसा की बुराई मनुष्य मे आज से नही, बल्कि अनादिकाल से चली आ रही है और जीव मात्र उसका भाग बनता रहा है। जो इससे मुक्त हो गया, नि सदेह वह महान् बन गया ।

स्वप्रशसा करने से

* गुणवद्धि का कार्य बीच मे ही स्थगित हो जाता है ।
* स्व-दोषो के प्रति उपेक्षाभाव पैदा होता है ।
* दूसरो के गुण देखने की वत्ति नही रहती ।
* दूसरो के गुण सुनकर द्वेष पैदा होता है ।
* घोर कर्म बधन के शिकार बनते हैं ।

दूसरो की नजर मे अपनेआप को गुणवान, बुद्धिशाली, सर्वोत्तम, सज्जन दिखाई देने की इच्छा, जीव का 'स्व प्रशसा' करने के लिए प्रेरित करती है । ऐसी इच्छा सर्वजन साधारण ह । इससे दूर रहे बिना जीव पाप के अभेद्य परकोटे को भेद नही सकता । लेकिन इसके मूल मे जो भावना काम कर रही है, वह तो सौ फीसदी गलत और अनिच्छनीय है । मैं अपनी प्रशसा करूंगा तब दूसरे मुझे सज्जन, गुणवान समझेंगे।' क्या यह रीत अच्छी है ? सच तो यह ह कि इस तरह स्व प्रशसा से सवत्र अपना विज्ञापन करना कोई अच्छी बात नही है, ना ही प्रभाव शाली भी । अलबत्ता, लोकतत्र के युग म चुनाव म खडे प्रत्याशी/उम्मीदवार को जो भरकर अपनी प्रशसा का राग आलापना पडता है। विद्यमान परिस्थिति मे धर्मक्षेत्र, सामाजिक क्षत्र, शैक्षणिक क्षत्र और राजनैतिक क्षेत्र मे सत्ता और स्वामित्व प्राप्त करने के लिए स्व प्रशसा एक रामबाण उपाय माना गया है ।

हलाकि सासारिक क्षेत्र मे 'स्व-प्रशसा', भले ही आवश्यक मानी गयी हो, लेकिन धर्म क्षेत्र मे यह सबसे बडा अवरोध है । यदि हम मोक्षमार्ग के पथिक हैं अथवा उस मार्ग पर चलने के अभिलाषी हैं, तो 'स्व प्रशसा का परित्याग करने की हमें प्रतिज्ञा करनी चाहिए। सभव है कि स्व

प्रशंसा' से दूर रहने पर तुम्हें लगेगा कि दुनिया में तुम्हारी सही पहचान, वास्तविक मूल्यांकन नही हो रहा है। लेकिन एक समय ऐसा आ जाएगा, जब तुम्हारे गुण समस्त विश्व के लिए एकमेव आलंबन सिद्ध होगे। दुनिया के समस्त प्राणी तुम्हारे गुणों की रस्सी थामकर पापकुंड से बाहर निकल जायेंगे। धीरज का फल मीठा होता है। जल्दबाजी करनेवाले व्यक्ति के लिए नुकसानदेह है। और हाँ, दूसरों का गुणानुवाद करने की प्रवृत्ति निरन्तर जारी रखना, बीच में ही स्थगित नही कर देना।

उच्चत्वदृष्टिदोषोत्थस्वोत्कर्षज्वरशान्तिकम्।
पूर्वपुरुषसिंहेभ्यो, भृशं नीचत्वभावनम् ॥४॥१४०॥

अर्थ :- सर्वोच्चता की दृष्टि के दोष से उत्पन्न स्वाभिमान रूपी ज्वर को शान्त करने वाले पूर्वपुरुषरूपी सिंह से अत्यन्त न्यूनता की भावना करने जैसी है।

विवेचन :- उच्चता का खयाल! खतरनाक खयाल है। "मैं सर्वोच्च हूं। मैं दूसरों के मुकाबले महान हूँ। तप और चारित्र से बड़ा हूँ। ज्ञान से श्रेष्ठ हूँ। सेवा-सादगी के क्षेत्र में परमोच्च हूँ।" यदि इस तरह की नानाविध वैचारिक तरंगें किसी के दिमाग मे निरन्तर उठती हों, तो निहायत खतरनाक और भयानक है। याद रखना, इन्ही विचार-तरंगो से एक प्रकार का ऐसा विषम ज्वर पैदा होगा कि जान के लाले पड जाएँगे। ऐसा ज्वर, कि जो मलेरिया, न्यूमोनिया और टायफाइड से भी भयंकर होता है और वह है-अभिमान....मिथ्याभिमान!

सभव है, ज्वर का यह नाम तुमने जिंदगी में पहली बार ही सुना होगा। तेज बुखार में मनुष्य को मिठाई कडवी लगती है। वह निरन्तर अनर्गल बकवास और पागलपन के प्रलाप करता रहता है। अपनी सुध-बुध और होशो-हवास खो बैठता है। अभिमान.... मिथ्याभिमान के विषम ज्वर मे भी ये ही सारी प्रतिक्रियाये होती रहती है। लेकिन अभिमानी व्यक्ति इसे देख नही पाता और ना ही समझ पाता है।

अभिमान के तेज बुखार मे नम्रता, विनय, विवेक, लघुता की मेवा-मिठाई कभी नही भाती, बल्कि कडवी लगती है। ठीक वैसे ही उस पर 'पर-अपकर्ष' के पागलपन की धुन सवार हो जाती है। फलत:

वह क्या बकता है, उस हालत मे कैसा लगता है, आदि बातो का उसे भान नही रहता । वह उसी दौर मे पूज्य माता पिता का अपमान करता है । परम आदरणीय गुरुदेवो का उपहास करता है । अन्य गुणीजनो को तुच्छ समझता है । उनके दोषो को सबोधित कर उन्हें अपमानित करने की चेष्टा करता है ।

क्या ऐसे विषम ज्वर को उतारना है, शान्त करना है ? यदि अभिमान को 'ज्वर' स्वरूप मे मान लें तभी यह सभव है । उसे दूर करने के प्रयत्न किये जा सकते हैं । अभिमान के विषम ज्वर मे पीडित जीव आत्मकल्याण के मार्ग पर चल नही सकता । शायद वह यो कह दे कि, 'मैं मोक्षमार्ग पर ही हूँ,' तो यह उस का मिथ्या प्रलाप ही है । पूज्य उपाध्यायजी महाराज ने प्रस्तुत विषम ज्वर को नेस्तनाबूद करने का उपाय भी सुझाया है

"जिस विषय का तुम्हे अभिमान है जिस पर तुम्हे नाज है, उस विषय मे निष्णात/पारगत बने प्राचीन महापुरुषो के सम्बन्ध मे सोचो, विचार करो और उनकी सर्वोत्तम सिद्धि के साथ अपनी तुलना करो ।"

सचमुच प्रस्तुत विचारऔषधि चमत्कारिक एव अनूठी है । जब तुम अपने को उन महापुरुषो के मुकाबले खडा पाओगे तो स्वय को बौने से कम नही पाओगे । तुम्हें अपना अस्तित्व नहीवत् प्रतीत होगा और क्षणार्ध मे ही तुम्हारा अभिमानज्वर 'नॉरमल' हो जाएगा ।

ज्ञान, विज्ञान, बुद्धि, बल, कला, त्याग, व्रत, तपादि विषयो मे पारगत, सिद्ध महापुरुषो के स्मरण मात्र से तुम आश्चर्यचकित रह जाओगे । तुम्हारा अभिमान–ज्वर शीघ्र उतर जायेगा । ठीक वैसे ही आज के युग मे भी हम से अधिक विद्वान् और पारगत कई महापुरुषो का विचार करना जरुरी है "इन सबकी तुलना मे भला मुझमे अधिक क्या है ? यदि कुछ नही, तब यो ही अभिमान करना कहा तक उचित है ?"

शरीर–रूप–लावण्य–ग्रामारामधनादिभि ।
उत्कर्ष परपर्यायैश्चिदानन्दघनस्य क ? ।।५।।१४१।।

अर्थ शरीर क रूप–लावण्य गाँव, बाग–बगीचे, धन–धान्यादि और पुत्र–पौत्रादि समृद्धि रूप परद्रव्य के पर्यायो से भरा ज्ञानानन्द से परिपूर्ण आत्मा को अभिमान कैसा ?

विवेचन . परपर्याय !

आत्मा से जो पर है, भिन्न है, उसके पर्याय ।

शारिरीक सौन्दर्य, रूप-लावण्य, ग्राम-नगर, उद्यान, धन-धान्यादि संपदा और पुत्र-पौत्रादि... ये सब पर-पर्याय हैं । आत्मा से भिन्न जो पुद्‌गल हैं यह उसकी सृष्टि है । पुद्‌गल की ये परिवर्तनशील अवस्थायें हैं ।

आत्मन् ! पुद्‌गल की इन रचनाओ मे भला, तुझे क्या लेना-देना ? जरा, ध्यान से सुन । ये कोई तेरी अपनी अवस्थायें नही हैं, ना ही तेरी सृष्टि ! ये तो 'पर' हैं, परायी हैं । मतलब, जो कुछ भी है, दूसरों का है । इनकी समृद्धि से तू अपने आप को श्रीमंत-समृद्ध न मान । ना ही इन पर मिथ्या अभिमान कर । इनके अभिमान से उत्पन्न आनन्द तुम्हारे किसी काम का नही है । अत: बेहतर यही है कि तुम इससे सर्वथा अलिप्त रहो ।

हे चिदानन्दघन ! तुम ज्ञानानन्द से परिपूर्ण हो । पुदगलानन्द का सारा विष नष्ट हो गया है । ज्ञानानन्द की मस्ती की तुलना मे तुम्हे इन पुद्‌गलो की परिवर्तनशील अवस्थाओ से प्राप्त आनन्द तुच्छ प्रतीत होता है । वह आनन्द नही, बल्कि नीरा पागलपन लगता है । सारी दुनिया भले ही तुझे पुद्‌गल-पर्याय की समृद्धि के कारण सुन्दर समझे, सौन्दर्यशाली माने, नगरपति समझे, पुत्र-पुत्री और पत्नी के कारण पुण्यशाली करार दे, अलौकिक संपदा का स्वामी माने । लेकिन दुनिया के इस पर-पर्याय-दर्शन से उत्पन्न कीर्ति तुम्हारा एक रोम भी खडा नही कर सकती, तुम्हें रोमाचित नही कर सकती । क्योंकि तुमने मन ही मन दृढ सकल्प कर लिया है: "शरीर का रूप और लावण्य, धन-धान्यादि संपदा, पुत्र-पौत्रादि परिवार....ये सब पुद्‌गल-जन्य हैं, ना कि मेरा है । मेरे साथ इन का कोई सम्बन्ध नहीं ।"

तब भला, उस पर अभिमान करने का प्रश्न ही कहाँ खडा होता है ? जब पर-पर्याय का मूल्यांकन नही रहा, तब उस पर अभिमान करने से क्या मतलब ?

- पर-पुद्‌गल के पर्यायो का मूल्यांकन बन्द करो ।
- ज्ञानानन्द को अखंड रखो ।

आत्मप्रशंसा के मिथ्याभिमान से बचने के लिये ज्ञानी पुरुषों ने कई उपाय सुझाये हैं । मोक्ष-मार्ग की ओर जिसने प्रयाण शुरू कर दिया है, व्रत-महाव्रतमय जीवन जीने का जिस ने संकल्प कर लिया है और जो तपश्चर्या तथा त्याग का उच्च मूल्यांकन करते हैं, ऐसी मुमुक्षु आत्माओं को चाहिए कि वे हमेशा स्वप्रशंसा के पाप से बचने का पुरुषार्थ करें । उनके लिये उन्हें पुद्गल-पर्यायों का गुण-गान करना बंद करना चाहिये । सदा-सर्वदा ज्ञानानन्द के अतल सरोवर में निमग्न हो जाना चाहिये ।

सावधान ! स्व-प्रशंसा के साथ पर-निन्दा प्रायः जुड़ी हुई होती है । एक बार स्व-प्रशंसा एवं परनिन्दा का आनन्द प्राप्त होने लगा कि ज्ञानानन्द का प्रवाह मंद होने लगेगा, वैसे वैसे आत्म-तत्त्व का विस्मरण होता जाएगा और तुम्हारे जीवन में पुद्गल-तत्त्व प्रधान बन जाएगा ।

—मुनि तो चिदानन्दघन होता है ।
—उसे पर पर्याय का अभिमान नहीं होता ।
—वह ज्ञानानन्द महोदधि में विलसित रहता है ।
—मुनि तो निरभिमानता इसीलिये ज्ञानी है ।

शुद्धाः प्रत्यात्मसाम्येन, पर्यायाः परिभाविताः ।
अशुद्धाश्चापकृष्टत्वाद्, नोत्कर्षाय महामुने ॥६॥१४२॥

अर्थ : प्रत्येक आत्मा में शुद्ध नय की दृष्टि से प्रमाणित शुद्ध-पर्याय समान रूप से विद्यमान होती है और अशुद्ध-विभावपर्याय तुच्छ होने से महामुनि [सभी नयों में सर्वत्र परिणति वाले] उस पर कभी अभिमान नहीं करते ।

विवेचन – महामुनि तत्त्वचिन्तन के माध्यम से अभिमान पर विजयश्री प्राप्त करते हैं । न जाने यह चिन्तन कैसा तो अद्भुत, अपूर्व और मधुर है, यही तो लगता है ।

महामुनि शुद्ध नय की दृष्टि से आत्म-दर्शन करते हैं । पहले अपनी आत्मा का दर्शन है बाद में अन्य आत्माओं को देखते हैं । उनको किसी प्रकार का भेद प्रकार उच्च-नीचता -भारी हल्कापन का दर्शन

नही होता । हर आत्मा के शुद्ध पर्याय समान दिखायी देते है । अन्य आत्मा के बजाय अपनी आत्मा मे कोई विशेषता अथवा अधिकता दृष्टिगोचर नहीं होती । तब अभिमान क्यो और किसलिये किया जाए ? दूसरों के मुकाबले हमारे में कोई विशेषता अथवा किन्ही गुणों की प्रचुरता हो, तभी अभिमान जगे न ?

आत्मा के शुद्ध पर्यायो का विचार शुद्ध नय की दृष्टि से ही किया जाता है । ऐसी स्थिति मे सभी आत्मायें ज्ञानादि अनन्त गुणो से युक्त, अरूपी....दोष-विरहित और समान प्रतीत होती हैं । दूसरी आत्मा की तुलना मे हमारी आत्मा मे एकाध गुण भी अधिक नही होता....। किसी आत्मा में दोष के दर्शन नही होते । फिर भला, उत्कर्ष किस बात पर करना चाहिये ?

सभव है, शुद्ध स्वरूप के चिन्तन मे तो अभिमान के अश्व पर सवार होना सर्वथा दुष्कर है, लेकिन शुद्ध पर्यायो के साथ-साथ अशुद्ध पर्याय भी विद्यमान होते है । अशुद्ध पर्यायों मे समानता नही होती है । तब अभिमान का टट्टू रेस के घोड़े का रुप धारण करने मे विलंब नही करता और पागल जीव उस पर सवार हो जाता है ।

लेकिन महामुनि अशुद्ध पर्यायों से कोसो दूर रहते हैं । अपने आत्म-प्रदेश से अशुद्ध पर्यायो को देश-निकाला दे देते हैं । तब वे अभिमान कैसे करेंगे ? भले ही दूसरो के मुकाबले अलौकिक रुप-सौन्दर्य हो, विशिष्ट प्रकार का लावण्य हो, शास्त्र–ज्ञान और परिशीलन में महा-पंडित हो, अधिक प्रज्ञा हो, अन्य आत्माओं से बढ–चढ़कर शिष्य-सपदा हो, अथवा मान-सम्मान का जयघोष सारी आलम में गूजता हो, उनके (महामुनि के) लिये यह सब तुच्छ और क्षणिक होता है । सर्वोत्तम महामुनि भूलकर भी कभी क्षणिक वस्तु पर अभिमान नही करते ।

यदि पडौसी के बजाय तुम्हारे घर मे अधिक गदगी हो, तुम्हारा घर ज्यादा गंदा और मटमैला हो, तो क्या अभिमान करोगे ? 'तुम्हारे मकान से मेरे मकान मे ज्यादा कचरा है ।' कहते हुए क्या तुम्हारा सीना फूलकर कुप्पा हो जाता है ? नही, हर्गिज नही । क्योकि कचरे को तुम तुच्छ समझते हो । कचरे की अधिकता पर अभिमान नही होता ! तब भला, जो महामुनि समस्त वैभाविक पर्यायों को तुच्छ

समझते हैं, एक प्रकार की गदगी समझते हैं, उस पर और उस की अधिकता पर भूलकर भी क्या वे अभिमान करेंगे ?

—शुद्ध पर्यायो में समानता का दर्शन,

—अशुद्ध पर्याया मे तुच्छता का दर्शन,

महामुनि को सदा मध्यस्थ भाव मे बनाये रखने में आधारभूत सिद्ध होता है। यह दर्शन उसे आत्म उत्कर्ष के गहरे समुद्र मे गिरने नहीं देता और फलस्वरूप आत्मा की स्वभावदशा और विभावदशा का चिन्तन, महामुनि का अमोघ शस्त्र बन जाता है। अमोघ शस्त्र के सहारे वह अभिमान की उत्तुग चोटिया को चकनाचूर कर देता है। यदि हर एक मुनि इसी चिंतन-पथ के पथिक बन, साधना के क्षेत्र मे आगे बढते रहें, ता अभिमान की क्या ताकत है कि वह उनके माग का रोडा बन सके ?

क्षोभं गच्छन् समुद्रोऽपि, स्वोत्कर्षपवनेरित ।
गुणौघान् बुद्बुदीकृत्य, विनाशयसि किं मुधा ? ॥७॥१४३॥

अर्थ मर्यादासहित होने के बावजूद भी, अपने अभिमान रूपी वायु से प्रेरित एव क्षुब्धता को प्राप्त हुआ, अपनी गुण-राशि को पानी के बुदबुदे का रूप देकर व्यर्थ में नष्ट क्या करता है ?

विवेचन —
—वह साधु है।
—साधु-वेष की मर्यादा मे है।

अभिमान वायु के प्रचड झोंके उठ रहे हैं। आत्म समुद्र मे तूफान आ गया है। गुण राशि का अपार जल बुदबुदा बन नष्ट हो रहा है, खत्म हो रहा है। क्या तुम्हें यह शोभा देता है ? तुम अपनी मर्यादा तो समझो।

यदि यह तथ्य समझ मे आ जाय कि अभिमान की वायु गुणो का नाश करती है, ता गुणा के नाश की प्रक्रिया रुक जायेगी। पूज्य उपाध्यायजी महाराज का आदेश है कि गुणा का सरक्षण और सवर्धन करते हुए भी अभिमान नहीं करें।

तू साधु का स्वाग रचकर, साधु-वेष धारण कर, अभिमान करता है ? व्यर्थ ही गुणो का नाश क्यो करता है ? क्या तेरी समझ मे कतई नही आता कि अभिमान के कारण गुणो का नाश होता है ? जानते नही कि अभिमानवश जमालि भव-भवर मे फस गया। वह मिथ्याभिमान के कारण अपनी सुध-बुध खो बैठा। सस्कार और शिक्षा-दीक्षा भुला बैठा। परमोपकारी परमात्मा महावीर देव के अनन्त उपकारो को विस्मृत कर दिया। विनय-विवेक मे भ्रष्ट बन गया। साथ ही अपनी अल्पज्ञता का ख्याल खो बैठा। न जाने उसने कितने गुण खो दिये। गुणो का नाश कर बैठा। अरे, अभिमान के प्रचड वायु के झोकों की लपेट मे आकर असख्य गुणरुपी महल ध्वस्त हो जाते है।

अभिमान–वायु के उद्गम-स्थान पर ही क्यो न 'सील' मार दी जाए ? कुल, रुप, बल, बुद्धि, यौवन वगैरह अन्य जीवो से तुम्हारे पास बढ-चढकर होगे। यदि इस पर तुमने उत्कर्ष किया तो कुत्सित हवा के झोके उठते विलम्ब नही होगा। यदि तुम श्रमण हो तो शास्त्रज्ञान, शास्त्राभ्यास, शासन-प्रभावकता, वक्तृत्व–शक्ति लेखन–कला, शिष्य–परिवार, भक्त-समुदाय और गच्छाभिमान....आदि छोटी–मोटी बातो का व्यामोह पैदा होते देर नही लगेगी। ऐसे समय यदि तुमने तात्त्विक चिन्तन द्वारा उन सब बातो को 'तुच्छ' न माना और शुद्ध नय की दृष्टि मे 'समानता' का विचार न किया, तो मिथ्याभिमान की भूत-लीला से तुम आक्रान्त हो जाओगे। फलतः तुम्हारे में रहे गुण, पानी के बुद-बुदे की तरह नष्ट होते पल की भी देर नही लगेगी। उसमे एक नये अनिष्ट का जन्म होगा। गुणरहित होने के उपरान्त भी 'मै गुणी हूँ' ऐसा बताने हेतु ओर अपनी इज्जत बचाने के लिये दभ करना पडेगा। तुम्हे दंभी बनना होगा! तुम जैसे नही हो, वैसा प्रदर्शन करने के लिये प्रयत्न करोगे। तनिक सोचो, आत्मा का यह कैसा अव.पतन ? क्या यह भी नये सिरे से समझाना होगा ?

प्रायः ऐसा देखा गया है कि दुष्कर प्रयत्न और घोर तपश्चर्या के फलस्वरुप आत्मा मे गुणो का प्रादुर्भाव होता है। यदि उन का यथोचित सरक्षण और सवर्धन न किया जाए, तो समझ लेना चाहिये कि गुणो का सही मूल्यांकन करना हम भूल गये है। जो मनुष्य गुणों का मूल्या-कन करना भूल जाए, उसके गुण नष्ट होते समय नही लगता। गुणों-

क मारक हमेशा इसी ताक म रहते है । उनको तो केवल अवसर मिलना चाहिए । वे अपनी पूरी शक्ति के साथ जीव पर पील पड़ेंगे, टूट पड़ेंगे और गुणों का सहार करके ही दम लेंगे । अन स्व पर्याय अथवा पर-पयाय का अभिमान नही करना है । सदा-सवदा, निरभिमानी बने रहना है । क्योंकि हम साधु-वेष की मर्यादा के पालन मे जा हैं।

हे महात्मन् ! भूलकर भी गुणो का नाश न करो और ना ही अभिमान मिथ्याभिमान की सगत करो !

निरपेक्षानवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तय ।
योगिनो गलितोत्कर्षापकर्षानल्पकल्पना ॥८॥१४४॥

अथ – योगी का स्वरूप अपेक्षारहित, देश की मर्यादा मे मुक्त, काल की मर्यादा मे रहित, ज्ञानमय होता है । उनकी उत्कर्ष की कल्पनायें गलित हो गयी होती हैं ।

विवेचन योगी ! जो आत्मस्वरूप मे लीन और परमात्म-स्वरूप की कामना करने वाला होता है उसे देश-काल क बन्धन नहीं होत हैं । वह स्व-उत्कर्ष म और पर-अपकष से परे होता है ।

आत्मा के अतल महोदधि मे अनत ज्ञान म योगी सदा रमण करता है । पर भाव, पर पयाय अथवा पादगलिक विविध रचनाओं म योगी की चेतना जाती नहीं, लुब्ध नहीं होती, आकर्षित नहीं होती । उसके मन म किसी प्रकार की कोई कामना, कामना अथवा अभिलाषा क लिये स्थान नही होता । वह निरतर परमात्म-स्वरूप की प्राप्ति म जिन पाने हेतु प्रवृत्तिशील रहे । उसे किसी की परवाह नहीं होती, ना ही कोई अपेक्षा । वह पूणतया निरपेक्ष भाव का प्रतीक होता है । उस म भव-सागर पार उतरने के लिये आवश्यक उत्कट निरपेक्षता होती है ।

'निरविक्खो तरइ दुत्तर भवोघ' ।
'निरपेक्ष तिरे दुस्तर भवसागर को ।'

किसी राष्ट्र, नगर अथवा गांव-विशेष का उन्हें आग्रह नहीं । किसी मौसम का उन्हे बन्धन नहीं । शरदऋतु हो या वर्षाकाल, या फिर ग्रीष्म ऋतु, उनका निर्वाणयात्रा पर कोई प्रभाव नहीं ! पर किसी भाव विशेष की भी उन्हें अपेक्षा नहीं । 'कोई मुझे योगी माने',

महात्मा माने या महाश्रमरण माने ।' ऐसा आग्रह नही । कहने का तात्पर्य यह है कि उन्हें किसी बात की कोई अपेक्षा नही होती। किसी के आधार पर, परभाव पर जिन्दगी बसर करता ही नही ! तब फिर स्व-उत्कर्ष और परापकर्ष की कल्पनायें बेचारी हिमखड की तरह पिघल ही जाये न ?

देश, काल और पर-द्रव्य के आधार पर जीवन व्यतीत करने वाला स्वोत्कर्ष को, स्वाभिमान को नष्ट नही कर सकता । परापकर्ष-परनिन्दा की बुरी आदत को नियन्त्रित नही कर सकता अभिमान को नेस्तनाबूद करने के लिये अनन्त इच्छाएँ और कामनाओ को निरपेक्षता की आग मे डाल देना होगा। साथ ही, अपेक्षारहित, परद्रव्यो की अपेक्षा से मुक्त जीवन बिताने का दृढ संकल्प करना होगा । तभी स्व-महत्ता की शहनाई बजनी बन्द होगी और पर-निन्दा के बिगुल की आवाज थमते देर नही लगेगी !

—योगी बनना है ?

—योगी का जीवन बाहर से कठोर, लेकिन भीतर में शान्त, प्रशान्त और कोमल होता है । ऐसे जीवन की क्या चाह जग पड़ी है ? विद्यमान परद्रव्य-सापेक्ष जीवन के प्रति क्या घृणा उत्पन्न हुई है ? रात-दिन परनिन्दा मे मग्न जीवन से क्या घबरा गये हो ? पर-परिणति के प्रागरण मे सतत सम्पन्न प्रेमालाप और कामुक चेष्टाओ से क्या नफरत हो गयी है ? और क्या, योगी का आन्तरिक प्रसन्नता से सराबोर और आत्मस्वरूप की रमणता वाला जीवन ललचाता है ? तुम्हे अपनी ओर आकर्षित करता है ?

तब निःसन्देह तुम 'योगी' बनने लायक हो । तुम्हे कदम-कदम पर योगी-जीवन के परमानन्द का अनुभव होगा । अभिमान का नशा काफूर हो जाएगा और आत्मा के अनंत गुण प्रकट हो जायेंगे ।

१९ तत्त्व-दृष्टि

'जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि !' यह कहना सहज है ! हर कोई सरलता के साथ इसका उच्चारण कर सकता है ! लेकिन स्व-दृष्टि को परिवर्तित कर सृष्टि का नव सर्जन करने कौन तैयार है ? किस दृष्टि के कारण हमे भव-भ्रमणाओं मे उलझना पडता है । और किस दृष्टि की पतवार थाम कर हम भव-सागर की उत्ताल तरगो को मात कर, मोक्ष की ओर निर्विघ्न प्रस्थान कर सकते हैं ? किस दृष्टि से हमें परमानन्द की प्राप्ति होती है और किस दृष्टि के कारण विषयानन्द की लोलुपता बढती है ? इसका रहस्य जानने के लिए प्रस्तुत अष्टक को खूब ध्यानपूर्वक पढो और उसका चिंतन-मनन करो ।

रूपे रूपवती दृष्टिर्दृष्ट्वा रूप विमुह्यति ।
मज्जत्यात्मनि नीरूपे तत्त्वदृष्टिस्त्वरूपिणी ॥१॥ ॥१४५॥

अर्थ : रूपी दृष्टी रूप को निहारकर मोहित हो जाती है, जबकि रूप रहित तत्त्वदृष्टि रूपरहित आत्मा म लीन हो जाती है ।

विवेचन तत्त्वदृष्टि !

वासनाओ का निर्मूलन करनेवाली तीक्ष्ण दृष्टि !

हमें अपनी दृष्टि को तात्त्विक बनाना है, अर्थात् विश्व के पदार्थो का दर्शन तात्त्विक दृष्टि से करना है । तात्त्विक दृष्टि से किये गये पदार्थ-दर्शन में राग-द्वेष नही होते, असत्य नही होता ।

चर्मचक्षु चमडे का सौन्दर्य निहारकर मोहित होती है, मुग्ध होती है । रागद्वेषका कारण बनती है। चर्म-चक्षु से ससार मार्ग का दर्शन होता है। उससे मोक्षमार्ग का दर्शन नही होता । मोक्ष-मार्ग केदर्शन हेतु तात्त्विक दृष्टि की आवश्यकता है । इसी तात्त्विक दृष्टि को आनन्दघनजी महाराज 'दिव्य-विचार' कहते है ।

चरम नयणे करी मारग जोवता
भूल्यो सयल संसार
जेणे नयने करी मारग जोइए
नयन ते दिव्य विचार
पंथडो निहालु रे बीजा जिन तणो....

अरुपी तात्त्विक दृष्टि से ही अरुपी आत्मा का दर्शन कर सकते है। क्योकि तात्त्विक-दृष्टि और आत्मा दोनो अरुपी है । यानी अरुपी का अरुपी से ही दर्शन सभव है। जैसे पोद्गलिक-दृष्टि से पुदगल का दर्शन !

चर्मदृष्टि....पुद्गल-दृष्टि... चरम नयन. .ये सब शब्दपर्याय हैं । आत्म-दर्शन हेतु इन दृष्टियो का उपयोग नही होता, उसके लिए अरुपी ऐसी तात्त्विक दृष्टि ही उपयोगी है । इसके खुलते ही आत्म-प्रशसा अथवा परनिंदा जैसी बुरी लतें छूट जाती है । तत्त्वदृष्टि सिर्फ खुलती है सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान, और सम्यक् चारित्र की उपासना एव आराधना से !

हमेशा खयाल रखो कि तत्त्वभूत पदार्थ एक मात्र आत्मा ही है। शेप सब पारमार्थिक दृष्टि से असत् है । लेकिन यह जीव अनादिकाल से तत्त्वभूत आत्मा का विस्मरण कर अतत्त्वभूत पदार्थो के पीछे बावरा बना भटकता रहा है, दु:खी हुआ है, नारकीय यत्रणाएँ सहता

रहा है, और नानाविध विडम्बनाओं का शिकार बना है। फिर भी जिनेश्वर भगवन की तत्त्वदृष्टि उसे मिली नहीं।

जिस दृष्टि में आत्मा के प्रति अनुराग की भावना पनपती है, वह तात्त्विक दृष्टि कहलाती है, जब कि जिसमें जड-पुद्गल के प्रति अनुराग पैदा होता है वह चर्मदृष्टि है।

केवलज्ञानी भगवंत की दृष्टि पूर्ण तत्त्वदृष्टि होती है। उसमें सकल विश्व के चराचर पदार्थों का त्रैकालिक दर्शन होता है। यह दर्शन द्वेषरहित होता है, हर्ष-शोक से मुक्त होता है। आनन्द विषाद से रहित होता है। अपनी आत्मा का भी प्रत्यक्ष दर्शन होता है। केवलज्ञानी भगवंतों ने जिस मार्ग का अवलम्बन कर ऐसा पूर्ण तत्त्वदृष्टि से युक्त केवलज्ञान प्राप्त किया है उसी मार्ग पर चल कर ही केवलज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। और वह मार्ग है सम्यग् दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र का।

भूल कर भी कभी शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श के मोह से ग्रस्त न बनो! आत्मस्वरूप में सदा सर्वदा लीन रहो! तभी पूर्णता प्राप्त होगी। सभी उपदेशों का यही साराश है। तात्पर्य है। अनादिकालीन बुरी आदतों को, मन को समझा कर छोडने का पुरुषार्थ करो। नये सिरे से नयी आदतों का श्रीगणेश करो। आत्म-स्मरण, आत्मरति और आत्मस्वरूप में लीनता के लिए सम्यक् श्रुतज्ञान में लीन रहो, साथ ही सम्यक् चारित्र से जीवन को संयमी बनाओ।

> भ्रमवाटी बहिर्दृष्टिर्भ्रमच्छाया तदीक्षणम्।
> अभ्रान्तस्तत्त्वदृष्टिस्तु नास्यां शेते सुखाशया ॥२॥१४६॥

अर्थ बाह्य दृष्टि भ्रान्ति की वाटिका है और बाह्य दृष्टि का प्रकाश भ्रान्ति की छाया है। लेकिन भ्रान्तिविहीन तत्त्वदृष्टि वाला जीव सुखकर उसकी भ्रमकी छाया में नहीं सोता।

विवेचन बाह्यदृष्टि

—भ्रान्ति के विषवृक्षों से युक्त वाटिका!

—भ्रान्ति के वृक्षों की छाया भी भ्रान्ति ही है! क्या कि विषवृक्षों की छाया भी आखिर विष ही होती है।

—बाह्यदृष्टि भ्रान्तिरूप और बाह्यदृष्टि का दर्शन भी भ्रान्ति-स्वरूप ही होता है।

फलत भ्रान्ति के विषवृक्षो की छाया मे तत्त्वदृष्टि आत्मा आराम मे नही सोती, निर्भय बनकर विश्राम नही करती। क्योकि भलिभांति मालुम है कि यहा सोने मे, विश्राम करने मे जान का जोखिम है। संभव है कभी-कभार उसे विषवृक्षो की घटाओ से गुजरना पडे, लेकिन उस की तरफ उसका आकर्षण कतई नही होता।

बाह्यदृष्टि मे 'अह' और 'मम' के विकल्प होते है, वह उपादेय को हेय और हेय को उपादेय सिद्ध करने की कोशिश करती है। वास्तविक सुख के साधनो मे दुःख का दर्शन और दुर्गति के कारणभूत साधनो मे सुख का आभास पैदा करती है। साथ ही वह इन्द्रियो के विषयो मे और मन के कषायो के प्रति कर्तव्य बुद्धि का ज्ञान कराती है। और शम-दम-तितिक्षा मे, क्षमा, नम्रता, निर्लोभिता, सरलतादि मे नि:सारता बताती है। अत: बाह्यदृष्टि के प्रकाश मे जो भी दिखाई दे उसे भ्रमका ही स्वरूप समझना। तत्त्वदृष्टि महात्मा बाह्यदृष्टि के प्रकाश को भ्रान्ति ही समझता है। उसकी सहायता से विश्व के पदार्थो को समझने का प्रयत्न ही नहा करता है।

बाह्यदृष्टि की अपनी यह विशेषता है कि वह विषयोपभोग में दु:ख की प्रतीति नही कराती। इन्द्रियों के उन्माद मे अशाति महसूस नही होने देती। कषायो के दावानल में जलते जीव को 'मै जल रहा हूँ,' का आभास नही होने देती! परिणाम-स्वरूप बाह्यदृष्टि की वाटिका के विषवृक्षो को देख जो ललचा गया, उसके सुदर मोहक रूप वाले फलों को निहार लुब्ध हो गया, वह अल्प समय मे ही अपना होश खोकर घोर वेदनाओ का अनुभव करता है।

तत्त्वदृष्टि आत्मा अपनी अतरात्मा के सुख से ही परिपूर्ण होता है! उसे किसी अन्य सुख की कामना-स्पृहा नहीं होती! अत: वह कभी बहिर्दृष्टि की वाटिका मे प्रवेश नही करता! कभी-कभार उसे उस वाटिका मे से गुजरना पडे तो वह भूल कर भी कभी वहाँ के विषवृक्षो की सुन्दरता को देखकर मुग्ध नही' होता, ना ही उससे प्रभावित हो क्षणार्ध के लिए उनकी घनी शितल छाया मे बैठने का नाम लेता है!

स्थुलभद्रजी स्वय अत मुख मे, तत्त्वदृष्टि क सुख से परिपूर्ण थे। लेकिन परम सौन्दयवती कोशा ने उन्हें विषवृक्षयुक्त वाटिका मे ही चातुर्मास हेतु ठहराया था। वह नित्यप्रति विषफलो म भरे थाल लेकर उनकी सेवा म स्वय उपस्थित रहती और मगध की यह सुप्रसिद्ध नृत्यागना उन्हे बाह्यदृष्टि की सुख सामग्री से मोहित करने का यथेष्ट प्रयत्न करती थी। लेकिन लाख प्रयत्नो के बावजूद भी तत्त्वदृष्टियुक्त स्थुलभद्रजी के आगे उसकी दाल न गली। वह उन्हें मोहित करने के बजाय स्वय उनके रग मे रग गयी। स्थुलभद्रजी ने तत्त्वदृष्टि का अजन कर और तत्त्वदृष्टि का अमृतपान करा कर उसे ऐसी बना दी कि उसमे आमूल परिवर्तन की उत्कट भावना पैदा हो गई। बहिर्दृष्टि की वाटिका मे रहते हुए भी कोशा असार ससार से निर्लिप्त बन गयी।

तात्पर्य यह है कि तत्त्वदृष्टि के बिना कोई जीव बहिर्दृष्टि की वाटिका से सही सलामत बाहर नही निकल सकता।

ग्रामारामादिमोहाय यद् दृष्टं बाह्यया दृशा।
तत्त्वदृष्ट्या तदेवान्तर्नीतं, वैराग्यसंपदे ॥३॥१४७॥

अर्थ बाह्यदृष्टि स देखे गये गाव, और बाग-बगीचे, मोह के कारण बनते हैं। जबकि तत्त्वदृष्टि स आत्मा मे उतारा हुआ यही सब वैराग्य प्राप्ति के लिए होता है।

विवेचन वही चिर-परिचित गाँव और नगर, वही कुज निकुज और उद्यान नदनवन।

—वही परम सौन्दर्यमयी ललनाएँ, अप्सराएँ, किन्नरियाँ!

—बाह्यदृष्टि मे इनकी ओर देखने पर प्रीति होती है। लेकिन इन्हें ही तत्त्वदृष्टि से देखा जाएँ तो मन मे वैराग्य की भावना जागृत होती है।

अत हे महाभाग के अनन्य आराधक! तुम्हें रागी बनना है या विरागी? तुम श्रमण बन गये, विरागी हो गये, विरतिधर बन गये, लेकिन फिर भी वैराग्य मार्ग पर विजयश्री प्राप्त करना शेष है। त्याग करने मात्र से वैराग्य की प्राप्ति नहीं होती! विरागी बनने की आतरिक इच्छा से तुमने त्याग किया है, यह भी एकदम सच है, लेकिन वैराग्य म मस्ती प्राप्त करने का दुष्कर कार्य अभी तुम्हें त्यागी जीवन में शुरु करना है और वैराग्य की अनोखी दुनिया मे घूम मचाना है।

तत्त्वदृष्टि महात्मा, नारीसमागम मे नरक के दर्शन करते है। नरक की भयंकर यातनाओ के दर्शन मात्र से मोह का नाश होता है।

नारी के अंगविक्षेप और प्रेमालाप के भीतर कपट-लीला का दर्शन होता है और वैराग्य जग जाता है।

बहिर्दृष्टि मनुष्य, नारी को मात्र शारीरिक उपभोग का साधन मान, उसके साथ बीभत्स व्यवहार करता है, जब कि तत्त्वदृष्टि जीव नारी की आत्मा भी मोक्षमार्ग की आराधना कर सके इतनी पवित्र और उत्तम है।' ऐसी पवित्र दृष्टि रखते हुए, उसके शारीरिक कमनीय अवयवों का ममत्व छोडने के आशय से, उसे (नारी को) विष्टा, मूत्र की हंडिया, नरक का दिया और कपट की काल कोठरी के रूप मे देखता है। और यह अयोग्य भी नही है! स्त्री के सौदर्य का और उसकी भाव-भगिमा की अलौकिकता का वर्णन उन लोगो ने किया है, कि जो सर्वथा कामी, विकारी और शारीरिक वासना के भूखे भेडिये थे। आज भी बहिर्दृष्टि मनुष्य नारी के बाह्य सौन्दर्य के रूप और रग तथा फेशनपरस्ती की प्रशसा करते नही अघाता। इसमे नारी-जाति का मान-सम्मान नही बल्कि घोर अपमान है।

नारी-दर्शन मे उत्पन्न सहज वासनावृत्ति को जडमूल से उखाड़ फेकने के लिए उसकी शारीरिक बीभत्सता का विचार करना अत्यंत आवश्यक और महत्वपूर्ण माना गया है। लेकिन साथ ही यह न भूलो कि नारी-देह मे भी अनत गुणमय आत्मा वास करती है। नारी को 'रत्नकुक्षी' भी कही गयी है। यह कोई गलत बात नही है। अतः उसका समुचित आदर करना भी उतना ही जरुरी है। इसीलिए नारी-दर्शन के बावजूद उसके प्रति मन मे मोह आसक्ति पैदा न हो, ऐसा दर्शन करने को कहा गया है। और यह अन्तर्दृष्टि के बिना असंभव है।

ससार मे 'नारी'—तत्त्व महामोह का निमित्त है। लेकिन यह वैराग्य का निमित्त भी बन सकता है। इसके लिए परमावश्यक है अन्तर्दृष्टि.... तत्त्वदृष्टि....!

लावण्यलहरीपुण्यं वपुः पश्यति बाह्यदृग् ।
तत्त्वदृष्टिः श्वकाकानां भक्ष्यं कृमिकुलाकुलम् ॥५॥१४९॥

अर्थ – बाह्यदृष्टि मनुष्य सौंदर्य-तरंग के माध्यम से शरीर को पवित्र देखता है, जबकि तत्त्वदृष्टि मनुष्य उस ही को कौए के खाने योग्य कृमि से भरा हुआ खाद्य देखता है।

विवेचन – शरीर!

प्यारी से भी बढ़कर प्रिय शरीर!
तुम भला, शरीर को किस दृष्टि से देखते हो!

बाह्यदृष्टि में शरीर, सौन्दर्य से सुशोभित, स्वच्छ और निर्मल प्रतीत होता है। जब कि तत्त्वदृष्टि का यही शरीर कौए कुत्ते के खाने योग्य कृमिओं से भरा भक्ष्य मात्र लगता है। कोई एक शरीर को देख रागी बनता है, जब कि दूसरा उसे देख विरागी/रागहीन बनता है! एक शरीर की सेवा करता है, हिफाजत करता है, जब कि दूसरा उसके प्रति बिलकुल उदासीन बेपरवाह होता है! एक शरीर के माध्यम से अपनी महत्ता समझता है, जबकि दूसरा स्वयं को उसके बंधनों में जकड़ा महत्वहीन/तुच्छ मानता है!

शारीरिक सौन्दर्य उसकी शक्ति, उसका लावण्य, और उसके आरोग्य का महत्व देने वाला बाह्यदृष्टि जीव शरीर में सर्वत्र व्याप्त आत्मा के सौन्दर्य को देख नहीं सकता, ना ही आत्मा की अपार शक्ति को समझ पाता है! साथ ही, आत्मा के अव्याबाध आरोग्य की उसे तनिक मात्र कल्पना नहीं होती। अरे, मुलायम, मोहक त्वचा के तले रही विभत्सता को वह देख नहीं सकता! उस की दृष्टि तो सिर्फ बाह्य-त्वचा पर ही केंद्रित होती है। वह रूखी त्वचा को मुलायम बनाने में, आकर्षक बनाने में प्रयत्नशील रहता है! गंदी चमड़ी को साफ-सुथरी बनाने के लिए आकाश-पाताल एक कर देता है! बहिरात्मदशा में ऐसा ही होता है!

लेकिन अंतरात्मा तत्त्वदृष्टि पुरुष हमेशा शरीर के भीतर झाँकता है और काँप उठता है। उसमें रहा मांस और रुधिर, मल और मूत्र.. यदि बाहर निकल कर रिसने लगे तो देखा न जाए ऐसा बीभत्स दृश्य खड़ा हो जाता है!

वह शरीर की रोगी अवस्था का विचार करता है! वृद्धावस्था की कल्पना करता है और अंत में निश्चेष्ट देह के शमशान की दशा

करता है....! उस के आसपास इकट्ठे हुए कौए और कुत्तों को देखता है : 'वे शरीर को बोटी-बोटी नोच-खचोट रहे है!' अनायास वह आँखें मूंद लेता है : 'जिस शरीर को नित्यप्रति मेवा-मिष्टान्न खिलापिलाकर पुष्ट किया, नियमित रूप से नहलाया-सजाया और सुशोभित किया, क्या आखिर वह कौओं की तीक्ष्ण चोंचों का प्रहार सहने के लिए? कुत्ते की दाढ तले कुचल जाने के लिए? छि. छि: !

वह शरीर को लकडी की चिता पर लाचार, मजबूर, निष्प्राण हालत मे पड़ा देखता है! क्षणार्ध में वह अग्नि की ज्वाला का भाजन बन जाता है और लकडियों के साथ जलकर राख हो जाता है। सिर्फ घंटे, दो घंटे की अवधि मे वर्षों पुराना सर्जन राख की ढेरी बनकर रह जाता है और वायु के तेज झोंके उसे पल, दो पल मे इधर-उधर उड़ा ले जा नामशेष कर देते है ।

शरीर की इन अवस्थाओ का वास्तविक कल्पनाचित्र तत्त्वदृष्टि ही बना सकता है! इस से शरीर का ममत्व टूटता जाता है! उस का मन अविनाशी आत्मा के प्रति बरबस आकर्षित होने लगता है। आत्मा से भेंट करने हेतु वह अपने भौतिक सुख-चैन को तिलाजलि दे देता है। शरीर को दुर्बल और कृश बना देता है! शारीरिक सौन्दर्य की उसे परवाह नही होती। शारीरिक सौन्दर्य के बलिदान से आत्मा के सौन्दर्य का प्रकटीकरण सभव हो तो वह उसे (शारीरिक सौन्दर्य को) हँसते-हँसते त्याग देता है। पापों के सहारे वह भूल कर भी शरीर को पुष्ट करना अथवा टिकाना नही चाहता। वह निष्प्राण वृत्ति धारण कर शरीर टिकाता है...., वह भी आत्मा के हितार्थ! तत्त्वदृष्टि का यही वास्तविक शरीर दर्शन है।

गजाश्वैर्भूपभवनं विस्मयाय बहिर्दृश ।
तत्राश्वेभवनात् कोऽपि भेदस्तत्त्वदृशस्तु न ।।६।।१५०।।

अर्थ :– बाह्यदृष्टि को गजराज और उत्तुंग अश्वों से सज्ज राजभवन को देख विस्मय होता है, जबकि तत्त्वदृष्टि को उसी राजभवन में और हाथी और घोडे के अस्तबल मे विशेष कुछ नहीं लगता।

विवेचन : ऐश्वर्य!

राजभवन का वैभव!

आज के राष्ट्रपति भवन का वैभव अथवा विविध राज्यो के राजपाल, प्रधानमंत्री, एवं मुख्यमंत्रियो के आलिशान बगले का वैभव और सुखसामग्री का दर्शन कर तुम्हारी आंखे क्या आश्चर्य से चकित रह जाती है ? तिरंगा लहराते उनके राजकीय भवन, राजा–महाराजाओ के रथादि वाहनो से अधिक मूल्यवान विदेशी कारें, मोटर साइकिल और स्कूटर आदि देख कर क्या तुम मुग्ध हो जाते हो ? इसका अर्थ यही है कि तुम बाह्यदृष्टि के वशीभूत हो ! विश्व दर्शन करने मे तल्लीन हो । अब भी तुम्हारी आंखे खुली नही है, तुम वास्तविकता से ठीक–ठीक दूर हो और तुम्हारा तत्त्वाजन होना शेष है ! 'मेरे पास इतनी भारी सपत्ति कब हो और मैं भी आलिशान भवन मनभावन वाहन और निरकुश सत्ता का स्वामी कैसे बनु ?' आदि चितन मे सदा सर्वदा खाये रहते हो तो नि सदेह तुम्हारी अतरदृष्टि के पट खुले नही हैं ! फिर भले ही तुम धर्माराधना करते हो, रात–दिन प्रभु–भजन करते हो ! यदि तुम श्रमण हो तो राजसी ठाठ–बाठ और भवन–वाहन देखकर क्या विचार करोगे ? 'परलोक मे भी इतने ही ऐश्वर्य और वैभव का स्वामी बनू !' ऐसे अरमान तो दिलोदिमाग मे नही बसा रखे हैं न ? ऐश्वर्यसंपन्न राजा–महाराजा, राष्ट्रपति–प्रधानमंत्री–राज्यपाल, मिल-मालिक अथवा उद्योगपतिओ से प्रभावित हो, स्वय ऐसा बनने के सपने तो नही देखते न ? यदि तुम्हारी अन्तर्दृष्टि–तत्त्वदृष्टि जागृत है तो तुम इन बातो से प्रभावित नही बनोगे ! उनके जैसे ऐश्वर्यधारक बनने के अरमान नही रखोगे ! बल्कि इन सब पौद्गलिक पदार्थों की अनित्यता, असारता और क्षणभगुरता का विचार करोगे, चिंतन-मनन करोगे !

※ 'इन्द्रजालोपमा स्वजनधनसगमा !'

स्वजन, धन, वैभव ..इनका सयोग इन्द्रजाल–सा है !

※ 'तेषु रज्यन्ति मूढस्वभावा !'

इसमें मूढ विवेकभ्रष्ट लोग ही आकठ डूबे रहते हैं ! अतर्दृष्टि महात्मा ऐश्वर्यशाली को, बलशाली को और उद्यमवीरो को अत मे असहाय स्थिति मे देखते हैं

तुरगरथेभनरावृतिकलितं दधतं बलमस्खलितम् ;
हरति यमो नरपतिमपि दीनं मैनिक इव लघुमीनम् ।।
विनय विधीयतां रे श्री जिनधर्मः शरणम्

जिनके पास हिनहिनाता अश्वदल था, मदोन्मत्त हाथियोका प्रचंड सैन्य था और था अपूर्व शक्ति का अभिमान! ऐसे रथी–महारथी महान् शक्तिशाली राजा–महाराजाओं को यमराज चुटकी मे उठा ले गए ! जैसे मछुआरा एकाध मछली को ले जाता है ! उस समय उन राजा-महाराजाओ की कैसी दयनीय दशा होती होगी ?

क्षणिक, भययुक्त और पराधीन पुद्‌गल–जन्य ऐश्वर्य, तत्त्वदृष्टि उत्तम पुरुष को विस्मित नही कर सकता ! क्योंकि उनके लिए ऐसा ऐश्वर्य कोइ मूल्य नही रखता । उन्हें सिर्फ चिदानंदमय आत्मस्वरुप का मूल्यांकन होता है । वे आत्मा के अविनाशी, अक्षय, अनंत, अगोचर, अभय एवं स्वाधीन ऐश्वर्य के लिए दिन–रात प्रयत्नशील रहते हैं ।

जिस ऐश्वर्य को बहिर्दृष्टि मनुष्य शिरोधार्य करने में स्वयं को गौरवान्वित समझता है, उसे अंतर्दृष्टि महात्मा पैरों तले कुचलने में ही अपना हित, परमहित मानता है ।

भस्मना केशलोचेन वपुर्धृतमलेन वा ।
महान्तं बाह्यदृग् वेत्ति चित्साम्राज्येन तत्त्ववित् ।।७।।१५१।।

अर्थ बाह्यदृष्टि मनुष्य शरीर पर राख मलनेवाले को, केशलोच करने वाले को अथवा शरीर पर मल धारण करने वाले को महात्मा समझता है, जबकि तत्वदृष्टि मनुष्य ज्ञान की गरीमा वाले को महान मानता है ।

विवेचन महात्मा !

कौन महात्मा ? बाह्यदृष्टि जीव तो शरीर पर भस्म मलनेवाले को, सिरपर जटा बढाने वाले को, वस्त्र के नाम से केवल लंगोटी धारण करने वाले को महात्मा मानता है ।

मस्तक पर मुंडन नही बल्कि लुंचन किया हो, श्वेत वस्त्र धारण किये हो, हाथ मे रजोहरण और दंड लिए हुए हो, ऐसे व्यक्तिविशेष को 'महात्मा' के रूप मे पहचानता है ।

और जिसे शरीरकी कतइ परवाह नही, तन-वदन पर मैल की पत जम गयी हो, कपडे मैले-कुचैले हो, वेढगे वस्त्र धारण किये हो, उसे भी वहिर्दृष्टि मनुष्य महात्मा कहता है।

जानते हो? तत्वदृष्टि मनुष्य 'महात्मा' को किस कसौटी से जानता है ? पहचानता है ? ज्ञान के प्रभुत्व के माध्यम से पहचानता है।

* ज्ञान-साम्राज्य का जो अधिपति वह महात्मा !
* ज्ञान की प्रभुता या प्रभु यानि महात्मा !

तत्त्वदृष्टि जीव, कसौटी करते हुए देखता है " इसमें क्या ज्ञान की प्रभुता है ? साथ ही, इसके ज्ञान साम्राज्य का विस्तार कितना और कसा है ? " विना ज्ञान, महानता असभव है। ज्ञान के बिना जीव वास्तविक 'महात्मा' नहीं बन सकता ! ज्ञान की प्रभुता से युक्त महापुरूषों को सिफ तत्वदृष्टि मनुष्य ही पहचान सकता है। सभव है कि वे ज्ञानी महात्मा शरीर पर भस्म न लगाते हो, अपनी देह को और वस्त्रो को मैले कुचैले नहीं रखते हो, ना ही केश का लु चन कराते हो। एसी स्थिति मे वाह्यदृष्टि जीव उनको महात्मा के रूप मे नही देख सकता है। लेकिन जहाँ ज्ञान का सवथा अभाव हो, फिर भी शरीर पर भस्म का लेपन होगा, तन-वदन गदा होगा, केश-लु चन होगा ... वहाँ वाह्यदृष्टि जीव आकर्षित होते देर नही लगेगी ! हालाकि उसे वहाँ ज्ञान का प्रकाश नही मिलेगा। यह (वाह्यदृष्टि जीव) ज्ञानार्जन के लिए महात्माओ की खोज करता ही कहाँ है ? वह महात्माओं के पास, सन चरणा मे सर अवश्य झुकाता है, परन्तु भौतिक सुख पाने के साधन जुटाने के लिए ! जानते हो, वह कौन से साधन हैं ? ' सपत्ति कैसे इकट्ठी करना ? एक रात मे सुलतान कैसे बनना ! सोना-चादी किस तरह वटोरना और पुत्र-पौत्रादि कसे प्राप्त करना !' ऐसी अजीबोगरीब पौद्गलिक वासनाओ की तृप्ति के लिए यह सत-चरण मे झुकता है ! उसकी यह दृढ मान्यता होती है कि मैले-कुचले, गदे और नग-धडग वावा, जोगी और अघोरी के पास ऋद्धि-सिद्धियो का भडार भरपूर होता है ! वे क्षणार्ध में ही गरीब को अमीर और बाँझ को पुत्रवती बनाने की अद्भुत क्षमता रखते हैं !'

वाह्यदृष्टि जीव को मोक्षमार्ग के लिए ... और धम-वधन

तोडने में अनन्य सहायक ऐसे ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती है। लेकिन जो ऐसे ज्ञान के धनी हैं वे विश्व के लिए अनंत उपकारी और हितकारी होते हैं। तत्त्वदृष्टियुक्त जीव ऐसे महापुरुषों को ही 'महात्मा' के रूप में सम्बोधित करते हैं। साथ ही नित्यप्रति उनकी सेवा-भक्ति और उपासना करते हैं।

महात्मा बनने के अभिलाषी जीव को ज्ञानदृष्टि से युक्त होना अत्यंत जरूरी है। क्योंकि ज्ञान-दृष्टि के बिना महान् नही बन सकते! इस तत्त्व को जानने वाला मनुष्य तत्त्वज्ञान को पाने का प्रयत्न करेगा ही।

सिर्फ कोई स्वांग रचकर अथवा बाह्य प्रदर्शन कर कथित महात्मा बनना, उसे रूचिकर नही होता है! वह सदा-सर्वदा निष्पाप और ज्ञानपूर्ण जीवन में ही महानता के दर्शन कर, उस मार्ग पर चलता रहता है।

न विकाराय विश्वस्योपकारयैव निर्मिताः।
स्फुरत्कारूण्यपीयूषवृष्टयस्तत्त्वदृष्टय. ॥८॥ १५२॥

अर्थ स्फूरित करूणा रूप अमृत-धारा की वृष्टि करने वाले तत्त्वदृष्टि धारक महापुरूषो की उत्पत्ति विकार के लिए नही, अपितु विश्व-कल्याण हेतु ही है।

विवेचन :— तत्त्वदृष्टि वाले माहपुरूष यानी
-करुणामृत का अभिषेक करने वाले!
-विश्व पर निरतर उपकार करने वाले!
-राग-द्वेषादि विकारो का उच्छेदन करने वाले!

ग्रहण और आसेवन शिक्षा के माध्यम से और स्व-पर आगम ग्रंथों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म रहस्यो की प्राप्ति द्वारा ही तत्त्वदृटि महापुरुषों की उत्पत्ति होती है! जिनशासन के आचार्य, एवं उपाध्याय ऐसे तत्त्वदृष्टि महापुरुषो को प्रशिक्षित करने में रत रहते हैं।

विश्व में राग द्वेषादि विकारों को विकसित एवं विस्तृत करने का कार्य तत्त्वदृष्टिवाले महापुरूष नहीं करते, बल्कि उस को विनष्ट करने का भगिरथ कार्य करते हैं।

विपय–कपाय के वशीभूत बने भवसागर में डूबते जीवो को देख तत्त्वदृष्टिधारक महापुरुपो का हृदय करुणामृत से आकठ भर जाता है । प्राय वे डूबते जीवो को सयम की नौका मे बिठाकर भव–सागर से पार लगा देते हैं ।

महा भयकर भववन मे भूले पडे जीवो को देखकर तत्त्वदृष्टिवाले महात्माओ के मन मे असीम करुणा का स्फूरण होता है । फलस्वरुप वे दयार्द्र हो कर जीवो को अभयदान देते है, सही माग इगित करते हैं, उसमे साथ देने का आश्वासन देते हैं और मोक्षमाग की श्रद्धा प्रदान करते हैं ।

अनेकानेक जीवो के नाना प्रकार के सदेह, शका–कुशकाओ का निराकरण कर, नि शक बन, मोक्षमागकी आराधना मे उन्हे प्रेरित–प्रोत्साहित करते हैं । वे समुद्रवत गभीर और मेरुवत अचल अडिग होते हैं। उपसग–परिषह से उन्हे भय नही होता ना ही दीन–हीन वत्ति रखते हैं । नित्यप्रति मोक्षमाग की साधना मे खोये रहते हैं । वास्तव मे ऐसे महात्मा ही महा हितकारी और कल्याणकारी होते हैं । इस दुनिया मे उनके बिना अन्य कोई आश्वासन, आश्रयस्थान, अथवा आधार नही हैं ।

करुणासभर हृदय से और तत्त्वदृष्टि के माध्यम से किये गये विश्वदशन से य विचार प्रगट होते है

" अरे ! इस पृथ्वी पर धम की ऐसी दिव्यज्योति बिखरी हुई होने पर भी ये पामर जीव अपनी आंखो पर अज्ञान की पट्टी बाधकर ससार की चौरासी लाख जीवयोनि मे निरुद्देश्य भटक रहें हैं । आत्मतत्त्व का विस्मरण कर, व्यथ मे ही जड तत्त्वो से सुख प्राप्त करने का मिथ्या प्रयास कर रहे हैं । नारकीय दु ख, कष्ट और नाना प्रकारकी विटम्बनाओ से ग्रस्त हो गये हैं । न जाने कैसे दीन–हीन और दयनीय स्थिति के भोग बन गये हैं ? कसा करुण क्र दन कर रहे हैं ! क्यो न बेचारो को इन यातनाओ से बचा लू ? उन्हें धम का सही माग बताकर उनके भव-फरो का अत कर दू ! उन्हें धम का मम और रहस्य समझा दू, ताकि वे अनत दु ख, स ताप और परिताप से मुक्त हो जाएँ -भीपण भव–सागर से पार उतर जाएँ।"

सांसारिक जीव उन्हें उपकारी माने-या न माने, लेकिन वे निरंतर उपकार करते ही रहते हैं। उनके मनमें जीव मात्र के कल्याण की भावना ही बसी हुई होती है। प्रखर प्रकाश के दाता सूर्य को भले ही कोई उपकारी माने या नही मानें, सूर्य प्रकाश देता ही रहता है। क्योंकि यह उसका मूल स्वभाव है! ठीक उसी तरह, तत्त्वदृष्टि महात्माओं का मूल स्वभाव ही दीन-हीन-दयनीय जीवों के प्रति दयार्द्र हो, उपकार करने का है।

२०. सर्वसमृद्धि

आहा ! 'वैभव' और 'समृद्धि, शब्द ही कैसे आकर्षक हैं ? जिस वैभव और समृद्धि की चोटीपर से फिसल जाने के कारण जीव की हड्डीपसली खोजे कहीं नहीं मिलती है, उस शिखर पर पहुँचने के लिए न जाने कितने लोग अधीर/आकुल-व्याकुल हो रहे हैं ! प्रस्तुत अध्याय मे अपूर्व और अदभुत समृद्धि के सुहाने गगनचुम्बी शिखरो का दर्शन कराया गया है !

आप इस अष्टक मे आध्यात्मिक वैभव-सपत्ति का रसपूर्ण भाषा मे वर्णन पढ़ोगे। भौतिक वैभवो का आकर्षण मिट जायेगा और आध्यात्मिक सपत्ति पाने के लिए लालायित हो उठोगे !

बाह्यदृष्टिप्रचारेषु मुद्रितेषु महात्मन .।
अन्तरेवावभासन्ते स्फुटा: सर्वा: समृद्धय ॥१॥१५३॥

अर्थ :– जब बाह्यदृष्टि की प्रवृत्ति बंद पडती है तब महात्मा को अंतर में उपजी सर्वसमृद्धि का दर्शन होता है।

विवेचन:– अपार...अनंत समृद्धि....!

भला बाहर खोजने की आवश्यकता ही क्या है ? अन्यत्र भटकने से क्या मतलब ? जरा सोचो और एक बात पर गौर करो। तुम अपनी बाह्य दृष्टि बंद कर दो। करली ? अब अंतर्दृष्टि के पट खोलकर अंतरात्मा मे झांको ! एकाग्र बनकर देखो। अंधकार है न ? कुछ दिखाई नही पड़ता ? लेकिन हताश न हो। भूलकर भी अंतर्दृष्टि बंद न कर देना। उसके प्रकाश को और प्रखर बनाकर देखो। बाहर के प्रकाश से आंखे चोंधिया गई है, अत: कुछ देर और घना अंधेरा दिखायी देगा। और तब शनैः शनैः वहाँ स्थित अखण्ड भंडार दृष्टिगोचर होने लगेगा....।

कुछ दिखा ? नही ?

तब तुम्हारी समस्त इन्द्रियो की शक्ति को केन्द्रित कर, अन्तरात्मा मे रही समृद्धि के भंडार को देखने के काम मे लगा दो। विश्वास रखो, वहाँ विश्व का श्रेष्ठ और अक्षय भंडार दबा पड़ा है....और तुम उस भंडार के बिलकुल करीब हो....धैर्य रखकर उसे देखने का प्रयत्न करो। उस में क्या है और क्या नही, इसे जानने के लिए इतने आकुल–व्याकुल न बनो। तुम स्वयं ही भंडार में क्या है उसे ध्यान पूर्वक देख लेना। फिर भी कह देता हूं कि भंडार की समृद्धि से तुम देव–देवेन्द्रो के साम्राज्य खरीद सकते हो....। देवलोक और मृत्युलोक की समस्त ऋद्धि–सिद्धियाँ मोल ले सकते हो। साथ ही, जानकारी के लिए उक्त समृद्धि की एक विशेष खासियत बता दूं। इसे प्राप्त करने के बाद वह कदापि कम नही होगी..!

क्या अब भी दृष्टिगोचर नही हुई वह समृद्धि ? बाह्यदृष्टि तो बंद कर रखी है न ? उस पर 'सील' मार दो। वह तनिक भी खुली न रहने पाएँ, वरना भंडार नजर नही आएगा। बाह्यदृष्टि के पापवश ही कई बार जीव इसके (समृद्धि का भंडार) बिलकुल करीब आकर

हाथ मलते रह जाते हैं ! अर्थात् उन्हें निराशा ही गले लगानी पडती ह । अत बाह्यदृष्टि को तो चूर-चूर ही कर दो ।

हाँ, अब भडार के दशन हुए ! अस्पष्ट और क्षणिक दशन ! परवाह नहीं अस्पष्ट ही सही, आखिर दृष्टिगोचर तो हुआ न ? अब अपने हाथ तनिक लम्बे कर आगे बढो, उत्तरोत्तर प्रकाश की ज्योत बडी होती जाएगी हो गयी न ? अब तो भडार के स्पष्ट दशन हो गये न ? पूरी शक्ति से उसे खाल दो । न जान कसी अद्भुत समृद्धि से वह भरा पडा है !

अब बताइए, तुम्हे देश-परदेश मे भटकने की गरज है ? सेठ-साहुकारो की गुलामी करने की जरूरत है ? वाणिज्य, व्यापार करने की आवश्यकता है ? पुत्र-पौत्रादि परिवार के पास जाने की इच्छा है ? उन सब का स्मरण भी हो आता है क्या ? जो भी है, भव्य और अद्भुत है न ? लेकिन सावधान ! बाह्यदृष्टि के खुलते ही यह सब अलोप हाते देर न लगेगी और परिणामत पुन गाव-नगर की गली कूचा मे भटकते भिखारी बन जाओगे ।

समाधिनन्दन धैय दम्भोलि समताशचि ।
ज्ञान महाविमान च वासवश्रीरिय मुने ॥२॥ १५४ ॥

अथ समाधिरूपी नदनवन, धय रूपी वज्र, समता रूपी इन्द्राणी और स्वरूप-प्रवबोध रूपी विशाल विमान, इन्द्रकी यह लक्ष्मी मुनि को होती है !

विवेचन - मुनिराज आप स्वय इन्द्र हैं !

आपकी समृद्धि आर शोभा का पार नही, अपरम्पार ह ! आपको किसी बात की कमी नहीं, ना ही आप दीन हीन और दयनीय हैं ! देवराज इन्द्र की समस्त समृद्धि के आप स्वामी हैं । आइए, तनिक अलौकिक समृद्धि के दर्शन करीये

यह रहा आपका नदनवन ! नदनवन कैसा सुरम्य, हरियाली स युक्त, आह्लादक और मनोहारी है ! ध्याता , ध्यान और ध्येय के मिलन स्वरूप समाधि के नदनवन मे आपको नित्यप्रति विश्राम करना है । इस मे प्रवेश करने के पश्चात आपको अन्य किसी चीज की याद

नहीं आएगी । प्रतिदिन नया, नूतन लगनेवाला यह नंदनवन आपका अपना है...! अच्छा लगा न ?

आपको क्या शत्रुओं का भय है ? हमेशा निर्भय रहिए । अति दुर्गम पर्वतमालाओं को क्षणार्ध में चकनाचूर कर दे, क्षत-विक्षत कर दे ऐसा शक्तिशाली वज्र आप के पास है । फिर भला, डर किस बात का ? इन्द्र इस वज्र को प्राय: अपने पास रखता है, वैसे आप को भी हे मुनिन्द्र ! धैर्य रुपी वज्र को सदा-सर्वदा अपने पास रखना है । यदि परिषहों की पर्वतमाला आपका मार्ग अवरुद्ध कर दे तो धैर्य-वज्र से उन्हें चकनाचूर कर निरतर आगे बढते रहना है । क्षुधा या पीपासा, शीत या उष्ण, डांस या मच्छर, नारी या सम्मान...आदि किसी भी परिषह से आपको दीनता या उन्माद नही करना है । धैर्य-वज्र से उसे पराजित कर सदा विजयश्री वरण करते रहना है ।

आपको अकेलापन, एकात खलता है न ? आप के मन को स्नेह से प्लावित करनेवाला और प्रेमदृष्टि से घायल करनेवाले सहयोगी की आवश्यकता है न ? यह रही वह सुयोग्य, रुपसम्पन्न, नवयौवना इन्द्राणी समता-शचि ! आपकी कायमी सहयोगिनी है ! इसी समता-शचि के हाथ अमृतपान करते रहना, उसके अनिंद्य सौन्दर्य का उपभोग करते रहना! आपको कभी अकेलापन महसूस नही होगा ! आपका मन सदा-सर्वदा प्रेम की मस्ती में खोया रहेगा । समता-शचि मध्यस्थदृष्टि है । अत: इसे क्षणार्ध के लिए भी अपने से अलग नही करना ।

'लेकिन वास-स्थान कहा ?' अरे मुनिराज, आपको विशाल विमान में ही निवास करना है । ईंट-चूने और मिट्टी-पत्थर से बनी इमारतें इसके मुकाबले तुच्छ है ! घास फूस की झोपड़ी या मिट्टी के कच्चे मकान आपके लिए नही ! आपको अपने परिवार के साथ विमान में ही निवास करना है । ज्ञान-रुपी महाविमान के आप खुद एक मात्र मालिक हैं । ज्ञान/ आत्मस्वरूप के अवबोध रूपी ज्ञान...यही महाविमान है । बताइए, इसमे निवास करते हुए आपको किसी कठिनाई का सामना तो नही करना पडेगा न ? सभी प्रकारकी सुविधाएं और सुख सामग्री से युक्त यह विशाल विमान है....! वस्तुत: आपका नदनवन भी इसी विमान मे है और आपकी अनन्य सहयोगिनी इन्द्राणी तथा वज्र भी इसी विमान में रहेगे !

कहिए, कोई न्यूनता रह गयी है ? मुनिन्द्र, आपके पास विश्व की श्रेष्ठ संपत्ति उच्चतम वैभव और अमोघ शक्ति है । ऐसी दिव्यावस्था में आप के दिन रात कैसे गुजर जाएंगे, उस का पता तक नहीं चलेगा । अत: हे मुनिश्वर ! आप अपनी शक्ति, संपत्ति और अलौकिक समृद्धि को पहचानिए । साथ ही, इसके अतिरिक्त तुच्छ एवं असार ऐसी पौद्गलिक संपत्ति की कामनायें छोड दें ।

विस्तारितक्रियाज्ञानचर्मच्छत्रो निवारयन् ।
मोहम्लेच्छमहावृष्टिं चक्रवर्ति न किं मुनि ? ।।३।। १५५ ।।

अर्थ : क्रिया और ज्ञान रूपी चर्मरत्न एवं छत्ररत्न से जो युक्त हैं और मोहम्लेच्छा द्वारा महावृष्टि का जो निवारण करते हैं, क्या ऐसे महामुनि चक्रवर्ति नहीं हैं ?

विवेचन : हे मुनीश्वर, क्या आप चक्रवर्ती नहीं हैं ? अरे, आप तो भावचक्रवर्ती हैं। चक्रवर्ती की अपार समृद्धि तथा शक्ति के आप आगार हैं। यह क्या आप जानते हैं ?

आपके पास चर्मरत्न है । सम्यक्-क्रिया का चर्मरत्न है !
आपके पास छत्ररत्न है । सम्यग् ज्ञान का छत्ररत्न है !

भले ही फिर मोहरूपी म्लेच्छ, मिथ्यात्व के दैत्यदल भेजकर तुम पर कुवासनाओं का शर-संधान कर दें ! चर्मरत्न और छत्ररत्न आपका बाल भी बाँका नहीं होने देंगे ।

आप में यह खुमारी अवश्य होनी चाहिए कि, 'मैं चक्रवर्ती हूं !' साथ ही, इस बात का गर्व होना चाहिए कि " मेरे पास चर्मरत्न और छत्ररत्न है ।" इस प्रकार के गर्व और खुमारी से आप दीन नहीं बनेंगे, कभी हताश नहीं होंगे, कायर नहीं होंगे ।

फिर भले ही मोहम्लेच्छ कैसा भी जाल बिछाए, जैसा चाहे वैसी व्यूह-रचना कर दे, तुम्हारे इर्द-गिर्द मिथ्यात्व के भयंकर दैत्यों का पहरा बिठा दें, और तुम्हें उलझानेवाली विविध वासनाओं की बौछार कर दें, लेकिन आप निर्भय बनकर पूरी शक्ति से उस का सामना करना । यदि तुम सम्यक् क्रियाओं में निमग्न होंगे तो वासना के तीर आपका कुछ नहीं बिगाडेंगे । यदि तुम सम्यग्-ज्ञान में मग्न होंगे तो

वासना के तीर तुम्हारी प्रदक्षिणा कर पुनः लौट जाएंगे और उसी दैत्य का वक्ष-स्थल भेदते हुए आर-पार हो जाएंगे। जानते नहीं? स्थुलीभद्रजी पर मोह-म्लेच्छ ने कैसा तो गजब का आक्रमण किया था? वासना की कैसी अति-वृष्टि की थी? लेकिन वे चक्रवर्ती मुनीन्द्र थे! मोह ने नगरवधु कोशा के हृदय मे मिथ्यात्व का आरोपण किया था, मिथ्यात्व ने उन पर वासनाओ की जबरदस्त मुठ मारी थी। कोशा नित्यप्रति नव-शृंगार कर वासनाओं के तीर पर तीर छोड़ने लगी, वासनाओं की तुमुल वर्षा करने लगी, उन्हें वश करने के लिए नानाविध नेत्र-कटाक्ष और प्रेमालाप की शतरंज बिछाने लगी, अंगविन्यास किये और मदोत्तेजक भोजन पुरसे! गीत-संगीत और नर्तन-कीर्तन से जादूई शमां बांध दिया। लेकिन उस की युक्ति स्थुलीभद्रजी पर कारगर सिद्ध न हुई। ना ही उस का मनोवांछित पूरा कर सकी। काम-वृष्टि का एकाध बूंद भी उन्हे भीगा नही सका! क्योंकि उस चक्रवर्ती के पास सत्क्रियाओं के चर्मरत्न और सम्यग्-ज्ञान के छत्ररत्न जो थे। यह दो रत्न सदा-सर्वदा चक्रवर्ती की, उनके शत्रुओं से रक्षा करते हैं। बशर्ते कि चक्रवर्ती इन दोनो को अहर्निश अपने पास ही रखे। यदि उन्हे अपने पास नही रखा तो घडी के सौवे भाग में ही चक्रवर्ती को नामशेष होते देर नही लगेगी।

मुनिराज! आपको तो सभी आश्रवों का परित्याग कर सर्वसंवर मे स्वय को नियन्त्रित करना है, यानी क्रिया और ज्ञान में परिणति प्राप्त करना है। मन-वचन-काया के योगों को चारित्र की क्रियाओ मे पिरो लेना है! और ज्ञान का अखण्ड उपयोग रखना है। भूलकर भी कभी ज्ञान-ज्योति बुझ न जाए, इसका पूरी सावधानी से ध्यान रखना है। यदि क्षायोपशमिक ज्ञान, शास्त्रज्ञान की मद दीपिका भी बुझ गयी तो वासनाओ की डांकिनियाँ तुम्हारा खून चूस लेगी। वासनाओ की मूसलाधार बारिश तुम्हे भीगा कर ही छोड़ेगी और फलतः तुम अस्वस्थ हो, भाव मृत्यु की गोद मे समा जाओगे।

प्रतिदिन स्मरण रखिए कि आप चक्रवर्ती हैं। चक्रवर्ती की अदा से जीवन व्यतीत करना सीखिए। दो रत्नो को अहर्निश अपने पास रखिए! मोह-म्लेच्छ पर विजयश्री पा लोगे!

नवब्रह्मसुधाकुण्ड-निष्ठाधिष्ठायको मुनि ।
नागलोकेशवद् भाति क्षमां रक्षन् प्रयत्नत ॥४॥ १५६॥

अर्थ नौ प्रकार ब्रह्मचय रूपी अमृत-कुण्ड की स्थिति के सामथ्य से स्वामी और प्रयत्न से सहिष्णु-वृत्ति के धारक मुनिराज हूबहू नागलोक के स्वामीवत् शोभायमान है ।

विवेचन मुनीश्वर ! आप शेष नाग हैं, नागलोक के अधिपति हैं।

आश्चयचकित न हो । साथ ही इन बातो को नीरी कल्पना न समझें ! सचमुच आप नागेन्द्र हैं ।

ब्रह्मचय का अमृत-कुण्ड आप का निवास स्थान है । क्षमा-पृथ्वी को आप अपने उपर धारण किऐ हुए हैं । वह आप के सहारे टिकी हुई है । अब बताइए आप नागेन्द्र हैं या नहीं ? सच मानिए, हम आपकी खुशामद अथवा चापलूसी नही कर रहे हैं । व्यथ की प्रशसा कर हम रिझाना नही चाहते । बल्कि जो वास्तविकता है, यथार्थ है, वह बात कर रहे हैं ।

वाक्इ आप ब्रह्मचय के नौ नियमा का पालन कर, मन-वचन और काया के योग से ब्रह्मचय के अमृत कुण्ड मे रमण करते हैं, केलिक्रीडा करते हैं ।

१ स्त्री, पुरूष और नपु सक का जहाँ वास है वहाँ आप नही रहते ।

२ स्त्रीकथा नही करते ।

३ जहाँ स्त्रीसमुदाय बठा हो, वहा आप नहीं बैठते ।

४ दीवार की दूसरी ओर हो रही स्त्री-पुरूष की राग चर्चा अथवा प्रेमालाप आप नही सुनते और ऐसे स्थान को छोड देते हैं ।

५ सासारिक अवस्था मे की हुई कामक्रीडा का कभी स्मरण नहीं करते ।

६ विकारोत्तेजक पदाथ घी, दूध, दही, मलाई मिष्टान्न आदि का कभी सेवन नही करते ।

७ अति आहार नही करते, यानी ठूँस ठूँस कर खाना नहीं खाते ।

८ शरीर को सुशोभित नही करते ।

९ स्त्री के अगोपाग को एकटक नही निहारते ।

ब्रह्मचर्य के अमृत-कुण्ड में आप कैसे अपूर्व आह्लाद का अनुभव कर रहे हैं। इस आह्लाद का वर्णन कैसे किया जाए और किन शब्दों में किया जाए ? साथ ही यह बात वर्णनयोग्य ही कहाँ है ? अपितु गोता लगाकर अनुभव करने की बात है ! सचमुच, आप ब्रह्मचर्य के अमृतकुण्ड के अधिपति हैं, अधिनायक है और हैं स्वामी ! इस आनन्द की तुलना में विषयसुख की केलि-क्रीडा का आनन्द तुच्छ है, नहीवत् है, असार है।

क्षमा यानी पृथ्वी....!

सारे भूतल पर यह लोकोक्ति सर्वविदित है : 'शेषनाग पृथ्वी को धारण किये हुए हैं !' संभव है यह लोकोक्ति सत्य न हो, लेकिन हे मुनिन्द्र, आपने तो सचमुच क्षमा-पृथ्वी को धारण कर रखा है ! क्षमा आपके सहारे ही टिकी हुई है।

कैसी आप की क्षमा और सहनशीलता ! वास्तव में वर्णनातीत है। गुरुदेव चंडरूद्राचार्य अपने नवदीक्षित शिष्य श्रमण के लुंचित मस्तक पर दंडप्रहार करते हैं, लेकिन नवदीक्षित मुनि शेषनाग जो ठहरे ! उन्होंने क्षमा धारण कर रखी थी। दंड-प्रहार की मार्मिक पीडा के बावजूद उन्होने क्षमा-पृथ्वी को जरा भी हिलने नही दिया। उन्होने सहनशीलता की पराकाष्ठा कर दी। शेषनाग अगर यों दंड-प्रहार से भयभीत हो जाए, विचलित हो जाए, तो भला पृथ्वी को कैसे धारण कर सकेगा ? फलतः नवदीक्षित मुनिराज अल्पावधि में ही केवलज्ञानी बन गये।

ब्रह्मचर्य और सहनशीलता !

इनके पालन और रक्षा के कारण मुनि शेषनाग हैं।

"मैं शेषनाग हूँ, नागेन्द्र हूँ।" की सगर्व स्मृति-मात्र से ब्रह्मचर्य मे दृढता और सहनशीलता में परिपक्वता का प्रादुर्भाव होता है।

मुनिरध्यात्मकैलासे विवेकवृषभस्थितः।
शोभते विरतिज्ञप्तिगंगागौरीयुतः शिवः ॥५॥ १५७॥

अर्थ : मुनि अध्यात्मरुपी कैलाश के उपर और विवेक (सद्-असद् के निर्णयस्वरुप) रुपी वृषभ पर बैठ, चारित्रकला एवं ज्ञान कला स्वरुप गंगागौरी सहित महादेव की भाँति सुशोभित है।

विवेचन महादेव शकर !

मुनिश्री आप ही शंकर हैं ! क्या आप जानते हैं ? यह कोई हँसी मजाक की बात नही, वल्कि हकीकत है। महादेव शकर की शोभा उनका महाप्रताप अद्वितिय प्रभाव सब कुछ आपके पास है। आप सकल समृद्धि और सिद्धियों के एकमेव स्वामी हैं।

'हां, आपका निवास स्थान भी कैलाश पर्वत है।

अध्यात्म के कैलाश पर आप अधिष्ठित है न? नीरे पत्थरो की पवतमाला से यह अध्यात्म का पर्वत अनेकानेक विशेषताएँ लिए हुए है। कलाश पवत मे अध्यात्म का पवत सचमुच दिव्य और भव्य है।

वृषभ-वल का वाहन आपके पास है न ? आप विवेक रुपी वृषभ पर अरूढ हैं। आप सत्-असत् के भेदाभेद से अवगत हैं, हेय-उपादेय से भलीभाँति परिचित हैं ! शुभाशुभ मे रहे अ तर का आपको ज्ञान है। यही आपका विवेक वृषभ है।

क्या आप जानना चाहते है कि गगा-पावती कहा पर हैं ? अरे आप की दोनो ओर गगा-पावती बैठी हुई हैं। तनिक दृष्टिपात तो कीजिए उस ओर ! कैसा मनोहारी रूप है उनका ! और आपकी प्रेम-दृष्टि के लिये दोनो लालायित हैं।

चारित्र-कला आप की गगा है और ज्ञान-कला पावती। उन गगा-पावती से ये गगा और पावती आप को अपूव अद्भुत एव असीम सुख प्रदान करती है। ये दोनो देवियां दिन-रात आपके साथ ही रहती हैं और आप को जरा भी कष्ट पडने नही देती ! आप से अलग उन का अपना अस्तित्व ही नही है। आप के अस्तित्व एव व्यक्तित्व मे दोनो ने अपना अस्तित्व और व्यक्तित्व विलीन कर दिया है। ऐसे अनन्य, अद्भुत प्रेम के प्रतिक जसी चारित्र-कला और ज्ञान कला समान देवियाँ आपके साथ हैं। अब भला वताइए, आपको विश्व से क्या लेना-देना ? उसकी परवाह ही क्यो ?

कहिए मुनिराज, नि सकोच बताइए। समृद्धि में कोई कसर रह गयी है ? आवास के लिए उत्तु ग पर्वत, वाहन के रूप में बलिष्ठ वृषभ और गगा-गौरी जसी प्रियतमाएँ ! और आप को किस चीज की आवश्यकता है ? आप अपनी धुन में रह सारी दुनिया को प्रेमदीवानी बनाते रहिए।

कहने का तात्पर्य यह है कि मुनिश्वर को नित्यप्रति अध्यात्म-समाधिस्थ ही रहना है। उन्हें अध्यात्म को ही अपना आवास मानना चाहिए। जब-जब बाहर निकलने का प्रसंग आए तब विवेकारूढ होकर ही जाना चाहिए। बिना विवेक के कहीं न जाएँ और ना ही कुछ देखने का प्रयत्न करें। ज्ञान और चारित्र के साथ ही जीना और मरना है। जीवन का आनन्द सुख एवं शांति, ज्ञान तथा चारित्र के सहवास मे ही प्राप्त करे। इनका संग छोड किन्ही दूसरो में खो कर, सुख शांति प्राप्त करने का व्यर्थ प्रयत्न न करें। ज्ञान और चारित्र के प्रति पूरी निष्ठा हो। यदि इन पर इमानदारी से अमल किया जाए तो कभी किसी चीज की कमी महसूस न होगी और कीर्ति-पताका सर्वत्र फहरती रहेगी।

शंकर महाराज! आप अपना वैराग्य-डमरू बजा कर राग-द्वेष से भरी दुनिया को निरंतर सुनाते रहिए!

ज्ञानदर्शनचद्रार्कनेत्रस्य नरकच्छिदः।
सुखसागरमग्नस्य किं न्युनं योगिनो हरेः ॥६॥ १५८॥

अर्थ : ज्ञान-दर्शन रूपी सूर्य और चन्द्र जिनके नेत्र है, जो नरकगति (नरकासुर-हन्ता) का विनाश करने वाले हैं, ऐसे सुख रूपी समुद्र मे निमग्न योगी को कृष्ण से भला क्या न्यून है?

विवेचन : श्री कृष्ण!

—चंद्र और सूर्य जिन की दो आंखे हैं,

—जिन्हों ने नरकासुर का वध किया है,

—अथाह सागर में जो निमग्न रहते हैं,

योगीराज! तुम्हें श्री कृष्ण से भला क्या कमी है? क्या आपकी दो आंखे चन्द्र-सूर्य नही है? क्या आपने नरकासुर का वध नही किया है? क्या आप सुखसागर मे सोये नही हैं? फिर भला, आप अपने में किस बात की न्युनता का अनुभव करते हैं? आप स्वय ही तो श्रीकृष्ण है।

आपकी दो आंखे हैं: ज्ञान और दर्शन! ये चन्द्र-सूर्य समान ही तेजस्वी और विश्व प्रकाशक हैं।

क्या श्राप ने नरकगति का उच्छेदन नहीं किया है ? नरकासुर का मतलब नरकगति ! चारित्र के अमोघ शस्त्र से आपने नरकगति का विच्छेद किया है, नाश किया है ।

आत्मसुख के समुद्र मे श्राप सोये हुए हैं। अब आप ही बताइए श्रीकृष्ण की विशेषताओं मे श्राप की विशेषता कौन सी कम है ?

किसी वस्तु को सामान्य रूप म देखना यानी दर्शन और विशेष रूप से देखना यानी ज्ञान । विश्व की जड-चेतन वस्तुओ को मुनि सामान्य और विशेष-दोनो दृष्टि मे परखता है । हर वस्तु मे सामान्य और विशेष दोनो स्वरूप समाविष्ट हैं । जब उसे सामान्य स्वरूप का देखा जाए तब दर्शन और विशिष्ट रूप मे देखा जाए तब ज्ञान कहा जाता है ।

योगी का जीवन महाव्रतो से युक्त होता है । अत वह मृत्यु के बाद नरक मे नही जाता, अत उसने नरकासुर का वध किया ऐसा कहा जाता है । क्योकि नरक का भय यह अपने आप मे व्याघ असुर से कम नही है । पवित्र पापरहित जीवन व्यतीत करने से ही यह भय दूर होता है ।

आध्यात्मिक सुख के महोदधि मे मुनि मस्त होकर शयन करता है । भले अरेबीयन महासागर सूख जाए, जल का थल हो जाय, और अथाह जलराशि रणप्रदेश मे बदल जाए, लेकिन अध्यात्म-महोदधि कभी नही सूखता !

पूज्य उपाध्यायजी महाराज मुनि का अक्षय, अभय और स्वाधीन समृद्धि का सुख बताने हेतु आत्मभूमि पर ले जाकर एक के बाद एक उत्तमोत्तम समृद्धि का दर्शन कराते जाते हैं ।

ससार म श्रेष्ठ समझा जाने वाले समृद्धि के विविध स्वरूपो का निकट से दर्शन कराते हुए कहा है 'तुम तो ऐसी सपत्ति के स्वय अधिपति हो तुम दुनिया के सर्वश्रेष्ठ समृद्धिवान और वैभवशाली हो । तुम दीन न बनो ।

भौतिक सपदा के प्रति भूल कर भी आकर्षित न हो । तुम देवेन्द्र हो, तुम चक्रवर्ति हो, तुम महादेव शकर हो और श्रीकृष्ण भी तुम ही हो ।

सिर्फ अपने आपको पहचानो (Know your self) जब तुम अपने आपको पहचान लोगे तब दुनिया के श्रेष्ठ सुखी जीव बनते तुम्हें विलंब नहीं लगेगा ! "

योगी ही बनना पड़े तो हानि है? किसी बात में न्यूनता नहीं लगेगी! जब तक योगी नहीं बनेंगे तब तक गली-बाजारों में भटकते भीखारी में भी न्यूनता महसूस होगी ! अतः तुम्हें नित्यप्रति ज्ञान और चारित्र की योग-साधना करनी है ।

> या सृष्टिर्ब्रह्मणो बाह्या बाह्यापेक्षावलम्बिनी ।
> मुने परानपेक्षाऽन्तर्गुणसृष्टि ततोऽधिका ॥७॥१५६॥

अर्थ : जो ब्रह्मा की सृष्टि है, वह सिर्फ बाह्य स्वरूप है, साथ ही बाह्य कारण की अपेक्षा रखनेवाली है । जब कि मुनिवर की अन्तरंग गुण-सृष्टि अन्यापेक्षा-रहित होने से अधिक श्रेष्ठ है ।

विवेचन : ब्रह्मा सृष्टि के जनक है !

कहा जाता है कि ब्रह्मा ने सृष्टि का सर्जन किया है, लेकिन उनका सर्जन कैसा है ? समस्त जगत का सर्जन पर-सापेक्ष ! अन्य के अवलम्बन पर ही सारा दार-मदार ! इस प्रश्न का निराकरण कहीं नहीं मिलता कि आखिर ब्रह्मा ने ऐसी सृष्टि का सर्जन क्यों किया ? किसी ने नन्हे-मुन्नों को समझाने की दृष्टि से कहा प्रतीत होता है कि ब्रह्मा के मन मे सृष्टिसर्जन का विचार आया और सर्जन कर दिया । लेकिन एकाध बच्चे ने कहीं पूछ लिया होता 'ब्रह्मा को किसने पैदा किया ?' तब निःसंदेह यह बात प्रचलित न होने पाती कि ब्रह्मा ने सृष्टि की रचना की है । किसी के गले न उतरे ऐसी यह बात बुद्धिजीवियों ने स्वीकार कर ली है और शास्त्रों ने इसे सिद्ध करने के प्रयत्न किये हैं । 'ब्रह्मा की उत्पत्ति कैसे हुई ?' प्रश्न का जवाब अगर कोई दे दे कि 'ब्रह्मा तो अनादि है !' तब हमें यह मानने मे क्या हर्ज है कि 'सृष्टि भी अनादि है !'

जाने दीजिए इस चर्चा को ! हमें सिर्फ विचार करना है मुनि-ब्रह्मा के सम्बन्ध में । मुनि-ब्रह्मा अंतरंग गुणों की रचना करते है, गुण-सृष्टि का सर्जन करते है....! उक्त रचना से बाह्य रचना कई गुनी

श्रेष्ठ और महत्त्वपूर्ण है । गुणसृष्टि के सृजन में किसी बाह्य कारण की अपेक्षा ही नहीं रहती ।

बाह्य दुनिया के सर्जन में न जाने कितना पराश्रयपन ! एक मकान खड़ा करने में, नारी की स्नेह दृष्टि प्राप्त करने में, धन-संपत्ति संचय करने में, सगे-संबंधी तथा मित्र परिवार के साथ सम्बंध बांधने में आत्मा से भिन्न ऐसे जड़-चेतन पदार्थों के बिना भला, चल सकता है क्या ? इन पदार्थों के लिए कितने राग-द्वेष और असत्य के फाग खेलने पड़ते हैं ? जो भी झगड़े और क्लेश होते हैं इन पर पदार्थों के कारण ही होते हैं । ठीक वैसे ही, जीवमात्र की सुख शांति और वैभव की सारी कल्पनाएँ इसी पर पदार्थों का लेकर ही है ! और हमारे जीवन में पर पदार्थों की अपेक्षा ऐसी तो रूढ बन गई है कि उसके बिना संसार में जीव जी नहीं सकता, वस्तुतः उस का जीना असंभव है ।

मुनिराज जिस अनुपात में साधना-आराधना के मार्ग में आगे बढ़ते हैं, ठीक उसी अनुपात में पर पदार्थ की सहायता के बिना जीवन व्यतीत करने का प्रयत्न करते हैं । जैसे भी संभव हो कम से कम परपदार्थों की सहायता लेते हैं । साथ ही, आंतरिक गुणसृष्टि का इस तरह सृजन करते हैं कि जिसके बल पर नित्य स्वतंत्र और निर्भय जीवन जी सकें । उनकी सृष्टि में प्रलय के लिए कोई स्थान नहीं, जब कि ब्रह्मा द्वारा रचित सृष्टि में प्रलय और उत्पात की पूरी संभावना है । प्रलय अर्थात् सर्वनाश ! आत्मगुणमय सृष्टि में जब जीवन का प्रारम्भ होता है तब किसी प्रकार की कोई अपेक्षा नहीं होती, बल्कि सर्वथा निरपेक्ष जीवन ! मतलब कोई राग-द्वेष नहीं, झगड़ फसाद नहीं ! सुख-दुःख का द्वंद्व नहीं ।

ब्रह्माजी की सृष्टि की तुलना में मुनिराज की सृष्टि कितनी भव्य, दिव्य और अलौकिक होती है । इस सृष्टि में सुख, शांति, निर्भयता और विशाल समृद्धि का भंडार होता है कि जीव को पूर्ण तृप्ति हो जाय !

अतः हे मुनिराज ! आप तो सृष्टि के सृजनहार ब्रह्माजी से भी महान् हैं ! कष्ट, दुःख, वेदना और नारकीय यातनाओं से युक्त ब्रह्मा की दुनिया के बजाय आप कभी अनुपम, अलौकिक, अनंत सुख आनंद और पूर्ण रूप से स्वायत्त, गुणसृष्टि का सृजन करते हैं ! अब तो आपको अपनी महत्ता, स्थान और शक्ति का अहसास हुआ या नहीं ?

अब तो आपको किसी बात की न्यूनता का अनुभव नहीं होगा न ? यह कोई काल्पनिक बात नहीं है, बल्कि वास्तविक हकीकत है। आप इस पर गंभीरता से विचार कर इस बात को आत्मसात् करना। परिणामतः गुणसृष्टि का सर्जन करने के लिए आप प्रोत्साहित होंगे और कल्पित सृष्टि की रचना से मुक्त हो जाएंगे।

रत्नैस्त्रिभिः पवित्रा या स्रोतोभिरिव जाह्नवी ।
सिद्धयोगस्य साऽप्यर्हत्पदवी न दवीयसी ॥८॥१९०॥

अर्थ जिस तरह तीन प्रवाहों से संगमस्वरूप पवित्र गंगा नदी है, ठीक उसी तरह, तीन रत्नों से युक्त पवित्र ऐसा तीर्थंकर पद भी सिद्ध-योगी साधु से अधिक दूर नहीं।

विवेचन :– खैर, आप ब्रह्मा शंकर अथवा श्री कृष्ण बनना नहीं चाहते, देवेन्द्र बनने का या चक्रवर्तीत्व का शौक नहीं, लेकिन तीर्थंकर–पद की तो चाह है न ? तीर्थंकर–पद !

सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन और सम्यक् चारित्र : इन तीन रत्नो से पवित्र पद ! क्या आप इस पद के चाहक हैं ? यह भी मिल सकता है ! लेकिन इसके लिए आपको ढेर सारी प्राथमिक तैयारियाँ करनी पड़ेगी। और उसके लिए दो बातें मुख्य हैं :

(१) भावना और (२) आराधना।

मन मे हमेशा ऐसी भावना होनी चाहिए कि, 'मोहान्धकार मे भटकते और दुःखी-पीडित जीवो को मैं परम सुख का मार्ग बताऊ, उन्हे दुःख से मुक्ति दिलाऊँ...समस्त जीवों को भव-बंधन से आजाद करूँ !' इस भावना के साथ बीस स्थानक तप की कठोर आराधना होनी चाहिए। इन दो बातों से तीर्थंकर–पद की नीव रखी जाती है और तीसरे भव मे उस पर विशाल इमारत खडी हो जाती है ! तीर्थंकर नामकर्म निकाचित करते ही आप तीर्थंकर बन गये समझो !

इस भावना और आराधना मे प्रगति होने पर; गुरु भक्ति और ध्यान योग के प्रभाव से आप स्वप्न मे तीर्थंकर भगवान का दर्शन करोगे !

विश्व का सर्वोत्तम श्रेष्ठ पद !

तीर्थंकरत्व की दिव्यातिदिव्य समृद्धि ! समवसरण की अद्भुत रचना, अष्ट महाप्रतिहारी की शोभा, वाणी के पैंतीस गुण और चौंतीस

प्रतिशय वीतराग दशा और सवज्ञता चराचर विश्व को देखना और जानना शत्रु मित्र के प्रति समदृष्टि ! ऐसी अवस्था आपको पसद है न ? और काय क्या है आपका ? सिफ धर्मोपदेश द्वारा विश्व मे सुख शाति की मारभ फैलाना ! समस्त विश्व को सुखी करने का उपदश देना !

अरिहत-पद कहिए या फिर तीथकर पद गगा की तरह पवित्र है ! पदवी श्रेष्ठ होने पर भी उसका लेशमात्र अभिमान नहीं ! पदवी सर्वोत्तम, लेकिन गतइ दुरुपयोग नहीं ! ऐसी यह पवित्र पदवी है ! तीन रत्नो की पवित्रता जसी । जिस तरह तीन प्रवाहो से गगा पवित्र है न ? आप तीथकर पद की कामना करें, अन्तर मे अभिलाषा रखें, यह सर्वथा उचित है ।

लेकिन इसके लिए जगत के समस्त जीवो के प्रति करुणा भाव धारण करें ! सब का हित का विचार करें । किसी जीव के लिए अनिष्ट चितन न करें । सासारिक जीवो के दोष अथवा अवगुण दिखायी दें तो उन्हें जड मूल मे उखाड ने की भावना रख ! ठीक वसे ही उनके लिए मंगिक प्रयत्न कर । ना कि उनके दोष देख कर उनसे मुह फेर लें । उनके प्रति तिरस्कार अथवा घणा का भाव न रखें। स्वहित के बजाय परहित को अपने विचारो का केन्द्र-बिन्दु बनाना ।

तीथकर-पद की प्राप्ति के मनोरथ भावना और तमन्ना तब पदा होती है जब आत्मा योग-भूमिका मे स्थिर हो गयी हो । ज्ञानदृष्टि से ससार का अवलोकन किया हो ! उसकी बाह्य समृद्धि को तुच्छ, असार समझ कर परित्याग कर दिया हो अथवा उसे त्यागने का दृढ सकल्प जगा हो !

सब प्रकार से श्रेष्ठ सर्वोत्तम समृद्धि म तीथकर पद की समृद्धि सर्वोच्च मानी जाती है और यह वास्तविकता स परिपूर्ण है । प्रस्तुत 'सवसमृद्धि अष्टक' म अन्तिम समृद्धि 'तीथकर पद' की बताकर पूज्य उपाध्याय जी महाराज अष्टक पूरा करते हुए आत्मा को तीथकर-पद प्राप्तिहेतु आवश्यक उपायो की ओर उन्मुख होने का निर्देश करते हैं । तीथकर पद का प्रधान काय है दु ख त्रास और सकटो स दुनिया को उबारने का । अत यह श्रेष्ठ पद कहलाता है !

२१. कर्मविपाक-चिन्तन

तुम्हारे अपने सुख और दुःख के कारण जानने के लिए तुम्हें कर्म के तत्त्वज्ञान का अभ्यास करना ही होगा। समस्त विश्व पर जिन कर्मो का जबरदस्त प्रभाव है, उन्हें (कर्मो को) पहचाने बिना नहीं चलेगा। हमारे समस्त सुख और दुःख का मूल आधार कर्म ही है। यह सनातन सत्य जान लेने के पश्चात् हमें अपने सुख-दुःख का निमित्त, भूल कर भी अन्य जीवों को नही बनाना चाहिये! प्रस्तुत चिंतन गहरायी से और एकाग्र चित्त से करना! बीच मे ही रुक न जाना, बल्कि पुनः-पुनः चिंतन करना! निःसंदेह तुम्हें अभिनव ज्ञानदृष्टि प्राप्त होगी।

दुख प्राप्य न दीन स्यात सुख प्राप्य च विस्मित ।
मुनि कमविपाकस्य जानन परवश जगत् ।।१।।२६१।।

अथ कमविपाकाधीन जगत स परिचित होकर साधु दुख पाकर दीन नही होता, ना ही सुख पाकर विस्मित।

विवेचन सपूण जगत ।

कर्मो की अधीनता ।

कम के अधीन कोई दीन है, कोई हीन है । कोई मिथ्याभिमानी है । कोई दर दर भटकता है तो कोई घर घर भीख मागता है। कोई गगन चुम्बी अट्टालिकाओ मे इठलाता इतराता है तो कोई प्रिय परिजन के वियोग मे करुण क्रदन करता है । कोई इष्ट के सयोग मे स्नेह का सवनन करता है तो कोई पत्र परिवार की विरहाग्नि मे निरतर धू धू जलता है । कोई रोग-बीमारी स ग्रस्त हो छटपटाता है, विलाप करता है तो कोई निरोगी काया के उन्माद मे प्रलाप करता है ।

कम के ये कसे कठोर विपाक ह ? ज्ञानावरणीय कम के विपाक से अज्ञान, मूखता और मूढता का जन्म होता ह । दशनावरणीय कम के उदय मे घोर निद्रा, अधापन, मिथ्या प्रतिभास का शिकार बनता है। जबकि मोहनीयकम के विपाक तो अत्यत भयकर और असहनीय होते हैं कि बात ही न पूछो । बिलकुल विपरीत समझ होती है। परमात्मा, सदगुरु और सद्धम के सम्बध मे एकदम उलटी कल्पना । वह हितषी को दुश्मन मानता है और दुश्मन को गहरा दोस्त । क्रोध से लाल-पीला हो जाएँ और अभिमान के शिखर पर आरूढ हो, फिसल पडता है । साथ ही, मोह-जाल बिछाता है । लोभ फणिधर के साथ खेलता ह । न जाने मोहनीय कम के विपाक कसे भयानक हैं । बात बात मे भय और नाराजगी । क्षण मे हष और क्षण मे शोक । हरदम डर और हरदम जुगुप्सा । पुरुष को स्त्री समागम की तीव्र लालसा और स्त्री को पुरुष दह की अभिलाषा । जब कि नपुसक को स्त्री पुरुष दानो का आकषण । अतरायकर्म के विपाक भी जटिल और निश्चित हैं । पास मे वस्तु हो, लेने वाला सुयोग्य सुपात्र व्यक्ति हो, लेकिन देने की इच्छा नही होती । सामने वस्तु हो, मन पसन्द हो फिर भी प्राप्त नही होती ।लाडी (नारी) गाडी (वाहन) और वाडा (बगला) होते

हुए भी उसका उपभोग न कर सके । इष्ट भोजन सामने होते हुए खा न सके ! तपश्चर्या करने की भावना न हो !

मुनि किसी को ऊँचे कुल मे और किसी को नीच कुल मे जन्मा देख, यह सोचते हुए समाधान करता है कि, 'यह सब गोत्र-कर्म का विपाक है ।' मुनि जब किसी को निरोगी, पूर्ण स्वस्थ देखता है और किसी को रुग्ण ..बीमार... सडता... गलता हुआ देखता है तब यह समाधान करता है कि यह सबलता-दुर्बलता वेदनीयकर्म का विपाक है ! मुनि किसी को मनुष्य रुप मे, किसी को पशु रूप मे तो किसी को देव रुप मे और किसी को नरक रुप मे जानता है तब यों सोच कर समाधान करता है कि, 'यह उसके आयुष्यकर्म और गतिनामकर्म का विपाक है । मुनि जब किसी को बाल्यावस्था में मरते हुए देखता है, किसी को युवावस्था मे तो किसी को वृद्धावस्था मे, तब उसे किसी प्रकार का दुःख, शोक अथवा आश्चर्य नही होता । वह उसे सिर्फ आयुष्यकर्म का परिणाम समझता है ।

मुनि किसी को सौभाग्यशाली, किसी को दुर्भागी, किसी को सफल, किसी को असफल, किसी को मृदुभाषी, किसी को कर्कशभाषी, किसी को खूबसूरत, किसी को बदसूरत, किसी को हंसगति वाला तो किसी को ऊँट गति वाला देखता है, तब उसे इससे कोई हर्ष-विषाद नही होता ! बल्की वह इसे नामकर्म का विपाक समझता है ।

जब मुनि के अपने जीवन में भी ऐसी विषमताओ का प्रादुर्भाव होता है तब 'यह कैसे हुआ ? यह किस तरह संभव है ?' आदि प्रश्न उपस्थित कर उद्विग्न नही होते । क्योंकि वे 'कर्म विपाक के विज्ञान' से भली—भाँति परिचित होते है । उसके पीछे रहे 'कर्म-बंधन-विज्ञान' के भी वे जानकार होते है । अतः वे दीनता नही करते, और सुख-दुःख के द्वद्व उन्हे स्पर्श तक नही कर पाते । उक्त महावैज्ञानिक मुनि के अन्तर मे हर्ष—शोक की लहरियाँ / भँवर पैदा नही हो पाते । वे स्वय को सुखी अथवा दुःखी नही मानते । कर्मोदय भले शुभ हो या अशुभ, वे उसमें खो कर किसी प्रकार की सुख-दुःख की कल्पना नही करते ।

दीनता-हीनता और हर्षोन्माद के चक्रवात मे से बचने का यह एक वैज्ञानिक मार्ग है; 'जगत् को कर्माधीन समझो । ससार की प्रत्येक

बुल्गार्लीन जैसे रुस के महारथियो को जन-मानस मे से उखाड फेंका था ! इतना ही नही बल्कि रुस के भाग्यविधाता-निर्माता लेनीन-स्टेलीन की कब्रों को तोड़-फोड कर उनका नामो-निशान तक मिटा दिया ! उसी महाबली क्रुश्चेव का पतन होते देर न लगी ! एक ही रात मे वह और उसका नाम मिट गया ! आज रुस मे रुसी उसे जानते तक नही !

सिर्फ क्रुश्चेव ही नही, अमरिकन राष्ट्राध्यक्ष केनेडी को ही लीजिए ! उसका प्रभाव और दवदवा विश्व के हर कोने मे छाया हुआ था ! अमरिकन प्रजा अब्राहम लिकन के वाद उसे ही महापुरुष मानती थी ! वह उनका एक मात्र भाग्य-विधाता था ! लेकिन देखते ही देखते वह गोली का निशाना बन गया ! उसे कोई नही वचा सका ! ऐसे कई किस्से किवदतियो से विश्व का इतिहास भरा पडा है ! इस पतन और विनाश के पीछे एक अदृश्य फिर भी ठोस सत्य, कठोर फिर भी चिरतन तत्त्व काम कर रहा है ! जानते हो, वह क्या है!

वह है कर्मतत्त्व...!

यश, कीर्ति सौभाग्य, सफलता, सत्ता और शक्ति यह सब 'शुभ कर्म' के परिणाम हैं । उन की अपनी समयमर्यादा होती है । लेकिन अल्पमति मनुष्य इससे पूर्णतया अनभिज्ञ होता है । वह उसकी कालमर्यादा को जानता नही । अत: उसे दीर्घकालीन समझ लेता है । लेकिन जब कल्पित ऐसे अल्पकालीन शुभ कर्मो का अस्त हो, अचानक अशुभ कर्मों का उदय होता है, तब पतन, अध पतन और विनाश की दुर्घटनाये घटती है !

अपयश, दुर्भाग्य. अपकीर्ति, निर्बलता और सत्ताभ्रष्टता, ये अशुभ कर्मो के फल हैं । सूरमाओ के सरदार इजिप्त के राष्ट्राध्यक्ष नासिर को इजराईल जैसे छोटे राष्ट्र के हाथो हार खानी पडी, जीते-जी कलक का धब्बा अपने दामन पर लगा, एक 'दुर्बल शासक' के रुप मे प्रसिद्ध हुआ.... भला क्यो ? सिर्फ एक ही कारण ! उसके शुभ कर्मो का अस्त हो गया था और अशुभ कर्मो ने उस पर अधिकार कर लिया था ।

लेकिन यो घबराने से काम नही चलता । अशुभ कर्म की काल-मर्यादा पूरी हो जाने पर, शुभ कर्म का पुन: उदय होता है ।

दूसरी भी एक विचित्रता है कि जब कतिपय अशुभ कर्मो का उदय

चल रहा हो तब कुछ शुभ कर्मों का उदय भी उसके साथ साथ हो सकता है। लेकिन प्रतिपक्षी नही। उदाहरण क लिए यश का उदय हो तब उसके प्रतिपक्षी अपयश, यानी अशुभ कम का उदय नही होता, लेकिन बीमारी, जो स्वय ही एक अशुभ कम हैं, का उदय सभव है। क्याकि बीमारी यह यश का प्रतिपक्षी कम नही है।

जब तक कम हमारे अनुकूल हैं, तब तक जीव जो चाहे उत्पात, उधम और आदोलन करें और हूकार भरे, लेकिन जसे ही अशुभ कर्मों का उदय हुआ नही कि जीव का उत्पात, उधम और उन्माद पलक-झपकते न झपकते खत्म हो जाते ह। गवहरण होता ह और वह अपमानित हो दुनिया के मजाक का विषय बन जाता है। अत कम का विज्ञान जानना आवश्यक है।

> जातिचातुर्यहीनोऽपि कर्मण्यभ्युदयावहे ।
> क्षणाद रङ्कोऽपि राजा स्यात् छत्रछन्नदिगन्तर ॥३॥१६२॥

अर्थ जब अभ्युदयप्रेरक कर्मों का उदय होता है तब जाति और चातुर्य से हीन और रक होने पर भी क्षणाध म दिशाओ को छत्र से ढकने वा राजा बन जाता है।

विवेचन वह नीच जाति मे जन्मा है, चतुराई और अक्लमदी नामकी कोई चीज उस मे नही है फिर भी चुनाव मे प्रचड मत से चुन आता ह, विजयी बनता है मत्री या मुख्य मत्री के सर्वोच्च स्थान पर आरुढ होता है। आज के युग मे राजा कोई बन नही सकता। राजा-महाराजाओ के राज्य और सत्ता पेड स गिरे सूखे पत्ते की तरह नष्ट हो गई है। फिर भी चुनाव म विजयी जातिहीन मनुष्य राजाओ का राजा बन जाता है।

आज सारे देश मे 'जातिविहीन समाज-रचना' की हवा पूरे जोर से वह रही ह। 'मनुष्यमात्र समान,' सुक्ति के अनुसार हर जगह नीच जाति के लोगो को उच्च स्थानो पर बिठा दिये गये हैं और कुशाग्र बुद्धिवाले परमतेजस्वी उच्च जाति और वर्ण के व्यक्तियो को सरेआम हयदृष्टि से देखा जाता है। आन्तरजातीय विवाह का सवत्र बोलबाला है और ऐसे विवाह रचानेवाले व्यक्ति तथा परिवारो का पुरस्कृत कर प्रशासकीय स्तर पर सम्मानित किया जाता है। भले ही निम्न

विवेचन ऊँट के अट्ठारह वक्र ।

कर्म के अनत वक्र ।

सर्वत्र विषमता ! जहाँ देखो वहाँ विषमता ! कही भी समानता के दर्शन नही ! समानता जैसे मृगजल बन गई है ! मतलब कर्मो' मे सर्जित दुनिया विषमता से लबालब भरी हुई है । जहाँ नमूने के लिए भी समानता नही ! जाति की विषमता.... कुल की विषमता.. शरीर, विज्ञान, आयुष्य, बल, उपभोगादि सभी मे विषमता । ऐसी कर्म-सर्जित घिनौनी दुनिया से त्यागी-योगी को भला प्रीति कैसी ?

* विश्व मे विषमता के दर्शन करो ।
* विषमता के दर्शन मे विश्व के प्रति रही प्रीति और आस्था छिन्न-भिन्न होते देर न लगेगी ।
* फलत, आसक्ति का प्रमाण कम होगा !
* उससे हिसा, झूठ, चोरी, दामाचार, बलात्कार और परिग्रह के असख्य पाप नष्ट हो जाएंगे ।
* तब मोक्षमार्ग की ओर दृष्टि जायेगी ।
* कर्मबधन तोडने का पुरूषार्थ होगा ।
* किसी भी जीव के दु ख के तुम निमित्त नही बनोगे ।
* और तुम योगी बन जाओगे ।

परमादरणीय उमास्वातिजी ने अपने ग्रथ 'प्रशमरति' मे कहा है :

जातिकुलदेहविज्ञानायुर्बल-भोग-भूतिवैषम्यम् ।
दृष्ट्वा कथमिह विदषां भवसंसारे रतिर्भवति ?

"जाति, कुल, शरीर, विज्ञान, आयुष्य, बल एव भोग की विषमताओ को देखते हुए, जन्म-मृत्यु रूपी ससार के प्रति भला, विद्वद्जनो का स्नेह-भाव कैसे सभव है ?"

यदि आप को अपनी जात-पाँत की उच्चता मे खुशी होती है, कुल की महत्ता गाने मे आनन्द मिलता है, स्व-शरीर को देख-देख कर हर्ष के फव्वारे फूटते है, अपने कला-विज्ञान का अहसास कर मन प्रफुल्लित होता है, खुद की आयु पर दृढ विश्वास है, अपने द्रव्य-बल, शरीर-बल, और स्वजन-बल पर गौरव है, भोग-सुख की ललक है, तो मान लेना

चाहिये कि जीवन मे रही विपमताओ के सम्बन्ध मे तुम पूर्णतया अन-भिज्ञ हैं। तुमने विपमताओ देखी नही और परखा तक नही! क्योकि जहा विपमता होती है वहा रति नही होती, खुशी नही होती। लेकिन जहा रति-खुशी का बोलबाला होता है वहा विपमता नही दिखती।

❀ सासारिक विषयो मे विपमता नही दिखती अत उसके प्रति अधिकाधिक आकर्षण पैदा होता है,

❀ तत्पश्चात अभिलाषा पैदा होती है,

❀ रति-आसक्ति का जोर बढता है

❀ वे विषय पाने का प्रयत्न होता है,

❀ प्रयत्न करते हुए पापाचरण भी होगा

❀ और विषय प्राप्त होते ही जीवन मे विपमता छा जायगी।

इस प्रकार की मानसिक एव शारीरिक वेदनाओ के हम भूल कर भी शिकार न बन जाएँ, अत उपाध्यायजी महाराज ने 'विश्व-विपमता' का सूक्ष्मावलोकन करने का आदेश दिया है।

किसी व्यक्ति की उच्चता नीचता का प्रमाण हमेशा एक सा नहीं रहता। किसी परिवार की विशालता, और भव्यता सदा एक सी नही रहती। शारीरिक आरोग्य हमेशा एक तरह नही रहता।

कला विज्ञान सदा के लिए बराबर बना नही रहता! आयुष्य किसी के धारणानुसार एक जसा नही होता! बल और शक्ति का प्रमाण एक सा नही रहता, ना ही आवश्यक भोग-सामग्री निरतर प्राप्त होती है! अरे भाई, इसी का नाम तो विपमता है!

इस का जन्म हमारे अच्छे—बुरे कर्मो मे होता है, ना कि ईश्वर ने विपमताभरे विश्व की रचना की है! उन्होने तो हमें विपमता-युक्त विश्व के दर्शन कराये हैं, हमारे सामने वैषम्य का नगा स्वरूप खडा कर दिया है। विश्व ईश्वर का सृजन नही, बल्कि अच्छे-बुरे कर्मों का सर्जन है। जीव अपने कर्मों के अनुरूप विश्व की रचना करता है। प्रगति और पतन, आबादी और बर्बादी, सुख और दुख, शोक और हर्ष, आनन्द और विषाद आदि सब कर्मों का उत्पादन है!

योगी और त्यागी ऐसी दुनिया से प्रीति नही करते!

आरूढा प्रशमश्रेणिं श्रुतकेवलिनोऽपि च ।
भ्राम्यन्तेऽनन्तसंसारमहो दुष्टेन कर्मणा ॥५॥१६५॥

अर्थ : आश्चर्य तो इस बात का है कि उपशम–श्रेणी पर आरूढ एव चौदह पूर्वधरो को भी दुष्ट कर्म अनत ससार मे भटकाते हैं ।

विवेचन : उपशम श्रेणी !

पहले....दूसरे...तीसरे...चौथे... पाँचवे....छठवे....सातवे....आठवें.... नौवें....दसवे....ग्यारहवे गुणस्थान पर पहुँच जाते हैं, मोहोन्माद शान्त. प्रशांत . उपशात हो गया होता है ! जिस गति मे मोह का प्रमाण कम होता है, उसी अनुपात मे आत्मा क्रमश उच्च गुणस्थान पर अधिष्ठित होता जाता है ।

क्षपकश्रेणी पर चढता जीव ग्यारहवे गुणस्थान पर कभी जाता ही नही ! वह सीधा दसवे गुणस्थान से छलांग मार. .बारहवे गुणस्थान पर पहुँच जाता है । जहाँ मोह बिलकुल खत्म (क्षय) हो जाता है । बारहवे स्थान पर पहुँचा जीव सीधा तेरहवे गुणस्थान पर पहुँच, वीत-राग बन जाता है । और तब आयुष्य पूर्ण होने पर, चौदहवे स्थान पर पहुँच कर मोक्षगति पाता है ।

लेकिन ग्यारहवाँ गुणस्थानक अपनी फिसलन–वृत्ति के लिए सर्व–विदित है ! इस स्थान पर मोहनीय कर्म का बोलबाला है । उसकी गिरफ्त से बड़े-बडे वीर-महावीर बच नही सकते ! मतलब, ग्यारहवा गुणस्थानक, कर्म का प्राबल्य, उसकी अजेयता और सर्वोपरिता का शक्तिशाली केन्द्र है ।

कोइ भी असामान्य व्यक्तित्व फिर भले ही उसे" दशपूर्वो का ज्ञान हो, वह सत् चारित्र का धनी हो, वीर्योल्लास मे युक्त हो, ग्यारहवे गुण स्थान पर पहुँचते ही आनन-फानन मे कर्म-चक्रव्युह मे फँस जाएगा ! ससार मे भटक जायेगा । कर्म को चौदह पूर्वधरो की भी शर्म नही, उत्तम सयम की भी कतइ लाज नही, ना ही उत्कृष्ट ज्ञान की परवाह ! यही तो कर्म की निर्लज्जता है !

'कर्म' की इसी क्रूर लीला से कुपित हो, पूज्य उपाध्यायजी महाराज

देखिए परिशिष्ट

सहमा 'दुष्टेन कमणा !' कह उठते हैं। जब वे उपशम श्रेणी पर आरूढ और ग्यारहवें गुणस्थान पर पहुँचे महर्षि को धक्का मार कर गड्ढे मे गिराते हुए कम को देखते हैं, तब क्रोधाग्नि से उनका रोम रोम व्याप्त हो जाता है। भ्रृकुटी तन जाती है और मारे आवेश के 'हे दुष्ट कम !' कह कर चीख पडते हैं। कम के बधन तोडने के लिय वे पुकारते हैं।

ग्यारहवां 'उपशात मोह' गुणस्थान, कम द्वारा रचित अंतिम रक्षा-पक्ति (मोचा) है। और सदा सवदा सब के लिए वह अपराजेय है। जो सीधे दसवें से बारहवे गुणस्थान पर छलाग मार कर पहुँच जाते हैं वे इसके शिकार नहीं बनते।

'उपशात मोह' का अथ जानते हो ? तो सुनो

पानी से लबालब भरा एक प्याला है। लेकिन पानी स्वच्छ नही है, मटियाला है। उस में मिट्टी, ककर सब मिला हुआ है। तुम्हें वह पानी पीना है। जोर की प्यास लगी है। सिवाय उस पानी के कोई चारा नही। तुम उसे महीन कपडे से छान लोगे। फिर भी पानी स्वच्छ नही होता। तब थोडी देर के लिए प्याला नीचे रख दोगे। पानी में रही मिट्टी धीरे-धीरे नीचे बठ जाएगी। मल प्याले की तह म जम जाएगा और धीरज रखोगे तो स्वच्छ पानी ऊपर तर आएगा। इस से यही ध्वनित होता है कि पानी मे मिट्टी अवश्य है, लकिन उपशात है। ठीक ऊसी तरह आत्मा मे मोह जरूर है, लेकिन नीचे तह जमा हुआ है। अत आत्मा निमल मोहरहित दृष्टिगोचर होती है। लेकिन जिस तरह प्याले को हिलाते ही तह मे जमा मिट्टी और मल ऊपर उभर आएगा और पानी दुबारा गदा हो जाएगा। उसी तरह उपशात मोह वाली आत्मा कोई दोष से आन्दोलित हुई तो मोह आत्मा मे व्याप्त हो, उसे गदा कर मलीन बना देगा।

उपशात मोह मे निभयता नही होती। हा, मोह क्षीण हो जाय, अर्थात् पानी को ककर मिट्टी बिना का स्वच्छ बना दिया जाए, बाद मे प्याले को भले ही हिलाइए ककर मिट्टी के उभर आने का सवाल ही पदा नही होगा। उसी भांति मोह का सवथा क्षय होने पर कोई चिंता नही। दुनिया का कोई निमित्त कारण उसे मोहाधीन नहीं कर

सकेगा !

कर्मों की क्रूर-लीला भला कहाँ तक संभव है ? सिर्फ ग्यारहवे गुणस्थान तक ! वहाँ चौदह पूर्व के ज्ञानी श्रुतकेवलियों की पराजय भी अवश्यंभावी है। अर्थात् चौदह पूर्वधर--श्रुतकेवली भी प्रमाद के वशीभूत हो, अनादि काल तक निगोद मे रहते हैं। न जाने कर्मों की यह कैसी भीषणता—भयानकता है ! ऐसे कर्म विपाकों का सतत-चितन मनन कर, उस के क्षयहेतु कमर कसनी चाहिए।

अर्वाक् सर्वाऽपि सामग्री श्रान्तेव परितिष्ठति ।
विपाकःकर्मणः कार्यपर्यन्तमनुधावति ॥६॥१६६॥

अर्थ : हमारे निकट रही सभी सामग्री/कारण, एकाव थके हुए प्राणी की तरह सुस्त रहती है। जबकि कर्म-विपाक कार्य के अंत तक हमारा पीछा करता है।

विवेचन : कर्म-विपाक का अर्थ है कर्म का परिणाम/फल ! कोई कार्य विना किसी कारण के नही बनता और हर कार्य के पीछे पाँच कारण होते हैं·

१ काल २ स्वभाव ३ भवितव्यता ४ कर्म और ५ पुरुषार्थ

लेकिन इन सब में 'कर्म' प्रधान कारण है ! कर्म-विपाक कार्य के अंत तक हमारा पीछा नही छोडता, बल्कि सतत छाया की तरह साथ रहता है। शेष सभी कारण थोडा–बहुत चलकर इधर-उधर हो जाते हैं, लेकिन यह निरतर पीछे ही लगा रहता है। कोइ किसी कार्य की भूमिका तैय्यार करता है, कोई कार्यारम्भ कराता है, कोइ कार्य के बीच ही थक कर एक ओर हो जाता है। लेकिन कर्म कभी थकता नही है। जब तक कोई कार्य पैदा होता है और खत्म-(नाश) होता है, तब तक कर्म साथ ही चलता है। इसे कभी विश्राम नहीं, विराम नही और आराम नही।

व्यक्ति को जितना भय अन्य कारणो से नही, उतना भय कर्म का होता है। कर्म-क्षय होते ही अन्य चार कारण अपने आप लोप हो जाते हैं। उन्हें दूर करने के लिए किसी प्रकार की मेहनत नही करनी पडती ! ये सब कर्म के पीछे होते हैं।

इसी वजह से कर्म के अनुचिंतन और क्षय हेतु जीव को पुरुषार्थ करना होता है। कर्मक्षय हेतु कर्म ने ही मनुष्य को अनुकूल सामग्री प्रदान की है।

खुद को मिटाने के लिए कर्म स्वयं आगे बढ़कर जीव को सामग्री प्रदान कर रहा है।

- तुम्हें मनुष्यगति प्राप्त है ?
- तुमने आर्य भूमि में जन्म धारण किया है ?
- तुम्हें तन बदन का आरोग्य मिला है ?
- तुम्हारी पांचों इन्द्रियाँ परिपूर्ण हैं ?
- तुम्हें चिंतन-मनन के लिए मन मिला है ?
- तुम्हें सुदेव, सुगुरु और सद्धर्म का संयोग मिला है ?

कर्मक्षयहेतु और अन्य, किस सामग्री की आवश्यकता है ? इससे बढ़िया और विशेष सामग्री की अब भी क्या गरज है ? तो क्या कर्म क्षय की भावना भी कर्मों को ही जगानी पड़ेगी, पैदा करनी होगी ? सचमुच कितनी बेहूदी बात है ? संभवतः तुम अब भी कर्म की पिशाचलीला से परिचित नहीं हो। यदि तुमने अनुकूल परिस्थिति और सामग्री का समय रहते सदुपयोग न किया तो वह उसे दुबारा छिन लेगा और फिर तुम्हारी ऐसी बुरी हालत करेगा कि तुम फूट फूट कर रोओगे। लेकिन उसके सिकंजे से छूट नहीं पाओगे। तब एक क्षण ऐसा आएगा कि तुम कर्मों के गुलाम बन जाओगे।

यदि तुम प्राप्त सामग्री का योग्य उपयोग करोगे तो वह (कर्म) तुम्हें इससे भी बढ़कर और अमूल्य सामग्री प्रदान करेगा। फलतः उससे तुम अपने सभी कर्मों का सरलता से नाश कर सकोगे।

जिस तरह कर्मों को तुम प्रत्यक्ष में देख नहीं सकते, ठीक उसी तरह तुम्हें उसका क्षय भी प्रत्यक्ष में नहीं दिखने वाले धर्म से ही करना होगा। यह सनातन सत्य है कि धर्म से कर्म नष्ट होते हैं। धर्म आत्मा का है, लेकिन आत्मा तक पहुँचने के लिए तुम्हें अपनी पाँचों इन्द्रियों और मन का सदुपयोग करना पड़ेगा। संसार के तुच्छ सुख और सुविधा में भूलकर भी अपनी इन्द्रियों को और मन को न लगाओ। तभी तुम आत्मा की गहराई को स्पर्श कर पाओगे और आत्मधर्म प्राप्त कर

सकोगे । आत्मधर्म की प्राप्ति होने पर कर्म-क्षय होते विलम्ब नही होगा । जैसे जैसे कर्मक्षय होता जाएगा वैसे-वैसे धर्मतत्त्व के साथ तुम्हारा नाता जुडता जाएगा ।

फलस्वरूप काल, स्वभाव, भवितव्यता आदि के दोषों को नजर-अदाज कर किस पद्धति से कर्म-क्षय किया जाएँ इसका सदा-सर्वदा चिंतन-मनन करते रहो । कर्म को भूलकर यदि 'काल बुरा है, भवितव्यता अच्छी नही है, बहानेबाजी की, तो याद रखो, कर्म तुम्हारे सीने पर चढ बैठेंगे । तुम्हें समय-बेसमय पागल बना देंगे । फलस्वरूप तुम अशांति.... दु ख....पश्चात्ताप.... कलह और संताप के होम-कुण्ड मे बुरी तरह झुलस जाओगे । अत: धर्म मे पुरूषार्थं करो । कर्मों के भय का गांभीर्य समझो । प्रमाद, मोह और आसक्ति की श्रृंखलाएँ तोड दो और कर्मक्षय हेतु कटिबद्ध हो जाओ ।

असावचरमावर्ते धर्मं हरति पश्यतः ।
चरमावर्तिसाधोस्तु छलमन्विष्य हृष्यति ।।७।।१६७।।

अर्थ : यह कर्म-विपाक अंतिम 'पुद्‌गलपरावर्त' के अतिरिक्त अन्य किसी भी पुद्‌गलपरावर्त मे हमारी आँखो के सामने धर्म का नाश करता है, परतु चरम पुद्‌गलावर्त मे रहे हुए साधु का छिद्रान्वेषण कर खुश होता है ।

विवेचन : चरम पुद्‌गलावर्त-काल !
अचरम पुद्‌गलावर्त-काल !

'पुद्‌गलपरावर्त' किसे कहा जाएं-इसकी जानकारी तुम परिशिष्ट मे से प्राप्त कर लेना । यहाँ तो सिर्फ कर्म का काल के साथ और काल के माध्यम से आत्मा के साथ कैसा सम्बन्ध है, यहा बताया गया है । जब तक आत्मा अतिम पुद्‌गलावर्त काल में प्रविष्ट न हो जाएँ तब तक लाख प्रयत्न करने के बावजूद भी कर्म आत्मधर्म को समझने नही देता, ना ही उसे अंगीकार करने देता है । मनुष्य, भगवान के मंदिर अवश्य जाएगा, नित्य पूजा-पाठ करेगा , लेकिन परमात्म-स्वरूप को प्राप्ति की इच्छा से नही, वरन् सासारिक सुख और संपदा की अभिलाषा लेकर जाएगा । गुरू महाराज को वंदन करेगा, भिक्षा देगा, भक्ति करेगा, वैयावच्च और सेवा करेगा, लेकिन सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र के लिए नही, अपितु स्वर्गलोक की ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त करने के

लिए ! अरे, वह प्रव्रज्या ग्रहण कर साधु भी बन जाएगा ! लेकिन मोक्षप्राप्ति और आत्मविशुद्धि के लिए आराधना नही करेगा, परतु देवलोक के दिव्य सुख और उच्च पद पाने के लिए आराधना करेगा। शास्त्रों में उल्लेख है कि 'शुद्ध चारित्रपालन से देवगति प्राप्त होती है। ऐसा जान कर वह दीक्षित होगा। चारित्रपालन करेगा ! कठोर तपस्या और निरतिचार चारित्र का पालन करेगा ! लेकिन कर्म बधनो से मुक्ति पाने की भावना पैदा ही नही होगी। वह उसे ऐसे भुलभुलैये मे फँसा देगा कि मुक्ति होने के विचार ही उसमे न जगे !

कर्म बधन की श्रृंखला मे आत्मा को मुक्त करने का विचार तक अचरमावर्त काल मे नही आता। वह धर्माचरण करता अवश्य दिखाई देता है, लेकिन आत्मशुद्धि और मुक्ति के लिए नहीं, बल्कि ससार वद्धि के लिए करता है।

चरमावर्त काल मे अवश्य आत्मधर्म का ज्ञान होता है। आत्म-धर्म की आराधना और उपासना भी होती है। लेकिन ऐसी परिस्थिति मे भी कर्मबधन से मुक्ति की इच्छा रखनेवाले साधु मुनिराज के इर्द गिर्द 'कर्म' निरतर चक्कर लगाते रहते हैं ! छिद्रान्वेषण करते हैं ! और यदि एकाध छिद्र दृष्टिगोचर हो जाए तो आनन फानन मे घुस पैठ कर मुनि के मुक्ति पुरुषार्थ को शिथिल बनाने पर तुल जाता है। उन के मार्ग मे नाना प्रकार की रूकावटें और अवरोध पैदा करते विलम्ब नही करता। अत मुनि का सदा सावधान रहना आवश्यक है। वह कोई छिद्र न रहने दे अपनी आराधना उपासना का रक्षापकित मे ! तभी सफलता सभव है।

प्रमाद के छिद्रो में से कर्म आत्मा मे प्रवेश करता है।

मानव जीवन के निद्रा, विषय, कषाय, विकथा, और मद्यपान-य पाच प्रधान प्रमाद हैं। अत मुनि को अपनी निद्रा पर सयम रखना चाहिए। उन्हें रात्रि के दो प्रहर अर्थात् छह घटे ही शयन करना चाहिए। वह भी गाढ निद्रा मे नही। दिन मे निद्रा का त्याग उनके लिए श्रेयस्कर है। पाच इन्द्रियो के विषयो म से किसी भी विषय के प्रति कभी आसक्ति न होनी चाहिये। क्रोध मान, माया और लोभ इन चार कषायो के पराधीन नही होना चाहिए। विकथाओ मे कभी

लिप्त नहीं होना चाहिए। नारी के संबंध मे भूलकर भी साधु चर्चा न करें। भोजनादि विषयक बातचीत मे दूर रहना चाहिये। देस-परदेस की और राजा महाराजाओं की कपटपूर्ण चर्चा मे दिलचस्पी नहीं लेनी चाहिए। मद्यपान मे साधु को वचना चाहिए। यदि साधु को इन पांच प्रमादो से अलिप्त रहना आ जाए तो मजाल है कि उसके आत्मप्रदेश पर कर्म-शत्रु आक्रमण कर दे। फिर भले ही वह उसके इर्द-गिर्द चक्कर क्यों न लगाता हो!

कहने का तात्पर्य यह है कि यदि मुनिराज कर्म-घूसपैठिया को घूसपैठ का अवसर ही न दे तो उनके सताने का,हैरान/परेशान करने का सवाल ही न उठे। हाँ, उसे घूसपैठ करने का मौका देना न देना, साधु पर निर्भर है। यदि प्रमाद के आचरण को 'कर्मकृत' संज्ञा प्रदान कर, उसका अनुशरण करे तो अधःपतन हुआ ही समझो! फिर उसे पतन की गहरी खाइ मे गिरते कोई बचा नही सकेगा। यह तथ्य भलि भांति समझ लेना चाहिये को 'चरमावर्त काल' मे प्रमाद-सेवन में कर्म का हाथ नही होता। और यह वात तभी गले उतरेगी जब हम कुटिल कर्म की लीला का अच्छी तरह समझ लेंगे। इसलिए कर्म का अनुचिंतन करना आवश्यक है। कर्म-विपाक का विचार आते ही जीव कांप उठता है।

साम्यं बिभर्ति यः कर्मविपाकं हृदि चिन्तयन्।
स एव स्याच्चिदानन्दमकरन्दमधुव्रतः ॥८॥१६८॥

अर्थ . हृदय मे कर्म—विपाक का चिंतन-मनन करते हुए जो समभाव धारण करता है, वही योगी ज्ञानानन्द रुपी पराग का भोगी भ्रमर होता है।

विवेचन . हे योगीराज! आप तो भोगी भ्रमर है, ज्ञानानन्द-पराग का जी भर कर उपभोग करने वाले हैं, आपके हृदय मे सदा कर्म—विपाक का चिंतन और मुख पर समता का संवेदन है!

विना कर्म विपाक—चिंतन के समभाव का वेदन नही होता और समभाव के वेदन विना ज्ञानानन्द का अमृतपान असंभव है। मतलब उपरोक्त श्लोक से तीन बातें स्पष्ट होती हैं :

* कम-विपाक चितन
* समभाव
* ज्ञानान द का अनुभव !

कमविपाक के चितन मनन से समभाव ही प्रकट होना चाहिए । अर्थात् ससार म विद्यमान प्राणी मात्र के लिए समत्व की भावना पैदा होनी चाहिए । न किसी के प्रति द्वेष, ना ही किसी के प्रति राग । शत्रु के प्रति द्वेष नही, मित्र के लिए राग नही । कर्मकृत भावो के प्रति हर्ष और शोक नही होना चाहिए । यह सब कम विपाक के चितन—मनन से ही सभव है । यदि हमें राग-द्वेष और हर्ष-शोक होते हैं तो समझ लेना चाहिए कि हमारा चितन कम-विपाक का चितन नहीं बल्कि कुछ और है । हर्ष-शोक, राग द्वेष और रति-अरति आदि भावों के लिए सिर्फ कर्मों को ही नही कोसना चाहिए, उसके बजाय हमें निरतर यह विचार करना चाहिए कि 'कम-विपाक, का चितन मनन न करने से यह सब हो रहा है ।' हमें स्मरण रखना चाहिए कि कम विपाक का चितन किये बिना राग-द्वेष और हर्ष-शोक कभी कम नही होंगे । अरे, मरणान्त उपसर्गों के समय भी जो महात्मा तनिक भी विचलित नही हुए, आखिर उसका रहस्य क्या था ?

इसके प्रत्युत्तर मे यह कह कर अपने मन का समाधान कर लेना कि 'वह सब उन के पूव भवो की आराधना का फल था,' हम सबसे बडी भूल कर रहे हैं । उसके बजाय यह मानना -समझना चाहिए कि 'उस के मूल मे उन का अपना कम-विपाक का चितन-मनन अनन्य, असाधारण था, जिसकी वजह से सतुलन खोये बिना वे समभाव मे अत तक अटल-अचल बने रहे ।' यही विचारधारा हमे आत्मसात् कर लेनी चाहिए । जीवन मे बनते प्रसगो के समय यदि कम विपाक के विज्ञान का उपयोग किया जाए तो ममता समभाव मे स्थिर रहना सरल बन जाएँ ।

और समभाव के बिना ज्ञानान द कहाँ ? ज्ञानान द समभाव से सभव है ! राग द्वेष और हर्ष-शोक का तूफान थमते ही ज्ञान का आनन्द-आत्मानद प्रगट होता है । जब कि राग-द्वेष से स्फूरित आनन्द, आनन्द न होकर विषयानन्द होता है । ज्ञानानन्द के निरतर उपभोग

के लिए समभाव की ज्योत अखंडित रखनी चाहिये ! उसे छिन्न-भिन्न नही होने देने के लिए कर्म-विपाक का चिंतन-अनुचिंतन सदा-सर्वदा शुरु रहना चाहिए। न जाने पूज्य उपाध्याय जी महाराज ने कैसी अलौकिक व्यवस्था का मार्गदर्शन किया है !

संसार मे रही विषमताओ का समाधान 'कर्म-विपाक' के विज्ञान द्वारा न किया जाएँ तो ? तब क्या होगा ?

संसार के जीवो के प्रति राग और द्वेष की भावना तीव्र बनेगी। राग-द्वेष के कारण अनेकविध अनिष्ट पैदा होगे। हिंसा, झूठ, चोरी, दुराचार, परिग्रह, क्रोध-मान, माया, लोभादि असंख्य दोषो का प्रादुर्भाव होगा। फलतः जीवो का जीवन जीवों के हाथ ही असुरक्षित बन जाते देर नही लगेगी। परस्पर शंका-कुशंका, घृणा, द्वेष और वैर-भावना मे, क्रमशः बढोतरी होगी। परिणाम स्वरुप विषमता बढेगी। ऐसी स्थिति मे मोक्ष-मार्ग की आराधना संभव नही।

आज भी हम देखते है कि जो प्रस्तुत कर्म-विज्ञान से अनभिज्ञ हैं, उन की क्या हालत है ? वे अपनी जिंदगी बदतर स्थिति में गुजार रहे हैं। वहाँ अशांति, चिंता और दुःख का साम्राज्य छाया हुआ है। न जाने आत्मा-परमात्मा और धर्म-ध्यान से वे कितने दूर-सुदूर निकल गये हैं।

तब आप तो मुनिराज हैं ! मोक्ष-मार्ग के पथिक बन आपको कर्म-बंधन तोडने हैं और शुद्ध-बुद्ध अवस्था प्राप्त करनी है। अतः आप को 'कर्म विज्ञान' का मनन कर उसे पचाना चाहिए। उसके आधार पर समभाव के धनी बनना चाहिए। फलतः आप ज्ञानानन्द—पराग के भोगी भ्रमर बन जायेंगे ! ध्यान रहे, जहाँ भी समभाव खंडित होता दृष्टि गोचर हो, शीघ्राति शीघ्र "कर्म-विपाक" का आलम्बन ग्रहण कर लेना।

२२ भवोद्वेग

हे भव-परिभ्रमण के रसिक जीव ! तनिक इस ममा-समुद्र की ओर तो दृष्टिपात कर । इसकी विभीषिका और भीषणता का तो दर्शन कर। इसकी नि सारता एव भयानकता का तो ख्याल कर । क्या तू यहाँ सुखी है ? शान्त है ? सतुष्ट है ?

पूज्य उपाध्यायजी महाराज ने यहाँ भव-समुद्र की भयकरता को समझाने का प्रयत्न किया है । तुम इस अध्याय को ऊपरी तौर से पढ मत जाना, बल्कि पूरे गाभीर्य से पढकर यथायोग्य चिन्तन करना ।

भव-बधनो की विषमता और असारता से मुक्ति पाने हेतु जिस अदम्य उत्साह, शक्ति और जिज्ञासा की आवश्यकता है, वह सब तुम्हें प्रस्तुत अष्टक के चिन्तन मनन से नि सदेह प्राप्त होगा ।

यस्य गंभीरमध्यस्याज्ञानवज्रमयं तलम् ।
रुद्धव्यसनशैलौघैः पन्थानो यत्र दुर्गमा ॥१॥१६६॥

पातालकलशा यत्र भृतास्तृष्णामहानिलैः ।
कषायाश्चित्तसंकल्पवेलावृद्धिं वितन्वते ॥२॥१७०॥

स्मरौर्वाग्निर्ज्वलत्यन्तर्यत्र स्नेहेन्धनः सदा ।
यो घोररोगशोकादिमत्स्यकच्छपसंकुलः ॥३॥१७१॥

दुर्बुद्धिमत्सरद्रोहैर्विद्युद्दुर्वातगर्जितैः ।
यत्र सांयात्रिका लोकाः, पतन्त्युत्पातसंकटे ॥४॥१७२॥

ज्ञानी तस्माद् भवांभोधेर्नित्योद्विग्नोऽतिदारुणात् ।
तस्य संतरणोपायं, सर्वयत्नेन काङ्क्षति ॥५॥१७३॥

अर्थ : जिसका मध्यभाग गंभीर है, जिसका (भव समुद्र का) पेंदा (तलभाग) अज्ञान रूपी वज्र से बना हुआ है, जहाँ संकट और अनिष्ट रूपी पर्वतमालाओं से घिरे दुर्गम मार्ग हैं ।

जहाँ (संसार-समुद्र में) तृष्णा स्वरूप प्रचंड वायु से युक्त पाताल कलश रूपी चार कषाय, मन के संकल्प रूपी ज्वारभाटे को अधिकाधिक विस्तीर्ण करते हैं ।

जिसके मध्य में हमेशा स्नेह स्वरूप इन्धन से कामरूप वडवानल प्रज्वलित है और जो भयानक रोग-शोकादि मत्स्य और कछुओं से भरा पड़ा है ।

दुर्बुद्धि, ईर्ष्या और द्रोह- स्वरुप बिजली, तूफान और गर्जन से जहाँ समुद्री व्यापारी तूफान रुपी संकट में पड़ते हैं ।

ऐसे भीषण संसार- समुद्र में भयभीत ज्ञानी पुरुष उससे पार उतरने के प्रयत्नों की इच्छा रखते हैं ।

विवेचन . संसार !

जिस संसार के मोह में असंख्य जीव अंधे बन गये हैं, जानते हो वह संसार कैसा है ? मोक्षगति-प्राप्त परम-आत्मायें संसार को किस

दृष्टि से देखतो हूँ ? तुम भी उसके वास्तविक स्वरूप का दर्शन करोगे, तब उद्विग्न हो उठोगे । तुम्हारे मन में उसके प्रति अप्रीति के भाव पैदा होंगे । एक प्रकार की नफरत पैदा हो जाएगी। और यही तो होना चाहिये । मोक्ष के इच्छुक के लिए इसके सिवाय और कोई चारा नहीं है । संसार की आसक्ति प्रीतिभाव छिन्न भिन्न हुए बिना शाश्वत् अनन्त प्रदीप अव्याबाध सुख संभव नहीं । संसार के यथार्थ स्वरूप का तनिक जायजा लो ।

संसार को समुद्र समझो ।

- १ संसार-समुद्र का मध्यभाग अगाध है ।
- २ संसार समुद्र की सतह अज्ञान वज्र की बनी हुई है ।
- ३ संसार-समुद्र में संकटों के पहाड़ हैं ।
- ४ संसार-समुद्र का मार्ग विकट-विषम है ।
- ५ संसार-समुद्र में विषयाभिलाषा की प्रचंड वायु बह रही है ।
- ६ संसार समुद्र में क्रोधादि कषायों के पाताल कलश हैं ।
- ७ संसार-समुद्र में विकल्पों का ज्वार आता है ।
- ८ संसार-समुद्र में रागयुक्त इंधन से युक्त कंदर्प का दावानल प्रज्वलित है ।
- ९ संसार-समुद्र में राग के मच्छ और शोक के कछुए स्वच्छंद विहार कर रहे हैं ।
- १० संसार समुद्र पर दुर्बुद्धि की बिजली रह-रहकर कौंधती है ।
- ११ संसार-समुद्र पर माया मत्सर का भीषण तूफान गहरा रहा है ।
- १२ संसार समुद्र में द्रोह का भयंकर गर्जन हो रहा है ।
- १३ संसार-समुद्र में नाविकों पर संकट के पहाड़ टूट पड़े हैं ।

अतः संसार-समुद्र सर्वथा दारुण है और विषमता से भरा पड़ा है। संसार-समुद्र – 'वाकई संसार एक तूफानी सागर है'- इस विचार को हम अपने हृदय में भावित करना चाहिये और तदनुसार जीवन का सारा कार्यक्रम निश्चित करना चाहिये । सागर में रहा प्रवासी उसे पार करने के नानाविध प्रयत्न करता है ना कि उसमें सैर सपाटा अथवा दिल -बहलाव का प्रयत्न करता है । उसमें भी यदि सागर तूफानी हो

तो, पार करने की उसे हमेशा जल्दी रहती है। अतः हमें यह संकल्प दृढ से दृढतर बनाना चाहिये कि 'मुझे संसार-समुद्र पार करना ही है।'

मध्य भाग :– समुद्र का मध्य भाग (बीचों-बीच) अगाध होता है कि उसकी सतह खोजे भी नही मिलती। यहां संसार का मध्य भाग यानी मनुष्य की युवावस्था/यौवनकाल। जीव की यह अवस्था वाकई अगाध होती है, जिसका ओर-छोर पाना मुश्किल होता है। उस की युवावस्था की अगाधता को सूर्य-किरण भी भेदने में असमर्थ हैं। अच्छे-खासे तैराक भी समुद्र की अतल गहराई में खो जाते हैं, जिनका अता-पता नही लगता।

तल-भाग (सतह) – संसार-समुद्र की सतह (तल भाग) किसी मिट्टी, पत्थर अथवा कीचड़ की बनी हुई नही है, बल्कि वज्र की बनी हुई है। जीव की अज्ञानता वज्र से कम नही। यह सारा संसार अज्ञानता की सतह पर टिका हुआ है। मतलब ससार का मूल अज्ञानता ही है।

पर्वतमालाये – समुद्र मे स्थान-स्थान पर छोटे-बडे पर्वत, कही पर पूर्ण रूप से तो कही-कही पर आधे पानी मे डूबे हुए रहते हैं। नाविक-दल हमेशा इन समुद्री टीलों और चट्टानो से सावधान रहता है। जब कि ससार-समुद्र मे तो ऐसी पर्वतमालाएं सर्वत्र बिखरी पड़ी है। जानते हो, ये पर्वत कौन-से है? सकट, आपत्ति-विपत्ति, आधि-व्याधि, दुःख, अशान्ति.... ये सब सासारिक पर्वत ही तो हैं। एक दो नही, बल्कि पूरी हारमाला/पर्वतमाला! अरावली की पर्वतमालाये तुमने देखी है? सह्याद्रि की पर्वत-शृंखलाओं के कभी दर्शन किये हैं? इनसे भी ये पर्वतमालायें अधिकाधिक दुर्गम और विकट हैं, जो ससार-समुद्र मे फैली हुई हैं। कही-कही वे पूरी तरह पानी के नीचे हैं, जो सिधे-सादे नाविक के ध्यान में कभी नही आती। यदि इन से तुम्हारी जीवन-नौका टकरा जाए, तो चकनाचूर होते एक क्षण का भी विलब नही।

मार्ग :– ऐसे ससार-समुद्र का मार्ग क्या सरल होता है? नही, कतइ नही। ऐसे ऊबड-खाबड, दुर्गम मार्ग पर चलते हुए कितनी सावधानी बरतनी पड़ेगी, कितनी समझदारी और संतुलित-वृत्ति का अवलंबन करना होगा? हमारी तनिक लापरवाही, चचलता, निद्रा, आलस्य

अथवा विनोद सर्वनाश को न्यौता देते देर नही करेंगे । ऐसे विकट समय मे किसी अनुभवी परिपक्व मार्गदर्शक की शरण ही लेनी होगी । उस का अनुसरण करना पडेगा या नही ? सुयोग्य सुकानी के नेतृत्व पर विश्वास करना ही होगा, तभी हम सही-सलामत/सुरक्षित अपनी मजिल तक पहुँच पायेंगे ।

प्रचड वायु – तृष्णा पाच इन्द्रियो के विषयो की कामना की प्रचड वायु महासागर में पूरी शक्ति के साथ ताण्डव नृत्य कर रही है। तृष्णा कितनी तृष्णा ! उसकी भी कोई हद होती है । मारे तृष्णा के जीव इधर उधर निरुद्देश्य भटक रहा है। विषय सुख की लालसा के वशीभूत हो जीव कैसा घिर गया है ? जानते हो, यह प्रचड वायु कहां से पैदा होती है ? पाताल कलशो से । वही उसका उदगम स्थान है ।

पाताल-कलश – ससार सागर मे चार प्रकार के पाताल कलश विद्यमान हैं क्रोध ,मान, माया और लोभ ! इनम से प्रचड वायु उत्पन्न होती है और सागर मे तूफान पैदा करती है ।

ज्वार भाटा – मन के विभिन्न विकल्पो का ज्वार-भाटा ससार सागर मे आता रहता है । कषायो मे से विषय तृष्णा जागृत होती है और विषय-तृष्णा मे से मानसिक विकल्प पैदा होते हैं । जानते हो, मानसिक विकल्पो का ज्वार कितना जबरदस्त होता है ? पूरे समुद्र मे तूफान आ जाता है । पानी की तरगें किनारे को तोडती हुई भयानक दृश्य सा रूप धारण कर लेती हैं । आम तौर पर समुद्र मे पूर्णिमा की रात्रि को ही ज्वार आता है । लेकिन ससारसागर मे तो निरतर ज्वार आता रहता है । क्या तुमने कभी ज्वार के समय तूफानी स्वरूप धारण करते सागर को निकट से देखा है ? शायद नही देखा हो ! लेकिन अब मानसिक विकल्पो के ज्वार को अवश्य देखना ! उसे देखते ही तुम घबराहट मे भर जाओगे ।

वडवानल – कैसा दारुण वडवानल भभक रहा है !

कदर्प के वडवानल मे ससारसमुद्र का कौन सा प्रवासी फँसा नही है ? इस दुनिया मे कौन माई का लाल है, जो उक्त वडवानल की उग्र ज्वालाओ से बच पाया है ? उसमे राग का इधन डाला जाता है । राग के इधन से वडवानल सदा सर्वदा प्रज्वलित रहता है ।

वाकई, कंदर्प का वडवानल आश्चर्यजनक है ! वडवानल मे जीव निर्भय बनकर कूद पडते हैं ! भड़कते वडवानल के बावजूद वे उस मे से निकलने का नाम नही लेते.... बल्कि राग का इन्धन डाल-डालकर उसे निरन्तर प्रदीप्त रखते है ! कदर्प यानी काम वासना/भोग-सभोग की तीव्र लालसा । नर नारी के संभोग की वासना मे धू-धू जलता है और नारी नर के सभोग में । जबकि नपु सक, नर व नारी, दोनों के संभोग की वासना मे जलता है । वास्तव मे देखा जाए तो संसारसागररूपी वडवानल, भयंकर, भीषण और सर्वभक्षी है....। सामान्यत: संसार-सागर के सारे प्रवासी इस (वडवानल) में फँसे नजर आते हैं, जब कि कुछ उसकी ओर लपकते दिखायी देते हैं ।

मच्छ और कच्छप : ससार-समुद्र मे बडे-बडे मगरमच्छ और मछलियाँ भी हैं । छोटे-बड़े साध्य-असाध्य रोगो के मच्छ भी मुसाफिरो के लिए आफत बने रहते हैं....। उन्हे हैरान-परेशान करते हैं। एकाध मगर-मच्छ का खाद्य बनता दिखायी देता है, तो कोई इन मछलियो की गिरफ्त मे फँसा नजर आता है । इन रोग रुपी मच्छो से प्रवासी सदैव भयभीत होते है ।

ठीक उसी तरह शोक-कछुओं की भी इस ससार-सागर मे कमी नही है, जो प्रवासियो को कोई कम हैरान-परेशान नही करते ।

चंचला :- जरा आकाश की ओर दृष्टिपात करो । रह-रहकर चचला कौंवती नजर आती है । उसकी चमक-दमक इन आँखों से देखी न जाए, ऐसी चकाचौंध करने वाली अजीबों-गरीब होती हैं । कभी-कभार वह हमें छुते हुए विद्युत-वेग से निकल जाती है । दुर्बुद्धि ही चचला है। हिंसामयी बुद्धि झूठ- चोरी की बुद्धि, दुराचार-व्यभिचार की बुद्धि, माया- मोह की बुद्धि और राग-द्वेष की बुद्धि । चचला की चमक-दमक में जीव चकाचौंध हो जाता है ।

तूफान - मत्सर की आंधी कितने जोर-शोर से जीवों को अपनी चपेट मे ले लेती है ! गुणवान व्यक्ति के प्रति रोष यानी मत्सर । संसार-सागर मे ऐसी आंधी आती ही रहती है । क्या तुमने कभी नही देखी ? तुम्हे उसकी आदत पड़ गयी है । अत तुम उस की भयकरता.... भीषणता को समझ नही पाओगे । लेकिन गुणवान व्यक्ति के प्रति तुम्हारे मन

मे रोष की भावना क्या पैदा नही होती ? ऐसे समय तुम्हारे मन मे कैसा तूफान पैदा होता है ? जो इस तूफान म फँस गया उसकी गुण-सपदा नष्ट होते देर नही लगती । वह गुण सपदा स दूर सुदूर निकल जाता है ।

गजन-तजन द्रोह-विद्रोह का गजन-तर्जन ससार-समुद्र में निरन्तर सुनायी देता है। पिता पुत्र का द्रोह करता है, तो पुत्र पिता का द्रोह करता है। प्रजा राजा का द्रोह करती है, तो राजा प्रजा का द्रोह करता है। पत्नी पति का द्रोह करती नजर आती है, तो पति पत्नी का द्रोह करता दृष्टिगोचर होता है। शिष्य गुरु का द्रोह करता है और गुरु शिष्य का द्रोह करता है। जहाँ देखा वहाँ द्रोह की यह परपरा और गजन-तर्जन अबाधित रूप से चल रहा है। अविश्वास और शका-कुशका के वातावरण मे ससार समुद्र के प्रवासी का दम घुट रहा है।

मुसाफिर - ससार-सागर मे असख्य आत्मायें विद्यमान हैं। लेकिन महासागर के सीने पर लहराती इतराती नौकाओ में प्रवास करने वाला एक मात्र प्राणी मनुष्य है। ये लोग ससार-सागर का प्रवास करते हुए बुरी परिस्थिति के फदे मे फस जाते हैं और परिणाम स्वरूप जाने-अनजाने घोर सकट में पड जाते हैं । उन में से बडी सख्या में तो पवतमालाओ से टकरा कर समुद्र की अतल अनन्त गहराई में खो जाते हैं। बचे-खुचे लोग सफर जारी रखते हुए, मध्य भाग में प्रज्वलित वडवानल के कोप-भाजन बन मर जाते हैं । कुछ तो आकाश में सतत कौंधती बिजली के गिरने से खत्म हो जाते हैं । कई तूफान की बिभीषिका मे अपना सवस्व खो बठते हैं। शेष रहे थोडे से मुसाफिर, जिन्हें भव सागर का यथाथ ज्ञान है और जो ज्ञान-समृद्ध धीर-गभीर महापुरुषो का अनुसरण करते हैं, बच पाते हैं - भव सागर को पार करने मे सफल हो जात हैं ।

ज्ञानी पुरुषो की दृष्टि मे प्रस्तुत ससार-सागर अनन्त विषमताओ से भरा अत्यत दारुण है। जब तक वे यहाँ सदेह होते हैं, तब तक अधिकाधिक उद्विग्न रहते हैं। किसी भी सुख के प्रति वे आकर्षित नही होते ना ही स्वय ललचाते हैं । उनका सदा सवदा सिर्फ एक ही

लक्ष्य होता है; 'कब इस भव सागर से पार उतरुँ'। उनके सारे
प्रयत्न और प्रयास भवसागर से पार उतरने के लिये होते हैं, मुक्ति के
होते हैं। मन, वचन, काया से वे सतरण हेतु ही प्रयत्नशील रहते हैं।

हमें भी आत्म-संशोधन करना चाहिये। सोचना चाहिये कि यह
भवसागर हमारे ठहरने के काबिल है क्या? हमे यहाँ स्थिर होना
चाहिये क्या? कही भी कोई सुगम पथ है क्या? कही निर्भयता है?
अशांतिरहित असीम सुख है? नही है। जो है, वह सिर्फ मृगजल है।
तो भव सागर मे स्थिर होने का सवाल ही कहाँ उठता है? जहाँ स्वस्थता
नही, शान्ति नही, सुख नही और निर्भयता नही, वहाँ रहने की कल्पना
से ही हृदय काँप उठता है। जब देश का विभाजन हुआ और भारत
व पाकिस्तान दो राष्ट्र बने, तब पाकिस्तान मे हिन्दु परिवारों की
स्थिति कैसी थी? उनका जीवन कैसा था? वहाँ से लाखो हिन्दू
परिवार हिजरत कर भारत चले आये। जान हथेली पर रखकर सुख-
शान्ति और सपदा गँवा कर। क्योकि उन्हे वहाँ अपनी सुरक्षा, निर्भयता
और सलामती का विश्वास न रहा।

इसी तरह जब भवसागर से हिजरत करने की इच्छा पैदा हो
जाए, तब माया-ममता के बन्धन टूटते एक क्षण भी न लगेगा। इसलिये
यहाँ भवसागर की भीषणता का यथार्थ वर्णन किया गया है। अत:
शान्ति से अकेले मे इस पर चिन्तन करना, एकाग्र बन कर प्रतिदिन
इस पर विचार करना। जब तुम्हारी आत्मा भव-सागर की भयानकता
और विषमता से भयभीत हो उठे, तब उसे पार करने की तीव्र लालसा
जाग पडेगी और तुम मन, वचन, काया से पार होने के लिये उद्यत हो
जाओगे। ऐसी स्थिति मे विश्व की कोई शक्ति तुम्हे भव-सागर पार
करते रोक न पाएगी।

तैलपात्रधरो यद्वत्, राधावेधोद्यतो यथा।
क्रियास्वनन्यचित्तः स्याद्, भवभीतस्तथा मुनिः ॥६॥१७४॥

अर्थ :- जिस तरह तैल-पात्र धारण करने वाला और राधावेध साधने वाला,
अपनी क्रिया मे अनन्य एकाग्र चित्त होता है। ठीक उसी तरह संसार-
सागर मे भयभीत साधु अपनी चारित्र-क्रिया मे एकाग्रचित्त होना
है।

विवेचन – किसी एक नगर का एक नागरिक। उसकी यह दृढ मान्यता थी कि लाख प्रयत्नो के बावजूद भी मन नियन्त्रित नही होता।

अत वह प्राय मन की अस्थिर वृत्ति और चचलता का सवत्र ढका पीटता रहता था। अपनी मान्यता से विपरीत मन्तव्य रखने वाले के साथ वाद-विवाद करता रहता। वह मुनियो के साथ भी चर्चा करता रहता। न किसी की सुनता, ना ही समझने की कोशिश करता। मन की स्थिरता को मानने के लिये कतई तैयार नही।

वायु वेग से नगर मे बात फल गयी। राजा ने भी सुनी, लेकिन राजा विचलित न हुआ। वह स्वय दशन शास्त्र का ज्ञाता और विद्वान् था। मन को नियन्त्रित करने की विद्या से वह भली-भाति परिचित था। उस ने मन हा मन उसे सबक सिखाने का निश्चय किया। पानी की तरह समय बीतता गया। एक बार भाई साहब राजा के जाल मे फस गये। राजा ने उसे फासी की सजा सुना दी।

सुनते ही उसका एडी का पसीना चोटी तक आ गया। वह आकुल व्याकुल हो उठा। मृत्यु' के नाम से ही वह काँप उठा। वह राजा के आगे गिडगिडाने लगा। 'प्रभु! मुझे फाँसी न दो" वह बोला।

"लेकिन अपराधी को दण्ड देना राजा का कर्तव्य है।'

"प्रभो! जो दड देता है, वह क्षमा भी कर सकता है।"

राजा ने कुछ सोचते हुए कहा "एक शत पर तुम्हे क्षमा कर सकता हूँ।"

"एक नही, मुझे सौ शर्तें मजूर हैं लेकिन फाँसी मजूर नही।" उसने बेताब होकर कहा।

"'तल से लबालब भरा पात्र हाथ मे लिये नगर की हाट-हवेली और बजारो की प्रदक्षिणा करते हुए राजमहल मे सकुशल पहुँचना होगा। यदि माग मे कही तेल की एक बूद भी गिर गयी अथवा तेल पात्र तनिक भी छलक गया तो मृत्यु दण्ड से तुम्हें कोई बचा नही पाएगा। बोलो स्वीकार है?"

उसने स्वीकार किया। राज परिषद् समाप्त होने पर वह अपने आवास गया। उसके साथ राज कमचारी भी थे। इधर राजा ने हाट-

हवेलियाँ और बजार सजाने का आदेश दिया। निर्धारित मार्ग पर रूप-रग की अबार सुन्दरियो को तैनात कर दिया। कलाकारो को अपनी कला सरे-आम प्रदर्शित करने की आज्ञाये जारी की। सारे नगर का नज़ारा ही बदल गया।

निर्धारित समय पर वह लबालब भरा तैल-पात्र लिये अपने आवास से निकला। राज-कर्मचारी भी उसके साथ ही थे। वह हाट-हवेली और बाजार से गुजरता है, लेकिन उसका सारा ध्यान तैल-पात्र के अतिरिक्त कही नही। दुकानो की सजावट उस का ध्यानाकर्षण नहीं करती। नाट्य-प्रसग उसके मन को ललचाने मे असफल बनते हैं। रूपसियो का देह-लालित्य और नेत्र-कटाक्ष उसे कतइ विचलित नही कर पाते। उस की दृष्टि केवल अपने तैल-पात्र पर ही है। इस तरह वह सकुशल राजमहल पहुँचता है। महाराजा को विनीत भाव से वन्दन कर एक ओर नतमस्तक खडा हो जाता है।

"तैल की बूद तो कही गिरी नही ना ?"

"जी नही।"

राजा ने राजकर्मचारियों की ओर प्रश्नसूचक दृष्टि से देखा। उन्होने भी मौन रहकर उसके कथन को पुष्टि की। तब राजा ने कहा : "लेकिन यह कैसे सभव है ? सरासर असभव बात है। आज तक विश्व मे जो बनी नही, ऐसो अनहोनी बात है। मन चचल है। वह इधर-उधर देखे बिना रह ही नही सकता। और इधर-उधर देखने भर की देर है कि तैल-पात्र छलके बिना रहेगा नही।"

"राजन्! मै सच कहता हूँ। मेरा मन सिवाय तैल-पात्र के कही नही गया....दूसरा कोई विचार दिमाग मे आया ही नही।" उसने मद, लेकिन दृढ स्वर मे कहा।

'क्या मन किसी एक वस्तु मे एकाग्र बन सकता है ?"

"क्यों नही ? यह शत–प्रतिशत सभव है। मेरे सिर पर जब साक्षात् मृत्यु झूल रही थी, तब मन भला एकाग्र क्यो नही होता ?"

"तब फिर जो साधु / मुनि और साधक निरन्तर मृत्यु के भय को अपनी आँखो के आगे साक्षात् देखते हो, उनका मन चारित्र से

स्थिर हो सकता है अथवा नही ?"

तवसे वह मन की स्थिरता का उपाय आत्मसात कर गया। अान्त जन्म मृत्यु के भय से साधु अपनी चारित्र-क्रिया मे निरन्तर एकाग्रचित्त होता है। हाँ, उने असार ससार का भय अवश्य हो।

राधावेध साधने वाला कसी एकाग्रता का धनी होता है! उसे नीचे पानी से लवालव भरे कुण्ड मे देखना होता है और ऊपर स्तभ के सिरे पर निरन्तर घूमती पुतली को, कुण्ड मे पडती छाया की दिशा म, निशाना ताक, उसकी एक आँख विंधनी होती है। इसके लिये कैसा एकाग्रता चाहिये ? राजकुमारियो का पाणिग्रहण करने के इच्छुक नर-पुगवा को ऐसे राधावेध की कसौटी पर अपनी वुद्धि, वल और एकाग्रता की परीक्षा देनी पडती थी। इसी तरह का आदेश, श्री जिनश्वर भगवान न शिवसुन्दरी का पाणिग्रहण करने के लिये, आवश्यक सयम आराधना मे एकाग्रता लाने हेतु दिया है। एकाग्र चित्त हुए विना सयम की मजिल पाना असभव है।

> विष विषस्य वह्नेश्च वह्निरेव यदौषधम।
> तत्सत्य भयभीतानामुपसर्गेऽपि यन्न भी ॥७॥१७५॥

अर्थ – विष की दवा विष और अग्नि की औषधि अग्नि ही है। इसीलिए ससार से भयभीत जीवो को उपसर्गो के कारण किसी बात का डर नहीं होता।

विवेचन – यह कहावत सौ फीसदी सच है

विष की दवा विष और अग्नि को औषधि अग्नि'।

विष यानी जहर। जहर का भय दूर करने के लिये जहरीली दवा दी जाती है। उस मे तनिक भी डर नही लगता। ठीक उसी तरह अग्नि शमन के लिए अग्नि की औषधि देने मे भय नही लगता। तब भला ससार का भय दूर करने के लिय उपसर्गों की औषधि सेवन करने म काहे वात का भय ?

अत धीर-वीर मुनिवर उपसर्ग सहने के लिये अपने-आप तयार होते हैं, उन्हे गले लगाने के लिये खुद कदम आगे बढाते हुए नहीं घबराते। भगवान् महावीर ने श्रमण-जीवन मे नानाविध सहने

हेतु अनार्य देश का भ्रमण किया था। क्यो कि उनके मन में कर्म-रिपुओं का भय दूर करने की उत्कट भावना थी। उन्होने शिकारी कुत्तो का उपसर्ग सहन किया....ग्वालों ने उनके चरणाबुज को चुल्हा बनाकर खीर पकायी, लेकिन वे मौन रहकर सब सहते रहे....। अनार्य पुरुषो के प्रहार और असह्य वेदना, कष्ट और यातनाये सहते हुए उफ तक नही को। ऐसे ता अनेकानेक उपसर्ग शान्त रह, सहते रहे। उन्हे किसी तरह का भय महसूस न हुआ। अरे, औषधि के सेवन में भला, भय किस बात का ?

शारीरिक रोगो के उपचार हेतु लोग बंबई-कलकत्ता नही जाते? वहाँ डाक्टर शल्य-चिकित्सा करता है, हाथ-पाँव काटता है आँख निकालता है, पेट चीरता है....आर भी बहुत कुछ करता है। लेकिन रोगी को उसकी इस क्रिया / विधि से कतइ डर नही लगता। वह खुद स्वेच्छा से चीर-फाड कराता है। क्योंकि वह बखूबी जानता है कि इससे उसका दर्द और बोमारी दूर होने वाली है; रोग-निवारण का यही एक सरल, सुगम मार्ग है।

तब भला खधक मुनि राजकर्मचारियो द्वारा अपनी चमड़ी छिलते देख भयभीत क्यो होते ? उन पर रोप किसलिये करते? उन्हे तो यह महज एक शल्य-क्रिया लगी। उस क्रिया से भव के भय का निवारण जो हो रहा था।

अवंति सुकुमाल ने खुद ही सियार को अपना शरीर चीरने-फाडने दिया, उसे भरपेट खाने दिया, खून का पान करने दिया। आखिर क्यो? वह इसलिए कि उस से उन का भवरोग जो मिटने वाला था। मेतारज मुनि ने सुनार को अपने सिर पर चमड़े की पट्टी चुपचाप बांधने दी.... जरा भी विरोध नही किया। क्योकि उस से उन के भवरोग के भय का निवारण होने वाला था।

भगवान महावीर ने ग्वाले को कान मे कील ठोकने दिया, संगम को काल-चक्र रखने दिया,...गोशालक की अनाप-शनाप बकवास सहन की। इसके पीछे एक ही कारण था : ये सारी क्रियाये उनके भवरोग को मिटाने वाली रामबाण औषधियाँ जो थी।

भगवत ने मुनियो को उपसग सहने का उपदेश दिया, भला किस लिए ? मुनिगण ससार का भय दूर करने के लिये आराधना-साधना करते हैं । उपसर्गों के माध्यम से उसका 'आपरेशन' होता है और ससार का भय सदा के लिए मिट जाता है । साथ ही आपरेशन करने वाले रोगी के मन मे डाक्टर के प्रति रोप की भावना पैदा नही होती। उसके लिए वह डाक्टर परमोपकारी सिद्ध होता है । तभी खधकमुनि को राजकमचारी उपकारी प्रतीत हुए । अवति सुकुमाल को सियार उपकारी लगा और मेतारज मुनि का सुनार ।

ठीक इसके विपरीत आपरेशन करने वाला डाक्टर बीमार को दुष्ट प्रतीत हो अनुपकारी लगे तो आपरेशन बिगडते देर नही लगती। इसी तरह उपसगकता दुष्ट लगे तो मानसिक सतुलन ढलते विलव नहीं होगा । साथ ही ससार के भय मे एकाएक वृद्धि हो जाएगी । खधकसूरिजी को मत्री पालक 'डाक्टर' न लगा, बल्कि कोई दुष्ट लगा । फलत उनका ससार भय दूर न हुआ । उनके शिष्यो के लिए मत्री पालक मुक्ति पाने मे अनय सहायक बन गया ।

जीव का समताभाव से उपसग सहने हैं । उसमे भवरोग तुरत दूर हो जाते हैं । हम स्वेच्छया उपसग सहन नही करें, लेकिन कम-प्रेरित उपसर्गों को भी हसते हसते सह लें तो काम बन जाय ।

बालक आपरेशन-कक्ष मे जाने से डरता है । अपने समक्ष आपरेशन के लिए आवश्यक शस्त्र लिए डाक्टर को देख चीख पडता है भला, क्या ? उसे अपने रोग की भयानकता अवगत नही है । वह डाक्टर का रोगनिवारक नहीं मानता । इसी तरह जीव भी बालक की तरह यदि अविकसित बुद्धि वाला होता है, तो वह उपसग के साये से भी चीत्कार कर उठता है । उपसग की उपकारिता से वह पूणतया अनभिज्ञ जो ठहरा ।

तात्पय यही है कि उपसग सहने आवश्यक हैं । इसमे भव का भय हमेशा के लिए दूर होना है ।

स्वयं भयभयादेव, व्यवहारे मुनिव्रजेत ।
स्वात्मारामसमाधौ तु तदप्यन्तर्निमज्जति ।।८।।१७६।।

अर्थ – व्यवहार नय से ससार के भय से ही साधु स्थिरता पाता है। परन्तु

अपनी आत्मा की रतिरूप समाधि-ध्यान मे वह भय अपने-आप ही विलीन हो जाता है ।

विवेचन : ससार का भय ?

क्या मुनिवर्य को ससार का भय रखना चाहिये ?

क्या भय उन की चारित्रस्थिरता की नींव है ?

चार गति के परिभ्रमण स्वरूप ससार का भय मुनि को होना चाहिये । तभी वह निज चारित्र में स्थिर हो सकता है । "यदि मैं चारित्र-पालन की आराधना में प्रमाद करूँगा, तो मुझे बरबस ससार की नरक और तिर्यंचादि गति में अनन्त काल तक भटकना पडेगा ।" मुनि मे यह भावना अवश्य होनी चाहिये । उपरोक्त भावना उसे :

- इच्छाकारादि सामाचारी * मे अप्रमत्त रखती है ।
- क्षमादि दसविध ※ यतिधर्म में उन्नत रखती है ।
- निर्दोष ० भिक्षाचर्या के प्रति जागृत रखती है ।
- महाव्रतो के पालन में अतिचारमुक्त करती है ।
- समिति-गुप्ति के पालन मे उपयोगशील बनाती है ।
- आत्मरक्षा, सयम-रक्षा और प्रवचनरक्षा मे उद्यमशील बनाती है।

ससार के भय से प्राप्त सयम-पालन की अप्रमत्तता उपादेय है । 'संसार मे मुझे भटकना पड़ेगा'-ऐसा भय आर्तध्यान नही, बल्कि धर्म-ध्यान है ।

जब मुनि आत्मा की निर्विकल्प समाधि मे लीन हो जाता है, तब संसारभय स्वयं अपना अस्तित्व उसमे विलीन कर देता है । वह अपना अस्तित्व स्वतत्र नही रखता । वह मोक्ष और ससार दोनो मे सदा निःस्पृह होता है । उसे न मोक्षप्राप्ति का विचार और ना ही ससारभय की अकुलाहट ।

'मोक्षे भवे च सवत्र निःस्पृहो मुनिसत्तमः'

जब ऐसी उच्च कोटि की निर्विकल्प समाधि किसी प्रकार के मानसिक विचार बिना ही प्राप्त होती है, तब ससार का भय नही रहता । जब तक ऐसी आत्म-दशा प्राप्त न हो जाये, तब तक संसार का भय रहना चाहिये और मुनि को भी ऐसा भय सदा-सर्वदा अपने

*देखिये परिशिष्ट ※ देखिये परिशिष्ट ० देखिये परिशिष्ट

मन मे रखना चाहिए।

प्रव्रज्याग्रहण करने मात्र से ही दुर्गति पर विजयश्री प्राप्त कर ली है, ऐसी मान्यता मुनि के मन मे नही होनी चाहिए। वह लापरवाह और निश्चिन्त न बने। यदि मुनिवर भव-भ्रमण का भय तज दें, तो

- शास्त्र स्वाध्याय मे प्रमाद करेगा।
- विकथा (स्त्री, भोजन, देश, राजकथा) करता रहेगा।
- दूषित भिक्षा लाएगा।
- कदम कदम पर राग द्वेष का अनुसरण करेगा।
- महाव्रत-पालन मे अतिचार लगाएगा।
- समिति गुप्ति का पालन नही करेगा।
- मान सम्मान और कीर्ति यश का मोह जगेगा।
- जन रजन के लिये सदैव प्रयत्नशील रहेगा।
- सयम क्रिया मे शिथिल बनेगा।

इस तरह अनेक प्रकार के अनिष्टो का शिकार बनेगा। अत भव का भय दुर्गति पतन का भय, मुनि को होना ही चाहिए।

पूज्य उपाध्यायजी महाराज ने तो ससार को सिर्फ समुद्र की सज्ञा ही दी है। लेकिन 'अध्यात्म सार' मे उन्होने इसे अनेक प्रकार के रूप और उपमाओ से उल्लेखित किया है। उदाहरणार्थ ससार एक घना वन है, भयकर कारागृह है, वीरान श्मशान है, अधेरा कुआ है आदि। इस तरह भवस्वरूप की विविध कल्पनायें कर उस पर गहरा चिंतन-मनन करना चाहिये। ससार असार है इसकी अनुभूति हुए बिना इसके वैषयिक सुखो की आसक्ति का पाश कभी नही टूटता। साथ ही, भव के प्रति रहे राग की डोर टूटे बिना भव-बधन तोडने का पुरुषार्थ सभव नही।

लेकिन इसके लिए भवस्वरूप के चिंतन मे खो जाना चाहिये, तन्मय होना चाहिये। भवसागर के किनारे खडे रहकर उस की भीषणता का अनुभव करना। कभी श्मशान के एक कोने पर खडे हो, उसकी वीरानी और भयानकता देखना। भव-कारागृह मे प्रवेश कर उसकी

वेदना और यातनायें समझना । भव कूप की कगार पर खडे हो, उसकी भयंकरता को निहारना । अनायास तुम चीत्कार कर उठोगे...तुम्हारा तन-वदन पसीने से तर हो जाएगा.... तुम थर-थर कांपने लगोगे और तब 'हे अरिहंत ! कृपानाथ....' पुकारते हुए महामहिम जिनेश्वर भगवत की शरण मे चले जाओगे ।

२३ लोकसंज्ञा-त्याग

ज्ञानियो को अज्ञानियो की पद्धति पसद नही ! अज्ञानाधकार मे आकठ डूबी दुनिया मे रहे ज्ञानीपुरुष दुनिया के प्रवाह मे नहीं बहते !

वे तो अपने ज्ञान-निर्धारित निश्चित माग पर चलते रहते हैं ! दुनिया से वे सदा निश्चित-बेफिक्र होते हैं ! लोक की प्रसन्नता-अप्रसन्नता को लेकर कोई विचार नहीं करते ! उन का चितन-मनन ज्ञान-निर्धारित होता है । लोक प्रवाह लोक-सज्ञा और लोकमार्ग से तत्त्वज्ञानी-दार्शनिक किस तरह् अलिप्त होते है-यह तुम प्रस्तुत अष्टक पढने से समझ पाओगे ।

प्राप्तः षष्ठं गुणस्थानं भवदुर्गाद्रिलङ्घनम् ।
लोकसंज्ञारतो न स्यान्मुनिर्लोकोत्तरस्थितिः ॥१॥१७७॥

अर्थ : जिसमे संसार रूपी विषम पर्वत का उल्लंघन है, ऐसे छठे गुणस्थानक को प्राप्त और लोकोत्तरमार्ग में जो रहा हुआ है ऐसा साधु, मन मे लोकसंज्ञा मे प्रीतिवाला नही होता है ।

विवेचन : मुनिवर्य, आप कौन हैं ?

यदि आप अपने व्यक्तित्व को देखोगे तो निःसंदेह 'लोकसंज्ञा' मे प्रीतिभाव नही होगा । यहाँ आप को उच्च आत्म-स्थिति का यथार्थ वर्णन किया गया है :

(१) आप छठे गुणस्थान पर स्थित है ।
(२) लोकोत्तर-मार्ग के पथिक हैं ।

अतः सदैव आप के स्मृति-पट पर यह तथ्य अंकित होना चाहिए कि, 'मैं छठे गुणस्थान पर स्थित हूँ । इसके पहले के पांच गुणस्थान मैंने सफलतापूर्वक पार कर लिए है । अतः मुझे कुदेव, कुगुरु और कुधर्म के प्रति श्रद्धाभाव से नही देखना चाहिए । मैं दूध-दही मे पांव नही रख सकता । मे मिश्र-गुणस्थान पर नही हूँ । आपकी दृढ श्रद्धा होनी चाहिए कि, 'जिनोक्त तत्त्व ही सत्य है ।' मे गृहस्थ नही हूँ....अतः गृहस्थ की भांति मेरी वृत्ति और वर्ताव नही होना चाहिये । मै अणुव्रत-धारी नही अपितु महाव्रतधारी हूँ । जिन पापो को बारह व्रतधारी श्रावक तज नही सकता, मैं ने उन्हे त्रिविध-त्रिविध (मन-वचन काया से कराना, और अनुमोदन करना) तज दिया है । अतः मेरे लिए ऐसी आत्माओ का सम्पर्क-सम्बध हितकारक है, जिन्होने मेरी तरह पापो को त्रिविध-त्रिविध छोड दिए है । अपने पापो के परित्याग के साथ ही मैंने देव-गुरू और संघ की साक्षी, सम्यग् ज्ञान, दर्शन, और चारित्र की आराधना करने की आत्मा की अनुभूति से कठोर प्रतिज्ञा की है । फलस्वरूप मुझे ऐसी ही सर्वोत्तम आत्माओ का सहवास पसंद करना चाहिये जो सम्यग् ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना मे ओत-प्रोत हो ।"

हे मुनिराज ! आप को इस तरह का चिंतन-मनन करना चाहिये, ताकि आप पापासक्त और मिथ्या कल्पनाओं मे खोये जीवो के सहवास, परिचय और उन्हे खुश करने की वृत्ति से बच जाओ ।

मैं लोकमार्ग का नहीं, बल्कि लोकोत्तर मार्ग का यात्री हूं। लोक मार्ग और लोकोत्तर मार्ग (जिन मार्ग) मे जमीन-आकाश का अन्तर है। लोकमार्ग मिथ्या धारणाओ पर चलता है, जबकि लोकोत्तर मार्ग केवलज्ञानी वीतराग भगवत द्वारा निर्देशित निर्भय मार्ग है। अत लोकोत्तर-मार्ग का परित्याग कर मुझे लौकिक मार्ग की ओर हर्गिज नहीं जाना चाहिए। मुझे लोगो से भला क्या लेना देना? मेरा उन से कोई सम्बन्ध नहीं है। लौकिक मार्ग मे स्थित जीवो से मैंने तमाम रिश्ते-नातो का विच्छेद कर दिया है। उन का सहवास नहीं, ना ही उनका किसी प्रकार का अनुकरण। क्यो कि उनकी कल्पनाए, विचार, व्यवहार, धारणा और आदर्श अलग होते हैं। जबकि मेरी कल्पना-सृष्टि, धारणाएँ और आदर्श अलग होते हैं। जिन्दगीपर्यंत लोकोत्तर मार्ग जिनमार्ग का अनुसरण करूँगा, न कि लोकमार्ग का। हर प्रसग और हर घटना मे मैं देवाधिदेव जिनेश्वर भगवत को प्रसन्न करने का प्रयत्न करूँगा, ना कि दुनिया के लोगो को। सामान्य जीवो को प्रसन्न करने का मेरा प्रयोजन ही क्या है?"

"ससार की विषम पर्वतमालाओ को लाघकर मैं छठे गुणस्थान पर पहुँचा हूं। मैं लोकोत्तर मार्ग मे स्थित हूँ, फिर भला लोक-सज्ञा से प्रीति क्या रखू? क्योकि लोक सज्ञा मे दुबारा ससार के विषम पहाडो पर चढाई करना पडता है। अनेकविध मानसिक विषमताएँ उस मार्ग मे अवरोध उत्पन्न करती हैं। इसके बजाय मैं लोकोत्तर मार्ग के आदर्शों का ही अवलम्बन करूँगा। उन आदर्शो के पीछे मेरे मन, वचन, काया की समग्र शक्ति लगा दूंगा। मुझे लोगो से कोई मतलब नहीं! वे दिन-रात वैषयिक सुख मे आकण्ठ डूबे रहते हैं, जबकि मुझे पूर्णतया निष्काम योगी बनना है। ससार के जीव, जड सम्पत्ति के माध्यम से अपने वैभव और महत्ता का मिथ्या प्रदर्शन करते हैं, जबकि मुझे सच्चे दिल से ज्ञान, दर्शन चारित्र की अनूठी सपदा से आत्मोन्नति की साधना करना है। लोक बहिर्दृष्टि होते हैं जबकि मुझे ज्ञानदृष्टि से अपना विकास करना है। लोक अज्ञान और अशांति की ओर अधी दौड लगा रहे हैं। जबकि मुझे केवलज्ञान की ओर निरतर गतिशील होना है। ऐसी स्थिति मे जीव और मुझ मे साम्य कहा? मैं तो अपना छठा गुण-स्थान ही कायम रखूगा और सातवें आठवें गुणस्थान पर पहुँचने म

लिए प्रयत्न करता रहूँगा। अब पीछेहठ नही ! किसी कीमत पर और किसी हालत मे भी पीछेहठ नही ! लोक-संज्ञा मे मैं अपना पतन कदापि नही होने दूँगा।

यथा चिंतामणिं दत्ते बठरो बदरीफलैः।
हहा जहाति सद्धर्म तथैव जनरंजनैः ॥२॥१७८॥

अर्थ - जिस तरह कोई मूर्ख बेर के बदले मे चिन्तामणि रत्न देता है, ठीक उसी तरह कोई मूढ लोक-रंजनार्थ अपने धर्म को तज देता है।

विवेचन . एक था गडरिया।

वह प्रतिदिन ढोर चराने जंगल मे जाता था।

अचानक एक दिन उसे चिन्तामणि-रत्न मिल गया। उसे वह रंग-बिरंगी पत्थर पसन्द आ गया। उसने उसे बकरी के गले मे बांध दिया! शाम को गडरिया गांव लौटा ! गाँव के बाहर कोई एक आदमी बेर बेच रहा था। पके और रसीले बेर देखकर अनायास उसके मुँह मे पानी भर आया।

उसने उसके पास जाकर कहा "दो-चार बेर मुझे भी दे दे!"

'बेर यों मुफ्त मे नही मिलते ! जेब मे पैसे है ?'

गडरिया के पास फूटी कौडी भी न थी ! वह सोच मे पड़ गया! बेर खाने थे, लेकिन पैसे कहा से लाये ? उसे एक उपाय सूझा ! उसने बकरी के गले में बंधा चिंतामणि-रत्न देकर बदले मे बेर खरीद लिए। बेरवाले ने चमकते पत्थर को देखा और वह भी ललचा गया। उसने कभी ऐसा पत्थर देखा न था ! उसी समय वहा से एक महाजन गुजरा। उन की तेज नजर बेरवाले के हाथ मे रहे चमकीले पत्थर पर पडी। वह वही ठिठक गया। वह जौहरी होने के कारण चिंतामणि-रत्न पहचानते उसे देर न लगी। इधर-उधर की बातो मे उलझाकर उसने बेरवाले को कुछ पैसे देकर, चिंतामणि-रत्न खरीद लिया।

धर्म देकर लोक-प्रशंसा खरीदनेवाला भी उस गडरिये जैसा ही है। जबकि धर्म चिंतामणि-रत्न से अधिक कीमती और विशेष है। वह अचिंत्य चिंतामणि है....। जीव कभी कल्पना भी न कर सके, वैसी दिव्य

और अपूव भेट, मद्धम चितामणि प्रदान करता है। उक्त सद्धम को लाकप्रशसा के लिये अथवा लोकरजनाथ देने वाले गडरिये से भी बढकर मूख ह।

क्या तुम जानते हो कि तुम्हारे पास जो सद्धम है, वह अचित्य चितामणि है ? आखिर सद्धम को तुम क्या समझ बठ हो ? जिस सद्धम से तुम आत्मा की अनत सपदा और ढेर सारी सपत्ति प्राप्त कर सकते हा, उसे तुम लोक-प्रशसा के खातिर कोडी के मूल्य वेच रहे हो ? लोग भले ही तुम्ह त्यागा, विद्वान् तपस्वी, ब्रह्मचारी, परोपकारी और बुद्धिमान कहे, लेकिन ज्ञानियो की दृष्टि में तुम मूख हो। तुमने धम का उपयोग लोक-रजन हतु किया, यही तुम्हारी मूखता है।

अरे, तुम्हारी मूखता की कोई हद है ? किसी को तुम सद्धम के द्वारा लोक-प्रशसा पाते देखते हो, तब उस से प्रभावित हो जाते हो ? वह तुम्हें महान् प्रतीत होता है और खुद को कनिष्ट, तुच्छ और छोटा समझते हो ! फलत तुम्हारे मन मे भी लोक-प्रशसा और लोकाभिनदन पाने की तीव्र लालसा पदा होती है ! सद्धम प्राप्ति से, सद्धम की आराधना से तुम्हें तनिक भी संतोष, आनद और तृप्ति नही होती।

तुम तपश्चर्या करते हो। लेकिन जानत हो कि तप सद्धम ही है ! क्या तुम तपश्चर्या के माध्यम से लोक-प्रशसा के इच्छुक नही है न ? तुम अपनी तपश्चर्या के विज्ञापन द्वारा 'लाग मेरी प्रशसा करेंगे।' भावना नही रखते हो न ? तुम दान देते हो ! दान सद्धम है। तुम दान के बलपर लोक-प्रशसा पाने की चाह नही रखते हा न ? दान देकर मन ही मन हरखाते हैं ! नही, तुम्हारे दान की दूसरे लोग प्रशसा करते हैं, तब ही सुख हाता है न ?

ज्ञानप्राप्ति से असीम आनद मिलता है क्या ? दूसरे लोग जब तुम्ह ज्ञानी विद्वान कह, तब ही आनन्दित हाते है न ?

ब्रह्मचयपालन स प्रसन्नता मिलती है क्या ? दूसरे तुम्हें ब्रह्मचारी कहकर सम्बोधित करें, तब ही प्रसन्न होते हो न ?

यदि सद्धम के माध्यम से तुम लोक-प्रशसा पाना चाहते हो, तब चितामणि-रत्न के बदल कर खरीदनेवाले उस गडरिये से अधिक बुद्धि-

शाली कैसे हो सकते हैं ? हाँ, यह बात संभव है कि तुम सद्धर्म से लोक-प्रशंसा पाना नहीं चाहते, फिर भी तुम्हारे शुभ कार्यों के कारण लोग वाह-वाह किये बिना नहीं अघाते, इस में तुम्हारा कोई अपराध नहीं । तदुपरांत भी, तुम्हें यह आदर्श तो बनाये रखना है कि 'यह प्रशंसा-स्तुति सिर्फ पुण्यजन्य है ।' इस से खुशी नहीं होना है । क्योंकि पुण्य का प्रभाव खत्म होते ही प्रशंसक निंदक बन जायेंगे । यदि प्रशंसा से फूल जायोगे तो निंदा से दुःखी होना पड़ेगा ।

तुम सद्धर्म की मन-वचन काया से आराधना करते हो, तुम्हें लोकप्रशंसा नहीं मिलती, मान-सन्मान नहीं मिलता, इससे निराश होने की आवश्यकता नहीं । हमेशा याद रखो सद्धर्म का फल लोक-प्रशंसा नहीं है । भूल कर भी कभी अन्य प्राणियों में अपने सद्धर्म की कदर करवाने की भावना नहीं रखना । क्योंकि सद्धर्म की आराधना से तुम्हें अपनी आत्मा को निःस्पृह महात्मा बनाना है । कर्म-बंधनों को छिन्न-भिन्न करना है । आत्मा का परमात्मा बनाना है । यदि लोक-प्रशंसा के व्यामोह में जरा भी फँस गये तो तुम्हारे भव्य और उदात्त आदर्शों की कब्र खुदते देर नहीं लगेगी । अतः सदैव सावधान रह सद्धर्म की आराधना करनी चाहिए ।

लोकसंज्ञामहानद्यामनुस्त्रोतोऽनुगा न के ।
प्रतिस्त्रोतोऽनुगस्त्वेको राजहंसो महामुनिः ।।२।।१७६।।

अर्थ :— लोकसंज्ञा रुपी महानदी में लोक-प्रवाह का अनुसरण करनेवाले भला कौन नहीं है? प्रवाह-विरुद्ध चलने वाला राजहंस जैसे मात्र मुनिवर ही हैं ।

विवेचन : कोई एक बड़ी नदी है ।

गंगा, यमुना, गोदावरी, नर्मदा, ब्रह्मपुत्रा से भी बड़ी !

जिस दिशा में नदी बहती है उसके प्रवाह में अनुकूल दिशा में सभी प्रवाहित होते हैं, प्रयास करते हैं ! लेकिन प्रवाहविरुद्ध प्रतिकूल दिशा में कोई प्रवास नहीं कर सकता । उफनते, विद्युत्वेग से आगे बढ़ते प्रवाह की प्रतिकूल दिशा में तैरना बच्चों का खेल नहीं हैं !

लोक-संज्ञा रुपी नदी के प्रवाह में बहना, प्रयास करना कोई बड़ी बात नहीं हैं । खाना-पीना, ओढ़ना-पहनना, विकथाएँ करना, परिग्रह इकट्ठा

करना, भोगोपभोग वा आनन्द लूटना, गगनचुम्बी भवननिर्माण करना और कीमती वाहन रखना, पुत्र-पत्नी और परिवार मे खोये रहना, तन-का साफ-सुथरा रखना, सजाना-सँवारना, वस्त्राभूषण धारण करना आदि समस्त क्रिया सहज स्वभाविक है। इस मे कोई विशेषता नही और ना ही आश्चय करने जसी वात ह।

अज्ञान, मोह और द्वेष मे फसी हुई दुनिया के बुद्धिमान कहलाते विद्वान लोग, लौकिक आदर्श और परम्पराएँ साथ ही विवेकहीन रीति रिवाज के बोझ को ढोते फिरते हैं। मुनि को चाहिए कि वह इन आदश, पद्धति, परम्परा और रीति-रिवाज के चगुल मे भूलकर भी न फँसे।

लोकप्रवाह द्वारा मान्य कुछ मत निम्नानुसार है

(१ श्रमण-समाज को समाज-सेवा करनी चाहिए अस्पताल, शाला महाविद्यालय और धमशालाएँ निर्माण करानी चाहिए।

(२) श्रमण को अस्वच्छ, फटे पुराने वस्त्र धारण नही करना चाहिए वल्कि स्वच्छ और अच्छे वस्त्र परिधान करने चाहिए।

(३) धम के प्रचार और प्रसार हेतु श्रमणो को कार, वायु-यान, रल्वे का प्रवास और समुद्र-प्रवास करना चाहिए।

(४) श्रमणगण लोगा को अधिकाधिक प्रतिज्ञाएँ न दें।

(५) श्रमण अधिक दीक्षाएँ न दे।

(६) श्रमण वाल-दीक्षा न दे।

यह आधुनिक लोकमत है। जिन की आत्मा जागृत न हो और ज्ञानदृष्टि खुली नही हो, प्राय ऐस साधु लोक-प्रवाह के भाग बने विना नही रहते। इस प्रकार के लोकप्रवाह शिष्ट और सदाचारी समाज रचना का अग-भग करने हेतु प्रचलित है। सुशिक्षा और समाज-सुधार के नाम पर कई गदी, वीभत्स और समाज को पतनोन्मुखी वनाने वाली योजनाएँ कार्यान्वित होती नजर आ रही ह।

१ 'आवादी वढ रहा है, अनाज नही मिलेगा, अत सतति नियमन करो। अधिक बालक न हा, इसलिए आपरेशन करवाओ। निरोध का उपयोग करो।' आदि विचारा का सरेआम राष्ट्रव्यापी प्रचार कर

मनुष्य को दुराचारी, व्यभिचारी बनाने की योजनाएँ दिन-दहाड़े कार्यान्वित हो रही है! और लोक-प्रवाह के बहाव मे सदैव बहनेवाले इसमे फँसे बिना नहीं रहते।

२. विधवाओं को पुनर्विवाह की सुविधा मिलनी चाहिए!

३. सह-शिक्षा अवश्य हो, उसका विरोध क्यो?

४. सिनेमा से मनोरंजन होता है....!

५. संसार मे भी धर्माराधना कर सकते है! मोक्ष-प्राप्ति होती है।

ऐसी मान्यता और मतों का समावेश लोक-प्रवाह मे है। मुनिराज को चाहिए कि वह इन मान्यताओं का शिकार न बन, बल्कि इसकी विरुद्ध दिशा में अपना जीवन-क्रम निरंतर जारी रखे। निर्भयता और नीडरता के साथ चलते रहे, वह किसी के बहकाव मे न आयें। वह सदा-सर्वदा जिनेश्वर भगवान द्वारा निरूपित मार्ग का ही निष्ठापूर्वक अवलम्बन करता रहे। भगवंत की वाणी और सिद्धान्त से बढकर अपने सिद्धान्त और जीवन-दर्शन को महत्त्व न दें! वह लोक-प्रवाह के तीव्र-वेग के बीच रह, जीवों की अज्ञानता को मिटाने का प्रयत्न करें, उन्हें मोह-व्यामोह के जाल से दुर रखने की कोशिश करें। उन्हे सत्य ऐसे मोक्ष-मार्ग की ओर प्रेरित करने का पुरुषार्थ करे।

मुनि तो राजहंस है। वह सिर्फ मोती ही चुगता है। घास उस का खाद्य नहीं और कीचड वह नहीं उछालता। घास खाते और कीचड में सने जीव के लिए उसके मन मे करुणा और दयार्द्रता उभर आये! उन्हें मुक्ति दिलाने का प्रयत्न करे, ना कि स्वयं उन मे एकरूप हो जाएँ।

अज्ञानियों की बातो मे आकर उनके अविवेकपूर्ण मत और मान्यताओ को स्वीकृति देने की बुरी आदत से अपने को बाल-बाल बचाएँ। तभी मुनि-जीवन की मर्यादा और परम्परा में रह मोक्ष-मार्ग की आराधना मे आगे बढ सकेगा। लोक-संज्ञा के परित्याग हेतु उस मे नि:स्पृहता, नीडरता और निर्भयता होना परमावश्यक है! और इसके मूल में रही ज्ञानदृष्टि होना इस से भी ज्यादा आवश्यक है।

लोकमालम्ब्य कर्तव्यं कृतं बहुभिरेव चेत्!
तथा मिथ्यादृशां धर्मो न त्याज्य: स्यात् कदाचन ॥४॥१८०॥

अर्थ यदि लोकावलम्बन के आधार से बहुसंख्यक मनुष्यों द्वारा की जाती क्रिया करने योग्य हो तो फिर मिथ्यादृष्टि का धर्म कदापि त्याग करने योग्य नहीं है।

विवेचन – जिन की दृष्टि स्वच्छ न हो,
—जिन की दृष्टि निराग्रही न हो,
—जिनके पास 'केवल ज्ञान' का प्रकाश न हो,
—जिनके राग द्वेषादि बंधन अभी टूट न हों,

ऐसे व्यक्ति विशेष ने ही अपनी बुद्धिमत्ता के बलपर जो मिले उन्हें साथ लेकर विभिन्न मतों और पंथों की स्थापना की है। उन्हें 'मिथ्यामत' अथवा 'मिथ्यापंथ' कहा गया है। मिथ्यादृष्टि से वास्तविक विश्व दर्शन नहीं होता। सब कुछ गलत-सलत दिखायी देता है। जो उसे दिखता है, वह सच मानता है। विश्व में ऐसे कई मत और सम्प्रदाय हैं और उनके अनुयायियों की संख्या भी कम नहीं है। मतलब विभिन्न मतों के विविध अनुयायी दुनिया में अत्र–तत्र फैले हुए हैं।

यदि किसी की यह मान्यता हो कि 'बहुत लोग जिस मत का अनुसरण करते हैं, वह सच्चा है।' तो गलत बात है। क्यों कि सच्चाई का अनुसरण करने वाले लोगों का प्रमाण प्रायः अल्प होता है। जबकि असत्य और अवास्तविकता का अनुसरण करने वाले असंख्य मिल जाएँगे। सत्य और वास्तविक मार्ग का अनुगमन करने की शक्ति बहुत कम लोगों में पायी जाती है।

अतः अगर यह मान लिया जाए कि 'बहुमत जो करता है, उसे हम भी करना चाहिए।' तो वह सत्य होगा या असत्य? विश्व के ज्यादातर जीवों को क्या पसंद है, बृहत समाज की अभिरुचि और अभिलाषा क्या है?' इस बात को परिलक्षित कर जो लोग धर्म के सिद्धांत और मत प्रवर्तन करते हैं ऐसे लोग सत्य से दूर भागते हैं। वे सच्चे हो ही नहीं सकते। आमतौर से सामान्य जीवों को भोगपभोग में रुचि होती है। उन्हें हिंसा, झूठ चोरी दुराचार व्यभिचार और परिग्रह में दिल-चस्पी होती है। वे गीत-संगीत सुनना सुंदर रूप देखना, प्रिय रस का सेवन करना, गंध-सुगंध का आस्वाद लेना और मुलायम शरीर-स्पर्श करना

पसंद करते हैं। यदि तुम उनकी तुच्छ इच्छा-अभिलाषा और कामना पूर्ण करने की अनुमति दो, एकाध आकर्षक जाल उन पर फेंक दो और उसे धर्म की संज्ञा दे दो, तो वे उसे खुशी-खुशी स्वीकार लेंगे। ऐसा तथाकथित धर्म अथवा सिद्धान्त विश्व के बहुसंख्य जीव सोत्साह ग्रहण कर अनुयायी बन जाएंगे। लेकिन प्रश्न यह है कि इस मे क्या आत्म—कल्याण संभव है ? ऐसा धर्म जीवो को दुःखो से मुक्त कर सकेगा ? क्या ऐसा धर्म तुम्हे मोक्ष का सुख प्रदान कर सकेगा ?

जो दुर्गति मे जाते जीवो को बचा न सके, वह भला धर्म कैसा ? आत्मा पर रहे कर्मो के बंधनो को छिन्न–भिन्न न कर सके उसे धर्म कैसे कहा जाय ? विश्व का बृहन् मानव–समाज अज्ञानी ही होता है। भगवान महावीर के समय मे भी गोशालक का अपना अनुयायी-वर्ग बहुत बडा था। उससे क्या गोशालक का मत स्वीकार्य हो सकता है ? वास्तव मे 'बहुमत से जो आचारण किया जाए उसका ही आचरण करना चाहिए,' यह मान्यता अज्ञानमूलक है।

आजकल व्याख्यान मे भी कई व्याख्याता इस बात का ध्यान रखते है कि बृहन् समाज, श्रोतावृन्द क्या सुनना चाहता है ? उसका अनुशीलन कर बोलो....।' लोकरूचि का अनुसरण करने से लोकहित की भावना सिद्ध नही होती। क्यो कि आम समाज की रुचि प्रायः आत्मविमुख होती है जडमूलक होती है। उस का अन्धानुकरण करने से क्या लोक-हित संभव है ? नही इसलिये तो लोक-संज्ञा के अनुसरण का भगवान ने निषेध किया है ! सिर्फ उसी बात का अनुसरण करना श्रेयस्कर है, जिसमे आत्महित और लोकहित दोनों संभव हो। जो आत्महित अथवा लोकहित की व्याख्या मे ही अनभिज्ञ है, उन्हे अवश्य यह अप्रिय लगेगा। लेकिन केवल मुट्ठीभर लोगो के लिए आत्महित का उपदेश बदल नही सकते।

अलबत्ता, प्राणी मात्र की रुचि आत्मोन्मुख बनाने के प्रयत्न अवश्य करने चाहिए और उसके लिए लोकरुचि का ज्ञान होना जरूरी है। यह ज्ञान प्राप्त करने मे लोकसंज्ञा का अनुसरण नही है। ठीक उसी तरह कभी-कभार श्री जिनवचन की निंदा के निवारण हेतु लोकाभिप्राय का अनुसरण किया जाए तो उसमे लोकसंज्ञा का सवाल नही उठता।

प्रसगोपात सयम-रक्षा एव आत्मरक्षा हेतु लोक अभिप्राय का आधार लिया जाए तो वह लोकसंज्ञा नही कहलाती । लेकिन प्रवचन, सयम और आत्मा की विस्मृति कर लोकरजनार्थ, लोक प्रशसा प्राप्त करने हेतु लोकरुचि का अनुसरण किया जाए तो वह लोकसंज्ञा है ।

लोक-अभिरुचि का अनुसरण करनेवाले कई मिथ्यामतो का विश्व मे उदय होता है और कालान्तर से अस्त भी । लेकिन उनके मत के अनुसरण से मोक्ष-प्राप्ति कदापि सभव नही ।

> श्रेयोऽर्थिनो हि भूयासो लोके लोकोत्तरे न च ।
> स्तोका हि रत्नवणिज स्तोकाश्च स्वात्मसाधका ।।५।।१८१।।

अर्थ वास्तव मे देखा जाए तो लोक मार्ग और लोकोत्तर-मार्ग मे मोक्ष प्रिया की सख्या नगण्य ही है । क्योंकि जैसे रत्न की परख करने वाले भी बहुत कम होते हैं, वैसे आत्मोन्नति हेतु प्रयत्न करने-वालों की सख्या न्यून ही होती है ।

विवेचन - मोक्षार्थी= मोक्ष के अर्थी ।

यानी सब कर्मक्षय के इच्छुक । आत्मा की परम विशुद्ध अवस्था की प्राप्ति के अभिलाषी । ऐसे जीव भला लोकमार्ग मे और लोको-त्तरमार्ग मे कितने होगे ? न्यून ही होते हैं, नहीवत । जिसकी गणना अगुली पर की जा सकती है ।

दुनिया मे रत्न की परख रखनेवाले जौहरी भला कितने होगे ? बहुत कम । उसी तरह आत्मसिद्धि के साधक कितने ? नहीवत !

मोक्ष ? जहाँ शरीर नही, इन्द्रियाँ नही, इन्द्रियानुकूल भोगोपभोग नही, और विषयसुख की अभिलाषा मन मे उत्पन्न होनेवाले पदार्थ नहीं ! व्यापार वाणिज्य नही, ससार के बहुत बडे वर्ग के मन मे यह उलझन घर कर गई है कि, आखिर मोक्ष मे क्या है ? वहाँ जाकर क्या करें ? क्योंकि उन के पास मोक्ष के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नही और ना ही मोक्ष-सुख की कोई वास्तविक कल्पना है । तब भला मोक्षार्थी कैसे हो सकते ? ठीक वैसे ही लोकोत्तर जिनेश्वरदेव प्रणीत मोक्ष मार्ग मे भी कई जीव मोक्षार्थी नही होते । वे सब भी कष्टसाध्य मार्ग पर उतर जानेवाले होते हैं । जिनको मोक्ष की कल्पना नी न हो, न ।

लोग क्या मोक्ष-मार्ग पर चल सकते है ? आत्मविशुद्धि के अभिलाषी, लोकोत्तर मार्ग पर चलने वाले जीवो की सख्या मर्यादित ही होती है।

लोकोत्तर-जिनभाषित मार्ग मे भी लोकसज्ञा सताने से बाज नही आती। अन्य सज्ञाओ पर नियत्रण रखने वालो को भी यह अनादि-कालीन सज्ञा सता सकती है। आहारसज्ञा पर काबू रखनेवाला तपस्वी जो मासक्षमण, अट्ठाई, अट्ठम....छट्ठ उपवास अथवा वर्धमान आयबिल तप का आराधन करता हो..उस के भी यह लोकसज्ञा आडे आये बिना नही रहती। मैथुन-सज्ञा को वश मे रख पूरी निष्ठा के साथ ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले को भी लोकसज्ञा पीडा पहुँचा के रहती है। परिग्रह सज्ञा को वशीभूत करने वाले अपरिग्रही महात्माओ को यह सज्ञा इशारो पर नचाती है। ऐसे कई उदाहरण इतिहास के पृष्ठो पर अंकित हैं, जो लोकसज्ञा की कहानी आप ही कहते नजर आते है। अरे, पुराने जमाने को बात छोड़ दो, आज के युग मे भी ऐसे कई प्रसग प्रत्यक्ष देखने मे आते है।

"मेरी तप-त्याग की आराधना, दान-शील की उपासना, परमार्थ-परोपकार के कार्यों से अन्य जीवो को अवगत करूँ... आम जनता की दृष्टि मे 'मै बडा आदमी बनू।'... लोकजिह्वा पर मेरी प्रशसा के गीत हो....।" यह लोकसज्ञा का एक रुपक है। इस तरह लोक-प्रशसा के इच्छुक धर्माराधक जीव अपनी त्रुटियाँ, क्षतियाँ और दोषो के छिपाने का हेतुपूर्वक प्रयत्न करता है। आमतौर से वह भयसज्ञा से पीडित होता है! "यदि लोग मेरे दोष जान लेगे तो बडी बदनामी होगी!' सदैव यह चिता उसे खाये रहती है। वह दिन-रात उद्विग्न-अन्यमनस्क और अशात दृष्टिगोचर होता है।

वास्तव मे देखा जाए तो लोकसज्ञा की यह खतरनाक कार्यवाही है। लौकिकमार्ग मे तो उस का एकछत्री प्रभाव है ही, लोकोत्तर-मार्ग मे भी कोई कम प्रभाव नही है। लोकसज्ञा के नागपाश मे फँसी आत्मा मोक्ष-मार्ग की आराधना करना भूल जाती है और अपने लक्ष्य को तिलाजलि दे देती है। इसीलिए तो ऐसी महाविनाशकारी लोक-सज्ञा का परित्याग करने के लिए भारपूर्वक कहा गया है।

अत जीव को हमेशा समझना चाहिए : 'हे आत्मन्! ऐसा सर्वांग

सपूर्ण सत्य मोक्षमार्ग पाकर तुम्हें अपनी आत्मा को कर्म-बंधनों से मुक्त करने के लिए प्रयत्न करना चाहिये । यह हकीकत है कि लोकरंजन करने से तुम्हारी आत्मशुद्धि असंभव है । शायद तुम्हारी यह धारणा है कि 'आराधना के कारण विश्व के जीव मेरी जी भरकर प्रशंसा करते ह !' वह तुम्हारा निरा अज्ञान है । क्योंकि पुण्यकर्मों के उदय से लोकप्रशंसा प्राप्त होती है । जब तक तुम्हारे पूर्वभव के कर्म सबल ह तब तक ही हर कोई तुम्हारी स्तुति करेंगे । एक बार अशुभ कर्मों का उदय हुआ नहीं कि ये ही लोग तुम्हारी तरफ देखेंगे तक नहीं ! तुमसे बढकर पुण्यशाली आत्मा मिलते ही वे सब एक स्वर से उसकी प्रशंसा करने में खो जाएँगे और तुम्हें हमेशा के लिये भूल जाएंगे । तुम्हारी आराधना से क्या मोक्ष विमुख लोग खुश होंगे ? नहीं, इसके बजाय तो आराधना के बलपर तुम अपनी आत्मा को ही प्रसन्न करो । परमात्मा का प्रेम प्राप्त करो । मनमें और कोई अपेक्षा न रखो ! वर्ना तुम कभी आराधना से विमुख हो जाओगे । जब तुम्हारी आराधना-साधना की कोई प्रशंसा नहीं करेगा, तब तुम्हारा मन आराधना से उचट जाएगा ।

लोकमनाहृता ह त नीचगमनदर्शन !
शसयति स्वसत्यागमर्मघातमहाव्यथाम् ॥६॥१६२॥

अर्थ — वे है कि जो लोकमनरंजन में आसक्त जीव, नतमस्तक मन्थर गति से चलते हुए अपने सत्य-व्रतरूप अंग में हुए मर्म प्रहारों की महावेदना ही प्रगट करता है ।

विवेचन : अफसोस !

तुम मन्थर गति से नतमस्तक हो चलते हो ! भला, किसलिए ? इसके पीछे आखिर क्या हेतु है ? क्या तुम लोगों को यह दिखाना चाहते हो कि, 'भूलकर भी किसी जीव की हिंसा न हो जाए, अतः हम यों चलते हैं । धर्मग्रंथों में प्रदर्शित विधि का पालन कर रहे हैं । दृष्टि पर हमारा संयम है इधर उधर कभी ताकते झांकते नहीं और हम उच्च कोटि के आराधक हैं ।' लेकिन यह ढोंग क्या ? निरे दिखावे से क्या लाभ ? तुम्हारा दंभ खुल गया है ! लोग तुम्हें जब उच्च कोटि का आराधक नहीं कहते तब तुम्हारा चहेरा कैसा हतप्रभ और

निस्तेज हो उठता है ? दूसरे आराधकों की प्रशंसा तुम्हें अच्छी नहीं लगती ! प्रसंगोपात उनकी निंदा और टीका-टिप्पणी करते हो ! तुम सदा-सर्वदा अपनी ही गुणगाथा सुनना पसंद करते हो। शायद लोक-प्रशंसा पाने के लिए तुमने कमर कस ली है। तप, व्याख्यान, शिष्य परिवार, मलिनवस्त्र और अपने वाणी-विलास से किसे आकर्षित करना चाहते हो ? शिवरमणी को ? नहीं, तुम सिर्फ लोगों को अपने भक्त बनाना चाहते हो और येन-केन प्रकारेण उन्हें खुश रखना चाहते हो।

तुम धीरे-धीरे मन्थर गति से क्यों चल रहे हो ? तुम्हारे सत्य.... संयम आदि अंग पर मार्मिक प्रहारों की मार पड़ी है। उससे असह्य वेदना हुई है....! लोकसंज्ञा ने तुम्हारे मर्मस्थान में प्रहार किया है! इन प्रहारों की वेदना से गति धीमी न हो जाएं तो और क्या हो ?

तुम नतमस्तक हो चलते हो ? क्या करें ? शायद लोकसंज्ञा की चकाचौंध से तुम्हारी दृष्टि चौंधिया गई हो और तुम्हें ऊपर देखने में कष्ट होता है ! वाकई, दुःख की बात है ! अफसोस है, तुम्हारा वह दम्भ देखा नहीं जाता; लेकिन इससे तुम्हें मुक्ति कैसे दिलायें ? सिवाय खेद प्रकट करने के अतिरिक्त कोई उपाय ही नहीं !

धर्म की आराधना और प्रभावना करते समय कभी आत्मा की विषय-कषायों से निवृत्ति स्मरण में रही है ? परमात्मा का शासन याद रहा है ? नहीं तो फिर क्या याद रखा है ? 'मैं..अहं!' तुम्हें सदा अपनी ही पड़ी रहती है ! तुम कठोर तपश्चर्या करते हो, जमकर क्रिया करते हो...। अगर उसमें मोक्ष और आत्मा को केन्द्र-बिंदु बना लो तो ? बेड़ा पार होते देर नहीं लगेगी ! अतः कहता हूँ, अपनी आत्मा को पहचानो, उसकी स्वाभाविक और वैभाविक अवस्थाओं को जानने की कोशिश करो। मोक्ष के अनंत सुख और असीम शांति-हेतु हमेशा गति-शील रहो।

यदि तुम अपना यह अंतिम लक्ष्य, उद्देश्य और आदर्श नहीं रखोगे तो विषय-कषायों में निरंतर वृद्धि होती रहेगी। संज्ञाएँ दिन-ब-दिन पुष्ट बनती जायेंगी। लोकसंज्ञा अनंत भवभ्रमण में फँसा देगी। कीर्ति की लालसा दिन दुगुनी और रात चौगुनी बढ़ती जाएगी... और जब 'यशकीर्ति' नामकर्म तुम्हारे पास शेष नहीं रहेगा, तब क्या करोगे ?

आजकल लोकोत्तर मार्ग मे भी लोक संज्ञा-प्रेमी अत्र तत्र दृष्टि-गोचर होते हैं । यह खेदजनक नही तो क्या है ? अनादि-काल से चले आ रहे जिनशासन की धुरा वहन करनेवाले ही जब लोकसंज्ञा का मोहक जाल में फँस जाते है, तब दूसरा मार्ग ही क्या रहा ? अत उपाध्यायजी महाराज मर्म प्रहार कर रहे हैं ।

आमतौर पर से लोकसंज्ञा-ग्रस्त जीव 'लोकहित' का बहाना करते है । यह भी कभी सभव है कि लोकहित, लोगो की आत्मा को समझे बिना ही कर सके ? क्योकि लोकसंज्ञाग्रस्त जीव हिताहित का निर्णय करने मे कभी सक्षम-समर्थ नही होता । वह हित को अहित और अहित को हित का करार देते विलम्ब नही करेगा । उस के मन मे जीव-मात्र के आत्म कल्याण की भावना का सर्वथा अभाव होता है । वह प्राय ऐसी ही प्रवृत्तिया करेगा कि जिसमे उसको यश मिलता होगा । और उसे 'लोकहित' का सुहाना लेबल लगा देगा । ऐसी परिस्थिति मे एकाध जौहरी सदृश महामुनि ही अपने आप को बचा लेता है । अत समग्र दृष्टि से लोकसंज्ञा का परित्याग करना ही हितावह है ।

आत्मसाक्षिकसद्धर्मसिद्धौ किं लोकयात्रया ।
तत्र प्रसन्नचन्द्रश्च भरतश्च निदर्शने ॥७॥१८३॥

अर्थ — ऐसा सद्धर्म कि जिसमे साक्षात आत्मा ही साक्षी हो, के प्राप्त होने पर भला लोक व्यवहार का क्या काम है ? इसके लिए प्रसन्नचद्र राजर्षि और सम्राट भरत के उदाहरण यथोचित हैं ।

विवेचन चक्रवर्ति भरतदेव !

प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र !

क्या तुम जानते हो उन्हे केवलज्ञान कैसे प्राप्त हुआ ? एक बार वे स्नानादि आवश्यक क्रियाओ से निवृत्त हो,श्रेष्ठ वस्त्राभूषण धारण कर, स्वनिर्मित दर्पण महल मे गए थे । सिर्फ यह देखने के लिए कि, 'मैं कितना सुदर और सुशोभित लगता हूँ, इस रूप में !' दर्पण में अपना मोहक मुख-मडल और सुगठित अग प्रत्यगो को अभी देख ही रहे थे कि सहसा अगुली मे से सुवर्ण मुद्रिका नीचे गिर गयी ! मुद्रिकाविहीन अगुली से शारीरिक शोभा मे अन्तर पड गया । उन्हो ने एक एक कर सभी अलकार उतार दिये और पुन दर्पण मे झाका । अलकारविहीन शरीर का

रूप-रंग ही बदल गया ! वे पल, दो पल मन ही मन सोचते रहे : "क्या मेरी सुदरता, शोभा सिर्फ परपुद्गल ऐसे वस्त्रालंकारो मे ही है ?" और वे धर्म-ध्यान मे खो गये । फलस्वरूप उसी दर्पण महल मे वे शुक्लध्यान और केवलज्ञान के अधिकारी बन गये । गृहस्थ के रूप में ही केवलज्ञानी बन गये । इधर दर्पण-महल के बाहर राजकर्मचारी और दरबारी चक्रवर्ती भरत की उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहे थे । लेकिन दर्पण महल से बाहर निकले केवलज्ञानी भरत ! उन्हे आत्मसाक्षी ही केवलज्ञान प्राप्त हो गया था !

प्रसन्नचद्र राजर्षि !

भयानक और वीरान स्मशान मे वे ध्यानस्थ खडे थे । सिर्फ एक पाँव पर ध्यानस्थ । सूर्य की ओर स्थिर दृष्टि किये....अग..प्रत्यग को आत्म-नियत्रित किये हुए । लेकिन राजमार्ग पर से गुजरते सैनिकों की वाणी सहसा उनके कानो पर आ टकरायी : "राजा प्रसन्नचद्र के पुत्र का राज्य उसके चाचा हथियाने की ताक मे है...।" बस, इतनी सी बात ! लेकिन प्रसन्नचद्र राजर्षि का ध्यान भग हो गया ! वे वैचारिक सघर्ष मे उलझ गये । राजर्षि मानसिक युद्ध मे कूद पडे । उनका युद्धोन्माद का ज्वर उतरने के बजाय निरतर बढता ही गया । इधर श्रेणिक महाराज राजर्षि की घोर तपस्या और अभग ध्यानावस्था पर मुग्ध हो उठे ! उन्हो ने उन्हे बार-बार वदन किया लेकिन बाह्य-दृष्टि से घोर तपश्चर्या मे रत प्रसन्नचद्र राजर्षि, आत्म-साक्षी से क्या तपस्वी थे ? नही, बिलकुल नही ! वास्तव मे वे तपस्वी न थे, बल्कि सातवी नरक मे जाने के कर्म इकट्ठा कर रहे थे !

ये दोनो उदाहरण कैसे है ? परस्पर विरोधी ! चक्रवर्ति भरत बाह्य दृष्टि से आरम्भ-समारम्भ से युक्त ससार-रसिक दृष्टिगोचर होते थे ! लेकिन आत्म-साक्षी से निर्लिप्त पूर्ण योगीश्वर थे। किसी ने ठीक ही कहा है : 'भरत जी मन मे ही वैरागी !' जब कि प्रसन्नचद्र राजर्षि बाह्यदृष्टि से घोर तपस्वी, आरम्भ-समारम्भ रहित, मोक्ष-मार्ग के पथिक थे... लेकिन आत्म-साक्षी से युद्धप्रिय..बाह्य भावो मे लिप्त थे। श्री 'महानिशीथ सुत्र' मे कहा गया है

-धम्मो अप्पसक्खिओ ।

धर्म आत्म-साक्षिक है। यदि हम आत्मसाक्षी से धार्मिक वृत्ति के हैं तो फिर लोक व्यवहार से क्या मतलब ? खुद ही अपने मुह से 'मैं धार्मिक हूँ, मैं आध्यात्मिक हूँ ।" घोषणा करने की क्या आवश्यकता है ? अपितु आत्म साक्षी से चिंतन–मनन करना चाहिए "मैं धार्मिक हूं ? अर्थात शीलवान हूँ ? सदाचारी हूँ ? न्यायी हूँ ? नि स्पृह हूं ? निर्विकार हूँ ?" इस का न्याय आत्मा से लेना चाहिए। भूल कर भी कभी लोगों के 'प्रमाण पत्र' पर निर्णय मत करो। महाराजा श्रेणिक ने प्रसन्नचद्र राजर्षि को कैसा 'प्रमाण पत्र' दिया था ! "उग्र तपस्वी महान योगी सच्चे महात्मा' आदि। लेकिन उक्त प्रमाण पत्र के आधार पर प्रसन्नचद्र राजर्षि को क्या केवलज्ञान प्राप्त हुआ ? नहीं, कतई नही ! हा, मन ही अपने भाई के साथ युद्धरत प्रसन्नचद्र के पास जब उसके हनन हेतु कोई शस्त्रास्त्र न रहा, तब मस्तक पर रहे मुगुट का उपयोग शस्त्ररूप मे करने के लिए उन्होंने अपने हाथ ऊपर उठाये लेकिन मस्तक पर मुगुट कहा था ? मस्तक पर एक बाल भी न था ! अत ऊपर उठे दोनो हाथ के साथ साथ वे खुद भी मानसिक-युद्ध भूमि से स्वस्थान लौट आये ! आनन–फानन मे उन्हे अपनी भूल समझ मे आ गयी। पश्चात्ताप की भावना उग्र होती गयी। इस तरह वे धर्म ध्यान और शुक्लध्यान मे दुबारा स्थिर हो गये और केवलज्ञानी बने !

धर्मोपासना के कार्य मे लोकसाक्षी को प्रमाणभूत न मानो ! आत्म साक्षी को प्रमाण-भूत मानो ! यदि लोकसाक्षी को प्रमाणभूत मानने की भूल करोगे तो जाहिर मे अपनी धर्म भावना प्रदर्शित करने की कुबुद्धि सूझेगी ! फलस्वरूप तुम्हारा सारा दार-मदार ससार और ससारी- जीवो पर रहेगा ! आत्मा को विस्मृत कर जाओगे ! उसकी उपेक्षा करने लगोगे। तब आत्मोन्नति के लिए धर्मध्यान करने की भावना विलुप्त हो, लोक–प्रसन्नता के लिए ही धर्माराधना होगी । इस तरह आत्म—कल्याण का महान कार्य बीच मे स्थगित हो जाएगा, और तुम जन्म—मृत्यु के फेरो मे भटक जाओगे। मोक्ष का सुहाना सपना छिन्न-भिन्न हो जाएगा । शिवपुरी का कल्पनामहल ध्वस्त होते देर नहीं लगेगी। पुन चौरासी लाख जीव योनि का परिभ्रमण अनिवार्य हो जाएगा। तब भला, लोक-साक्षी से धर्म ध्यान करने से क्या

मतलब ? इस के बावजूद धर्मकार्य मे सदैव आत्म-साक्षी को प्रधान मान, मोक्ष-पथ पर गतिशील होना चाहिए ।

लोकसंज्ञोज्झितः साधुः परब्रह्मसमाधिमान् ।
सुखमास्ते गतद्रोहममतामत्सरज्वर ॥८॥१४८॥

अर्थ जिस के द्रोह—ममता और गुण-द्वेष रूपी ज्वर उतर गया है, और जो लोक संज्ञा-रहित परब्रह्म मे समाविष्ट है, ऐसे मुनि सदा—सर्वदा सुखी रहते हैं ।

विवेचन : पूज्य गुरुदेव ! आप सुखपूर्वक रहे !

आपके मन मे भला, किस बात का दु ख है ? आप को तो पर-ब्रह्म मे समाधि होती है । आप के सुख की उपमा भी कौन सी दी जाएँ ? मन के दु ख तो होते हैं पामर जीव को ! जो द्रोह से दग्ध है, जिस के मर्मस्थानो मे ममता दंश मारती है और जिसे मत्सर का दाह-ज्वर आकूल-व्याकूल बनाता है । आप के मन मे तो द्रोह, ममता और मत्सर के लिए कोई स्थान ही नही ! आपके सुख और शान्ति की कोई सीमा नही !

श्रमण को सुख-प्राप्ति के चार उपाय सुझाये हैं :

१. परब्रह्म मे समाधि २. द्रोह—त्याग
३. ममता—त्याग ४. मत्सर—त्याग

ब्रह्म का मतलब है सयम । सयम मे पूर्ण लीनता ! सयम के सतरह प्रकार जानते हो.... ?

पञ्चाश्रवाद् विरमणं पचेन्द्रियनिग्रह कषायजय ।
दण्डत्रयविरतिश्चेति संयम सप्तदश भेद ॥

—श्री प्रशमरति

मिथ्यात्व, अविरति कषाय, योग और प्रमाद, इन, पाँच आश्रवो से मुक्त बनो । अपनी पाच इन्द्रियो पर सदैव सयम रखो । क्रोध, मान, माया, लोभ—इन कषायो पर विजयश्री प्राप्त करो । मन, वचन, काया को अशुभ प्रवृत्तियो को लगाम दो । यही तुम्हारी सर्व-श्रेष्ठ समाधि है ।

द्रोह को त्याग दो, किसी को धोखा मत देना। श्री जिनेश्वर भगवत के शासन के साथ भूलकर भी कभी दगाबाजी न करना। सदव निष्ठा-वान बने रहना। अपने शारीरिक सुख और शांति के लिए भगवान के शासन का कदापि परित्याग न करना। उन के सिद्धात और नियमा का उल्लघन न करना। तुम्हें भगवान महावीर का वेश प्राप्त है। तुमने उसे परिधान कर रखा है। ध्यान रहे, उसकी इज्जत न जाने पाए। इस वेश के कारण तुम्हें अन्न, वस्त्र, पात्र, पुस्तकादि सामग्री प्राप्त होती है। लाग तुम्हारे समक्ष नतमस्तक होते है। तुम्हारा मान सन्मान करते हैं। अत जीवन मे साधुवेश का कभी द्रोह न करना।

ममता को त्याग देना। सासारिक स्वजन-परिजना के प्रति रही ममता का परित्याग करना। भक्तजना पर भूलकर भी ममत्व मत रखना। तन-वदन उपधि और उपाश्रयादि बाह्य पदार्थों के लिए मन मे रही ममता का त्याग करना ही इष्ट है। जब तक अन्य पदार्थों के प्रति ममत्व भावना जागृत रहेगी, तब तक आत्मा के प्रति ममत्व-भाव का सदव अभाव रहेगा और अन्य पदार्थों के प्रति का ममत्व तुम्हें शात और स्वस्थ नहीं रहने देगा।

गुण के प्रति द्वेष भाव नहीं रखना। मत्सर अर्थात गुण द्वेष। गुण द्वेष टालने के लिए गुणीजना का द्वेष न करना। सदव ध्यान रहे, छद्मस्थ आत्माएँ भी गुण शाली होती है। अनत दोषा के उपरात भी सिर्फ गुण ही देखने के है। गुणानुरागी अवश्य बनना, गुण-द्वेषी नहीं। गुणवान के दोष देखने पर भी उसके द्वेषी न बनना। द्वेषी बनाग तो तुम स्वय अज्ञानी बन जाओगे।

हाँ, जिन गुणा का तुम में पूर्णतया अभाव है, उन गुणा का दर्शन यदि अन्य आत्माओं मे हो तो तुम्हें निर्मल भाव से उनका अनुमोदन करना है। यदि गुणद्वेषी बन किसी के दोषा का प्रचार करोगे तो तुम कदापि गुणी बन नहीं सकोगे। तुम्हारा मन हमेशा के लिए अशात, उद्विग्न और क्लेशयुक्त बन जाएगा।

यदि तुम गुणवान् जीवों की निन्दा करोगे, टिप्पणी करोगे तो क्या मिलेगा? क्या निंदा करने से तुम्हारी महत्ता बढ जाएगी? उनका दोषानुवाद करने से तुम अपना आराधना कर पाओगे? कदापि नहीं।

तुम्हारे अध्यवसाय शुद्ध-विशुद्ध हो जायेंगे ? क्यो व्यर्थ में ही अशात और उद्विग्न बनने का काम कर रहे हो ? इस से कोई लाभ होनेवाला नही है। इस से तो बेहतर है कि तुम सदा-सर्वदा सत्तरह प्रकार के सयम से युक्त जीवन मे मस्त बने रहो। द्रोह, ममता और मत्सर को गहरी खाई मे फेंक दो। लोग भले ही उस मे मग्न बन, आकठ डूब कर, अपने आप को कृतकृत्य मानते हो, लेकिन तुम्हे उस का शिकार नही बनना है। कीचड मे, गदे-पानी के प्रवाह मे सुअर लोटता है, हस नही। सदा खयाल रहे, तुम हस हो! राजहस! ऐसी लोक-सज्ञा के भोग तुम्हे कदापि नही होना है! अत. तुम्हारे लिए लोक सज्ञा का परित्याग श्रेयस्कर है।

२४. शास्त्र

भौतिक सुख की विवशता और असख्य दु खो के भार से मुक्त ऐसे ऋषि, मुनि और महात्माओ ने शास्त्र लिखे हैं ।

सुयोग्य जीवो को शिक्षित-प्रशिक्षित किये और उन्होने (जीवो ने) निर्वाण-मार्ग का अवलम्बन किया । ऐसे शास्त्रो का अध्ययन, मनन और परिशीलन ही मानसिक शाति और सुख प्रदान करता है ! शास्त्रो का स्वाध्याय ही सब दु खो के भय से और सब सुखो की कामना से जीव को मुक्त करता है । अत शास्त्रो, ग्रथो को अपना जीवनसाथी और जीवनाधार बनाओ । उसके मार्गदर्शन को ही शिरोधार्य करो ।

चर्मचक्षुर्भृतः सर्वे देवाश्चावधिचक्षुषः ।
सर्वतश्चक्षुषः सिद्धाः साधवः शास्त्रचक्षुषः ॥१॥१८५॥

अर्थ :– सभी मनुष्य चर्मचक्षु को धारण करनेवाले हैं। देव अवधिज्ञान रूपी चक्षुवाले हैं। सिद्ध केवलज्ञान-केवलदर्शनरूप चक्षुओं से युक्त, जबकि साधुजन शास्त्ररूपी चक्षुवाले हैं!

विवेचन : सभी प्राणियों को भले चर्म-चक्षु हों, वे भले ही उन से सृष्टि के समस्त पदार्थों का निरीक्षण करें....लेकिन तुम तो मुनिराज हो! तुम्हारे चक्षु साक्षात् शास्त्र है! तुम्हें जो विश्वदर्शन और पदार्थ-दर्शन करना है, वह शास्त्र-चक्षुओं के माध्यम से ही करना है।

देवी-देवता अवधिज्ञान रूपी चक्षुओं के धनी होते हैं। वे जो कुछ जानते अथवा देखते हैं, वह अवधिज्ञान रूपी आँखों से ही। मुनिवर्य, तुम अवधिज्ञानी नहीं हो, अपितु शास्त्रज्ञानी हो...। तुम्हें जो कुछ जानना और देखना है, वह शास्त्र की आँखों से ही देखना और जानना है!

सिद्ध भगवंतों का एक नेत्र केवलज्ञान है और दूसरा केवलदर्शन! वे इन नयनों के माध्यम से ही चराचर विश्व को देखते हैं और जानते हैं! जब कि मुनिराजों का शास्त्र ही चक्षु है। अतः सदैव अपनी आँखों को खुली रखकर ही विश्व-दर्शन करना, दुनिया सारी को जानना! यदि आँखें बंद कर देखने जाओगे तो भटक जाओगे....।

मुनि की दिनचर्या में २४ घंटे में से १५ घंटे शास्त्र-स्वाध्याय के लिए हैं! ६ घंटे निद्रा के लिए रखे गये हैं, जबकि ३ घंटे आहार-विहार और निहार के लिए निश्चित हैं। शास्त्राध्ययन के बिना शास्त्र-चक्षु खुलती नहीं।

शास्त्र-चक्षु नयी खोलने की है। उसके लिए विनयपूर्वक सद्गुरु-देव के चरणों में स्थिर हो, शास्त्राभ्यास करना पड़ता है और अभ्यास करते हुए यदि किसी प्रकार की शंका-कुशंका मन में जन्मे तो उनके पास विनम्र बन अपनी शंका का निराकरण करना चाहिए। निःशंक बने शास्त्र-पदार्थों का विस्मरण न हो जाए अतः बार–बार उन का परावर्तन करना चाहिए। परावर्तन से स्मृति स्थिर बन जाती है। तब उन पर चिंतन, मनन करना चाहिए। शास्त्रोक्त शब्दों का अर्थ-निर्णय करना है। विभिन्न 'नयों' से उसका विश्लेषण करना है और रहस्य

तक पहुँचना है। ऐसा भी होता है कि एक ही शब्द अलग अलग स्थान पर अर्थ भेद प्रदर्शित करता है, उसे पूरी तरह से समझना चाहिये। ठीक वैसे ही एक ही अर्थ सर्वत्र काम नही आता। उसका निर्णय, तत्कालीन द्रव्य, क्षेत्र और काल के माध्यम से करना चाहिए और तत्पश्चात अन्य जीवो को उसका अर्थ-बोध कराने का कार्य आरम्भ करना चाहिए।

परमात्मा जिनेश्वरदेव के धर्मशासन में किसी एक ग्रन्थ अथवा शास्त्र का पठन-पाठन करने से तत्त्वबोध नही होता, ना ही कोई काम चलता है। अन्य धर्मों मे, साराश एकाध धर्मग्रन्थ में उपलब्ध होता है, जैसे गीता, बाइबल और कुरान। लेकिन जैनधर्म का सार एक ही ग्रन्थ तक सीमित हो जाए इतना वह सक्षिप्त नही है। जैनधर्मप्रणित पदार्थज्ञान, जीवविज्ञान, खगोल और भूगोल, मोक्षमार्ग, शिल्प और साहित्य, ज्योतिषादि ज्ञान-विज्ञान इतना तो विस्तृत और विशाल-विराट है कि उस का समग्र किसी एक ग्रन्थ मे समाविष्ट होना असभव है। कई लोग, जानना चाहते है कि भगवद गीता, बाइबल और कुरान की तरह क्या जैनधर्म का भी कोई एक प्रमाणभूत ग्रन्थ है? प्रत्युत्तर मे उन्हें कहना पडता है कि जैनधर्म सम्बंधित ऐसा कोई ग्रन्थ उपलब्ध नही है। जैनधर्म का अध्ययन, मनन, और चिंतन करने के लिए व्यक्ति अपने जीवन का बहुत बडा भाग खर्च करे, व्यतीत करे, तभी इसकी गरिमा, ज्ञान और सिद्धातो को समझ सकेगा।

साधु मुनिराज के पीछे धनोपार्जन, भवन निर्माण परिवार परिजनो की देख भाल आदि किसी प्रकार की कोई समस्या नही होती। भारत की प्रजा उस मे भी विशेष रूप से जैनसंघ, मुनि की सारी आवश्यकताओं की पूर्ति भक्ति भाव से करता है। अत श्रमणो का एक ही कार्य रह जाता है पंचमहाव्रतमय पवित्र जीवन जीना और शास्त्राभ्यास करना। इस के अतिरिक्त उन्हें किसी भी बात की चिंता नही, परेशानी नही। चर्मचक्षु की महत्ता से बढकर शास्त्र-चक्षु की तेजस्विता का मूल्यांकन करना चाहिए। जितनी चिंता और सावधानी चर्मचक्षु के सम्बंध मे बरती जाती है, उससे अधिक चिंता और सावधानी शास्त्र चक्षु के सम्बंध मे लेनी आवश्यक है। शास्त्र दृष्टि के प्रकाश मे विश्व के पदार्थ स्वरुप का दर्शन होगा, भ्रान्तियों के बादल बिखर जाएँगे और विषय-

कषायो के विचारो से लिप्त चित्त को परम मुक्ति का साक्षात्कार होगा ।

इसलिए शास्त्र–चक्षु प्राप्त कर उनका जतन करो ।

> पुर.स्थितानिवोर्ध्वाधस्तिर्यग्लोकविवर्तिन. !
> सर्वान् भावानवेक्षन्ते ज्ञानिन: शास्त्रचक्षुषा ।।२।।१८६।।

अर्थ · ऊर्ध्व अधो एव तिर्छालोक मे परिणत सर्व भावो को साक्षात् सम्मुख हो इस तरह, अपने शास्त्ररूपी चक्षु से ज्ञानी पुरुष प्रत्यक्ष देखते है ।

विवेचन :– चौदह राजलोक का शास्त्रदृष्टि से साक्षात्कार ! मानो चौदह राजलोक प्रत्यक्ष सामने ही न हो ! शास्त्रदृष्टि की ज्योति-किरण ऐसी तो प्रखर, प्रकाशमय और व्यापक है ! उस में सर्व भावो का दर्शन होता है ।

शास्त्र-दृष्टि ऊपर उठती है तो समग्र ऊर्ध्वलोक का दर्शन होता है । यह सूर्य-चद्र, ग्रह, नक्षत्र, और तारागण...असंख्य देवी देवता और देवेन्द्रो का ज्योतिषचक्र ! उस मे उपर सौधर्म और इशान, सनत्कुमार और माहेन्द्र देवलोक, तत्पश्चात् ब्रह्म, लातक, महाशुक्र सहस्त्रार देवलोक । उस के उपर आनत और प्राणत, फिर आरण और अच्युत देवलोक ! क्या तुमने ये वारह देवलोक देखे हैं ? उस से भी उपर एक के वाद एक नवग्रैवेयक देवलोक को देखो ! अधीर न होकर, तनिक धीरज रखो । अव तुम लोकात के निकट ही स्थित रमणीय प्रदेश का दर्शन करोगे । देखो उसे, यह 'पाच अनुत्तर' के नाम से सुविख्यात है! यहाँ से सिद्धशिला, जहाँ अनंत सिद्ध भगवंत विराजमान हैं, सिर्फ वारह योजन दूर है । सिद्ध भगवनो को कैसा सुख है ? अक्षय, अनत और अव्यावाध ! खैर, अभी तो इसके दर्शन से ही सतुष्ट होइए, इस का अनुभव करने के लिए तो तुम्हे अशरीरी होना होगा ।

अव जरा नीचे देखिए ! सम्हलना, कम्पायमान न होना ! सवसे पहले नीचे रहे असख्य व्यतरों के भवनों का दर्शन करो.... और वन-उपवन मे–रमणीय उद्यानो मे केलि-क्रीडा करते वाणव्यतरो को देखो । ये सभी देव हैं, इन्हे 'भवनवासी' कहा जाता है ।

इससे भी नीचे उतरिए !

यह रही पहली नरक। इसे 'रत्नप्रभा' के नाम से पहचाना जाता है। इसके नीचे शर्कराप्रभा है। तीसरी नरक बालुकाप्रभा है। चौथी नरक को देखा? उफ्! कसी भयानक, खौफनाक है? उसे पकप्रभा कहते है। पाचमी नरक का नाम है धूमप्रभा। जबकि छठवी तम प्रभा और सातवी महातम प्रभा है। गाढा अधकार है सवत्र। कुछ भी दृष्टि-गोचर नही होता। जीव आपस मे मार-काट और खून की नदिया बहाते नजर आते हैं। न जाने कसी घोर वेदना चारो चित्कार! सिर फट जाए ऐसा कोलाहल! तुमने अच्छी तरह देखा न? नरक के जीव मरना चाहते हैं, लेकिन मर नही सकते। हाँ, कट जाएगे, पावो के तले कुचल जाएगे, लेकिन मरेंगे नही! जब तक आयुष्य पूरा न हो तब तक मृत्यु कसी? किसी तरह सडते—गलते भी निर्धारित अवधि पूरी करना है। इसे अधोलोक कहा जाता है।

अब तुम जहा हो, उसी को ध्यान से देखो। इसे 'मध्यलोक' कहते ह। शास्त्र—चक्षु के माध्यम से इसे भलीभाति देखा जा सकता है। एक लाख योजन का जबूद्वीप उसके आस पास दूर—सुदूर तक दो लाख योजन परिधि में फले लवण समुद्र' के इद गिद है 'धातकी खड!' इसका क्षेत्रफल चार लाख योजन है। उसके बाद कालोदधि समुद्र पुष्कर द्वीप फिर समुद्र, फिर द्वीप, इस तरह मध्यलोक मे असख्य समुद्र और द्वीप फले हुए ह। अन्त मे 'स्वयभूरमण समुद्र है।

चौदह राजलोक की अद्भुत और अनोखी रचना देखी? उस के सामने खडे होकर यदि तुम उसे देखो तो उसका आकार कसा लगेगा? जिस तरह कोई मानव अपने दो पाव फलाकर और दो हाथ कमर पर रखकर अदब से चुपचाप खडा हो! क्या हूबहू ऐसा लगता है न?

यह चौदह 'राजलोक' है।* 'राजलोक' क्षेत्र का एक माप है!—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय, ये पाच द्रव्य शास्त्र दृष्टि से अच्छी तरह देखे जाते हैं।

जब श्रुतज्ञान के क्षयोपशम के साथ अचक्षु दर्शनावरण का क्षयो-पशम जुडता है, तब शास्त्रचक्षु खुलते हैं और विश्वदर्शन होता है।

* देखिए परिशिष्ट

विश्वरचना, विश्व के पदार्थ और पदार्थों के पर्यायों का परिवर्तन.... आदि का चिंतन-मनन ही 'द्रव्यानुयोग'० का चिंतन है । द्रव्यानुयोग के चिंतन-मनन से कर्म-निर्जरा (क्षय) बहुत बड़े पमाने पर होती है। मानसिक अशुभ विचार और संकल्प ठप्प हो जाते हैं। परिणामस्वरूप विश्व मे घटित अद्‌भुत घटनाएँ, अकस्मात एवं प्रसंगोपात उत्पन्न होने-वाले आश्चर्य, कुतूहल आदि भाव रुक जाते हैं। आत्मा स्थितप्रज्ञ बन जाती है। अत. हे मुनिराज ! तुम अपने शास्त्रचक्षु खोलो । साथ ही ये मुंद न जाएँ, बंद न हो जाएँ इसकी सदैव सावधानी रखो। शास्त्र-चक्षु का दर्शन अपूर्व आनन्द से भर देगा।

शासनात् त्राणशक्तेश्च बुधैः शास्त्रं निरुच्यते !
वचनं वीतरागस्य तत्तु नान्यस्य कस्यचित् ॥३॥१८७॥

अर्थ : हितोपदेश करने के साथ साथ उनकी रक्षा के सामर्थ्य से पंडितगण 'शास्त्र' शब्द की व्युत्पत्ति करते हैं। अतः उक्त शास्त्र को वीतराग का वचन कहा जाता है। अन्य किसी का नहीं।

विवेचन : वीतराग का वचन अर्थात् शास्त्र !

रागी और द्वेषी व्यक्ति के वचन 'शास्त्र' नहीं कहलाते। ऐसा व्यक्ति कितना भी दिग्गज विद्वान् हो, कुशाग्र बुद्धि का धनी हो, लेकिन वीतराग-वाणी की अवहेलना कर स्वयं की कल्पना एवं मान्यतानुसार ग्रन्थों का आलेखन करता हो, उसे शास्त्र नहीं कहते। क्यो कि कोई भी शास्त्र क्यों न हो, वह आत्म-हित का उपदेश करता है। सभी जीवों की रक्षा-सुरक्षा का आदेश देता है।

शब्दशास्त्र के अनुसार 'शास्त्र' शब्द के निम्नांकित दो अर्थ ध्वनित होते हैं :

शासनसामर्थ्येन च संत्राणबलेनानवद्येन !
युक्तं यत् तच्छास्त्रं तच्चैतत् सर्वविद्वचनम् ॥

—प्रशमरति

'शास्त्र वही है, जिसमे हितोपदेश देने का सामर्थ्य और निर्दोष जीवों की रक्षा की अपूर्व शक्ति हो, और वही सर्वज्ञ का वचन है,

० देखिए परिशिष्ट

वाणी है ।

सर्वज्ञ वीतराग की वाणी मे उपरोक्त दोनो तथ्यो का समावेश है। उन की मगलवाणी आत्म हित का उपदेश प्रदान करती है और निर्दोष जीवो की निरतर रक्षा करती है ।

राग द्वेप से उद्दड चित्तवाले जीवो का सम्यग् अनुशासन करने वाले शास्त्र को नही माननेवाले मनुष्य को जरा पूछिए

◎ "आत्मा को चर्मचक्षु से देखने का आग्रही प्रदेशी राजा जीवित जीवो को चीर कर आत्मा की खोज कर रहा था, सजीव जीवो को लोहे की पेटी (बक्से) मे बद कर मौत के घाट उतारता था। ऐसे क्रूर और पशाचिक प्रयोग करनेवाले प्रदेशी राजा को भला किसने दयालु बनाया ? केशी गणधर ने! जिन वचनो/शास्त्रो का आधार लेकर प्रदेशी का हृदयपरिवर्तन कर जीवरक्षक बनाया ।

◎ अभिमान के मदोन्मत्त गजराज पर सवार इन्द्रभूति को किस ने परमविनयी, द्वादशागी के प्रणेता एव अनत लब्धियुक्त बनाया ?

◎ भोगोपभोग एव दुनिया के राग रग मे खोये परम वैभवशाली शालीभद्र को पत्थर की गर्म शिला पर सोकर अनशन करने का सामर्थ्य किसने प्रदान किया ?

◎ दृष्टि मे से विष का लावारस छिडकते चडकौशिक को किस ने शात, प्रशात और महात्मा बनाया ?

◎ अनेक हत्याओ को करनेवाले अर्जुनमाली को किस ने परम सहिष्णु और महात्मा बनने की प्रेरणा दी ?

जिनशासन के इन ऐतिहासिक चमत्कारो को क्या तुम अकस्मात कहोगे ? आत्मा को महात्मा और परमात्मा बनानेवाली जिनवाणी के शास्त्रों की तुम अवहेलना कर सकोगे ? और अवगणना कर तुम क्या अपने दु ख दूर कर सकोगे ?

यस्माद् राग-द्वेषोद्धतचित्तान् समनुशास्ति सद्धर्मे ।
सन्त्रायते च दुःखाच्छास्त्रमिति निरुच्यते सद्भि ॥

—प्रशमरति

जिस इतिहास में शास्त्र द्वारा सर्जित अनेकविध चमत्कारों की बातें सग्रहित है, उस का अध्ययन-अध्यापन आज के युग मे भला, कौन करता है ? उस के बजाय हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार, बलात्कार, परिग्रह और अशांति से छलकते इतिहास का पठन-पाठन आज के विद्यार्थियों को कराया जाता है । लेकिन अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की गंगा-जमुना बहाने वालो के इतिहास का स्पर्श तक करने मे शर्म आती है !

असख्य दुःखों को दूर कर, राग और द्वेष के औद्धत्य को नियंत्रित करनेवाले, साथ ही आत्मा का वास्तविक हित करनेवाले शास्त्रो के प्रति सन्मान की भावना अपनाने से ही मानव मात्र का आत्मकल्याण सभव है ।

शास्त्र एव शास्त्रकारों पर गालियो की बौछार कर मानव-समाजका सुधार करने की डिंगे हाँकना आधुनिक सुधारकों का एक-सूत्री कार्यक्रम बन गया है । ठीक वैसे ही, शास्त्र और शास्त्रप्रणेता वीतराग महापुरुषों के प्रति घृणा और अपमान की भावना पैदा कर क्या नेता-अभिनेताओं के प्रति सन्मान की दृष्टि प्रस्थापित कर, मानवसमाज को सुधार रहे हो ? यह तुम्हारी कैसी अज्ञानदशा है ?

वास्तव मे वीतराग भगवत के वचन/वाणी रूपी शास्त्रो को स्व-दृष्टि बनानेवाला मानव ही आत्महित और परहित साधने मे समर्थ है ।

शास्त्रे पुरस्कृते तस्माद् वीतराग पुरस्कृतः ।
पुरस्कृते नस्तस्मिन् नियमात् सर्वसिद्धय ॥४॥१८८॥

अर्थ – शास्त्र का पुरस्कार करना मतलब वीतराग का पुरस्कार करना । और वीतराग का पुरस्कार यानी निश्चित ही सर्व सिद्धि प्राप्त करना ।

विवेचन : शास्त्र=वीतराग ।

जिसने शास्त्र माना उसने वीतराग का स्वीकार किया !

जिसने वीतराग को हृदय–मदिर मे प्रतिष्ठा की उसके साथ सर्व कार्य सिद्ध हो गये !

यह कैसी विडम्बना है कि शास्त्र का स्मरण हो और उस के

कर्ता का विस्मरण ? सरासर झूठ है। कर्ता का स्मरण अवश्य होगा। एक बार वीतराग को स्मृति पथ मे ले आये कि समझ लो उन की सारी शक्ति तुम्हारी खुद की हो गयी। तब भला, ऐसा कौन सा कार्य है, जो वीतराग की अनंत शक्ति के सामने असाध्य है ?

पूज्यपाद् हरिभद्रसूरिजी ने अपने 'षोडशक' ग्रन्थ मे कहा है

अस्मिन हृदयस्थे सति हृदयस्थस्तत्त्वतो मुनिन्द्र इति।
हृदयस्थिते च तस्मिन् नियमात सर्वार्थसिद्धय ॥

"जब तीर्थंकर प्रणीत आगम हृदय म हो तब परमार्थ मे तीर्थंकर भगवंत स्वयं हृदय मे विराजमान हैं, क्योंकि वे उस के स्वतंत्र प्रणेता हैं। इसी तरह तीर्थंकर भगवंत साक्षात हृदय म हैं तब सकल अर्थ की सिद्धि होती ही ह।

जो कुछ बोलना, सोचना, समझना और चिंतन करना वह जिन-प्रणीत आगम क आधार पर। 'मेरे प्रभु ने इस तरह से सोचने, समझने और चिंतन करने का आदेश दिया है।" यह विचार रोम-रोम मे समा जाना चाहिए।

क्षणार्ध क लिए भी जिनेश्वर भगवान का विस्मरण न हो। वे (भगवंत) अचिंत्य चिंतामणि-रत्न हैं। भवसागर के शक्तिशाली जल-यान हैं! एकमेव शरण्य ह। ऐसे परमकृपालु, दयासिंधु करुणानिधि परमात्मा का निरंतर स्मरण शास्त्र स्वाध्याय के माध्यम से सतत रहे। शास्त्र का स्मरण होते ही अनायास शास्त्र के उपदेशक परमात्मा का स्मरण होना ही चाहिए।

जिनेश्वर भगवान का प्रभाव अदभुत है। राग और द्वेष से रहित परमात्मा उनका स्मरण करनेवाले आत्मा को दु ख की दाहक ज्वाला से बचाते हैं! चिंतामणि रत्न में भला कहाँ रागद्वेष होता है ? फिर भी विधिपूर्वक पूजापाठ और उपासना कर ध्यान करने वाले की मनो-कामना पूरी होती है। परमात्मा का आत्म द्रव्य ही इतना प्रबल प्रभावी और शक्तिशाली है कि उनका* नाम स्थापना-द्रव्य और भाव से स्मरण कर तो निःसदेह सब कार्य की सिद्धि होती है!

* चार निक्षेपा का स्वरूप परिशिष्ट म देखिए।

जिनेश्वर भगवान के सुमरन का उत्कट उपाय शास्त्राध्ययन और शास्त्र-स्वाध्याय है ! शास्त्र-स्वाध्याय के माध्यम से जिनेश्वर भगवत का जो स्मरण होता है, उनकी जो स्मृति जागृत होती है, एक प्रकार से वह अपूर्व और अद्‌भुत ही नही, उस मे गजव की रसानुभूति होती है।

"आगमं आयरंतेण अत्तणो हियवाखिणो ।"
तित्थनाहो सयंबुद्धो सव्वे ते बहुमन्निया ।।

"तुम ने आगम का यथोचिन आदर-सत्कार किया मतलब आत्महित साधने के इच्छुक एव स्वयवुद्ध तीर्थंकरादि सभी का सन्मान-बहुमान किया है।"

वैसे आगम का यथोचित मानसन्मान करने का सर्वत्र कहा गया है। परतु शास्त्र को सर्वोपरी मानना / समझना तभी संभव है जब आत्मा हित साधने के लिए तत्पर हो। जब तक वह इन्द्रियो के विषय-सुखों के प्रति आसक्त हो, कषायो के वशीभूत हो और सज्ञाओ से बुरी तरह प्रभावित हो, तब तक शास्त्र के प्रति अभिरूचि नही होती, ना ही शास्त्रो का यथोचित आदरसत्कार सभव है।

आज के वैज्ञानिक युग और भौतिकवाद के झझावात में शास्त्राध्ययन की प्रवृत्ति एक तरह से ठप्प सी हो गई है। शास्त्र के अतिरिक्त ढेर सारा साहित्य उपलब्ध है कि जीव मे शास्त्राध्ययन और वांचन की रुचि ही नही रहती। आबाल-वृद्ध सभी के समक्ष देश-परदेश की कथा, राजकथा, रहस्य कथा, तन्त्र-मन्त्रकथा, भोजनकथा, नारीकथा, कामकथा, इत्यादि से सबधित ढेर सारी पठनीय सामग्री प्रकाशित होती जाती है कि शास्त्रकथाएँ उन्हे नीरस और दकियानूसी खयालात की लगती है। शास्त्रकथाएँ सर्वदृष्टि से निरूपयोगी और बकवास मालूम होती है।

लेकिन जो साधु है, श्रमण है, और मुनि है, उसे तो शास्त्राध्ययन द्वारा परमात्मा जिनेश्वरदेव की अचित्य कृपादृष्टि का पात्र बनना ही चाहिए।

अदृष्टार्थेऽनुधावन्तः शास्त्रदीपं विना जडाः ।
प्राप्नुवन्ति परं खेदं प्रस्खलन्तः पदे-पदे ।।५।।१८९।।

अर्थ – शास्त्र रूपी दीपक के बिना परोक्ष अर्थ के पीछे दौड़ते अविवेकी मानव, कदम–कदम पर ठोकर खाते अत्यधिक पीड़ा और दुःख (क्लेश) पाते है !

विवेचन जो प्रत्यक्ष नही है, कान से सुना नही जाता, आंखो से देखा नही जाता, नाक से सुघा नही जाता, जिह्वा से चखा नही जाता, और स्पर्श से अनुभव नही किया जाता ऐसे परोक्ष पदार्थों का ज्ञान भला, तुम कैसे पा सकते हो ? न जाने कब से तुम भटक रहे हो ? कितनी ठोकरें खायी हैं ? कितनी पीडा और क्लेश सहना पड़ा है ? अरे भाग्यशाली, और कितना भटकोगे ?

ऐसे परोक्ष पदार्थों मे मुख्य पदार्थ है आत्मा । परोक्ष पदार्थों में महत्वपूर्ण पदार्थ है मोक्ष । ठीक वैसे ही परोक्ष पदार्थों मे नरक, स्वर्ग, पुण्य, पाप, महाविदेहादि अनेक क्षेत्र आदि अनेक पदार्थों का समावेश होता है । इन परोक्ष पदार्थों की अद्भुत सृष्टि का एकमेव मार्गदर्शक (Guide) है शास्त्र । परोक्ष पदार्थों को सही अर्थ में बतानेवाला दीपक है शास्त्र । बिना शास्त्ररूपी 'गाइड' के तुम इन परोक्ष पदार्थों की सृष्टि में भटक जाओगे और हैरान परेशान हो जाओगे । तुम इस तथ्य को अच्छी तरह जानते हो कि अक्सर मनुष्य अनजाने प्रदेश मे भटक जाता है ! और तब तुम उद्विग्न होकर कह उठोगे कि 'यह सब निरी कल्पना है !'

शास्त्रों का स्पर्श किये बिना पाश्चात्य देशो की उच्चतम डिग्रियां प्राप्त कर विद्वान् कहलानेवाले और स्वयं को कुशाग्र बुद्धि के धनी समझने वाले मनुष्य, परोक्ष विश्व को मात्र कल्पना मान कर उस ओर दृष्टिपात भी नही करते !

लेकिन हे महामुनि ! तुम तो परोक्ष विश्व के अदभुत रहस्य जानने-समझने के लिए प्रतिबद्ध हो । तुम्हें तो इन अगम अगोचर के रहस्यों को जानना ही होगा । उसके लिए शास्त्रज्ञान का दीपक अपनाना ही होगा अपने पास रखना ही होगा । अंधकार युक्त प्रदेश मे विचरण करनेवाला अपने पास 'बेटरी' रखता ही है न ! किसी गड्ढे मे पांव न पड़ जाए, कोई कांटा पैर मे चुभ न जाए, किसी पत्थर से टकरा न जाए, अतः बेटरी को महत्वपूर्ण साधन समझ कर साथ मे

रखता ही है। ठीक उसी तरह परोक्ष-पदार्थों की दुनिया में शास्त्र-दीप का प्रकाश फैलाती 'बेटरी' की गरज है ही, वर्ना अज्ञान के गड्ढे में पांव पड जाएगा, राग का कांटा पांव को आर-पार बींध देगा और मिथ्यात्व की चट्टानों से अनायास ही टकराने की नौबत आ जाएगी! अतः सदा-सर्वदा शास्त्रज्ञान का दीप साथ में रखो।

परोक्ष विश्व के रहस्यों का पता लगाना है न? आत्मा, परमात्मा और मोक्ष की अपूर्व और अद्भुत सृष्टि का दर्शन करना है न? तब आत्मा पर आच्छादित अनंत कर्मों के आवरण को उनकी जानकारी पाये बिना भला, कैसे हटा पाओगे? कर्म-बंधनों को छिन्न-भिन्न कैसे कर सकोगे? शास्त्र-ज्ञान के दीप के बिना अनायास ही कर्म-बंधनों की तिमिराच्छन्न दुनिया में खो जाना पड़ेगा।

हां, संभव है कि परोक्ष-पदार्थों की परिशोध में तुम्हें जरा भी दिलचस्पी न हो, उनकी प्राप्ति के लिए तुम्हारे में उत्साह न हो और परोक्ष-पदार्थों के भंडार को पाने के लिए आवश्यक हिम्मत तुम जुटा न पाते हो, तब शास्त्रज्ञान पाने की अभिरुचि तुम्हारे में कभी पैदा नहीं होगी।

वास्तविकता तो यह है कि परोक्ष-पदार्थों का जानने, समझने और परखने के लिए रस-प्रचुरता चाहिए। अदम्य उत्साह चाहिए, प्राणों पर दांव लगाकर दुर्धर्ष संघर्ष करने का साहस चाहिए। तभी शास्त्र-रूप दीपक प्राप्त करने की इच्छा जगेगी न? परोक्ष-पदार्थों का प्रमाण, स्थान, मार्ग, पर्वत-मालाएं, नदियां, वन, उपवन, साथ ही आवश्यक साधन और सावधानी के बिना, परोक्ष-दुनिया का प्रवास भला कैसे संभव है?

इसके लिए आवश्यक है शास्त्रज्ञान! हां, शास्त्रज्ञान की प्राप्ति का क्षयोपशम संभव न हो तो शास्त्रज्ञानी महापुरुषों का अनुसरण करना हितकर है। उन के आदेश और वाणी को शिरोधार्य करना। तभी तुम परोक्ष अर्थ के भंडार के निकट पहुँच पाओगे। अरे, द्राविड, वारिखिल्ल और पांडवों के साथ लाखों, करोडों मुनि परोक्ष अर्थ के उच्चतम स्थान पर जा पहुँचे। किस तरह, जानते हो? ज्ञानी महा-पुरुषों की सहायता से! अतः मुनि के लिए शास्त्रज्ञान आवश्यक माना

वावा का वध कर छत्र छिन लो !"

साथी वावाजी के मदिर की दिशा में वेग से निकल पडे। वे अभी थोड़े ही दूर गये होंगे कि भीललराज ने उन्हे आवाज देकर वापिस बुलाया और कहा: "ध्यान रहे, वाबाजी के पाँव-चरण पूज्य है, अत: उन पर वार न करना।"

साथी, भीलल राज की आज्ञा शिरोधार्य कर निकल पडे ! वावाजी विश्राम कर रहे थे। उन्होने दूर से ही उन्हे लक्ष्य बनाकर तीरों की बौछार कर दी। गुरुदेव को छलनी-छलनी कर दिया और छत्र लेकर भीललराज के पास लौट आये !

"गुरुदेव का चरणस्पर्श नही किया न ?"

"नही, हमने उन्हे दूर से ही तीरो की बौछार कर वींध दिया। चरणों पर वार करने का प्रसंग ही न आया।"

जरा सोचो तो, भीललराज की यह कैसी गुरुभक्ति ?

शास्त्राज्ञा का उल्लंघन कर, भले ही तुम ४२ दोपो से रहित भिक्षा ग्रहण करो, अथवा किसी निर्दोप वस्ती मे वास करो। पांच महाव्रतों का कठोरतापूर्वक पालन करो, लेकिन जिनाज्ञा का उल्लंघन किया, यानी आत्मा की ही हत्या कर दी। आत्मा का ही हनन कर देने पर वाह्याचारो का पालन करने का क्या अर्थ ? जिनाज्ञा-निरपेक्ष रह, पालन किये गये वाह्याचार आत्मा का हित साधने के वजाय अहित ही करते है। अत· जिनाज्ञा का परिज्ञान होना जरूरी है।

इसका अर्थ यदि कोइ मुनि यूँ ले ले कि, "हमे शास्त्र-स्वाध्याय करने की क्या आवश्यकता है ? हम तो वयालीस* दोषरहित भिक्षा ग्रहण करेंगे ! महाव्रतो का निष्ठापूर्वक पालन करेंगे। प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन आदि क्रियाँए नियमित रूप से करते रहेंगे। आयविल, उपवासादि तपस्या करेंगे।" तो वह सरासर गलत और सर्वथा अनुचित है। ऐसी मान्यता रखनेवाले और तदनुसार आचरण करने वाले मुनियो को सम्वोधित कर यहाँ कहा गया है: 'हे मुनिराज ! वाह्य-आचार कभी आत्महित नहीं करेंगे। जिनाज्ञानुसार तुम्हारा व्यवहार नही है, आचरण नही है, यह सबसे वडा दोप है, अपराध है।"

---

* बयालीश दोप परिशिष्ट मे देखिए !

वतमान काल मे जिनाज्ञा कुल ४५ आगमो मे सकलित और सग्रहित है।* वह इस तरह ११ अग+१२ उपाग+६ छेद+४ मूल+ १० पयन्ना +२ नदीसूत्र और अनुयोगद्वार=कुल ४५ मूल सूत्र ह। उन पर लिखी गयी चूणियाँ, भाष्य, नियु क्तियाँ और टीकाए। इस तरह पचागी आगमो का अध्ययन मनन और चितन करने मे जिनाज्ञा का बोध हो सकता ह। मात्र मूल सूत्रो का केन्द्र–बिन्दु बनाकर स्व मतानुसार उसका अथ निकालने वाला जिनाज्ञा को हगिज समझ नही सकता। ठीक वसे ही, ४५ आगमो मे से कुछ आगम माने और कुछ नही मानें, उसे भी जिनाज्ञा का परिज्ञान नही हो सकता।

पचागी आगम के अलावा श्री सिद्धसेन दिवाकरसूरि, श्री ऊमा-स्वाति वाचक, श्री हरिभद्रसूरिजी, श्री हेमचद्रसूरिजी, श्री वादिदेव सूरिजी, श्री शातिसूरिजी, श्री विमलाचाय श्री यशोदेवसरिजी, उपाध्याय श्री यशोविजयजी आदि महर्षियो के मौलिक शास्त्र-ग्रथों का अध्ययन पठन और चितन-मनन करना परमावश्यक है। ईन पूर्वाचार्यो ने जिनाज्ञा का अपनी अनूठी शैली और तार्किक वाणी के माध्यम से उस म रहे रहस्यो को अधिकाधिक मात्रा मे उजागर करने का प्रयत्न किया है।

जिनाज्ञा की ज्ञान–प्राप्ति कर किया हुआ आचारपालन सदा-सवदा आत्महितकारी है। जिनाज्ञा-सापेक्षता सदव कम–बधनो का नाश करती है। 'मैं अपनी हर प्रवृत्ति जिनाज्ञानुसार करूँगा।' यह भाव प्रत्येक मुनि/श्रमण के मनमे दृढ होना जरुरी है।

> अज्ञानाऽहिमहामन्त्र स्वाच्छन्द्यज्वरलङ्घनम ।
> धर्मारामसुधाकुल्या शास्त्रमाहुमहर्षय ॥७॥ १९१॥

अथ — ऋषिश्रेष्ठो ने, शास्त्र का अज्ञान रुपी सप का विष उतारने म महामत्र समान, स्वच्छन्दता रुपी ज्वर को उतारने म उपवास समान और धर्म रुपी उद्यान म अमृत की नीक समान कहा ह।

विवेचन — कहा गया है कि—

—सपका विष महामत्र उतार देता है।

---

* ४५ आगम परिशिष्ट म देखिए।

—उपवास करने से ज्वर/बुखार उतर जाता है।

—पानी के सतत छिडकाव से उद्यान हराभरा रहता है।

किसी साँप का जहर तुम्हारे अग-अग मे फैल गया है, यह तुम जानते हो ? तुम विषम ज्वर से पीडित हो, इस का तुम्हे पता है ? तुम्हारा उद्यान जल विना उजड गया है, इसका तुम्हे तनिक भी खयाल है ?

और इसके लिए तुम किसी महामत्र की खोज मे हो ? किसी औषधि की तलाश मे हो ? कोई पानी की नीक अपने उद्यान में प्रवाहित करना चाहते हो ? तब तुम्हे नाहक हाथ-पाँव मारने की जरूरत नही। इधर-उधर भटकने की आवश्यकता नही,....चिंता और शोक से भया-कुल होने का कोई कारण नही '

तो क्या तुम निदान कराना चाहते हो ? कोई बात नही ? आओ इधर बैठो और शात चित्त से सुनो :

'तुम्हे अज्ञान नामक 'सर्प' का विष चढ गया है। तुम्हे स्वच्छंदता का ज्वर हो आया है... और पिछले कई दिनों से आ रहा है। सच है ना ? तुम्हारा 'धर्म' नामक उद्यान उजड रहा है न ?

यदि तुम्हे निदान सच लगे तोही औषधि लेना। खयाल रहे, जैसा निदान सही है वैसे उसके उपचार भी जबरदस्त है, अकसीर और रामबाण हैं।

शास्त्ररूपी महामत्र का जाप करिए, शिघ्र ही अज्ञान–सर्प का जहर उतर जाएगा। 'शास्त्र' नामका उपवास कीजिए, बुखार दुम दबाकर भाग खडा होगा और 'शास्त्र' नाम की नीक को खुला छोड़ दीजिए, धर्मोद्यान नवपल्लवित होते देर नही लगेगी।

लेकिन सावधान! एकाध दिन, एकाध माह. एकाध वर्ष तक शास्त्र का स्वाध्याय-जाप करने मात्र से अज्ञान रुपी साँप का जहर नही उतरेगा। आजीवन...अर्हनिश शास्त्र-जाप करते रहना चाहिए। स्वच्छंदता का ज्वर दूर करने के लिए नियमित रुप से शास्त्र-स्वाध्याय रुप उपवास करने होगे। यह कोई मामूली ज्वर नही है, तुम्हारे अग-प्रत्यग मे वह पुरी तरह से समा गया है ! अत उसे दूर करने के लिए अगणित

उपवास और कठोर तपश्चर्या का आधार लेना होगा। उसी तरह उजड़े धर्मोद्यान को हरा भरा रखने के लिए सदैव 'शास्त्र' की सीख को निरंतर खुला रखना होगा, वर्ना उसे सूखने / वीरान होते पल की भी देरी नहीं लगेगी। शास्त्राध्ययन क्या आवश्यक है, इसे तुमने अच्छी तरह समझ लिया न ? यदि इन तथ्यों को परिलक्षित कर शास्त्राध्ययन और शास्त्र-स्वाध्याय शुरु रखोगे तो निःसदेह तुम्हारी आत्मा का कायाकल्प ही हो जाएगा। जहर के उतरने, ज्वर के कम होने और धर्मोद्यान को फूला-फला देखकर तुम्हे जो आह्लाद और आनंद होगा, उसकी कल्पना कर! उद्यान के नवपल्लवित होने से तुम्हारा दिलो दिमाग बाग-बाग हो उठेगा, सारा समा हँसता-खेलता नजर आएगा! जब तुम विषरहित निरोगी बन धर्मोद्यान मे विश्राम करोगे तब तुम्हे देवेन्द्र से भी अधिक आनन्द प्राप्त होगा!

हाँ, जब जहर सारे शरीर मे फैल गया हो, ज्वर से तन बदन उफन रहा हो, तब तुम्हें उद्यान मे सुख और शांति नही मिलेगी। फलस्वरूप, उसकी रमणीयता भी तुम्हे प्रसन्न नही करेगी, सुगंधित पुष्प तुम्हें सुवासित नहो कर सकेंगे, ना ही उद्यान तुम्हें आह्लादित कर सकेगा। इसीलिए 'शास्त्र' कि जिसका अर्थ स्वयं तीर्थंकर भगवंतो ने बताया है जिसे श्री गणधर भगवंतो ने लिपिबद्ध किया है, और पूर्वाचार्यों ने जिसके अर्थ को लोकभोग्य बनाया है, का निरंतर-नियमित रुप से चिंतन मनन करना चाहिए।

शास्त्र-स्वाध्याय अपने आप मे व्यसन रुप बन जाना चाहिए। उसके बिना साँस लेना मुश्किल हो जाए। सब कुछ मिल जाए, लेकिन जब तक शास्त्र स्वाध्याय नही होगा तब तक कुछ नही। ठीक उसी तरह जैसे-जैसे शास्त्रस्वाध्याय बढ़ता जाय वैसे-वैसे अज्ञान, स्वच्छंदता और धर्महीनता की वृत्ति नष्ट होती जायेगी। अतः तुम्हें सदा ख्याल रहे कि इसी हेतुवश शास्त्र स्वाध्याय करना परमावश्यक है।

शास्त्रोक्ताचारकर्ता च शास्त्रज्ञः शास्त्रदेशकः ।
शास्त्रैकदृग् महायोगी प्राप्नोति परमं पदम् ॥८॥१९२॥

अर्थ : शास्त्रप्रणीत आचार का पालनकर्ता, शास्त्रों का ज्ञाता, शास्त्रों का उपदेशक और शास्त्र में एकनिष्ठ महायोगी परमपद पाते हैं।

विवेचन : महायोगी !

शास्त्रो के ज्ञाता होते हैं, उसका उपदेश देनेवाले होते है और उस में प्रतिपादित आचारो को स्व-जीवन मे कार्यान्वित करने वाले होते हैं।

जिसके जीवन मे इस प्रकार त्रिवेणी का सगम है, वह महायोगी कहलाता है। और इन तीन बातों की एकमेव कुञ्जी है शास्त्रदृष्टि। बिना इसके, शास्त्रो को समझना और जानना असंभव है ! फलत: उपदेश देना और शास्त्रीय जीवन जीने का पुरुषार्थ कदापि नही होगा।

महायोगी बनने की पहली शर्त है शास्त्रदृष्टि। नजर शास्त्रों की ओर ही लगी रहनी चाहिए। स्वय आचार-विचार-वृत्ति और व्यवहार का विलीनीकरण शास्त्रो मे ही कर देना चाहिए। शास्त्र से भिन्न उन की वाणी नही और विचार नही। शास्त्रीय बातो से अपनी वृत्ति और प्रवृत्तियो को भावित कर दी हो, विचार मात्र शास्त्रीय ढांचे मे ढल गये हो, और मन ही मन दृढसंकल्प हो गया हो कि "शास्त्र से ही स्व और पर का आत्महित संभव है।" अर्थात् महायोगी ऐसी हीतकारी शास्त्रीय बातो का ही उपदेश करे। शास्त्रनिरपेक्ष होकर जन-मन को भाने वाले शास्त्र-विरोधी उपदेश देने की चेष्टा न करे। आमतौर से सामान्य जनता की अभिरूचि शास्त्रविपरीत ही होती है, फिर भी महायोगी/ महात्मा जनाभिरुचि-पोषक शास्त्र-विरुद्ध उपदेश देने का उपक्रम न करे। अहितकारी उपदेश श्रमणश्रेष्ठ कदापि न दे।

वह खुद का हित भी शास्त्रों के मार्गदर्शन के अनुसार ही साधने का प्रयत्न करे। जीवन की वृत्ति और प्रवृत्ति के लिए शास्त्रों का मार्ग-दर्शन उपलब्ध है। छोटी–बडी प्रवृत्तियाँ किस तरह की जाए इसके सम्बध मे शास्त्र में स्पष्ट निर्देश दिये गये हैं। साथ ही, सरल सुगम और सुन्दर विधि का भी नियोजन किया गया है। मुनिराज उसे अच्छी तरह आत्मसात् करें और तदनुसार अपना जीवन जीये। प्रसगोपात सुपात्र को इसका उपदेश भी दे !

जिसे मोक्ष–मार्ग की आराधना करनी हो, आत्मा के वास्तविक स्वरुप को जिसे प्रगट करना हो, उसे शास्त्र का यथोचित आदर करना ही होगा। शास्त्र भले ही प्राचीन हो, लेकिन वे अर्वाचीन की भाति नित्य नया सदेश देते हैं। जिसे आत्महित साधना है, उस के लिए सिवाय

शास्त्र, दूसरा कोई माग नही है । लेकिन, जिसे लौकिक जावन ही जीना है और आत्मा, माक्ष, परलाक आदि से काई सराकार नही है, ऐसे विद्वान्,बुद्धिमान्, कलाकौशल्य के स्वामि और राष्ट्रनेता भले ही शास्त्र की तनिक भी परवाह न करें। शास्त्रों को सरेआम अवहेलना करें उन के और तुम्हारे आदश भिन्न हैं, उस मे जमीन-आसमान का अन्तर है ।

हे मुनिवर, तुम्हे तो शास्त्राधार लेना ही होगा । यही तुम्हारे लिए सवथा श्रेयस्कर और उपयुक्त है ।

२५. परिग्रह-त्याग

परिग्रह ! वाकई इस 'ग्रह' का प्रभाव सकल विश्व पर छाया हुआ है! आश्चर्य इस बात का है कि मानव अन्य ग्रहों के शिकंजे से मुक्त होने के लिए आकुल-व्याकुल है, जबकि इसकी प्राप्ति के लिए जमीन-आसमान एक कर देता है। मानव-मात्र पर इसका कितना जबरदस्त असर है– यह तुम्हें जानना ही होगा। दिल को कंपायमान करने वाली और धन-मूर्च्छा को कंपाय-मान करने वाली परिग्रह की अजीबो-गरीब बातें पढ़कर तुम्हें एक नयी दिव्य दृष्टि प्राप्त होगी।

न परावर्तते राशेवक्रता जातु नोज्झति ।
परिग्रहग्रह कोऽय विडम्बितजगत्त्रय ॥१॥१६३॥

अर्थ -- न जाने परिग्रहरूपी यह ग्रह कैसा है, जो राशि से दुबारा लौट ा ी आता कभी वक्रता का परित्याग नही करता और जिसने त्रिलोक को विडम्बित किया है ?

विवेचन सौ दो सौ, हजार दो हजार, लाख दो लाख, कोटि दो कोटि, अरब दस अरब ?

अक के बाद अक बढते ही जाते है। पलटकर देखने का काम नही। वाकई 'परिग्रह' नामक ग्रह ने प्राणी मात्र के जन्म नक्षत्र को चारो ओर से घेर लिया है। उस के उत्पात, तृष्णा और व्याकुलता को कभी देखा है ? यदि तुम इस पापी ग्रह के असर तले होगे तो नि सदेह उन उत्पातो को, तृष्णा को और व्याकुलता को समझ नही पाओगे। नदी के तीव्र प्रवाह मे डूबता मानव अन्य को डूबते नही देख सकता, बल्कि तट पर खडे लोग ही उसकी वेदना, विह्वलता और असहाय स्थिति समझ सकते है। 'परिग्रह' ग्रह से मुक्त महापुरुष ही उसे देख सकते हैं कि इस ग्रह की सतभक्षी जाल मे फँसे जीव किस कदर तडपते हैं, छटपटाते हैं।

धन-सपत्ति एव वैभव के उत्तुग शिखरो पर आरोहण करने के लिए प्रयत्नशील मानव को सबोधित कर पूज्य उपाध्यायजी महाराज कहते हैं 'हे जीव! तुम इस निरर्थक प्रयत्न का परित्याग कर दो। आज तक कोई मानव अथवा देव देवेन्द्र भौतिक सपत्ति के शिखर पर लाख प्रयत्नो के बावजूद भी पहुँच नही पाया है। कोई उसके शिखर पर पहुँच ही नही पाता यह पक्व है। दूर के ढोल हमेशा सुहावने होते हैं। अत तुम उसकी बुलदी पर पहुँचने के अरमान दिल मे निकाल दो। व्यर्थ की विटबना क्यो मोल लेते हो ?

अरे, तुम उसकी वक्रता तो देखो। वह हमेशा जीव की इच्छा के विपरीत ही चलता है। जिसके हृदय मे वैभव का जरा भी मोह नही, उसके इद गिद भी और सपत्ति की अभिनव दुनिया खडी हो जाती है। जब कि जो यश और सपदा के लिए निरन्तर छटपटाता है अधीर

और आतुर है, उस से वह लाखों योजन दूर रहती है। परिग्रह ही मानव की उदात्त भावनाओं को भस्मीभूत करता है....विवेक का विलीनीकरण करता है। फलतः मानव वक्रगति का पथिक बन जाता है... सरल चाल कभी चलता नहीं।

त्रिलोक को सदा-सर्वदा अशांत और उद्विग्न करने वाले परिग्रह नामक ग्रह का आजतक किसी खगोलशास्त्री ने संशोधन किया ही नहीं। उसके व्यापक प्रभावों का विज्ञान खोजा नहीं गया है। अलवत्ता, इस की वास्तविकता को आज तक सिर्फ सर्वज्ञ परमात्मा ही जान पाये हैं। अतः उन्होंने इसकी भीषणता/भयानकता का वर्णन किया है।

असंतोषमविश्वासमारंभं दुःखकारणम्।
मत्वा मूर्च्छाफलं कुर्यात्, परिग्रहनियंत्रणम्॥

—योगशास्त्र

परिग्रह अर्थात् मूर्च्छा... गृद्धि....आसक्ति। इसका फल है: असंतोष, अविश्वास और आरंभ-समारंभ। मतलब, दुःख, कष्ट और अशान्ति। अतः सदैव परिग्रह का नियंत्रण करना आवश्यक है।

त्रिभुवन को अपनी अंगुलियों के इशारे पर नचाने वाले इस दुष्ट ग्रह को उपशान्त किए बिना जीव के लिए सुख-शान्ति असंभव है। सगर चक्रवर्ती के कितने पुत्र थे? कुचिकर्ण के यहाँ कितनी गायें थीं? तिलक श्रेष्ठि के भंडार में कितना अनाज था? मगध सम्राट नंदराजा के पास कितना सोना था? फिर भी उन्हें तृप्ति कहाँ थी? मानसिक शान्ति कहाँ थी?

वैसे परिग्रह की वृत्ति द्रव्योपार्जन, उसका यथोचित संरक्षण और संवर्धन कराने प्रवृत्तियाँ कराती है। इस से परपदार्थों के प्रति ममत्व दृढ होता जाता है। परिणाम स्वरूप एक ओर धार्मिक क्रियायें संपन्न करने के बावजूद भी आत्मभाव निर्मल.... पवित्र नहीं हो पाता। तामसभाव और राजसभाव में प्रायः बाढ आती ही रहती है। कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्यजी ने बताया है कि—

'दोषास्तु पर्वतस्थूलाः प्रादुष्यन्ति परिग्रहे।'

परिग्रह के कारण पहाड जैसे बड़े और गंभीर दोष पैदा होते हैं।

उससे आर्जित मानव पिता की भी हत्या करते नही हिचकिचाता, सदगुरु और परमात्मा की अवहेलना करने पीछे नही हटता, मुनि हत्या करते नहीं घबराना। ठीक वसे ही असत्य बोलते, चोरी करते नही रुकता।

धन-धान्य, सपत्ति वैभव परिवार, भवन और वाहन आदि सब परिग्रह है। आत्मा से भिन्न पदार्थो के लिए मूर्च्छा-ममत्व परिग्रह कहलाता है। अत परिग्रहपरित्याग किए बिना आत्मा प्रशान्त नही बनती।

> **परिग्रहग्रहावेशाद, दुर्भाषितरज किराम्।**
> **श्रूयन्ते विकृता कि न प्रलापा लिङ्गिनामपि ॥२॥१६४॥**

अर्थ — परिग्रह रुपी ग्रह के प्रवेश के कारण उत्सूत्रभाषण रुपी धूल सरे-धाम उडाने वाले वेशधरी लोगों की विकारयुक्त बकवास क्या तुम्हें सुनायी नही दे रही हैं ?

विवेचन धन-सपत्ति और बगला-मोटर आदि अतुल वैभव मे गले तक डूबे और परिग्रह के रग मे रगे हुए सामान्य गृहस्थो की बात तो छोड दीजिए, लकिन जिन्हाने सवदृष्टि से बाह्य परिग्रह का परित्याग कर दिया है, जा त्यागी, तपस्वी, मुनिवेशधारी हैं और आत्मानन्द की पूर्णता के राजमार्ग का अवलवन लिया है ऐसे महापुरुष परिग्रह के रग मे रगे दृष्टिगोचर हो, तब भला ज्ञानी पुरुषो का खेद नही होगा तो क्या होगा ?

मुनि और परिग्रह ? परिग्रह के बोझ को आनन्द से ढोता मुनि, मुनि-जीवन के कर्तव्यो से भ्रष्ट होता है। महाव्रतादि के पुनीत पालन मे शिथिल बनता है और जिनमार्ग की आराधना के आदश को कलकित करता है। ज्ञान और चारित्र के विपुल साधनो का सग्रह करने के उपरात भी जिस मुनि को यह मान्यता है कि 'मैं जो भी कर रहा हूँ, सर्वथा अयोग्य है और मैं परिग्रह के पापमय बहाव मे बहा जा रहा हूँ।' ऐसा मुनि भूलकर भी कभी दूसरो को परिग्रह के मार्ग पर चलने का प्रोत्साहन नही देगा। ठीक वसे ही परिग्रह के माध्यम से अपना गौरव नही बढ़ायेगा।' ऐसा मानने वाला मुनि, उसका अनुकरण एव अनुसरण करने वाले अन्य मुनियो के कान मे धीरे से कहेगा "मुनिजन आप

इस झंझट मे कभी न फँसना। मार्ग-भ्रष्ट न होना। मैं तो इस के कीचड मे सर से पाँव तक सन गया हूँ, लेकिन तुम हर्गिज न सनना, बल्कि सदा-सर्वदा निर्लेप रह आराधना के मार्ग पर गतिशील रहो।"

लेकिन जो साधु अपना आत्मनिरीक्षण नहीं करता है, ना ही अपनी त्रुटियो को समझता है....वह नि.सन्देह खुद तो परिग्रह का बोझ ढाने वाला कुली बनेगा ही, साथ मे अन्य मुनियों को भी परिग्रही बनने के लिए उकसायेगा। उसका उपदेश मार्गानुसारी नही, अपितु उन्मार्ग-पोषक होगा। वह कहेगा : "हम तो सदा अपने पास सम्यग् ज्ञान के साधन रखते है.... सम्यक् चारित्र के उपकरणों से युक्त हैं। हम भला कहाँ कचन-कामिनी का सग करते हैं ? फिर पाप कैसा ? साथ ही, जो हमारे पास है, उसके प्रति हममे ममत्व की भावना कहाँ है ? ममत्व होगा, तभी परिग्रह !" इस तरह अपना बचाव करते हुए, 'ऐसा परिग्रह तो रखना चाहिए,' का निश्शंक उपदेश देगा।

उपदेश द्वारा लाखो की संपत्ति इकट्ठी कर, और उस पर अपना अधिकार प्रस्थापित कर उक्त रकम किसी भक्त की तिजोरी मे बन्द रखना, क्या परिग्रह नही है ? उपाश्रय, ज्ञानमदिर, पौषधशाला और धर्मशाला निर्माण हेतु उपदेश के माध्यम मे करोड़ो रूपये खर्च करवाकर उनकी व्यवस्था/प्रबन्ध के सारे सूत्र अपने हाथ मे रखना, क्या परिग्रह नही है ? सहस्त्रावधि पुस्तको की खरीदी करवाकर उस पर अपने नाम का ठप्पा मारकर उसका मालिक बनना, क्या परिग्रह नही है ? इतना ही नही, बल्कि इससे एक कदम आगे, इन कार्यो के प्रति अभिमान धारण कर उससे अपने बड़प्पन का डका पिटवाना, क्या साधुता का लक्षण है ? ऐसे परिग्रही लोगों को पूज्य उपाध्यायजी महाराज ने 'वेषधारी' की सज्ञा प्रदान की है। सिर्फ वेश मुनि का, लेकिन आचरण गृहस्थ का। अपरिग्रह का जयघोष करने वाले जब परिग्रह के शिखर पर आरोहण हेतु प्रतिस्पर्धा करने लग जाए, तब ऐसा कौन–सा ज्ञानी पुरूष है, जिसका हृदय आर्तनाद से चीख न पड़ेगा ?

एक समय की बात है। किसी त्यागी पुरुष के पास एक वनिक गया। वन्दन–स्तवन कर उसने विनीत भाव से पूछा "गुरूवर, मुझे हजार रुपये गरीब, दीन-दरिद्र और मोहताज लोगो में बाटने हैं. आपको

ठीक लगे वैसे बाटवा दे तो बडी कृपा होगी ।"

आर भक्त ने सौ सौ की दस नोट उनके सामने रख दी । त्यागी पुरुष पल दो पल के लिए मौन रहे। उन्हाने तीक्ष्ण नजर से एक बार उसकी ओर देखा और तब बोले "भाग्यशाली, यह काम तुम अपने मुनीम को सौप दो । मैं तुम्हारा मुनीम नही हू।" धनिक क्षणार्ध के लिये स्तब्ध रह गया । उसने चुपचाप नोट उठा लिये और क्षमायाचना कर नमस्कार कर, चला गया । वह मन ही मन त्यागी पुरुष की महानता और विराट व्यक्तित्व से गदगद हो उठा ।

परिग्रह इसी तरह आहिस्ता-आहिस्ता मुनिजीवन मे प्रवेश करता है । यदी ऐसे समय जरा भी सावधानी न बरती गयी तो समझ लो कि परिग्रह की दुष्ट चाल मे फस गये । श्रीमद् हेमचन्द्राचार्यजी ने ठीक ही कहा है

तप श्रुतपरिवारां शमसाम्राज्यसंपदम् ।
परिग्रहग्रहग्रस्तास्त्यजेयुर्योगिनोऽपि हि ॥

—योगशास्त्र

परिग्रह का पाप-ग्रह जब योगी पुरुषो को ग्रसित करता है, तब वे त्याग, तप, ध्यान, ज्ञान, क्षमा, नम्रतादि अभ्यन्तर लक्ष्मी का सदा के लिये त्याग कर देते हैं । इतना ही नही, वलिक जिनमत के अपरिग्रहवाद का विकृत ढग से प्रतिपादन करते हैं । क्या तुमने कभी वेषधारियो को अपने परिग्रह का बचाव करते देखा नही है ? "उपमिति" ग्रन्थ मे कहा गया है कि, ऐसे जीव अनत काल तक ससार मे परिभ्रमण करते रहते हैं ।'

यस्त्यक्त्वा तृणवद् बाह्यमान्तर च परिग्रहम् ।
उदास्ते तत्पदांभोज पर्युपास्ते जगत्त्रयी ॥३॥१६५॥

अर्थ – जो तृण के समान बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह का परित्याग कर, सदा उदासीन रहते हैं, उनके चरणकमलो की तीन लोक सेवा करते हैं ।

विवेचन – वे महापुरुष सदा वदनीय और पूजनीय हैं जो धन-सपदा पुत्र-परिवार सोना-चांदी, हीरे मोती आदि का स्वेच्छा से त्याग करते हैं । वे महात्मा सदैव पूजा अर्चना योग्य हैं, जो मिथ्यात्व, अविरति

कषाय, गारव और प्रमादादि का सर्वथा त्याग करते हैं और निर्मम, निरहंकार बनकर ससार मे विचरण करते हैं। ऐसे परम त्यागी योगी ही अहर्निश वन्दनीय हैं, जिनके वन्दन-स्तवन से अनन्त कर्मों का क्षय होता है, असख्य दोष नष्ट हो जाते हैं और गौरवमय गुणों का निरंतर प्रादुर्भाव होता है।

—धन-सपदा आदि बाह्य परिग्रह है।

—मिथ्यात्व-अविरति आदि आभ्यन्तर परिग्रह है।

इन दोनो परिग्रहो का मुनि तृणवत् त्याग करे, मलबे की तरह उठाकर बाहर फेंक दें। खयाल रहे, घर में रहे कूडे को बाहर फेंकने वाले को कभी उस का (कचरे का) अभिमान नही होता। अरे भाई, फेंकने लायक वस्तु फेंक दी, उसमें अभिमान कैसा? जिस तरह कूडा और मलबा सग्रह करने की वस्तु नहीं है, वैसे ही परिग्रह भी संग्रह करने योग्य नही, अपितु त्याग करने जैसी वस्तु है। किसी चीज को कूड़ा समझकर फेंक देने के बाद उसके प्रति तिलमात्र भी आकर्षण नही होता, जबकि वस्तु को मूल्यवान समझ कर उसका त्याग करने पर उसका आकर्षण सदा बना रहता है।

"मैंने लाखों-करोडो का वैभव क्षणमात्र मे त्याग दिया.... मैंने विशाल परिवार का सुख सदा के लिये छोड़ दिया, मैंने महान् त्याग किया है।" बार-बार ऐसे विचार मन मे उठते रहे, तो समझ लो कि त्याग तृणवत् नही किया है। इस तरह त्याग करने से उसके प्रति उदासीनता पैदा नही होती। त्यागी भूलकर भी अपने त्याग की गाथा न गाये। अरे, अपने मन मे भी त्याग का मूल्याकन न करे।

शालिभद्र ने ३२ पत्नियो के साथ-साथ नित्य प्राप्त दैवी ९९ पेटियो का त्याग किया....ममतामयी माता का त्याग किया....वह त्याग निःसन्देह तृणवत् त्याग था। वैभारगिरि पर उन के दर्शनार्थ आयी वात्सल्यमयी माता और प्रेमातुर पत्नियों की ओर आँख उठा कर देखा तक नही। उदासीनता और मोहत्याग की प्रतिमूर्ति सनत्-कुमार ने चक्रवर्तीत्व का त्याग किया....सर्वोच्च पद का त्याग! लगातार ६ माह तक साथ चलने वाले माता-पिता और पत्नी-परिवार की ओर देखा तक नहीं, अपितु विरक्त भाव और उदासीनता धारण कर निरन्तर आगे बढ़ते रहे।

सच तो यह है कि वाह्य परिग्रह के साथ-साथ आभ्यन्तर परिग्रह का भी त्याग होना चाहिये। तभी विरक्ति और उदासीनता का आविर्भाव सभव है। यदि आभ्यन्तर परिग्रह रूप मिथ्यात्व और कषायो का त्याग नही किया, तो पुन वाह्य परिग्रह की लालसा जागते विलब नही लगेगा।

सभव है कि जीव मानव-जीवन के सुखो का परित्याग कर स्वर्गीय सुखो की प्राप्ति हेतु सयम भी ग्रहण कर ले, फिर भी वह अपरिग्रही नहीं बनता। क्योकि आभ्यन्तर परिग्रह की उस की भावना पूर्ववत् बनी रहती है।

जबकि वाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह का त्यागी पुरुष निमम-निरहकारी बन आत्मानन्द की पूर्णता मे स्वय को पूर्ण समझता है। वह भूलकर भी कभी वाह्य पदार्थो के माध्यम मे अपने को पूर्ण नही समझता ना ही पूर्ण होने का प्रयत्न करता है। अपितु वाह्य पदार्थों के सयोग मे अपनेआप को सदव अपूर्ण ही समझता है। अत वह वाह्य पदार्थों का त्याग कर उन के प्रति मन में रहे अनुराग को सदा के लिए मिटा देता है।

बत्तीस कोटि सुवर्ण मुद्राये और बत्तीस पत्नियों का तृणवत् परित्याग कर, आभ्यन्तर राग-द्वेष का त्याग कर वभारगिरि पर ध्यानस्थ रहे महामुनि धन्ना अणगार की जब भगवान महावीर ने देशना देते हुए भूरि-भूरि प्रशसा की, तब समवसरण मे उपस्थित देव-देवी मनुष्य-तिर्यच पशु-पक्षी कौन उन भाग्यशाली धन्ना अणगार को नतमस्तक नहीं हुआ था? अरे, मगधाधिपति श्रेणिक तो वैभारगिरि की पथरीली, वीरान और भयकर पगडडी को रौदते हुए धन्ना अणगार के दर्शनार्थ दौट पडे थे। और महामुनि के दर्शन कर श्रद्धासिक्त भाव से उनके चरणो मे झुक पडे थे। आज भी इस ऐतिहासिक घटना की साक्षी स्वरूप 'अनुत्तरोपपातिक सूत्र' विद्यमान है। वाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह के महात्यागी धन्ना अणगार के चरणो मे तीन लोक श्रद्धाभाव से नतमस्तक हुए थे और आज भी उनका स्मरण कर हम नतमस्तक हो जाते हैं।

चित्त की परम शान्ति आत्मा की पवित्रता और मोक्ष-मार्ग की आराधना का सारा दार-मदार परिग्रह-त्याग की वृत्ति पर अवलम्बित है। क्योंकि परिग्रह से निरन्तर व्याकुलता है वेदना है और पाप-

प्रचुरता है।

> चित्तेऽन्तर्ग्रन्थगहने, बहिर्निर्ग्रन्थता वृथा ।
> त्यागात् कञ्चुकमात्रस्य, भुजगो न हि निर्विष: ॥४॥१९६॥

अर्थ – जब तक मन आभ्यन्तर परिग्रह से आकुल-व्याकुल है तब तक बाह्य निर्ग्रन्थवृत्ति व्यर्थ है। क्योंकि कांचली छोड देने से विषधर विष-रहित नही बन जाता।

विवेचन :– भले ही तुमने वस्त्र–परिवर्तन कर दिया, निवास-स्थान को तजकर उपाश्रय अथवा धर्मशाला मे वठ गये, केशमुंडन कारने के वजाय केश-लोच कराने लगे, धोती अथवा पेंट के वदले 'चोल पट्टक' धारण करना शुरु कर दिया और जूते पहनने वजाय नगे पाव रहने लगे, लेकिन इसमे तुम्हारे मन की व्याकुलता, विवशता और अस्थिरता कभी दूर नही होगी।

तव क्या करना चाहिये ?,

एक काम करो। आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करने के लिए कटिवद्ध हो जाओ। जिस परिग्रह को तुमने तज दिया है, दुवारा उसका स्मरण न करो। त्याग किये गये परिग्रह से वढकर परिग्रह की प्राप्ति के लिये तत्पर न वनो। तभी मन प्रसन्न और पवित्र रहेगा। जव तक अन्तरग राग–द्वेष एव मोह की ग्रंथि का नाश न होगा, भौतिक पदार्थो का आन्तरिक आकर्षण खत्म नही होगा, तव तक मानसिक स्वस्थता असंभव है। अतस्थ मलीन भावो का सग्रह, परिग्रह मन को सदैव रोगी ही रखता है।

"लेकिन अन्तरग–परिग्रह का त्याग सर्वथा दुष्कर जो है?" मानते है। लेकिन उसके विना बाह्य निर्ग्रंथवेश वृथा है। सॉप भले ही केंचुली उतार दे, लेकिन जव तक वह विष वाहर नही उगलेगा, तव तक वह निर्विष नही वन सकता। तुमने सिर्फ वाह्य-वेश का परिवर्तन कर दिया और वाह्याचार का परिवर्तन कर दिया। उससे भला क्या होगा ? क्या तुम उस लक्ष्मणा साध्वी के नाम से अपरिचित, अनभिज्ञ हो ?

प्राचीन समय की वात है। राजकुमारी लक्ष्मणा ने समग्र ससार के परिग्रह को त्याग दिया। वह सयममार्ग की पथिक वन गयी। भग-

वान के आयासघ मे सम्मिलित हो, घोर तपश्चर्या आरभ की । कैसी अदभूत तपश्चर्या ! ज्ञान और ध्यान का उसने अपूर्व सयोग साध लिया । विनय और वैयावृत्य की सवादिता साध ली । लेकिन एक दिन की बात ह । अचानक उसकी दृष्टि एक चिडा चिडिया के जोडे पर पडी। दोनो मयुन-क्रिया का आनन्द लूट रहे थे। लक्ष्मणा के मन चक्षू पर यह दृश्य अकित हो गया । वह दिग्मूढ हो सोचने लगी "भगवान ने मैथुन का सवथा निषेध किया है । वे स्वय निवेदी हैं । तब उन्हे भला वेदोदय वाले जीवो के सभोग-सुख का अनुभव कहा मे होगा ?"

जातीय सभोगसुख के अन्तरग परिग्रह ने लक्ष्मणा साध्वी का गला घोट दिया । मथुन-क्रिया के दशन मात्र से सभोग सुख के परिग्रह की वासना जग पडी। परिग्रह परित्याग के उद्घोषक साक्षात तीर्थंकर उसे अज्ञानी लगे ।

पल दो पल के पश्चात साध्वी लक्ष्मणा सहज और स्वस्थ हो गयी। वह मन ही मन सोचने लगी "अरेरे, मैंने यह क्या सोचा और समझा ? भगवत तो सर्वज्ञ है। उनसे कोई बात छिपी हुई नही है। वे सब जानते है और समझते है। वाकई मैंने कितनी बडी मूखता कर कर दी और गुरुदेव के प्रति अपने मन मे अशुभ चिन्तन किया ।"

उसके मन मच पर भगवान के समक्ष प्रायश्चित करने का विचार उभर आया। वह एक कदम आगे बढी और फिर ठिठक गयी । "प्रायश्चित करने के लिए मुझे अपना मानसिक पाप प्रभु के समक्ष निवेदन करना होगा । समवसरण मे उपस्थित श्रोतागण मेरे बारे म क्या सोचेंगे ? भगवान स्वय क्या अनुभव करेंगे ? 'साध्वी लक्ष्मणा और ऐसे गदे विचार ?' इसके बजाय तो मैं स्वय अपने हाथो प्रायश्चित कर लूगी।' अवसर पाकर भगवान से पूछ लूगी "प्रभु कोई ऐसे गदे विचार करे, तो उसका प्रायश्चित क्या है ?"

दूसरे अन्तरग परिग्रह ने उसके मन को मथ लिया । चित्त चचल हो उठा। माया भी अतरग परिग्रह ही है। हालाकि उसने अपना पाप स्वमुख से प्रकट नही किया, लेकिन आज सहस्राबधि वर्षों के पश्चात् भी हम उसे जान पाये हैं। भला कैसे ? यह सही है कि निर्ग्रन्थ भगवान से कोई बात छिपी नही रह सकती । आर्या लक्ष्मणा आज भी

जन्म-मरण के चक्र में फँसी चक्कर काट रही है। यह सब अन्तरग परिग्रह की लीला है।

वाह्य परिग्रह का त्याग करते हुए यदि आभ्यन्तर परिग्रह की एकाध गाँठ भी रह जाए, तो संसार-परिभ्रमण के अतिरिक्त दूसरा कोई चारा नही है। उपाध्यायजी महाराज ने फरमाया है कि, "यदि तुम्हारा मन अन्तरग परिग्रह मे आकुल-व्याकुल है, तो वाह्य मुनिवेश व्यर्थ है, वह कोई कीमत नही रखता। ऐसा कहकर वे मुनिवेश का त्याग करने को नही कहते, परन्तु अन्तरंग परिग्रह के परित्याग की भव्य प्रेरणा देते हैं।

त्यक्ते परिग्रहे साधो, प्रयाति सकलं रजः।
पालित्यागे क्षणादेव, सरसः सलिलं यथा ॥५॥१९७॥

अर्थ : परिग्रह का त्याग करते ही साधु के सारे पाप क्षय हो जाते है। जिस तरह पाल टूटते ही तालाब का सारा पानी बह जाता है।

विवेचन :–पानी से भरे सरोवर को खाली कर देना है? उसके किनारे को तोड दो। सरोवर खाली होते विलंब नहीं लगेगा। यह भी कोई बात हुई कि तट तोडना नही और सरोवर खाली हो जाए? तब तो असभव है।

तुम्हारी मनीषा आत्म-सरोवर को पाप-जल से खाली करने की है न? तब परिग्रह के तट को तोड दो....और तोडना ही पडेगा। इसके सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं है। मानता हूँ कि उक्त तट को बाँधने मे/तैयार करने मे तुमने दिन-रात पसीना बहाया है, कठोर परिश्रम किया है। संयम और स्वाध्याय को ताक पर रखकर तुमने अपना सर्वस्व दाँव पर लगा दिया है। मुनि-धर्म की मर्यादाओं का उल्लघन कर तट को सुशोभित....सुन्दर किया है। लेकिन मेरी मानो और तट को तोड दो। इसके बिना आत्म-सरोवर मे रहा पाप-पानी बाहर नही जाएगा।

यह भी भली भाँति जानता हूँ कि परिग्रह के तट पर बैठ-कर तुम्हें नारी कथा, भोजन कथा, देश कथा और राजकथा बतियाने में अपूर्व आनन्द मिलता है। भोले-भाले अज्ञानी जीवों से मान-सम्मान

स्वीकार करने मे लाज हो परिग्रह के तट पर प्राय तुम्हारा दरबार लगता है और खुशामदखोर तथा चापलूसो के बीच बैठे तुम अपने आपको महान समझते हो। लेकिन याद रखना तट पर से फिसल गये तो फिर अगाध पाप-पंक मे समाधि लेनी होगी और ऐसे समय उपस्थित खुशामदखोरो मे से एक भी तुम्हे बचाने के लिये पाप पंक से भरे सरोवर मे छलांग नही लगाएगा।

परिग्रह के तट पर धुनी रमाकर बठे तुम वहा के शाश्वत नियमो को जानते हो ? तट पर बठा यदि तट तोडने का काय न करे तो उसका अगाध पाप-पंक मे डूबना निश्चित है । भले ही फिर तुम त्यागीवेश में हो, तुम्हारा उपदेश वैराग्य-प्रेरक हो तुम्हारी क्रियाये जिनमार्ग की हो लाखों भक्त तुम्हारी जय- जयकार करते हो तुम आँखें मुंद पद्मासन लगाये ध्यानस्थ हो अथवा घोर तपश्चर्या करते हो। ये सारी क्रिया-प्रक्रियायें किसी काम की नही जब तक तुम परिग्रह के तट पर बैठे हुए हो। क्योकि अन्त में तो तुम्हें तट पर से लुढक कर अगाध पाप-जलराशि मे डूबकर मरना ही है।

परिग्रह के तट पर धूनी रमाकर तुम विश्व को अपरिग्रह का उपदेश देते हो यह कहा तक उचित है ? बजाय इसके तट को तोड दो । न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी ! पाप की जलराशि को बह जाने दो । क्या तुम्हें उस पानी की दुर्गंध नही आती ? खैर आदत जो पड गयी है ! लेकिन ऐसे स्थान पर बठकर साधुता को क्यो लजा रहे हो ? उसकी तनिक शान और आन तो रहने दो । तभी कहता हूँ भाई उठाओ कुदाल और फावडा । देर न करो तुरन्त परिग्रह के तट को तोड दो ।

जब तट टूट जाएगा पाप का जल बहते देर नही लगेगी और तब निर्मल आत्म-सरोवर के किनारे खडे कोई नई अभिनव अनुभूति का अनुभव करोगे । तुम्हें महसूस होगा कि अब तक परिग्रह मे संयम का अमृत सूख गया था और अन्त करण की केसर-सुरभित महाव्रतो की वाटिका को किसी ने निरान बना दिया था । दृष्टि पर अन्धकार की परत किसी ने जमा दी थी। साधना-आराधना का सुहावना उद्यान उजड गया था और प्रागण में कटीली झाडिया ही पनप आयी थी ।

को अच्छी-बुरी भावनाओं का असर तुम पर पड़ता है और अच्छी-बुरी भावनाओं के अनुसार राग-द्वेष की भी उत्पत्ति होती है। तब भला तुम्हे योगी कौन कहेगा ?

कहने का तात्पर्य यही है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से तुम निरपेक्ष बनो। पुद्गलनिरपेक्ष बने बिना भवसागर पार नहीं कर सकोगे; तुम्हारी मानसिक पवित्रता नही बनी रहेगी, चित्त की स्वस्थता टिकेगी नही और सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना मे तल्लीन नहीं रह सकोगे। तुम ससार तजकर साधु बने, मोह छोडकर मुनि बने और अंगना तजकर अणगार बने। तुमने क्या नही किया ? कई अपेक्षायें तुमने पहले ही त्याग दी हैं, फिर भी अब तुम्हें मानसिक भूमिका पर बहुत कुछ त्याग करना है। स्थूल त्याग से सूक्ष्म त्याग की ओर गति करना है। तुमने आज तक जो त्याग किया है, उसमे ही संतुष्ट न रहो और ना ही इसे अपनी कल्पना-सृष्टि मे कायम रखो। अभी मजिल बहुत दूर है। अत पुद्गलनियत्रण मे से तम्हे सर्वथा मुक्त होना है। यह न भूलो कि यह शरीर भी पौद्गलिक है। जहाँ इसके आधिपत्य से भी स्वतत्र बनना है, तो अन्य पौद्गलिक पदार्थों की बात ही कहाँ है ? जिन पौद्गलिक पदार्थों का साथ अनिवार्य है, उनकी संगति मे भी, उसका तुम पर नियत्रण नही होना चाहिए। पुद्गल पर तुम्हारा नियत्रण प्रस्थापित कर, उससे निरपेक्ष बने रहो, तो ही ज्ञानानद मे गोते लगा सकोगे।

चिन्मात्रदीपको, गच्छेत् निर्वातस्थानसंनिभैः।
निष्परिग्रहतास्थैर्यं, धर्मोपकरणैरपि ॥७॥१९९॥

अर्थ :- ज्ञान मात्र का दीपक, पवनरहित स्थान जैसे धर्म के उपकरणो द्वारा भी परिग्रह-परित्याग-स्वरुप स्थिरता धारण करता है।

विवेचन : दीपक !

दीये में घी भरा हुआ है और कपास की बत्ती है। दीया टिमटिमाता है, उसकी लौ स्थिर है, हवा का कोई झोका नही और प्रकाश में कोई अस्थिरता नही। वह स्थिर है और प्रकाशमान है।

विश्व के तत्त्वचिन्तको ने, दार्शनिको ने और महर्षियों ने ज्ञान को दीपक की उपमा दी है। स्थूल जगत में जिस तरह दीप-प्रकाश की

आवश्यकता है, ठीक उसी तरह आत्मा के सूक्ष्म जगत मे ज्ञान-दीप के प्रकाश को आवश्यकता होती है। लेकिन निद्रा म जोव ज्ञानप्रकाश पसद नही करता। वसे ही मोह निद्रा म जीव ज्ञान प्रकाश नही चाहता अज्ञानाधकार मे हो माह रुपी गहरी नोद आती है।

यदि दीपक स्थिर है, तो प्रकाश फला सकता है। बशर्ते कि वह घी-तेल पूरित होना चाहिये और वायु रहित स्थान पर रखा गया हो। ज्ञानदीपक के लिए भी ये शर्ते अनिवार्य हैं।

○ ज्ञान-दीपक का घी-तेल है-सुयोग्य भोजन।

⊙ ज्ञान-दीपक का निरापद स्थान है-धम के उपकरण।

ज्ञानोपासना निरन्तर चलती रहे और धमध्यान तथा धम चिन्तन निराबाध गति से होता रहे, इसके लिये तुम श्वेत और जीर्ण-शीर्ण वस्त्र धारण करते रहो, यह परिग्रह नही है। सतत स्वाध्याय का मधुर-गुजन होता रहे, इसके लिये तुम वस्त्र-पात्र ग्रहण करो, यह परिग्रह नही है। हा, वस्त्र-पात्र ग्रहण करने की इतनी शर्ते हैं

—नि स्पृह वृत्ति से ग्रहण करना,

—ज्ञान-दीपक को प्रज्वलित रखना।

भले हो दिगबर सप्रदाय की यह मान्यता हो कि, "तुम परिग्रही हो ज्ञान मात्र की परिणति वाले श्रमण-समुदाय का वस्त्र धारण नही करने चाहिये और ना ही अपने पास पात्र रखने चाहिए।" यह कहते हुए उनका तर्क है कि, "वस्त्र-पात्र का ग्रहण-धारण मूर्च्छा के विना नही हो सकता। मूर्च्छा परिग्रह है।"

सिर्फ उनकी मान्यता के कारण हम परिग्रही नही बन जाते या वे अपरिग्रही नही हो जाते। यदि वस्त्र-पात्र के धारण करने मात्र से ही मूर्च्छा का उद्गम होता हो तो भोजन ग्रहण करने मे मूर्च्छा क्यो नही? क्या भोजन राग-द्वेष का निमित्त नही? क्या कमडल मोरपख ग्रहण करने और सतत अपने पास रखने मे परिग्रह नही? अरे शरीर ही एक परिग्रह जो ठहरा! दिगबर मुनि भोजन करते हैं और कमडल तथा मोर-पख अपने पास रखते हैं। दात किटकिटाने वाली सर्दी म घास-फूस की शय्या पर गहरी नीद सोते हैं। इसे शरीर पर की मूर्च्छा नही तो और क्या कहेंगे? असयमी ससारी जीवो को

औषधि बताने की क्रिया अपरिग्रहता का लक्षण है ?

हे मुनिराज! यदि तुम शास्त्र-मर्यादा में रहकर चौदह प्रकार के धर्मोपकरण धारण करते हो, उनका नित्य-प्रति उपयोग करते हो, उनसे तुम्हारा ज्ञान-दीप अखंड और स्थिर रहता है, तो निःसन्देह तुम परिग्रही नहीं हो। नग्न रहने से सर्वथा अपरिग्रही नहीं बना जाता अथवा वस्त्र धारण करने से परिग्रही! राह में भटकते कुत्ते और सूअर नग्न ही होते है न? क्या उन्हे हम अपरिग्रही मुनि की संज्ञा देंगे? ठीक वैसे ही विजयादशमी के दिन घोडे को सजाया जाता है, सोने और चांदी के कीमती गहने पहनाये जाते हैं, तो क्या उस घोडे को हम परिग्रही कहेंगे? कुत्ता कोई मूर्च्छारहित नहीं है, ना ही घोडे को अपनी सजावट पर मूर्च्छा है!

यह लक्ष्य होना चाहिए कि कहीं ज्ञान-दीपक बुझ न जाए। ज्ञान-दीपक को निरन्तर प्रज्वलित-ज्योतिर्मय बनाये रखने के लिये तुम जो शास्त्रीय उत्सर्ग-अपवाद का मार्ग अपनाते हो, उसमे तुम शत-प्रतिशत निर्दोष हो, लेकिन तनिक भी आत्म-प्रवंचना न हो, इस बात की सावधानी बरतना। ऐसा न हो कि एक तरफ शास्त्र-अध्ययन करने हेतु वस्त्र-पात्रादि ग्रहण करते हो और दूसरी तरफ वस्त्र-पात्रादि ग्रहण व धारण करने में मूर्च्छा-आसक्ति गाढ बनती जाय। जैसे-जैसे ज्ञानोपासना बढती जाए, वैसे-वैसे पर-पदार्थ विषयक ममत्व क्षीण होता जाए, तो समझना चाहिए कि ज्ञानदीपक ने तुम्हारे जीवन-मार्ग को वास्तव मे ज्योतिर्मय कर दिया है।

सिर्फ ज्ञानोपासना! अन्य कोई प्रवृत्ति नही! मन को भटकने के लिये अन्य कोई स्थान नही....। बस, एक ज्ञानोपासना मे ही तल्लीनता! फिर भले ही काया पर-पदार्थों को ग्रहण करे और धारण करे। आत्मा पर इसका क्या असर?

> मूर्च्छाछन्नधिया सर्वं, जगदेव परिग्रहः।
> मूर्च्छया रहितानां तु जगदेवापरिग्रहः ॥८॥२००॥

अर्थ :- जिसकी बुद्धि मूर्च्छा से आच्छादित है, उसके लिये समस्त जगत परिग्रह स्वरुप है, जबकि मूर्च्छा-विहीन के लिये यह जगत अपरिग्रह स्वरुप है।

विवेचन परिग्रह अपरिग्रह की न जाने कैसी मार्मिक व्याख्या की है। कितनी स्पष्ट और निश्चित ! धरातल पर ऐसी कौन सी वस्तु है, जिसे हम परिग्रह अथवा अपरिग्रह की सज्ञा दे सकते हैं ? मूर्च्छा यह परिग्रह और अमूर्च्छा अपरिग्रह। सयम साधना मे सहायक पदार्थ अपरिग्रह और बाधक पदार्थ परिग्रह। पर पदार्थों का त्याग किया। धन-सपत्ति, बगले मोटर वगैरह को सदा के लिये तज कर सयम जीवन अगीकार किया, श्रमण बने। अरे, शरीर पर वस्त्र नहीं और भोजन के लिये पात्र ! और तुमने समझ लिया कि मैं अपरिग्रही बन गया।' ठीक है, क्षणार्ध के लिये तुम्हारी बात स्वीकार कर पूछना चाहता हूँ-'जिन पर-पदार्थों का तुमने त्याग किया, उनके लिये तुम्हारे हृदय मे राग द्वेष की भावना पैदा होती है या नही ? अरे, शरीर तो पर पदार्थ जो ठहरा ! जब वह रोगग्रस्त/बीमार होता है, तब उसके प्रति क्या ममत्व जागृत नही होता ? शरीर का तज तो नही दिया ? पर-भाव का त्याग तो नही किया ? तनिक गभीरता से सोचो विचार करो कि वाकई तुम अपरिग्रही बन गये ? भूलकर भी कभी स्थूल दृष्टि से विचार न करना, बल्कि सूक्ष्म दृष्टि से चिन्तन करना। तभी परिग्रह-अपरिग्रह की व्याख्या साफ-साफ समझ मे आएगी।

मुनिराज ! ओ निर्मोही निर्लेप मुनिराज ! परिग्रह को स्पर्श करने वाली वायु भी तुम्हे छू नही सकती परिग्रह की पर्वतमालाओं का बोझ ढोते श्रीमन्त/धनवान तुम्हारी प्रदक्षिणा कर छूमतर होने मे सदा तत्पर होते हैं तुम्हारे मन मे परिग्रह का आग्रह नही, ना ही भौतिक सासारिक पदार्थों की रच मात्र स्पृहा ! तुमने जिस परिग्रह का मन-वचन-काया से त्याग किया है, उसका मूल्याकन भी तुम्हारे मन पर प्रतिबिंबित नही। शरीर को ढँकने वाले वस्त्र भिक्षार्थ पात्र और स्वाध्याय हेतु सग्रहित पुस्तको पर, 'ये मेरे हैं,' ऐसा ममत्व भी नही। अतरग दृष्टि से तुम सयम के उपकरणो से भी निर्लेप हो।

हाँ, राह भटकते दीन-हीन बन भीख मांगकर जीवन बसर करते विविध व्यसनो से घिरे भिखारियो को कभी देखा है ? जिन के पास 'परिग्रह' कहा जाए, ऐसा कुछ भी नही होता। और यदि है तो भी

जीर्ण-शीर्ण गुदडी और दुर्गन्धित चोला । हाथ में एक-दो पैसे ! क्या इसे तुम 'परिग्रह' कह सकोगे और उसे परिग्रही ? या फिर अपरिग्रही महात्मा कहोगे या पहुँचे हुए साधु-संत ? नही, हर्गिज नही ।

क्यों ?

क्योकि उन्हे तो 'जगदेव परिग्रह' है । उनकी आकाक्षाओं का क्षेत्र होता है, निखिल विश्व । सारो दुनिया ही उनका परिग्रह है । चराचर सृष्टि में विद्यमान समस्त संपत्ति के प्रति उनमे गहरा ममत्व भरा पडा होता है ।

तुम्हारे पास क्या है और क्या नही, उस पर परिग्रह अपरिग्रह का निर्णय न करो । तुम क्या चाहते हो और क्या नही-उस पर परिग्रह-अपरिग्रह का निर्णय न करो । हाँ, तुम अपनी तपश्चर्या, दान और चारित्र-पालन से क्या चाहते हो ? यदि तुम स्वर्गलोक का इन्द्रासन या फिर मृत्युलोक का चक्रवर्ती-पद चाहते हो, देवागनाओं के साथ आमोद-प्रमोद अथवा मृत्युलोक की वारागनाओ का स्नेहालिगन चाहते हो तब तुम अपरिग्रही कैसे ?

सहस्त्रावधि लावण्यमयी नारी-समुदाय के मध्य आसनस्थ, वैभव के शिखर पर आरूढ़, मणि-मुक्ता खचित सिंहासन...रत्न जडित स्तभो से युक्त भव्य महल, बहुमूल्य वस्त्राभूषण.... आदि से घिरा हुआ होने के उपरान्त भी जिसका अन्त.करण 'नाहं पुद्गलभावानांकर्ता कारयिता ऽपि च' इस भाव से आकठ भरा हुआ है, जो त्याग और तपश्चर्या के लिये अधिर, आकुल-व्याकुल हैं और चार गति के सुखों से सर्वथा निर्लेप हैं, जिस को दृष्टि में कंचन, कथीर समान है, सोना-चादी-मिट्टी समान है और जिसे शिव, अचल, अरुज, अनंत, अक्षय, अव्याबाध मोक्ष के बिना अन्य किसी चोज को लालसा नही-क्या उसे भी तुम परिग्रही कहोगे ? जिसे किसी प्रकार की मूर्च्छा/ आसक्ति नही, वह परिग्रही नही है । ठीक वैसे ही जो अनत तृष्णा से आकुल-व्याकुल है, वह अपरिग्रही नही । अतः बुद्धि पर जमी मूर्च्छा की परतों को उखाडकर 'आपरेशन' करवाकर बुद्धि को मूर्च्छा-मुक्त करोगे, तभी पूर्णता का पथ प्रशस्त होगा । तुम्हारा अन्त.करण पूर्णानन्द से छलक उठेगा ।

२६ अनुभव

यह कोई दुनिया के खट्टे-मीठे अनुभवों की चर्चा-वार्ता नहीं है, ना ही यह राजनैतिक-सामाजिक अनुभवों का अभिनव अध्याय है। यहां तो प्रस्तुत है आत्मा के अगम-अगोचर अनुभव की बात 'आज-तक जो अनुभव हमे मिला नहीं है, उसे साकार रूप देने के लिए आवश्यक-मार्गदर्शन है और है प्रेरणा-प्रोत्साहन। जीवन मे एकाध बार भी यदि आत्मा के परमानन्द का अनुभव हो जाए तो काफी है। अरे, मोक्ष-सुख का सेम्पल भी अभागिये के भाग्य मे कहाँ से !

सन्ध्येव दिनरात्रिभ्यां केवलश्रुतयो पृथक् ।
बुधैरनुभवो दृष्ट. केवलार्कारुणोदय: ॥१॥२०१॥

अर्थ – जिस तरह दिन और रात्रि से संध्या अलग है, ठीक उसी तरह ज्ञानी पुरुषों को केवलज्ञान और श्रुतज्ञान से भिन्न केवलज्ञानस्वरूप सूर्य के अरुणोदय समान अनुभव की प्रतीति हुई है ।

विवेचन – यहाँ उस अनुभव की बात नही है, जिसे आमतौर से मनुष्य कहता है . "मेरा यह अनुभव है ! मैं अनुभव की बात कहता हूँ !" कहनेवाला मनुष्य सामान्यत: अपने जीवन में घटित घटना को 'अनुभव' की संज्ञा प्रदान कर कहता है । लेकिन ग्रंथकार ने आम मनुष्य नही समझ सके वैसे 'अनुभव' की बात कही है ।

एक समय की बात है । कोई एक सद्‌गृहस्थ मेरे पास आए । सात्त्विक प्रकृति और धार्मिक वृत्ति के थे । वंदन कर उन्होंने विनीत भाव से कहा : "गुरुदेव, ध्यानस्थ अवस्था में मुझे अद्‌भुत अनुभव होते है !"

"किस तरह के अनुभव ?"

"कभी-कभी मुझे अपने चारो ओर लाल-लाल रग फैले नजर आते हैं । कभी भगवान श्री पार्श्वनाथ की मनोहारी मूर्ति के दर्शन होते हैं, तो कभी-कभार मैं किसी अज्ञात अपरिचित प्रदेश मे अपने आप को भ्रमण करता महसूस करता हू ....!" इस तरह उन्होने ध्यान मे स्फुरित विविध विचार... आदि आत्मानुभव कह सुनाये ! लेकिन ग्रन्थकार को ऐसे अनुभव भी यहाँ अभिप्रेत नही है । ग्रन्थकार तो 'अनुभव-ज्ञान' स्पष्ट करना चाहते है । उसे समझाने के लिए और स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं :

"संध्या तुमने देखी है ? क्या उसे दिन कहोगे ? या फिर उसे रात्री कहोगे ? नही ! यह सर्वविदित है कि संध्या, दिन-रात से एकदम भिन्न है । ठीक उसी तरह अनुभव भी श्रुतज्ञान नही है, ना ही केवलज्ञान ! वह इन दोनो से बिल्कुल भिन्न है ! हाँ, वह केवलज्ञान के सन्निकट अवश्य है ! सूर्योदय के पूर्व अरुणोदय होता है न ? बस, हम अनुभव को, सिर्फ केवलज्ञान रुपी सूर्योदय के पूर्व का अरूणोदय

कह सकते हैं। अर्थात वहाँ मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम से उत्पन्न चमत्कार नही होता। बुद्धि मति की कल्पनासृष्टि नही होती, और शास्त्रज्ञान के अध्ययन चिंतन मनन से पैदा हुए रहस्यों का अवबोध नही होता। 'मेरी बुद्धि मे यह आता है अथवा अमुक शास्त्र मे यों कहा गया है' या मुझे तो अमुक शास्त्र का यह रहस्य समझ मे आता है,' आदि सारी बातें 'अनुभव' मे बिलकुल परे है। जबकि वास्तविकता यह है कि अनुभव तक मे कई गुना उच्च स्तर पर है। अनुभव शास्त्रों के ज्ञान तले दबा हुआ नहीं है और ना ही बुद्धि अथवा शास्त्र से समझ मे आये ऐसा है।

सावधान, किसी को अनुभव की बात तार्किक ढंग से समझाने का प्रयत्न न करना। हमेशा समझने और समझाने के लिए बुद्धि-मति, ज्ञान और तर्क की आवश्यकता रहती है जबकि अनुभव दूसरों को समझाने की बात नही है।

यथार्थवस्तुस्वरूपोपलब्धिपरभावारमणतदास्वादनैकत्वमनुभव ।'

भगवान् हरिभद्रसूरीश्वरजी ने अनुभव के वास्तविक स्वरूप की व्याख्या करते हुए कहा है

(।) यथार्थ वस्तु स्वरूप का ज्ञान
(।।) पर-भाव मे अरमणता,
(।।।) स्वरूपरमण मे तन्मयता।

सारे जगत के पदार्थ जिस स्वरूप मे हैं उसी स्वरूप म ज्ञान होता है ज्ञान मे राग-द्वेष का मिश्रण नही होता। आत्मा से भिन्न अन्य पदार्थों म रमणता नही होती। योगी को तो आत्म स्वरूप की ही रमणता होती है। उस का देह इस दुनिया की स्थूल भूमिका पर होता है और उसकी आत्मा दुनिया से परे सूक्ष्मातिसूक्ष्म भूमिका पर आरुढ होता है।

अनुभवी आत्मा की स्थिति का गम्भीर शब्दों मे किया गया यह सक्षिप्त लेकिन वास्तविक वर्णन है। हम स्वरूप मे रमणता इसलिए नही कर सकते क्योंकि परभाव की रमणता मे सिर से पाँव तक सराबोर हो गये हैं। और परभाव की रमणता यथार्थ वस्तु-स्वरूप के

अज्ञान की आभारी है। जिस गति से वस्तुस्वरुप-विषयक अज्ञान दूर होता जाएगा, उस गति से आत्म-रमणता आती रहेगी और परभाव मे भटकने की क्रिया क्रमशः कम होती जाएगी। फलत: 'अनुभव' तरफ की उर्ध्वगामी गति शुरु होगी। शाश्वत्....परम ज्योति मे विलीन होने की गहरी तत्परता प्रकट होगी और तब जीवन-विषयक जडता का उच्छेदन कर अनुभव के आनन्द को वरण करने का अप्रतिम साहस प्रकट होगा। ऐसी स्थिति में अज्ञान के निबिड अन्धकार तले दबी चेतना, ज्ञानज्योति की किरणों का प्रसाद प्राप्त कर परम तृप्ति का अनुभव करेगी।

> व्यापार: सर्वशास्त्राणां दिक्प्रदर्शनमेव हि।
> पारं तु प्रापयत्येकोऽनुभवो भववारिधे ॥२॥२०२॥

अर्थ :— वस्तुतः सर्व शास्त्रों का उद्यम दिशा-दर्शन कराने का ही है। लेकिन सिर्फ एक अनुभव ही संसार-समुद्र से पार लगाता है।

विवेचन :— न जाने कैसा कर्कश कोलाहल मचा है?

शास्त्रार्थ और शब्दार्थ के एकांतिक आग्रह ने हलाहल से भी भयंकर विष उगल दिया है...और इसके फूत्कार साक्षात् फणिधर के फूत्कारों को भी लज्जित कर रहे हैं....। कोई कहता है : "हम ४५ आगम मानते हैं!" कोई कहता है : "हम ३२ आगम ही मानते हैं!" जबकि कुछ का कहना है : "हम आगम ही नही मानते!"

कैसा घोर कोलाहल? और किसलिये? क्या उनके द्वारा मान्य शास्त्र उन्हें भव-पार लगाने वाले हैं? क्या शास्त्र उन्हें निर्वाण-पद के अधिकारी बनाने वाले है? यदि शास्त्रों के बल पर ही भव-सागर पार उतरना संभव होता तो आज तक हम यों भटकते नहीं! क्या भूतकाल में कभी हम शास्त्रों के ज्ञाता, निर्माता और पंडित नही बने होंगे? अरे, नौ 'पूर्व' का ज्ञान प्राप्त किया था, फिर भी उक्त पूर्वों का ज्ञान, 'शास्त्रज्ञान' हमे भवपार नही उतार सका! भला, क्यों? इस पर कभी गहरायी से सोचा है? चिंतन-मनन किया कभी कारण जानने का? तब शास्त्र को लेकर शोरगुल मचा, अशांति क्यो फैला रहे हो? शास्त्र का भार उठा कर भव-सागर में डूबने की चेष्टा क्यों

कर रहे हो ? शास्त्र तुम्हें अनत, अव्याबाध सुख कभी नही देगा।

मेरे इस कथन को शास्त्र के प्रति अरुचि अथवा उसकी पवित्रता का अपमान न समझो वल्कि उसकी मर्यादा का भान कराने के लिए मैं यह सब कह रहा हूँ। शास्त्र पर ही दार-मदार बाधे बैठे तुम्हे अपनी जडता को तिलाञ्जलि देने के लिए ही सिर्फ कह रहा हूँ!

शास्त्र ? इस का काय है मार्गदर्शन देना, दिशा-दर्शन कराना। यह तुम्हें सही और गलत दिशा का अहसास कराएगा! इससे अधिक वह कुछ नही करेगा।

शास्त्रो के उपदेश हमारी आत्मभूमि पर हुकार भरते भले ही धावा बोल दें लेकिन विषय-कषाय का तोपखाना क्षणार्ध मे ही आग उगलते हुए उन को धराशायी कर देता है। उनका नामोनिशान शेष नही रखता! निगोद मे मूच्छित पडे किसी चौदह पूर्वधर को पूछ कर देखो कि उन का सर्वोत्कृष्ट शास्त्रज्ञान उन्हें क्यो नही बचा सका ? विषय-कषाय के मिथ्याभिमान से छूटा तीर जब सीना भेद कर आर-पार हो जाता है तब शास्त्र का कवच तुच्छ सिद्ध होता है। अत यू कहें तो अतिशयोक्ति नही होगी की अब तक कुकर्मो के साथ सम्पन्न युद्ध मे केवल शास्त्र को ही एक मात्र आधार मान और उस पर विश्वास रख बैठे रहने से आजीवन पश्चात्ताप के आँसू बहाने की नौबत आयी है। तभी शास्त्रकार प्रस्तुत मे स्पष्ट शब्दो मे कहते हैं

"शास्त्र तो तुम्हें सिर्फ दिशाज्ञान ही देंगे!"
फिर तुम्हें भवसागर से पार कौन लगाएगा ?
निश्चित रहिए। 'अनुभव' तुम्हें भव-पार लगाएगा!

हाँ, 'अनुभव' तक पहुँचने का मार्ग शास्त्र बतायेंगे। यदि भूल कर कभी मन कल्पित मार्ग पर निकल पडे तो 'अनुभव' नामक मजिल तक पहुँच नही पाओगे ? ठीक वैसे ही किसी मानसिक 'भ्रम' को 'अनुभव' समझ अपने आपको कृतकृत्य समझोगे तो आत्मोन्नति से वचित रह जाओगे। अत हमेशा शास्त्र से ही दिशाज्ञान प्राप्त करना! फलत जैसे जसे तुम 'अनुभव' के उत्तुग शिखर पर आरोहण करते जाओगे वैसे वैसे तुम्हारी पर परिणति निवृत्त होती जाएगी और पर पुदगलो का आकर्षण नामशेष होता जाएगा। आत्म-रमणता की सुवास सवत्र फल

जाएगी। आत्म-परिणति की मीठी सौरभ वातावरण को सुरभित कर देगी। तभी यथार्थ वस्तु-स्वरुप के अवबोधपरक 'अनुभव'-शिखर तुम सर कर लोगे।

लेकिन 'अनुभव' शिखर के आरोहण का प्रशिक्षण लिये विना ही यदि भावना से प्रेरित होकर प्रयत्न किये तो निःसंदेह अगमनिगम की किसी पहाडी की गहरी खाई में पटक दिये जाओगे और तब लाख खोजने के बावजूद भी तुम्हारा अता-पता नही मिलेगा! अतः प्रशिक्षित होना अनिवार्य है। अध्ययन करना आवश्यक है। बाद मे 'अनुभव'-शिखर पर आरोहण करो. सफलता तुम्हारा पाँव छुएगी।

बोलो, इच्छा हैं?

अरे भाई, केवल तुम्हारी इच्छा मे ही नही चलेगा। इसके लिए आवश्यकता है दृढ सकल्प की, निर्धार-शक्ति की। साधना के मार्ग पर कठोर निर्णय के बिना नही चलता। विघ्नो को पांव तले रौंदने हेतु दाँत पीस निरतर आगे बढो! आभ्यंतर विघ्नो की शृंखलाओ को तोड दो..! उस की कमर ही तोड दो कि दुबारा अपनी टाँग अडा कर निर्धारित कार्यक्रम मे विघ्न नही करे। इतनी निर्भयता, दृढता और खुमारी के बिना अनुभव का शिखर सर करने की कल्पना करना निरी मूर्खता है।

अतीन्द्रिय पर ब्रह्म विशुद्धानुभव विना।
शास्त्रयुक्तिशतेनापि न गम्यं यद् बुधा जगु.॥३॥२०३॥

अर्थ पंडितो का कहना है कि इन्द्रियो से अगोचर परमात्म-स्वरुप विशुद्ध अनुभव के बिना समझना असंभव है, फिर भले ही उसे समझने के लिए तुम शास्त्र की सैंकडो युक्तियो का प्रयोग करो।

विवेचन: शुद्ध ब्रह्म!

विशुद्ध आत्मा!

इन्द्रियो की इतनी शक्ति नही कि वे शुद्ध ब्रह्म को समझ सके। किसी प्रकार के आवरण-रहित विशुद्ध आत्मा का अनुभव करने की क्षमता बेचारी इन्द्रियो मे कहाँ संभव है? अर्थात् कान शुद्ध ब्रह्म की ध्वनि सुन न सके, आँखें उसके दिव्य रुप को देख न सके, नाक उसकी

मधुर सुरभि सूघ न सकें, जिह्वा उसका स्वाद न ले सकें और चमडी उसका स्पश न कर सकें !

शास्त्रो की युक्ति-प्रयुक्तिया और तक भले ही आत्मा का अस्तित्व सिद्ध कर, बौद्धिक कुशाग्रता नले ही नास्तिक-हृदय मे आत्मा की सिद्धि प्रस्थापित कर दें, लेकिन यह निविवाद सत्य है कि आत्मा को जानना यह शास्त्र के बस की बात नही है। जानते हो, शास्त्र और बुद्धि का आधार लेकर राजा प्रदेशी की सेवा मे उपस्थित महानुभाव कसे निस्तेज निष्प्राण बन गये थे ? लाख प्रयत्न के बावजूद भी वे शास्त्र और बुद्धि के बल पर राजा प्रदेशी को आत्मा की वास्तविक पहचान नही करा सकें। आर फलस्वरुप इद्रिया के माध्यम स आत्मा का पहचान ने के हुठाग्रही राजा प्रदेशी ने कुपित हो न जाने कैसा जुल्म गुजारा था ? लेकिन जब केशी गणधर मे उसकी भेट हुई, इद्रियो का अगोचर इन्द्रिया से अगम्य आत्मा का दशन कराया कि राजा प्रदेशी, राजपि प्रदेशी मे परिवतित हो गया !

आत्मा को समझा विशुद्ध अनुभव से। आत्मा का अनुभव किया इद्रिया के उत्माद से मुक्त हा कर। आत्मा को पा लिया शास्त्र और तक से ऊपर उठकर !

जिस ने आत्मा को जानने-समझने और पाने का मन ही मन दृढ सकल्प किया है उस इन्द्रिया के कणभेदी कोलाहल को शात-प्रशात करना चाहिए। किया भी, इन्द्रिय को हस्तक्षेप नही करने देना चाहिए ! शब्द, रूप रस, गघ और स्पश की दुनिया से मन को दूर-सुदूर अनजाने प्रदेश म ले जाना चाहिए। तभी विशुद्ध अनुभव की भूमिका का सजन होता है।

साथ ही, आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी को जानने समझने की कामना नही होनी चाहिए। आत्मा के अलावा दूसरे को पहचान ने की जिज्ञासा नही होनी चाहिए, आत्म प्राप्ति सिवाय अन्य कोई प्राप्ति की तमन्ना नही चाहिए, जब तक आत्मानुभव का पावन क्षण प्रकट होना दुलभ है।

आत्मानुभव करने हेतु इस प्रकार का जीवन-परिवतन किये बिना

अन्य कोई मार्ग नही। इसके लिए गिरिकन्दरा अथवा आश्रम-मठों मे भटकने की आवश्यकता नही है। बल्कि आवश्यकता है अंतरग साधना की, शास्त्रार्थ और वितडावाद-वादविवाद से उपर उठने की और शंका-कुशका तथा तर्क-कुतर्क के भँवर से बहार निकलने की।

साथ ही, आत्मानुभव करने के लिए आत्मानुभवियो के सतत सपर्क और ससर्ग मे रहने की जरुरत है। आसपास की दुनिया ही बदल जानी चाहिए। सारी आशा-आकाक्षाएँ, कामनाएँ और अभिलापाओ को जमीन में गाड देना चाहिए! इस तरह किया गया आत्मानुभव निःसंदेह भवसागर से पार लगाता है!

हॉ, आत्मानुभव का ढोग करने से बात नही बनेगी! प्रतिदिन विपय-कपाय और प्रमाद मे लिप्त मानव, एक-आध घंटे के लिए एकात स्थान मे बैठ, विचारशून्य बन और 'सोऽहं' का जाप जप, यह मान ले कि उसे आत्मानुभव हो गया है, तो वह निरी आत्म-वंचना है। जबकि आत्मानुभवी का समग्र जीवन ही परिवर्तित हो जाता है, उस मे आमूलाग्र परिवर्तन आ जाता है। उसके लिए विपय, विप का प्याला और कपाय फणिधर की प्रतिकृति प्रतीत होते है। प्रमाद उस से कोसो दूर भागेगा। आहार-विहार में वह सामान्य मनुष्य से बहुत उचा उठा होता है। साथ ही, आत्मा की अनुभूति का उसे ऐसा तो असीम आनन्द होगा, जिस की तुलना मे दूसरे आनन्द तुच्छ लगेगे। परमात्म-स्वरुप की प्राप्ति के लिये आत्मानुभव के बिना अन्य सब प्रयत्न व्यर्थ हैं।

ज्ञायेरन् हेतुवादेन पदार्था यद्यतीन्द्रियाः।
कालेनैतावता प्राज्ञैः कृतः स्यात् तेषु निश्चयः॥४॥२०४॥

अर्थ : यदि युक्ति से इन्द्रियो को अगोचर पदार्थो का रहस्य ज्ञान हो सकता तो पडितो ने इतने समय मे अतीन्द्रिय पदार्थों के सम्बध मे निर्णय कर लिया होता।

विवेचनः विश्व मे दो प्रकार के तत्त्व विद्यमान हैं :

—इंद्रियो से अगोचर—इंद्रियातीत और
—इद्रिय गोचर,—इन्द्रिय गम्य ।

जिस तरह समस्त विश्व इन्द्रियातीत नहीं है, ठीक उसी तरह सकल विश्व इन्द्रियो द्वारा जाना नही जा सकता। विश्व सम्बंधित ऐसी कई बातें हैं, जिनका साक्षात्कार हमारी अथवा अन्य किसी की भी इन्द्रियो के द्वारा नही हो सकता। ऐसे ही तत्त्व और पदार्थों का 'अतीन्द्रिय' कहा गया है।

ऐसे अतीन्द्रिय पदार्थों के वास्तविक स्वरूप का निर्णय मानव किस तरह कर सकता है? भले ही वह विद्वान् हो या अत्यंत बुद्धिमान! विद्वत्ता अथवा बुद्धि, अतीन्द्रिय पदार्थों का दर्शन नही करा सकती। तब क्या यह माना जाएँ कि आजपर्यंत इस धरती पर विद्वानो और बुद्धिशालियो का जन्म ही नही हुआ? क्या वे एकाध अतीन्द्रिय पदार्थ का निर्णय सर्व-सम्मति से नही कर सके?

आज के युग मे किसी भी बात अथवा घटना को तर्क या बुद्धि के माध्यम से समझने का आग्रह बढता जा रहा है। बुद्धि और तर्क से समझा जाए और इन्द्रियो से जिस का अनुभव किया जा सके उसे ही स्वीकार करने की वृत्ति प्रबल होती जा रही है। ऐसे समय पूज्य उपाध्यायश्री महाराज का यह कथन प्रकाशित करना आवश्यक है।

बुद्धि से समझ मे न आ सकें ऐसा कोई तत्त्व क्या इस अनंत विश्व मे है ही नही? क्या इस धरती पर ऐसी कोई समस्या विद्यमान नही, जो बुद्धि से सुलझ न सकी हो? कोई प्रश्न नही है? जबकि सच्चाई यह है कि आधुनिक युग के वैज्ञानिकों के समक्ष ऐसी कई समस्याएँ हैं, जिसका हल/निराकरण वे बुद्धि अथवा तर्क के बल पर करने मे असमर्थ हैं।

संभवत तुम यह कहोगे "जैसे बुद्धि का विकास होता जाएगा, समस्याओं का निराकरण भी होता रहेगा।"

बुद्धि अपने आप म कभी परिपूर्ण नही होती। वह अपूर्ण ही होती है। अत पूर्ण चैतन्य के साक्षात्कार के बिना अथवा उस पर श्रद्धा प्रस्थापित किये बिना, किसी समस्या का हल असंभव है।

आकाश मे उस पार के संशोधन-प्रवर्तन म रत विज्ञान, पृथ्वी पर रह मानव प्राणी की समस्याएँ हल करने में असमर्थ सिद्ध हुआ है। वह अनाज, आवास और रोटी-रोजी का प्रश्न हल नही कर सका है।

और मानसिक अशाति दूर नही कर सका है। फिर भी विज्ञान की परिपूर्णता का गीत गाता अर्धदग्ध मानव उसकी सर्वोपरिता पर अंध-श्रद्धा रख, मुस्ताक है। बुद्धि का दुराग्रह जब मनुष्य को अतीन्द्रिय पदार्थों के अस्तित्व को ही स्वीकार नही करने देता तब उसके साक्षात्कार की बात ही कहाँ रही ?

आत्मा-परमात्मा इंन्द्रियातीत तत्त्व हैं। हालाँकि तर्क एवं बुद्धि से उस का अस्तित्व सिद्ध है, फिर भी वह इन्द्रियो से प्रत्यक्ष में अनुभव न किया जाए ऐसा तत्त्व है। इस का अनुभव करने के लिए इद्रियातीत शक्ति और सामर्थ्य होना आवश्यक है। उन तत्त्वो का साक्षात्कार नि सदेह परम शाति प्रदान करने वाला एकमेव उपाय है। वह मानव की समस्त समस्याओ का रामबाण समाधान/ निराकरण है, जो अन्य किसी साधन-सामग्री से अशक्य है। इस का साक्षात्कार होते ही मानव अपने आप को 'दु खी, पीडीत और अशान्त' नही समझता। कष्ट, अशाति और पीडा उसे स्पर्श तक नहीं कर सकती।

अत· अती द्रिय पदार्थों का निर्णय करने हेतु बुद्धि के जाल में फंस मानव–जीवन की अमूल्य पलो को व्यर्थ गँवाने के बजाय अनुभव के राजमार्ग पर प्रयाण कर और आत्मानुभूति कर दु ख अशांति के गहराये बादलों को छिन्न-भिन्न करना यही श्रेष्ठ सार है और परमार्थ है। 'अतीन्द्रिय पदार्थों का निर्णय करने मे आज तक दिग्गज पंडित और बुद्धिमान सफल नही हुए है !' कहकर ग्रथकार ने हमे अपना मार्ग परिवर्तित करने की प्रेरणा दी है । साथ ही सुयोग्य मार्गदर्शन किया है। और हमे आत्मानुभव के प्रशस्त–मार्ग पर निरंतर गतिशील होने के लिए प्रोत्साहित किया है। शास्त्र और विद्वान् तो मात्र दीप-स्तम्भ हैं ! अत· सिर्फ उन से जुडे रहने से कार्य सिद्ध नही होता। साथ उन के मार्गदर्शन मे हमे अपना मार्ग खोजना है।

केषां न कल्पनादर्वी शास्त्रक्षीरान्नगाहिनी !
विरलास्तद्रसास्वादविदोऽनुभवजिह्वया ॥५॥२०५॥

अर्थ . किस की कल्पना रुपी कलछी शास्त्र रुपी खीर मे प्रवेश नही कर सकती ? लेकिन अनुभव रुपी जीभ से शास्त्रास्वाद को जानने वाले विरले ही होते हैं।

विवेचन मान ता कि गृह-कार्य मे सदैव सोयी भारतीय नारी को अनुभव-ज्ञान का विज्ञान न समझाते हो, इस तरह पूज्य उपाध्यायजी महाराज रसोईघर के उपकरणो को माध्यम बनाकर समझाने बठ जाते हैं।

चुल्हे पर उफनती खीर को देखो। उस मे कलछी डाल कर तुम खीर को अच्छी तरह से हिला सकते हो। उसे जलने नही देते लेकिन कलछी से खीर हिलाने मात्र मे तुम उस का स्वाद ले सकते हो ? नही, यह असभव है।

खीर का स्वाद लेने के लिए तो उसे जीभ पर रखना पडता है। फलत जीभ और खीर का सयोग होता है और बडे चाव से चटकारे लेते हैं, तब उसकी रसानुभूति होती ह।

—शास्त्र खीर का भाजन है

—कल्पना (तार्किकता) कलछी है,

—और अनुभव जीभ है।

उपाध्यायजी महाराज फरमाते हैं 'तार्किक बुद्धि मे शास्त्रो को उलटते-पुलटते रहोगे, उससे कोई शास्त्रज्ञान का रसास्वाद अनुभव नही कर सकोगे। इतना ही नही, बल्कि शास्त्रो को तार्किकता के पडले मे तौलन मे ही जीवन पूण हो गया तो अतिम समय खेद होगा कि 'सचमुच मैं दुर्भागी अभागा हूँ कि कडी महनत कर खीर पकायी, लेकिन उसका स्वाद लूटने का मौका ही न मिला।"

खीर इसलिये पकायी जाती है कि उस का यथेष्ट उपभोग ले सकें। जी भर कर रसास्वादन कर सकें। कलछी तो केवल साधन है खीर पकाने का। एक साधन के रुप मे वह अवश्य महत्वपूर्ण है। उक्त साधन स जब खीर तैयार हो जाएँ, हमारा पूरा लक्ष्य खीर की ओर हो, ना कि कलछी की आर।

यहाँ तार्किकता की मर्यादा स्पष्ट कर दी गयी है। शास्त्रो का अर्थनिर्णय हा गया कि भाजन तयार हो गया। तत्पश्चात् कलछी को एक ओर रख दना चाहिए। तार्किकता के लिए कोई स्थान नही। फिर ता अर्थनिर्णय का रसास्वादन करने हेतु उसे अनुभव जीभ पर रख दो, और चटकारे लेते हुए उस का यथेष्ट रसास्वादन करो।

ग्रंथकार ने यहाँ शास्त्रज्ञान एवं 'अनुभव' का पारस्परिक संबन्ध बताया है। खीर के बिना मनुष्य उसके रसास्वादन की मौज नहीं लूट सकता। जीभ कितनी भी अच्छी हो, लेकिन यदि खीर ही न हो तो ? ठीक उसी तरह शास्त्रज्ञान के अभाव में अनुभव की जीभ भला क्या कर सकती है ? अतः शास्त्रज्ञान की खीर पकाना नितांत आवश्यक है। उसकी उपेक्षा करने से काम नहीं चलेगा।

खीर की तरह कलछी का भी अपना महत्व है। खीर की हंडिया को चुल्हे पर रख देने से ही खीर तैयार नहीं होती। बल्कि वह जल जाती है और बेस्वाद भी हो जाती है। अत. उसे कलछी से निरंतर हिलाते रहना चाहिए। ठीक उसी तरह, बिना तार्किकता के शास्त्र-ज्ञान की खीर पका नहीं सकते। जब तक शास्त्रार्थ के ज्ञान की खीर नहीं पकती तब तक तार्किकता की कलछी से उसे लगातार हिलाते रहना चाहिए और खीर के पकते ही, कलछी को एक ओर रख दो। तब जीभ को तैयार रखो...रसास्वादन और रसानुभूति के लिए !

घरेलु भाषा के माध्यम से उपाध्यायजी ने 'अनुभव की कैसी स्पष्ट परिभाषा हमारे सामने रख दी है।

उन्हो ने बुद्धिशाली पडितों के लिए उनकी बुद्धि की मर्यादा स्पष्ट कर दी है और बुद्धि तथा तर्क की अवहेलना करने वालों के लिए उसकी अनिवार्यता समझा दी है। ठीक वैसे ही सिर्फ अनुभव के गीत गाने वालो को शास्त्र और उसके रहस्य प्राप्त करने की बात गले उतार दी। जब कि आजीवन शास्त्रों के बोझ को सर पर ढोकर, विद्वत्ता और कुशाग्र बुद्धि मे ही कृतकृत्यता समझने वालो को अनुभव की सही दिशा इंगित कर दी। इस तरह सब का सुन्दर और मोहक समन्वय साध कर, न जाने कैसा अप्रतिम अव्वल दर्जे का आत्मविज्ञान प्रगट किया है।

चलिए, हम भी जीवन के पाकगृह में चलकर चूल्हे पर शास्त्रज्ञान की खीर पकाये....तार्किक बुद्धि की कलछी से खीर पका कर अनुभव-जिह्वा द्वारा उसका रसास्वादन कर, जीवन को सार्थक और सुन्दर बनाये।

पश्यतु ब्रह्म निर्द्वन्द्व निर्द्वन्द्वानुभव विना ।
कथं लिपिमयी दृष्टिर्वाङ्मयी वा मनोमयी ॥६॥२०६॥

अर्थ क्लेशरहित शुद्ध अनुभव के बिना पुस्तकरूप, वाणीरूप, अथ क मानरूप दृष्टि, राग-द्वेषादि से सर्वथा रहित विशुद्ध आत्म-स्वरूप को कैसे देख सकते हैं ?

विवेचन चर्म-दृष्टि, शास्त्र-दृष्टि और अनुभव-दृष्टि !

जिस पदार्थ का दर्शन अनुभव-दृष्टि से ही संभव है, उस पदार्थ को चर्म-दृष्टि अथवा शास्त्र-दृष्टि से देखने का प्रयत्न करना शत-प्रतिशत व्यर्थ है । कर्म-कलंक से मुक्त विशुद्ध ब्रह्म का दर्शन चर्म दृष्टि से सर्वथा असंभव है और शास्त्र दृष्टि से भी । उसके लिए आवश्यक है अनुभव-दृष्टि !

लिपिमयी दृष्टि, वाङ्मयी दृष्टि, मनोमयी दृष्टि ! इन तीनों दृष्टि का समावेश शास्त्र दृष्टि में होता है । साथ ही, ये तीनों दृष्टि विशुद्ध आत्म स्वरूप को देखने में सर्वदा असमर्थ हैं ।

'लिपि' संज्ञाक्षर रूप होती है । भले वह लिपि हिंदी हो, संस्कृत हो, गुजराती हो अथवा अंग्रेजी हो । केवल अक्षर-दृष्टि से परम ब्रह्म का दर्शन नहीं होता है । वाङमयी दृष्टि व्यंजनाक्षर स्वरूप है,-अर्थात् अक्षरों का उच्चारण करने मात्र से परम ब्रह्म का दर्शन नहीं होता है। जबकि मनोमयी दृष्टि अर्थ के परिज्ञान रूप है,-मतलब, कितना ही उच्च श्रेणी का अर्थज्ञान हमें प्राप्त हो जाए, लेकिन उस के माध्यम से क्लेशरहित विशुद्ध आत्म स्वरूप का प्रत्यक्ष में दर्शन असंभव ही है।

यदि कोई यह कहता है "पुस्तक पठन से और ग्रन्थाध्ययन करने से परम ब्रह्म के दर्शन होते हैं ।" तो यह निरा भ्रम है । कोई कहता है कि 'श्लोक शब्द अथवा अक्षरों का उच्चारण करने से आत्मा का दर्शन होता है', तो यह भी यथार्थ नहीं । कोई कहता हो कि 'शास्त्रों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अर्थ को समझने से आत्मा का साक्षात्कार होता है', तो यह भी सरासर मिथ्या है।

आत्मा का कर्मों से मुक्त विशुद्ध आत्मा के दर्शन हेतु आवश्यक है केवलज्ञान की दृष्टि । अनुभव की दृष्टि । जब तक अपनी दृष्टि

कर्मो के रोग से प्रभावित है तब तक कम-मुक्त आत्मा के दर्शन नही होगे। लाल रंग की ऐनक लगाने से सिवाय लाल ही लाल रग के, और कुछ दिखायी नही देगा। वैसे ही कर्मो के प्रभाव तले रही दृष्टि से सब कर्म-युक्त ही दिखायी देगा, कर्म-रहित कुछ नही।

राग-युक्त और द्वेष-प्रचुर दृष्टि क्या वीतराग को देख सकेगी ? वीतराग के शरीर को भले देख ले, लेकिन वीतराग की आत्मा को देख न पाएगी। अपनी वीतराग-आत्मा का साक्षात्कार करने के लिए तो दृष्टि राग-द्वेषरहित ही होनी चाहिए।

कहने का तात्पर्य सिर्फ इतना ही है की अपनी दृष्टि को निर्मल, विमल करो। दृष्टि निर्मल करने का अर्थ है मानसिक विचारों को विमल, विशुद्ध करना। हर पल और हर घडी राग-द्वेष के द्वद मे उलझे विचार आत्मचितन नही कर सकते। जब तक वैचारिक प्रवाह राग-द्वेष की गिरि-कदराओ से अबाध गति से प्रवाहित है तब तक कोलाहल होना स्वाभाविक है! आतरिक राग-द्वेष से मुक्ति पाने हेतु पाँच इन्द्रियों पर सयम, चार कषायो पर अकुश, पॉच आस्रवो से विराम और तीन दंड से विरति-कुल सत्तरह प्रकार के सयम का पालन करना ही पडेगा। केवल बाह्य संयम नही, अपितु आंतरिक सायम! अपनी मन:स्थिति का ऐसा सर्जन करे कि विचार विषय-कषाय, आस्रव और दड की तरफ मुड़े ही नही।

विश्व मे कदम-कदम पर उपस्थित समस्याएँ और घटनाएँ, जो अनु-कूल-प्रतिकूल होती है, उसके प्रति हमारा मन-राग-द्वेष से भर न जाएँ, बल्कि तटस्थता धारण करे, तभी आत्म-स्वरुप की सन्निकटता संभव है। वर्ना निरतर क्रोधादि कपाय मे अधे बने, शब्दादि विपय के प्रति आकर्षित और हिसादि आस्रवो मे लीन हम, विशुद्ध आत्मस्वरूप के दर्शन की बात करने भी क्या योग्य है ? वास्तव मे चर्मदृष्टि मे उलझे हुए अपन 'आत्म दर्शन' पर धुआँधार भाषण सुनते रहे फिर भी हम पर उसका कोई प्रभाव नही पडता है।

न सुषुप्तिरमोहत्वान्नापि च स्वापजागरौ।
कल्पनाशिल्पविश्रान्तेस्तुर्यैवानुभवो दशा ॥७॥२०७॥

अर्थ · मोहरहित होने से गाढ निद्रा रुपी सुषुप्ति-दशा नही है, ठीक वैसे

ही स्वप्न और जागृत-दशा भी नही है । वह कल्पना रूपी कला-
कौशल्य क प्रभाव के कारण, अनुभव रूपी चतुर्थ अवस्था है ।

विवेचन अनुभवदशा !!!

क्या वह सुषुप्ति दशा है ? क्या वह स्वप्न दशा है ? क्या वह जागत-दशा ह ? ईन तीन दशाओ मे स क्या किसी मे भी अनुभव-दशा का समावेश हो ऐसा नही है ? क्यो नही ? आइए, इस मसले पर विचार कर ।

(i) सुषुप्ति दशा निर्विकल्प ह, अर्थात सुषुप्तावस्था में मानसिक कोई विकार अथवा विचार नही होता । वह इन सब से निर्लिप्त होती है । लेकिन इस अवस्था में भी आत्मा मोह के बन्धनों से मुक्त नही होती । अनुभवदशा तो मोह के प्रभाव से सर्वथा मुक्त ही होती ह । फलत अनुभव का समावेश सुषुप्ति मे नही हो सकता ।

(ii) स्वप्न के साथ अनुभव की तुलना कर सकते है ? स्वप्न भले कितना ही भव्य, सुन्दर, मनमोहक हो फिर भी सिवाय कल्पना के उस म वास्तविकता का अश भी नही होता । जबकि अनुभवदशा में कल्पना का अश भी नही होता ! अत स्वप्नावस्था मे भी अनुभव का समावेश असभव है, ना ही स्वप्नदशा को अनुभवदशा कह सकते ।

(iii) जाग्रतावस्था भी कल्पना शिल्प का ही सर्जन ह । उसे अनुभव दशा नहीं कह सकते । अनुभवदशा इन तीनो अवस्थाओ मे भिन्न चौथी दशा ही है ।

विश्व म एक वर्ग ऐसा भी है, जो 'सुषुप्ति' को आत्मानुभव के रूप मे समझता है । उस का कहना है "शून्य हो जाओ, सभी इच्छा, आकाक्षा और अभिलाषाओ से मुक्त बन जाओ और ऐसी अवस्था मे जितनी अवधि तक रह सको तब तक रहो ! उस दौरान तुम्हें आत्मानुभव होगा !" सुषुप्तावस्था गाढ निद्रा मे कोई विचार नही होता, परतु इस अवस्था मे तुम्हारा मन मोहशून्य भी नहीं होता । अल्पावधि के लिए मोह-मायादि के विकल्पों से मुक्त हो जाने मात्र से मोहावस्था दूर नहीं हो जाती । घट, दो घंटे के लिए शून्यता के समुद्र में गोता लगा देने से, भीतर मे घर कर गयी मोहावस्था धुल नही जाती । बल्कि शून्य मे

मे वास्तविकता मे पदार्पण करते ही पुनः नारी, धन-संपत्ति, भोजन, परिवारादि के प्रति मोहजन्य वृत्तियाँ दुगुने वेग से उमड आती है। लेकिन अनुभवदशा मे ऐसी स्थिति कभी नही बनती। अनुभवदशा मे तो दिन–रात...निर्जन जगल या नगर-परिसर मे हर कही सदा-सर्वदा एक ही अवस्था...! मोहशून्य अवस्था! वहाँ होता है केवल वास्तविक आत्मदर्शन का अपूर्व आनन्द और एक-सी आत्मानुभूति!

शून्यावस्था मे आत्म-साक्षात्कार की डिंगे हाँकनेवाले जब शून्यता के समुद्र में गोता लगा कर बाहर निकलते है, तब उन का मन संसार के शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श का भोगोपभोग करने के लिए, आनन्द लूटने के लिए कितने आतुर, अधीर एव आकूल-व्याकूल होते है–इस का बीभत्स दृश्य तुम्हे 'आधुनिक भगवानो' के आश्रमो मे दृष्टि-गोचर होगा। तनिक वहाँ जाकर देखो? भोग–विलास और काम–वासना–प्रचुर उस जघन्य विश्व मे 'आत्मानुभूति' की खोज मे निकल पडे उन बुद्धिशाली, दिग्गज पडितो को धन्यवाद दें या उनका धिक्कार करे ?

कभी-कभार उक्त प्राध्यापक (भगवान?) महोदय प्राकृतिक..नैसर्गिक कल्पनासृष्टि का सृजन, अपनी अनूठी प्रभावशाली साहित्यिक भाषा में करते है और उक्त कल्पना के माध्यम से आत्मदर्शन....आत्मानुभूति कराने का आडम्बर रचाते है! क्या विचार शून्यता = आत्मानुभूति? क्या नैसिर्गिक मानसिक कल्पनाचित्र मतलब आत्मानुभूति? तब तो विचारशून्य एकेन्द्रिय जीवो को आत्म-साक्षात्कार हुआ समझना चाहिए और सदा-सर्वदा निसर्ग की गोद मे किल्लोल/केलि करते पशु–पक्षियो को आत्मानुभूति के फिरस्ते समझने चाहिए!

तात्पर्य यह है कि आत्मानुभव सुषुप्तावस्था, स्वप्नावस्था और जागृतावस्था नही है, बल्कि इस से बिलकुल भिन्न कोई चौथी दशा है। जिस की प्राप्ति हेतु हमे सही दिशा मे पुरूषार्थ करना चाहिए।

अधिगत्याखिलं शब्द-ब्रह्म शास्त्रदृशा मुनिः।
स्वसंवेद्यं परं ब्रह्मानुभवेनाधिगच्छति ॥८॥२०८॥

अर्थ मुनि शास्त्र-दृष्टि से समस्त शब्दब्रह्म को अवगत कर, स्वानुभव से स्वयं प्रकाश ऐसे परब्रह्म...परमात्मा को जानता है।

विवेचन "यदि अनुभव-दृष्टि से ही विशुद्ध आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार संभव है, तब फिर शास्त्रों का क्या प्रयोजन? शास्त्राध्ययन, चिंतन-मनन किसी काम का नहीं न?"

इस प्रश्न का यहाँ निराकरण किया गया है। शास्त्र दृष्टि से समस्त शब्द-ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करना है, और उस ज्ञान से परमात्म-स्वरूप का रहस्य समझना है? बिना शास्त्र दृष्टि के शब्द-ब्रह्म का ज्ञान असंभव है और अनुभव-दृष्टि विकसित नहीं होती।

शास्त्रों का अध्ययन और चिंतन मनन अनुभव-दृष्टि के लिए आवश्यक है। हाँ, शास्त्राध्ययन का ध्येय 'अनुभव' होना चाहिए। शास्त्रों की जाल में अटकने से कोई लाभ नहीं। यश-कीर्ति की पताका सर्वत्र लहराने के लिए शास्त्राध्ययन कर विद्वत्ता अर्जित करने वाले जीव अनुभवदृष्टि से वंचित रह जाते हैं।

शास्त्रों का ज्ञान इस दृष्टि से प्राप्त करना चाहिए कि 'शास्त्र' ही हमारी 'दृष्टि' बन जाएँ। 'चर्मदृष्टि' पर 'शास्त्रदृष्टि' की ऐनक ऐसी तो व्यवस्थित बैठ जानी चाहिए की जो कुछ देखें, सुनें-समझें और चिंतन-मनन करें उसका एकमेव आधार शास्त्र ही हो।

लगातार चार-चार माह के उपवास करने वाले मुनियों ने कुरगडु मुनि के पात्र में थूँक दिया, तब कुरगडु मुनि ने उसे 'शास्त्रदृष्टि' से देखा था! तपस्वियों के तिरस्कार-युक्त वाणी-शरों को शास्त्रदृष्टि से शांत रह झेले थे। घृणायुक्त नयन बाणों का समता-भाव से सामना किया था!

(i) 'चर्मदृष्टि' ने जिसे 'थूँक' बताया 'शास्त्र-दृष्टि' ने उसे 'घी' समझा! 'यह तो रूखे-सूखे भोजन में मुनिश्री ने कृपा कर 'घी' डाल दिया है! तपस्वियों के मुख का अमृत!'

(ii) चर्मदृष्टि में जो वचन असह्य पीड़ा के कारण थे, शास्त्रदृष्टि ने उन्हें 'पवित्र प्रेरणा का प्रवाह' माना! 'संवत्सरी के पवित्र दिन भी मैं पेट भरने वाला हूँ मुझे इन तपस्वियों ने अनाहारी पद की प्रेरणा दी है!'

(iii) मुनियों के दुर्व्यवहार और अपमानास्पद प्रवृत्ति का चर्मदृष्टि

जहाँ 'क्रोधी-मिथ्याभिमानी' समझती थी, वहाँ शास्त्र दृष्टि उन्हें मोक्ष-मार्ग के अनन्य यात्रिक निर्देशित कर रही थी ! मोक्षमार्ग के पथ-प्रदर्शक मान रही थी !

शास्त्रदृष्टि के बल पर कुरगडु मुनि ने ज्यो ही अनुभव का अमृत-लाभ प्राप्त किया, कि शिघ्र अनुभव-दृष्टि से उन्हेंने विशुद्ध परम ब्रह्म का दर्शन किया ! ऐसा अनुपम कार्य करती है शास्त्रदृष्टि !

एक पाँव पर खड़े, दोनो हाथ आकाश की ओर उठाये तथा सूर्य की ओर निर्निमेष दृष्टि से स्थिर देखते प्रसन्नचंद्र राजर्षि के कान पर जब राज-मार्ग से गुजरते सैनिको के ये शब्द पडे : "देखो तो, विधि की कैसी घोर विडम्बना ? बाल राजकुमार को छोड, यहाँ जगल मे प्रसन्न-चद्र राजर्षि कठोर तपस्या मे लीन हैं और वहाँ राजकुमार के काका उसका राज्य हडपने के फिराक मे है !"

बस, इतनी सी बात ! लेकिन प्रसन्नचंद्र राजर्षि ने उसे शास्त्रदृष्टि से नही देखा और ना ही सुना ! तत्काल उन्होने अपनी मनोभूमि पर शत्रु के साथ संघर्ष छेड दिया ! युद्धोन्माद से रौद्र रूप धारण कर दिया। घोर हिंसा का ताडव मच गया....और सातवी नर्क की ओर ले जाने वाले कर्म-बधन का जाल गूंथने में प्रवृत्त बन गये ! उसी समय समव-सरण में रहे भगवान महावीर प्रसन्नचद्र राजर्षि की उक्त चर्मदृष्टि की अपरम्पार लीला शात भाव से देखते रहे ! उसी समवसरण मे उपस्थित सम्राट श्रेणिक जब राजर्षि की घोर तपस्या की भूरी-भूरी प्रशसा करने लगे तब भगवान ने केवल इतना ही कहाँ : "हे श्रेणिक ! यदि इसी क्षण राजर्षि का अत हो जाएँ तो वह सातवी नरक मे जाएगा !"

राजर्षि मुनिवेश मे थे ! ध्यानस्थ मुद्रा मे थे। कठोर तपश्चर्या के गजराज पर आरूढ थे... ! लेकिन थे शास्त्र दृष्टि से रहित ! फल-स्वरूप उनकी श्रमण-शक्ति अधोगमन का निमित्त बन गयी ! लेकिन जैसे

ही उन्हें 'शास्त्र दृष्टि' प्राप्त हुई कि ध्यान मे परिवतन आया ! शत्रु को मारने हेतु मुकुट लेने मस्तक की ओर दोनो हाथ गये और अपने मुंडित मस्तक का आभास होने ही, अविलम्ब दृष्टि–परिवतन हुआ। शास्त्र-दृष्टि ने उन्ह अधोगति के नरक–कुड मे गिरते हुए थाम लिया । यकायक पूरे वेग स और क्षणाध मे ही उन्हे 'केवल ज्ञान' की रमणीय भूमि पर ला रखा !-वे केवलज्ञान के अधिकारी बन गये ।

अत शास्त्रदृष्टि से शास्त्राध्ययन और चिंतन-मनन कर, उस के द्वारा विश्वदशन करने से ही परब्रह्म परमात्मावस्था को प्राप्त कर सकेंगे ।

२७. योग

यदि तुमने कभी किसी मुनि, योगी, पहुंचे हुए सन्यासी अथवा विद्वान् अध्यापक के योगविषयक प्रवचन सुने होंगे, तो प्रस्तुत अष्टक निःसन्देह तुम्हारा वास्तविक मार्गदर्शन करेगा। आधुनिक युग में योग के नाम पर कई प्रकार की भ्रामक बातें देश-विदेश में प्रचलित-प्रसारित हैं। योग-संबंधित विविध प्रयोगों को परिलक्षित कर चित्र उतर रहे हैं। कामभोगी पाखंडी, योगी का स्वांग रच, योग-क्रियायें शिखा रहे हैं !

इसे अवश्य पढो, एकाग्र-चित्त से इस का चिन्तन-मनन करो। प्रस्तुत प्रकरण के आठ श्लोक, शताब्दियों पूर्व एक निष्काम महर्षि की लेखनी से प्रसृत हैं। योग-विषयक तुम्हारा यथार्थ पथ-प्रदर्शन करते हुए अनन्य मार्ग-दर्शक सिद्ध होंगे।

मोक्षेण योजनाद योग सर्वोऽप्याचार इष्यते ।
विशिष्य स्थानवर्णार्थालम्बनैकाग्यगोचर ॥१॥२०६॥

अथ – मोक्ष क साथ आत्मा का जाड देन स समस्त आचार याग कहलाता ह विशेष रुप से स्थान (आसनादि) वण (अक्षर) अथज्ञान, आलबन और एकाग्रता विषयक है ।

विवेचन – भोग और योग ।

भोग पर से दृष्टि हटे, तो योग पर दृष्टि जमे । जब तक भोग के भूत-पलित जीव के पीछे हाथ धोकर पडे हैं उस पर अपना जबरदस्त वचस्व जमाये बैठे हैं, तब तक योग–माग दृष्टिगत होगा ही नही । सामान्यत विषयभोगी योगमाग को दु खपूण महसूस करता है ।

अलबत्त, वषयिक सुखो से सवथा विरक्त बना, शास्त्रदृष्टियुक्त साधक, उसमे से भी ऐसा माग खोज निकालता है कि जिस पर विचरण करते हुए सरलता से परम सुख प्राप्त कर सके । माग मे आने वाली मुश्किलियाँ और कठिनाईया व भय उसके मन तुच्छ होते हैं । उसके मन मे निरन्तर उमड रहा सत्वभाव विघ्नो को कुचल कर प्रगति के पथ पर अग्रसर करता है ।

मोक्ष और ससार को जोडने वाला माग है– योगमार्ग । 'मोक्षेण योजनाद योग' मोक्ष के साथ आत्मा का जो सम्बन्ध कराता है, उसे योग कहते हैं । जिस माग का अवलबन कर आत्मा मोक्ष–मँजिल पर पहुँच जाए वह योग–माग कहलाता है ।

'योगविंशिका' ग्रन्थ मे आचाय श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी ने कहा है-
मुक्खेण जोयणाओ जोगो सव्वो वि धम्मवावारो । '
'मोक्ष के साथ जोडने वाला हाने के कारण समस्त धम–व्यापार योग है ।' माक्ष के कारणभूत जीव का पुरुषाथ यानी योग । लेकिन यहा विशेष रुप से पाच प्रकार के योग का वणन किया गया ह

* (१)स्थान (२) वर्ण, (३) अर्थ (४) आलबन, (५)एकाग्रता ।
(१) सकल शास्त्र-प्रसिद्ध कायोत्सग पयकबन्ध पद्मासन आदि आसन, यह स्थान–योग है ।

* देखिए परिशिष्ट म 'समाधि'

(२) धर्मक्रिया में प्रयुक्त शब्द, यह वर्णयोग है।
(३) शब्दाभिधेय का व्यवसाय, यह अर्थयोग है।
(४) बाह्य प्रतिमादि विषयक ध्यान, यह आलंबन योग है।
(५) रूपी द्रव्य के आलंबन से रहित निर्विकल्प चिन्मात्र समाधि, यह एकाग्रता-योग है।

इन पांच योगो मे पहले चार योग 'सविकल्प समाधि'-स्वरुप है जबकि पाचवां योग 'निर्विकल्प-समाधि'-स्वरुप है।

इन पांचों प्रकार में पहला प्रकार 'आसन' है। प्रत्येक योगाचार्य ने योग का आरंभ आसन से ही निर्दिष्ट किया है। अष्टाग योग में भी प्रथम स्थान आसन को ही है। 'आसन' के माध्यम से शारीरिक चंचलता, अस्थिरता और उद्विग्नता दूर करनी होती है। जब तक शारीरिक स्थिरता नहीं आती, तब तक मानसिक स्थिरता भी प्राय: असभव है।

हमारी समस्त धार्मिक क्रियायें, उदाहरणार्थ : सामायिक, चैत्यवंदन प्रतिक्रमण आदि में 'आसन' का महत्त्व है। सामायिक मे सुखासन, पद्मासन अथवा सिद्धासन मे बैठा जाय और स्वाध्याय, जाप व ध्यानादि क्रियाये सपन्न की जायें, तो उक्त क्रियायें निःसन्देह प्रभावोत्पादक सिद्ध होती है। प्रतिक्रमण मे 'कायोत्सर्ग' किया जाता है,वह भी एक प्रकार का आसन ही है। अत: कायोत्सर्ग के दोप टालने का लक्ष्य होना चाहिये।

ठीक उसी तरह मुद्राओ का भी लक्ष्य होना चाहिये। किस क्रिया मे किस मुद्रा का प्रयोग किया जाए, उस का यथेष्ट ज्ञान होना आवश्यक है। वैसे ही सूत्रार्थ का पर्याप्त ज्ञान और उसका उपयोग चाहिए। उच्चारण भी शुद्ध होना चाहिए। हमारे सामने प्रतिमा/ स्थापनाजी आदि जो आलबन हो, उसके प्रति दृष्टि स्थिर होना जरुरी है। इस प्रकार यदि धर्मक्रिया की जाये, तो क्रिया ही महान् योग बन जाती है। यही योग आत्मा को मोक्ष के साथ जोड़ देता है।

बैठने का ढग नही, सूत्रोच्चारण मे शुद्धि नही, अर्थोपयोग के प्रति उपेक्षा भाव, मुद्राओ का ख्याल नहो और आलबन के संबन्ध मे पूरी लापरवाही ! ऐसा योग आत्मा को मोक्ष के साथ नही जोड़ पाता! अरे, योग के बल पर भोग-प्राप्ति के नित्यप्रति जो स्वप्न देखते हैं, ऐसे रजो-तमो गुण से आच्छादित जीव योग की कदर्थना करते देखे जाते हैं।

कमयोग द्वय तत्र, ज्ञानयोग त्रय विदु ।
विरतेष्वेव नियमाद, बीजमात्र परेष्वपि ॥२॥२१०॥

अर्थ — उनमें से दो कर्मयोग और शेष तीन ज्ञानयोग, जानने वाले विरति वता म अवश्य हाते हैं, जबकि अन्या म भी बीजरूप है ।

विवेचन — ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्ष ' ज्ञान और क्रिया के संयोग से मोक्ष होता है । इन पाच योगा म दो क्रियायोग हैं और तीन ज्ञानयोग ।

—स्थान और शब्द, क्रियायोग ह ।

—अर्थ, आलबन और एकाग्रता ज्ञानयोग ह ।

कायोत्सग पद्मासनादि आसन, योग मुद्रा मुक्तासुक्ति-मुद्रा एव जिनमुद्रा आदि मुद्राओ का समावेश क्रियायोग मे ह । यदि हम आसन और मुद्राओ की सावधानी वरते बिना प्रतिक्रमण, चत्यवदनादि धार्मिक क्रियायें सपन्न करें, तो क्या वह क्रिया-योग कहलायेगा ? क्या हम क्रियायाग की भी सागोपाग आराधना करते हैं ? प्रतिक्रमणादि मे कायोत्सग करते हैं, क्या वह नियमानुसार होता है ? कायोत्सग कसे किया जाय, इसका प्रशिक्षण लिये बिना कायोत्सग करनेवाले क्या 'स्थान याग की उपेक्षा नहीं करते ? अरे उन्हें यह भी ज्ञात नहीं कि कायोत्सग भी एक तरह का याग है ! पद्मासनादि आसन भी योग ही हैं । यागमुद्रादि मुद्रायें भी योग का ही प्रकार है । किस समय किन मुद्राओ का उपयोग करना चाहिये, इसका ख्याल कितने जीवो को है ?

'वर्ण-योग' की आराधना भी क्रिया याग है । सामायिकादि के सूत्रो का उच्चारण किस पद्धति से करते हैं ? क्या उसमे शुद्धि का लक्ष्य है ? उनमे रही सपदाओ (अल्पविराम, अर्धविराम और पूर्णविराम) का ख्याल है? क्या एक नवकारमत्र का उच्चारण भी शुद्ध है ? यदि इसी तरह स्थानयोग एव वर्णयोग का पालन न करें और क्रियायें करते रहें तो क्या क्रियायोग के आराधक कहलायेंगे ?

'ज्ञान-योग' मे प्रत्येक सूत्र का अर्थबोध होना नितान्त आवश्यक है । मानसिक स्थिरता और चित्त की प्रसन्नता क्रियायोग मे तभी सभव ह यदि उसका सही सही अर्थबोध होता हो । अर्थज्ञान इस तरह प्राप्त करना चाहिये कि, जिससे सूत्रा का आलबन लिये बिना अर्थो का सकलन अबाध रूप मे चलता रहे और उसके भाव-प्रवाह म जाय अपने आप प्रवाहित हो उठे ।

आमतौर पर यह शिकायत सुनने मे आती है कि 'धर्म-क्रियाओं मे हमे आनन्द नही आता ।' लेकिन प्रश्न तो यह है कि आनन्दप्राप्ति के लिये भला कौन धार्मिक-क्रियाये करता है ? अलबत्त, धर्म-क्रियायें असीम आनन्द की केन्द्रबिन्दु बन सकती हैं, अगर उनमे से आनन्द-प्राप्ति की आन्तरिक तमन्ना हमारे में हो । सिनेमा, नाटक, सर्कस आदि मे खोकर आनन्द लूटने की प्रवृति जब तक प्रबल है, तब तक धर्मक्रियाये निष्प्रयोजन ही प्रतीत होंगी । अरे भाई, भोगी भी क्या कभी योग को पसन्द करता है ? भोग मे नीरसता आए बिना योग मे सरसता कहाँ से आयेगी ? योगक्रियाओं मे जुड़े हुए भोगी का मन जब भोग की भूलभूलैया में उलझ जाता है, तब वह यौगिक क्रियाओं मे दोष देखता है ।

'आलम्बन' के माध्यम से योगी अपने मन को स्थिर रखता है । परमात्मा की प्रतिमा उसका सर्वश्रेष्ठ आलबन है । पद्मासनस्थ मध्यस्थ भावधारक प्रतिमा, योगो के मन को स्थिर रखती है । योगी के लिए जिनप्रतिमा प्रेरणा-स्रोत बनी रहती है । उस की आँखे बन्द होने के उपरात भी उसका मन निरन्तर उक्त प्रतिमा के दर्शन करता रहता है । उस की जिह्वा शान्त होने पर भी मन ही मन वह परमात्म-स्तुति मे लीन रहता है । मतलब यह कि, परमात्मदशा के प्रेमी जीव के लिए प्रतिमा, स्नेहसंवनन करने का श्रेष्ठ साधन सिद्ध होती है ।

जिसके लिए मानव-मन मे राग-अनुराग, स्नेह और प्रीति हो, उसके विरहकाल मे उसकी प्रतिकृति/छवि, उसकी मूर्ति का क्या महत्त्व है- यह उसे पूछे बिना पता नहीं लगेगा । उक्त छवि/प्रतिकृति के माध्यम से परमात्मप्रेमी उसकी निकटता का एहसास करता है । फलत उसकी स्मृति तरोताजा रखता है और उसके स्वरूप का यथेष्ट ख्याल रखता है । साथ ही जब उक्त आलबन द्वारा उसके प्रेम की उत्कटता प्रकट होती है, तब वह (प्रेमी) पाचवे योग मे पहुँच जाता है ।

'रहित' योग मे किसी विकल्प, विचार अथवा कल्पना के लिये स्थान नही । वह पूर्णरूप से एकाकार बन जाता है, तब भला, विचार किस बात का करना ?

इस तरह ज्ञानयोग एवं क्रियायोग में पूर्णतः समरस हो, मुनि उसकी आराधना करते हैं, जबकि अपुनर्बन्धक, श्रावक वगैरह में इसका प्रारम्भ होने से उनमें सिर्फ योगबीज ही होता है।

कृपानिर्वेदसंवेग–प्रशमोत्पत्तिकारिणः ।
भेदाः प्रत्येकमत्रेच्छा–प्रवृत्तिस्थिरसिद्धयः ॥३॥२११॥

अर्थ प्रत्येक योग के इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिरता एवं सिद्धि–चार भेद होते हैं। जो कृपा, संसार का भय, मोक्ष की कामना और प्रशम की उत्पत्ति करने वाले हैं।

विवेचन – कुल पाँच योग हैं। प्रत्येक योग के चार-चार भेद अर्थात गर मिलाकर बीस प्रकार होते हैं। हर एक योग के इच्छा, प्रवृत्ति स्थिरता और सिद्धि– ये चार भेद हैं।

प्रथम योग है स्थान'। इसमें आसन और मुद्राओं की इच्छा जागृत होती है। तत्पश्चात् उसमें प्रवृत्ति होती है अर्थात जिस धर्मक्रिया में जो आसन और मुद्रा आवश्यक है, उसे करें। तब उसमें स्थिरता का प्रादुर्भाव होता है। मतलब आसन/मुद्रा के द्वारा चंचलता, अरुचि और उदासीनता दूर होती है। इस तरह आसन और मुद्रा सिद्ध होती है।

द्वितीय योग है 'उर्ण'। जिस क्रिया में जिन सूत्रों का उच्चारण करना हो, उन सूत्रों का पर्याप्त अध्ययन करने की इच्छा प्रकट होती है। तत्पश्चात सबंधित क्रियाओं में सूत्रों का उच्चारण करने की प्रवृत्ति करें। सूत्रों के उच्चारण में स्थिरता आती है, यानी कभी तेज गति तो कभी मंद गति, ऐसी अस्थिरता नहीं रहे। इस तरह सूत्रोच्चार की सिद्धि प्राप्त होती है।

तृतीय योग है–'अर्थ'। सबंधित सूत्रों के अर्थ का ज्ञान आत्मसात करने की भावना पैदा हो। अर्थज्ञान प्राप्त करने की प्रवृत्ति करें। अर्थ-ज्ञान स्थिर बने, यानी दुबारा वह विस्मरण न हो जाए, इस तरह अर्थज्ञान की ऐसी सिद्धि प्राप्त करें कि वह जो-जो धर्म क्रियायें करे, स्वाभाविक रूप में उसका अर्थोपयोग होता रहे।

चतुर्थ योग है 'आलंबन'। आलंबन-स्वरूप जिन-प्रतिमादि के प्रति प्रीतिभाव पैदा हो, उस का आलंबन ग्रहण करने की प्रवृत्ति करें और मन निःशंक, निर्भय बन उस में स्थिर हो जाए। साथ ही ऐसी स्थिरता

प्राप्त करें कि दूसरों को भी उसके प्रति आकर्षित करे।

'रहित' निर्विकल्प समाधि-स्वरूप है। अर्थात् उसमे इच्छादि का प्रश्न ही नही पैदा होता। परन्तु वैसे निर्विकल्प योगी-पुरुषो की सदैव प्रशंसा करे और खुद वैसा बनने के उपायो में प्रवृत्ति करे। इससे मन स्थिरता प्राप्त करता रहे और वह ऐसा निरालंबन योगी बन जाए कि अन्य जीवो को भी अपने योग की तरफ आकर्षित कर दे।

इन योगो से आत्मा मे अनुकपा, निर्वेद, सवेग और प्रशम भाव पैदा होते हैं, अर्थात् आत्मा का सवेदन ही ऐसा बन जाता है।

दीन-दुखी जीवो को देखकर, मन ही मन उनका दुःख-दर्द दूर करने की उत्कट भावना पैदा हो। द्रव्य से दुःखी जीवो का दु.ख दूर करने की इच्छा प्रकट हो जाए कि वह दीन-दुःखियो की कभी उपेक्षा न कर सके।

सासारिक सुखों से विरक्त बन जाए। उसे वह कारावास समझे। निर्जन श्मशान समझे। सदा कर्म-बन्धनों से मुक्त होने की ही पैरवी करे। संसार के सुख भले ही चक्रवर्ती या इन्द्र के हो, भूल कर भी उनकी तरफ आकर्षित नही होता।

योगी का मन सदा-सर्वदा आत्मा की परिशुद्ध अवस्था प्राप्त करने के लिए तरसता है। 'मैं कब मोक्ष पाऊँगा ?' यह तमन्ना निरंतर बनी रहती है। सदैव वह मोक्ष-सुख की ओर ही आकर्षित होता है।

उपशम का वह शान्त-प्रशान्त सागर होता है। कषायों का उन्माद उसके मन को स्पर्श तक नही कर सकता और ना ही उसे कभी अपने ध्येय से विचलित कर सकता है। उस का मुखमडल अहर्निश शान्त-निश्चल भावो से देदीप्यमान होता है। इच्छादि योगो का यह फल है।

अणुकंपा निव्वेओ, संवेगो होइ तह य पसमु त्ति।
एएसिं अणुभावा, इच्छाईणं जहा संख ॥

—योगविंशिका

इच्छादि-योगो के अनुभाव है-अनुकपा, निर्वेद, सवेग और प्रशम। इन अनुभावों के प्रकटीकरण हेतु योगी को निरन्तर पुरुषार्थ करना चाहिए। इनसे आत्मा अपूर्व आनन्द का अनुभव करती है।

हमेशा ज्ञान और क्रिया द्वारा आत्म-भावो मे परिवर्तन लाने का लक्ष्य होना चाहिये। न भूलो कि हमे लौकिक भाव से लोकोत्तर भावो की ओर जाना है। स्थूल मे से सूक्ष्म की ओर जाना है।

> इच्छा तद्वत् कथाप्रीति प्रवृत्ति पालन परम्।
> स्थैय बाधकभीहानि, सिद्धिरन्यार्थसाधनम ।।४।।२१२।।

अर्थ योगी की कथा में प्रीति होना यह इच्छा-योग है। उपयोग का पालन करना प्रवृत्ति-योग है। अतिचार के भय से मुक्ति, स्थिरता योग है और दूसरो के अर्थ का साधन करना सिद्धि-योग है।

विवेचन -यहाँ इच्छादि चार योगो की स्वतन्त्र परिभाषा दी गयी है

१ इच्छा योग योगी पुरुषो की कथाओ मे रुचि पैदा करता है। अर्थात योग और योगो की कथायें बहुत प्रिय लगता हैं। निर्जन, उज्जड श्मशान मे कायोत्सग ध्यान मे निमग्न अवंती सुकुमाल मुनि की कहानी सुनाइए, वह तन्मय/तल्लीन हो जाएगा। कृष्ण वासुदेव के भ्राता गजसुकुमाल-मुनि की कथा कहिए, वह सब कुछ भूलकर निमग्न हो जाएगा। उसे आप खधक मुनि अथवा झाझरिया मुनि की वार्ता कहिए, वह खाना-पीना तक छोड देगा। ऐसा मनुष्य इच्छायोगी होता है। साथ ही यह मत मानना कि कथायें सबको पसन्द ह। सब को ऐसी कथायें पसन्द नहीं होती, इच्छायोगी को ही पसन्द होती हैं। इच्छायोगी को आधुनिक युग की कपोल-कल्पित कहानिया, जासूसी कथायें, सामाजिक -श्रृंगारिक कथायें एव वैज्ञानिक अदभुत कथायें नीरस लगती है। यह साहित्य न तो उन्हें रुचिकर लगता है और ना ही उन्हें पढना पसन्द होता है। उन्हें देश-विदेश की कथायें, राजा और मत्री की सत्तालोलुपता भरी कपट-कथायें पढना कतई पसन्द नहीं। ठीक वैसे ही विभिन्न राष्ट्रो की नारी कथायें, फैशन परस्ती के किस्से कहानियाँ और भूत-प्रेत की कथायें, मत्र-तत्र की कथायें तथा अपराध-जगत की अभिनव कथायें भी उन्हें पसन्द नहीं होती। भोजन की विविधता का वर्णन करती बातें भी अच्छी नहीं लगतीं।

२ जिसे जो पसन्द होता है, उसे प्राप्त करने अथवा उस जैसा बनने के लिए वह प्राय प्रयत्नशील रहता है और इच्छायोगी ऐसे हर शुभ उपाय का पालन करने मे सदैव तत्पर रहते हैं। ऐसा करते हुए

कोई 'योगी' उनका आदर्श बन जाता है, फिर भले ही वे आनन्दघनजी हों अथवा उपाध्याय यशोविजयजी हों। उन जैसा अपने आप को ढालने के लिए वह शुभ/पवित्र उपायों का पालन करता है।

३. संभव है, प्रारंभ के पुरुषार्थ में कुछ गलतियाँ/त्रुटियाँ रह जायें और अतिचार भी लग जायें। फिर भी सजग योगी के लक्ष्य में बाहर ये त्रुटियाँ अथवा अतिचार नहीं रहते। वह अतिचार टालने का हर संभव प्रयत्न करता है और अपनी भूलों को समय पर सुधार लेता है। वह ऐसा अप्रमत्त बन जाता है कि निरतिचार आचार-पालन करने लगता है। फलत: किसी अतिचार के लगने का उसे कोई भय नहीं रहता।

४. ऐसे महान् धुरन्धर योगी को अहिंसादि विशिष्ट गुण सिद्ध हो जाते हैं कि उसके सान्निध्य में रहने वाले अन्य जीव भी इन गुणों को सहज में प्राप्त कर लेते हैं। मानव की वैर-वृत्ति शान्त हो जाती है, पशुओं की हिंसक-वृत्ति शान्त हो जाती है।

सर्व प्रथम योग 'कथा-प्रीति' अनन्य महत्व रखता है। योगी की कथा-वार्ता का श्रवण करते हुए प्रीतिभाव पैदा होता है, वह प्रीति/प्रेम स्वाभाविक होता है। ऐसे प्रीति-भावयुक्त मानव को स्थानादि योगों में प्रवृत्ति करना पसन्द होता है। अत: वह हमेशा योगी पुरुषों के सान्निध्य की खोज में रहता है और जब ऐसे योगीश्वर की भेंट हो जाती है, तब उसके आनन्द की अवधि नहीं रहती।

लेकिन वर्तमान समय में प्राय: मुनि-वर्ग में स्थानादि योग के प्रति प्रवृत्ति दृष्टिगोचर नहीं होती और आमतौर पर सबकी धारणा बन गयी है कि जैसे वह अन्य लोगों के लिये ही है। अलबत्त, शास्त्र-स्वाध्याय एवं तपश्चर्या की परंपरा कायम है, लेकिन उस में स्थानादि योगों का समावेश नहीं दिखता। अत: शास्त्र-स्वाध्याय और तपश्चर्यायें सविकल्प से निर्विकल्प में जीव को नहीं ले जा सकतीं।

हालांकि मोक्ष के साथ जोड़ने की क्षमता रखने वाले धर्म-योगों की आराधना निर्विकल्प अवस्था तक ले जा सकती है। लेकिन जिन विधि-विधानों और पद्धतियों से धर्मक्रिया संपन्न होनी चाहिए, उस तरीके से ही होनी चाहिये। ठीक उसी तरह उक्त धर्मक्रियाओं को उत्तरोत्तर विशुद्ध एवं अतिचाररहित बनाने की सावधानी होनी चाहिये।

अर्चालिबनयोश्चैत्यवन्दनादौ विभावनम् ।
श्रेयसे योगिन स्थानवर्णयोयत्न एव च ।।५।।२१२।।

अर्थ चैत्यवन्दनादि क्रिया करते समय अर्थ एव आलंबन का स्मरण करना तथा स्थान और वर्ण म उद्यम करना योगी क लिए कल्याण-कारक है।

विवेचन - योगी !

ऊर्ध्वगामी गतिशीलता !
परम ज्योति मे विलीन होने की गहन तत्परता !

तिमिराच्छन्न वातावरण मे प्रकाश की तेजस्वी ज्योति का मुखरित करने वाले, असत्य को मिटाकर सत्य की प्रतिष्ठा करने वाले और मृत्यु की जडता का उच्छेदन कर अमरता का वरण करने वाले अप्रतिम साहसी योगी !

योगी कल्याण की कामना रखता है ! सुख की चाह रखता है! लेकिन वह जिस कल्याण एव सुख का ग्राहक है वह सुख विश्व के बाजार मे कही भी प्राप्त नही होता । लेकिन बाजार मे सुख क्रय करने वालो की भीड अवश्य जुटी हुई है । योगी वहाँ जाता है, लेकिन वहाँ का कोलाहल, शोर गुल, भीड भडक्का और आपाधापी निहार, आगे निकल जाता है। तब उसके आश्चर्य और निराशा की सीमा नहीं रहती। वह व्यथित दु खी हो उठता है, ससार के बजार को देखकर। बाजार मे सजाकर रखे गये सुखो की वास्तविकता को उसकी तीक्ष्ण नजर परख लेती है । फलस्वरूप उसका हृदय द्रवित हो उठता है 'अरे यह तो हलाहल विष से भी ज्यादा दारुण है। उस पर सिर्फ सुख का मिथ्या शृगार किया गया है सुख का मुखौटा पहनाया गया है। खरीददार आन्तरिक विषमता को समझ नही पाते, अनभिज्ञ जो है । जो कुछ भी चमक-दमक है, वह ऊपरी तौर पर है। लोग-बाग बड चाव से खरीदकर जाते हैं, उसका यथेष्ट उपभोग करते हैं और अन्त मे मिट जाते हैं मटियामेट हो जाते हैं।

योगी सुख अवश्य चाहता है, लेकिन उसे पुद्गलों की आसक्ति नही। वह आनन्द चाहता है, लेकिन मन का उन्माद नही। वह सागर सा शान्त और उत्तुग शिखरो की तरह स्वस्थ है। वह बाह्य विश्व से सुख

शान्ति और आनन्द-प्राप्ति की कामना का परित्याग कर, अपने आन्तर विश्व में झांकता है और तब उसे वहाँ अथाह सुख, परम शान्ति और असीम आनन्द के मुक्ता-मणि, हीरा-मोती यत्र-तत्र बिखरे दृष्टिगोचर होते हैं।

वह आन्तर-सृष्टि मे प्रवेश करने का दृढ संकल्प करता है। उसके लिये वह सर्वज्ञ के शास्त्र-कोष में मार्गदर्शन खोजता है। मार्गदर्शन प्राप्त होते ही उसका दिल बाग-बाग हो उठता है, हृदय गद् गद् हो उठता है। उसके नयन से हर्षाश्रु उमड आते हैं। फलत: वह स्थान, वर्ण, अर्थ और आलंबन—इन चार योगों की अनन्य आराधना आरम्भ कर देता है।

सर्व प्रथम आसन-मुद्राओं का अभ्यास करता है। सुखासन, पद्मासन, सिद्धासनादि आसन सिद्ध कर, प्रदीर्घ समय तक एक आसन पर ध्यानस्थ बैठ, अपने शरीर को नियन्त्रित करता है। योग मुद्रा के सहयोग से मुद्रायें सिद्ध कर शरीर को स्वाधीन बनाता है। उस के लिये आवश्यक आहार—विहार और नीहार का चुस्ती के साथ पालन करता है। प्रमाद.... अशक्ति से अपने शरीर को सुरक्षित रख 'स्थानयोग' के लिये सुयोग बनाता है।

तत्पश्चात् अपनी दिनचर्या से जुडी धार्मिक क्रियायें- चैत्यवन्दन, प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन वगैरह क्रिया मे बोले जाते सूत्रों का अध्ययन इस तरह करता है कि जिसका उच्चारण करने वाला और सुनने वाला, दोनों तन्मय हो जाये। उस के सशक्त और सुरीले गले से फूटी स्वर-लहरियाँ बाह्य कोलाहल, शोर गुल को खदेड देती हैं। इस स्वर-व्यंजना के नियमो का कठोर पालन करने वाला योगी 'वर्णयोग' को भी सिद्ध कर देता है।

उपर्युक्त पद्धति से तन—वचन पर असाधारण काबू पा मन को नियन्त्रित करने की क्रिया (आराधना) मे लग जाता है। उस के लिये वह आवश्यक क्रियाओ के सूत्रो का अर्थज्ञान प्राप्त करता है। अर्थ-ज्ञान में से एकाध मनोहर कल्पना-सृष्टि का सर्जन करता है और सूत्रोच्चारण के साथ-साथ उक्त कल्पना-सृष्टि का 'रील' भी शुरू कर देता है। वह जो उच्चारण करता है, उस के प्रतिध्वनि का श्रवण

करता है और इस तरह भावालोक का अवलोकन करता है। फलत उसका मन उस मे सध जाता है, उसमे पूर्णरूपेण ओत-प्रोत हो जाता है और उस मे उसे आत्मानन्द की अनुभूति होती है। साथ ही साथ जिन-प्रतिमादि का आलबन ग्रहण कर आनन्द मे उत्तरोत्तर वृद्धि करता है। जिन-प्रतिमा मे उसका मन प्रवेश करता है। फलत वीतरागता एव सर्वज्ञता के सग मुहब्बत हो जाती है।

इस तरह योगी अपना कल्याण-मार्ग प्रशस्त बनाता है। योगी का आभ्यन्तर सुख योगी खुद ही अनुभव करता है। भोगी उसे देख नही सकता, ना ही कह सकता है। और यदि कभी वह भी दे तो भोगी को वह नीरस लगता है। योगी का सुख भोगी को आकर्षित नही कर सकता और ना ही भोगी का सुख योगी को कभी ललचा सकता है।

आलबनमिह ज्ञेय, द्विविध रूप्यरुपि च ।
अरुपिगुणसायुज्य योगोऽनालम्बन पर ।।६।।२१४।।

अर्थ — यहाँ आलवन रुपी और अरुपी, दो प्रकार के है। अरुपी सिद्ध-स्वरुप के साथ तन्मयतारुप योग वह उत्कृष्ट निरालबन योग है।

विवेचन —आलबन के दो भेद हैं रूपी आलबन और अरूपी आलबन। रुपी आलबन मे जिन-प्रतिमा का समावेश है, जबकि अरुपी आलबन का मतलब सिद्धस्वरुप का तादात्म्य। वह आलबन होते हुए भी निरालबन योग माना जाता है। श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी ने अपने ग्रथ 'योगविंशिका' मे कहा है—

आलबण पि एय रुविमरुवि य इत्य परमुत्ति।
तग्गुण परिणइरुवो सुहुमो अणालबणो नाम ।।

यहाँ रुपी और अरुपी, इस तरह आलबन के दो भेद हैं। उस मे भी अरुपी परमात्मा के केवलज्ञानादि गुणो मे तन्मयता स्वरूप सूक्ष्म अनालबन (इन्द्रियों से अगोचर होने के कारण) योग कहा है।

पाँचवाँ एकाग्रता-योग (रहित) ही अनालबन योग है। स्थान, वर्ण, अर्थ और आलबन—ये चार योग सविकल्प-समाधि स्वरूप हैं, जब कि पाँचवाँ अनालम्बन योग निर्विकल्प समाधिस्वरूप है। आत्मा को

क्रमशः इस निर्विकल्पदशा मे पहुँचना है।

अशुभ भावों से शुभ भाव मे जाना पडता है और शुभ से शुद्ध भाव मे प्रवेश सभव है। अशुभ भाव से सीधा शुद्ध भाव मे जाना असभव है। कंचन और कामिनी, मानव जीवन के ऐसे आलंबन हैं, जो आत्मा को सदैव राग-द्वेष और मोह में फँसाते हैं। दुर्गतियों मे भटकाते हैं। अत उन के स्थान पर अन्य शुभ आलंबनो को ग्रहण करने से ही उन आलबनों से मुक्ति मिल सकती है। उदाहरणार्थ-एक बालक है। मिट्टी खाने को उसे आदत है। माता-पिता उस के हाथ से मिट्टी का ढेला छिनने का प्रयत्न करते है। लेकिन बालक उक्त ढेला छोड़ने के वजाय जोर-जोर से रोने लगता है। जब माता उसके हाथ में खिलौना अथवा मिठाई का टुकडा देती है, तब वह मिट्टी का ढेला उठाकर फेंक देता है। ठीक उसी तरह अशुभ पापवर्धक आलंबनो से मुक्त होने के लिए शुभ पुण्यवर्धक आलबनो को ग्रहण करना चाहिये।

एक बात और है, जैसा आलबन सामने होता है, वैसे ही विचार/भाव हृदय मे पैदा होते है। राग-द्वेष-प्रेरक आलबन हमेशा राग-द्वेष ही पैदा करेंगे, जबकि विराग-प्रशम के आलबन आत्मा में विराग-प्रशम की ज्योति फैलाते हैं। अत: परमकृपालु परमात्मा की वीतराग-मूर्ति का आलबन लेने से चित्त में विराग की मस्ती जग पड़ेगी। श्री आनन्दघनजी महाराज ने गाया है

"अमीय भरी मूर्ति रची रे, उपमा न घटे कोय,
शान्त सुधारस झीलती रे, निरखत तृप्त न होय,
विमल-जिन दीठां लोयण आज

जिनमूर्ति का आलबन मानव-मन मे किस तरह के अद्‌भूत/अभिनव स्पन्दन प्रकट करते हैं -यह तो अनुभव करने से ही ज्ञात हो सकता है। इस तरह नित नियमानुसार प्रवृत्ति करते रहने से अन्त में परमात्मा में स्थिरता प्राप्त होगी। ध्यानावस्था में परमात्म-दर्शन होगा। हमारी आत्मा परमात्म-स्वरूप के साथ ऐसा अपूर्व तादात्म्य साध लेगी कि आत्मा-परमात्मा का भेद ही मिट जाएगा। अभेद भाव से अनिर्वचनीय मिलन होगा। तब न कोई विकल्प शेष रहेगा और ना ही कोई अन्तर! भेद मे विकल्प होता है जबकि अभेद मे निर्विकल्पावस्था।

तत्पश्चात् उसे रूपी मूर्त आलंबन की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। सूक्ष्म में प्रवेश करने पर स्थूल की अपेक्षा नहीं रहती। सूक्ष्म आत्म-गुणों का तादात्म्यसाधक योगी 'योग-निरोध' के सन्निकट पहुँच जाते हैं। 'योग निरोध' स्वरूप सर्वोत्तम योग का पूर्वभावी ऐसा यह अनालंबन योग है। अर्थात तेरहवें गुणस्थान पर योग-निरोध होता है। उसका पूर्ववर्ती अनालंबन योग १ से ७ गुणस्थानों में संभव नहीं है। अर्थात् अपने जैसे साधक (१ से ७ गुणस्थानों में) जीवों के लिये तो प्रारंभ के चार योग ही आराधनीय हैं। फिर भी अनालंबन योग का स्वरूप जानना और समझना आवश्यक है, जिससे हमारा आदर्श, ध्येय और उद्देश्य स्पष्ट हो जाए।

यह अनालंबन योग 'धारावाही प्रशान्तवाहिता' भी कहलाता है।

> प्रीति-भक्ति-वचोऽसंग स्थानाद्यपि चतुर्विधम् ।
> तस्माद्योगयोगाप्तेर्मोक्षयोग क्रमाद् भवेत् ।।७।।२१५।।

अर्थ – प्रीति, भक्ति, वचन एवं असंग अनुष्ठान-द्वारा स्थानादि योग के चार प्रकार के हैं। अतः योग के निरोध स्वरूप योग की प्राप्ति होने से क्रमशः मोक्षयोग प्राप्त होता है।

विवेचन – ५ योग (स्थान, वर्ण, अर्थ, आलंबन, अनालंबन)
× ४ योग (इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिरता, सिद्धि)

२०
× ४ (प्रीति, भक्ति, वचन, असंग)

८०

यह है योग के भेद-प्रभेदों का गणित। इस प्रकार योग का आराधक योगी अयोगी बनता है, "शैलेशी" प्राप्त कर मोक्षगामी बनता है।

चैत्यवंदनादि धर्मयोग के प्रति परम आदर होना चाहिये। भाव-शून्य हृदय से आराधित धर्मयोग आत्मा की प्रगति नहीं कर सकता, ना ही उसे प्रीति-अनुष्ठान में कोई स्थान मिलता है। अनुष्ठान में ऐसी प्रीति हो कि अनुष्ठान कर्ता के हित का उदय हो जाय। संसार के

अन्य सभी प्रयोजनों का परित्याग कर निष्ठापूर्वक धर्मानुष्ठान आराधना करे। साथ ही सर्वत्र उसके मन मे धर्मानुष्ठान के प्रति प्रीति भाव बना रहे।

भक्ति अनुष्ठान में भी इसी प्रकार का आदर, उत्कट प्रीति और अन्य प्रयोजनो का परित्याग होता है। अलबत्त, यहा एक विशेषता होती है कि जिस धर्मयोग की वह आराधना करता हो, उस का महत्व सदैव उसके मन पर अंकित होता है। मन वचन-काया के योग विशेष विशुद्ध होते हैं।

प्रीति और भक्ति के पात्र भिन्न होते हैं। जैसे पत्नी और माता। जिस तरह किसी युवक को पत्नी प्रिय होती है, ठीक उसी तरह परम हितकारिणी माता भी अत्यन्त प्रिय होती है। पालन-पोषण का कार्य दोनो का भी एक-सा ही होता है। लेकिन पुरुष पत्नी का कार्य प्रीति-वश करता है, जबकि माता का भक्तिभाव से।

तृतीय अनुष्ठान है-वचनानुष्ठान। सभी धर्मानुष्ठान शास्त्रानुसार करते हुए औचित्यपूर्वक करे। चारित्रवान मुनिवर वचनानुष्ठान की आराधना अवश्य करे। वे शास्त्राज्ञा का भूलकर भी उल्लघन न करे। साथ हो औचित्य का पालन भी न भूलें। यदि बिना औचित्य के शास्त्रादेश का पालन किया जाए, तो अन्य जीवो की दृष्टि में शास्त्र घृणा के पात्र बन जाते है।

चतुर्थ अनुष्ठान है- असगानुष्ठान। जिस धर्मानुष्ठान का अभ्यास अच्छी तरह हो गया हो, वह सहज भाव से होता है, जैसे चन्दन से सौरभ स्वाभाविक रूप से फैलती है।

वचनानुष्ठान और असंगानुष्ठान मे एक भेद है। कुम्हार अपना पहिया डडे से घुमाता है, बाद मे बिना डडे के आलबन के भी पहिया निरतर घुमता रहता है। ठीक वैसे ही वचनानुष्ठान भी शास्त्राज्ञा मे ही सभव है। लेकिन शास्त्र की अपेक्षा के बिना सिर्फ संस्कार मात्र से सहज भाव से प्रवृत्ति करे, वह असगानुष्ठान कहलाता है।

गृहस्थवर्ग मे प्रीति और भक्ति-अनुष्ठान का प्राधान्य होना चाहिए। भले ही वह शास्त्राज्ञा से अनभिज्ञ हो, लेकिन इतना अवश्य ज्ञात कर ले कि, 'उक्त धर्ममार्ग तीर्थंकरों द्वारा आचरित और प्रदर्शित है। इस

के अनुसरण से ही सब सुखो की प्राप्ति होगी । पाप-क्रियाओ मे रात-दिन अठखेलियाँ करते अनन्त भव भटकते रहे चार गति की नारकीय यातनाएँ और असह्य दु ख सहते रहे । अब मुझे पापक्रिया से कासो दूर रहना है उस के भँवर मे फँसना नही है, बल्कि हितकारी क्रियायें करते हुए अपने जीवन को सफल बनाना है ।

प्रीति-भक्ति के भाव से आराधित धर्मानुष्ठान तो ऐसा अपूर्व पुण्यानुबन्धी पुण्य उपार्जन कराता है कि एक नौकर, राजा कुमारपाल बन सकता है । उसने पाँच कौडी के पुष्पो से जो अनन्य अद्भुत जिन-पूजा का अनुष्ठान किया वही तो वास्तविक प्रीति-अनुष्ठान था । उस अनुष्ठान से ही तो उसका अभ्युदय सभव हुआ ।

'अभ्युदयफले चाद्ये, नि श्रेयससाधने तथा चरमे ।'

—षोडशके

पहले दो अनुष्ठान अभ्युदयसाधक हैं, जबकि अन्त के दो नि श्रेयस के साधक हैं ।

स्थानाद्ययोगिनस्तीर्थोच्छेदाद्यालम्बनादपि ।
सूत्रदाने महादोष इत्याचार्या प्रचक्षते ॥८॥२१६॥

अर्थ — आचार्यो का कहना है कि स्थानादि योगरहित को 'तीर्थ का उच्छेद हो' आदि आलबन से भी चैत्यवन्दनादि सूत्र सिखाने/पढाने मे महादोष है ।

विवेचन – किसी भी वस्तु के आदान प्रदान मे योग्यता-अयोग्यता का विचार करना अत्यन्त आवश्यक है । लेने वाले और देने वाले की योग्यता पर ही लेन-देन के व्यवहार की शुद्धि रह सकती है ।

- दाता योग्य हो, लेकिन लेने वाला अयोग्य हो,
- दाता अयोग्य हो, लेकिन ग्रहणकर्ता योग्य हो,
- दाता और ग्राहक दोनो अयोग्य हो ।

उपरोक्त तीनो प्रकार अशुद्ध हैं और अनुपयुक्त भी ।

- दाता और ग्राहक दोनो योग्य हो-यह प्रकार शुद्ध है ।

सामायिक सूत्र चैत्यवन्दन सूत्र, प्रतिक्रमण सूत्रादि सिखाने की

चर्चा यहाँ की गयी है । सूत्र किसे सिखाये जाए ? सूत्रों का अर्थ किसे समझाया जाए ? यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है । पूज्य उपाध्यायजी महाराज अपने पूर्ववर्ती प्रामाणिक-निष्ठावन्त आचार्यों की साक्षी के साथ उक्त प्रश्नों का निराकरण/समाधान करते हैं ।

जिस व्यक्ति को स्थान, इच्छा, प्रीति आदि विषयक कोई योग प्रिय नही और जो किसी योग की आराधना नहीं करता, उसे सूत्रदान न किया जाए ।

प्रश्न :– आधुनिक काल में ऐसे योगप्रिय अथवा योगाराधक मनुष्य मिलने अत्यन्त कठिन हैं, यहा तक कि संघ/समाज में भी नही के बराबर ही है । सौ में से पांच मिल जाएँ तो बस । तब चैत्यवन्दनादि सूत्र क्या इन इने-गिने लोगों को ही सिखाये जाएं ? अन्यों को नहीं सिखाये जाएँ, तो क्या धर्मशासन का विच्छेद संभव नहीं है ? किसी भी तरह, भले ही अविधि से क्यों न हो कोई धर्माराधना करता हो, परन्तु धर्मक्रिया नही करने वालो से तो बेहतर हो है न ?

समाधान :– सर्व प्रथम धर्म-शासन– तीर्थ को समझ लो ! तीर्थ किसे कहा जाए ? उसकी परिभाषा क्या है ? उसकी तह मे पहुँचो, तभी तीर्थ की वास्तविक व्याख्या आत्मसात् कर सकोगे । जिनाज्ञारहित मनुष्यों का समुदाय तीर्थ नहीं कहलाता । जिनाज्ञा का पक्षपात और प्रीति तो हर एक मनुष्य में होनी ही चाहिये । शास्त्राज्ञा-जिनाज्ञा के प्रति आदर, प्रीति-भक्ति और निष्ठा रखने वाले साधु-साध्वी-श्रावक श्राविकाओ का समूह ही धर्मशासन है, तीर्थ है । ऐसों को सूत्रदान करने में कोई दोष नही । लेकिन भूलकर भी अविधि को प्रोत्साहन न दिया जाए । अविधि–पूर्वक धर्मक्रियाये करने वालो की पीठ न थपथपायी जाए । उनकी अनुमोदना न की जाए । क्योकि अविधि को उत्तेजन देने से शास्त्रोक्त क्रिया का ह्रास होता है, और तीर्थ का विच्छेदन ।

'धर्मक्रिया न करने वालों से तो अविधिपूर्वक धर्मक्रिया करने वाले बेहतर ।' यों कहकर अविधि का समर्थन करना सरासर गलत और अनुचित है । एक बार अविधि की परंपरा चल पड़ी, तो अविधि 'विधि' मे परिणत होते विलंब नही लगता । तब यदि कोई शास्त्रोक्त

विधि का प्रतिपादन करेगा, तो भी वह 'अविधि' ही प्रतीत होगी। तुम्हारी तसल्ली के लिये पूज्य उपाध्यायजी के ही शब्दो मे पढो

"शास्त्रविहित क्रिया का लोप करना यह कडवे फल देनेवाला है। स्वय मृत्यु को प्राप्त हुए और खुद के हाथो मारने मे कोइ विशेषता नहीं, ऐसी बात नहीं, लेकिन इतनी विशेषता है कि स्वय मृत्यु पाता है, तब उसमे उसका दुष्टाशय निमित्त रूप नहीं, जबकि अपने (उसके) हाथो मारना–इसमे दुष्टाशय निमित्त रुप है। ठीक उसी तरह क्रिया मे प्रवृत्ति नही करने वाले जीव की अपेक्षा से गुरु को कोइ दोष नही। परतु अविधि के प्ररूपण का अवलबन कर श्रोता अविधिपूर्वक प्रवृत्ति करे, तो उन्मार्ग मे प्रवृत्ति कराने के परिणामवश अवश्य महादोष है। इस बात पर (तीर्थ–उच्छेदन) धर्मभीरु जीव को अवश्य विचार करना चाहिए।

[—'योगाष्टक' श्लोक ८ का टब्बा]

तात्पर्य यह है कि स्थानादि ५ योग, इच्छादि ४ योग और प्रीति आदि ४ योग का मार्ग दिखाकर पूज्य उपाध्यायजी महाराज ने मोक्ष-मार्ग के इच्छुक जीवो को सुन्दर सरस मार्गदर्शन दिया है। भोग की भूलभूलैया से बाहर निकल, योग के मार्ग पर प्रयाण करने के लिए प्रस्तुत योगाष्टक का गभीर चिन्तन करना चाहिए। साथ ही साथ 'योगविंशिका' ग्रथ का भी गहरा अध्ययन करना चाहिए, जिससे विशेष अवबोध प्राप्त होगा।

२८. नियाग [यज्ञ]

संभव है कि आधुनिक युग में तुमने यज्ञ का अनुष्ठान नहीं देखा होगा !

भूतकाल की तरह आज इतने बड़े पैमाने पर, व्यापक रूप में यज्ञ का आयोजन कहीं देखने में नहीं आता। फिर भी जो यज्ञनियाग होते हैं, क्या वह वास्तविक हैं ? सच्चा यज्ञ कैसे होता है, उनकी क्रियाएँ क्या हैं ?

यहां तुम्हें यज्ञ मे प्रयोग किये जाने वाले शब्द पठन हेतु मिलेंगे और तुम स्वयं स्वतंत्र रूप से यज्ञ कर सकोगे बिना किसी बात साधना और सहायता से ! ऐसी प्रक्रियाएं इस अष्टक में बतायी गयी हैं । ऐसा महकल्याणकारी यज्ञ हम नित्यनियम से करने का संकप करें तो...!!!

य कम हुतवान् दिप्ते ब्रह्माग्नौ घ्यानध्याय्यया ।
सो निश्चितेन यागेन नियागप्रतिपत्तिमान् ॥१॥२१७॥

अथ प्रदीप्त ब्रह्म रूपी अग्नि मे चिता घ्यान रूपी वेद की ऋचा (मत्र) द्वारा कर्मों का होम कर दिया है, ऐसा मुनि निर्धारित भावयन द्वारा नियाग को प्राप्त हुआ ह ।

विवेचन यज्ञ-याग !

जैन धम और यज्ञ-याग ?

अरे भाई, चौंक न पडो ! यहा ऐसे दिव्य यन का वणन किया गया है कि जिसे आत्मसात् कर तुम मत्रमुग्ध हो उठोगे ! यहाँ वेदो की विकृति मे से उत्पन्न यन की बात नहीं है। ना ही अश्वमेघ यज्ञ है, ना ही पितमेघ यज्ञ की बात है ! ठीक वैसे ही जड हिंसात्मक क्रिया-काण्ड नही हैं, अज्ञान जीवो की बलि चढाने का कोई प्रपच नही है।

कलिकालसवज्ञ आचाय भगवत श्री हेमचद्राचाय ने, अपने मूल्यवान् ग्रन्थ 'त्रिपष्टि शलाका पुरुप चरित्र' मे, हिंसक यज्ञा की उत्पत्ति का रहस्य नारद मुनि क मुख से लकेश रावण को बताया ह। वैर का बदला लेने की तीव्र लालसा के कारण उत्पन्न कपायो द्वारा हिंसक यज्ञो के पदा होने का ममभेदी इतिहास बताया है।

जनेतर सप्रदाया म यन की उत्पत्ति को लकर विविध मतव्य प्रचलित हैं ! उन मे मे एक मतव्य यह भी है प्रलय मे पृथ्वी के बच जाने के बाद ववस्वत मनु ने सवप्रथम यज्ञ किया था। तब स आय प्रजा म, पृथ्वी पर सूय के प्रतिनिधि अग्निदव को प्रसन्न करने हेतु आहुति देने की प्रथा चल पडी है ! सामान्यत ब्राह्मण-ग्रथ यन की सूक्ष्मातिसूक्ष्म क्रियाओ का विधान करते हैं।

जिस तरह उपनिषदा म यन का, जड क्रियाविधि के बजाय अध्यात्म का रूप प्रदान किया गया है, ठीक उसी तरह पूज्य उपाध्याय-जी महाराज भी यन का एक अभिनव रूपक सबके समक्ष उपस्थित करत हैं।

- जाज्वल्यमान ब्रह्म साक्षात् अग्नि है।
- ध्यान (धम-शुक्ल) वेद की ऋचाएँ हैं।

० कर्म (ज्ञानावरणादि) समिध (लकड़ियाँ) हैं!

ब्रह्म रूपी प्रदीप्त अग्नि में ध्यान रूपी ऋचाओं के उच्चारण के साथ ज्ञानावरणादि कर्मों का होम करना ही नियाग है! नियाग यानी भावयज्ञ! केवल क्रिया-काण्ड द्रव्य-यज्ञ है! नियाग (भावयज्ञ) के कर्ता मुनि कैसा हो....उसके समग्र व्यक्तित्व का वर्णन 'उत्तराध्ययन' सूत्र में किया गया है:

सुसंवुडापंचहिं संवरेहिं इह जीवियं अणवकंखमाणा।
वोसट्ठकाया सुचइत्तदेहा महाजयं जयइ जन्नसेट्ठं ॥

"पांच संवरों से सुसंवृत्त, जीवन के प्रति अनाकांक्षी/उदासीन, शरीर के प्रति ममत्वहीन, पवित्र और देहाध्यास के त्यागी, कर्म-विजेता मुनि सर्व श्रेष्ठ यज्ञ करते हैं!"

अग्नि को प्रदीप्त करना पड़ेगा! योग-उपासना द्वारा निष्प्रभ ब्रह्म-तेज को प्रज्वलित करना है! धर्म-ध्यान....शुक्ल ध्यान के आलम्बन से अशुभ कर्मों को जलाना है। इस प्रकार भाव-यज्ञ कर श्रेय की सिद्धि प्राप्त करनी है।

प्रस्तुत अष्टक में 'यज्ञ' के वास्तविक एवं मार्मिक स्वरूप का वर्णन किया गया है।

पापध्वंसिनि निष्कामे ज्ञानयज्ञे रतो भव!
सावद्यैः कर्मयज्ञैः किं भूतिकामनयाऽविलैः ॥२॥२१८॥

अर्थ : पापों का नाश करनेवाले और कामनारहित ऐसे ज्ञान-यज्ञ में आसक्त हो! सुखेच्छाओं से मलीन पापमय कर्म-यज्ञों का क्या प्रयोजन है?

विवेचन : तुम्हारे जीवन का लक्ष्य क्या है? मन-वचन-काया के पुरुषार्थ की दिशा कौन सी है? कौन सी तमन्ना मन में संजोये जीवन बसर कर रहे हो? क्या पाप-क्षय करना तुम्हारा उद्देश्य है? अपनी आत्मा को निर्मल/विमल बनाने की उत्कट महेच्छा है? यदि यह सच है तो अविलम्ब ज्ञान-यज्ञ में जुड़ जाओ!

ऐसी परिस्थिति में पांच इन्द्रियों को क्षणिक तृप्ति देने वाले सुख की कामना हृदय के किसी कोने में भी नहीं होनी चाहिए। 'मुझे परलोक/स्वर्गलोक में दिव्य सुखों की प्राप्ति होगी!' ऐसी सुप्त

कल्पना तक कहीं छिपी नहीं होनी चाहिए। यह कभी न भूलो कि समस्त सुखों के प्रति नि स्पृह-निरागी बन कर ही ज्ञानयज्ञ करना है॥

क्या तुम्हें यह कहना है कि 'पापों का नाश करना, क्षय करना यह भी एक प्रकार की कामना ही है न?' अवश्य है, लेकिन उसमें निष्काम भावना का तत्त्व अखंड रहा हुआ है। अत उक्त कामना तुम्हें पापाचरण की दिशा मे कभी अग्रसर नहीं करेगी। नि शक, निश्चल और निर्भय बन कर पाप-क्षय के लिये ज्ञान यज्ञ प्रारम्भ करो।

इस धरती पर स्वर्ग, पुत्र-परिवार, धन सपदा आदि क्षुद्र कामनाओं की पूर्ति हेतु किये जाने वाले यज्ञ की अग्नि मे आत्मा उज्ज्वल नहीं बनती अपितु जल जाती है? ऐहिक-पारलौकिक सुखेच्छाओं के वशीभूत आत्मा मलिन और पापी बनती है। भोगैश्वर्य की कुटिल कामना आत्मा को मूढ बनाने वाली है। ऐसी कामनाओं की पूर्तिहेतु यज्ञ मत करो। भोगैश्वर्य के तीव्र प्रवाह मे प्रवाहित जीव घोर हिंसक यज्ञ करने के लिए तत्पर बनता है।

धू-धू जलती आग की प्रचड ज्वालाओं म निरीह पशुओं की बलि देकर (देवी-देवताओं को प्रसन्न करने की मिथ्या कल्पना से) मानव स्वर्गीय सुख की कामना करता है। क्योंकि 'भूतिकाम पशुमालभेत' सदृश मिथ्या श्रुतियों का आधार जो उसे उपलब्ध हो जाता है। यज्ञ करने वाला और करानेवाला प्राय मासाहार का सेवन करता है। शराब के जाम गले मे उडेलता है और मिथ्या शास्त्रों का आलम्बन ले, अपना बचाव करता है। परनारी-गमन को भी वे धर्म के ही एक आचरण की मिथ्या सज्ञा देते हैं। इस तरह महाविनाशकारी रौरव नरक म ले जाने वाले पापों का, धर्म के नाम पर आचरण करते हैं।

हमे ऐसे घृणित हिंसक यज्ञ का सरेआम प्रतिपादन करनेवाले मिथ्या शास्त्रों से सदा दूर रहना चाहिए। ज्ञान-यज्ञ मे ही सदैव लीन रहना चाहिए। अपना जीव यज्ञ कुण्ड है। तप अग्नि है। मन वचन-काया का पुरुषार्थ घृत उडेलनेवाली कलछी है। शरीर अग्नि को प्रदीप्त/प्रज्वलित करने का साधन है, जब कि कर्म लकडियाँ हैं। सयम-साधना शांति-स्तोत्र है 'श्री उत्तराध्ययन' सूत्र के 'यज्ञीय-अध्ययन' में ज्ञान-यज्ञ का इस तरह वर्णन किया गया है।

वेदोक्तत्वान् मन.शुद्धया कर्मयज्ञोऽपि योगिन: !
ब्रह्मयज्ञ इतिच्छन्त: श्येनयागं त्यजन्ति किम् ?॥३॥२१६॥

अर्थ : "वेदो मे कहा गया होने से मनःशुद्धि द्वारा किया गया कर्मयज्ञ भी ज्ञानयोगी के लिए ब्रह्म यज्ञ-स्वरुप है ।" ऐसी मान्यतावाले भला 'श्येनयज्ञ' का त्याग क्यो करते है ?

विवेचन : 'वेदोक्त है अतः सच्चा', यह मान्यता कैसे स्वीकार की जाए ? भले ही मनःशुद्धि हो और सत्त्वशुद्धि भी हो, फिर भी ऐसा कर्म-यज्ञ कदापि उपादेय नही है, जिस मे घोर हिंसा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है ! और जिस में अज्ञानता की दृष्टि रही हुई है !

वेदोक्त यज्ञ के आयोजको से कोई प्रश्न करे कि, 'यदि हम मान-सिक-शुद्धि सह 'श्येन यज्ञ' का आयोजन करें तो ?' वे उस का निषेध करेंगे। वास्तव मे वेदोक्त यज्ञो के परमार्थ को आत्मसात् किये विना ही सिर्फ अपनी ही मति-कल्पना के वशीभूत हो, हिंसाचार-युक्त पाप-प्रचुर यज्ञ कदापि स्वीकार्य नही हो सकते, ना ही कर्मयज्ञ को ब्रह्मयज्ञ कह सकते है।

सर्वप्रथम ध्येय की शुद्धि करो । कहाँ जाना है ? क्या पाना है ? इसका स्पष्टीकरण होना आवश्यक है। क्या मोक्ष में जाना है ? मोक्ष का ध्येय स्पष्ट हो गया है ? विशुद्ध आत्म-स्वरूप प्राप्त करना है ? तब पाप-प्रचुर कर्मयज्ञ करने का क्या प्रयोजन ? अर्थात् ऐसे यज्ञ का कोई प्रयोजन नही है । अपने जीवन का हर पल, हर क्षण ज्ञान-यज्ञ मे लगा दो ? बस, दिन-रात अहर्निश ज्ञान-यज्ञ शुरू रहना चाहिए।

ब्रह्मयज्ञ: परं कर्म गृहस्थस्याधिकारिण: ।
पूजादि वीतरागस्य ज्ञानमेव तु योगिन: ॥४॥२२०॥

अर्थ :– अधिकारी गृहस्थ के लिए केवल वीतराग का पूजन-अर्चन आदि ब्रह्म-यज्ञ है , जबकि योगी के लिए ज्ञान ही ब्रयह्मज्ञ है ।

विवेचन :– क्या ब्रह्मयज्ञ करने का अधिकार सिर्फ मुनिवरो को ही है ? क्या योगीजन ही ब्रह्मयज्ञ कर सकते है ? जो गृहस्थ है, उन्हे क्या करना चाहिए ? क्या गृहस्थ ब्रह्मयज्ञ नही कर सकते ? अवश्य कर सकते है , लेकिन इसके वे अधिकारी होने चाहिए , योग्यता प्राप्त

करनी चाहिए। योग्यता प्राप्त किये बिना वे ब्रह्मयज्ञ नही कर सकते। और वह योग्यता है मार्गानुसारी के पतीस गुणो की। 'न्यायसम्पन्न-वैभव' से लगाकर 'सौम्यता'-पर्यंत मार्गानुसारी के पैतीस गुणो से मानव-जीवन सुरभित होना चाहिए। तभी वह ब्रह्मयज्ञ करने का अधिकारी है।

गृहस्थ-जीवन म थोडे बहुत प्रमाण मे हिंसादि पाप अनिवाय होते हैं। फिर भी अगर जीवन मार्गानुसारी है तो वह ब्रह्मयज्ञ कर सकता है। उसका ब्रह्मयज्ञ है वीतराग का पूजन-अर्चन, सुपात्रदान और श्रमण-सेवा। हालाकि इस तरह का ब्रह्मयज्ञ करने मे दो प्रश्न उपस्थित होते हैं। लेकिन उसका सरल / सहज भाव से समाधान करने से और उसे मान्य करने से मन नि शक बनता है।

प्रश्न - परमात्म-पूजन या सुपात्र दान, साथ ही साधुसेवा और साधर्मिकभक्ति मे राग अवश्यम्भावी है जबकि जिनेश्वरदेव ने राग को हेय कहा है, तब परमात्म-पूजनादि स्वरुप ब्रह्मयज्ञ भला उपादेय कसे सम्भव है?

समाधान - राग दो प्रकार का होता है प्रशस्त और अप्रशस्त। नारी, धनसम्पदा यश वैभव और शरीर जसे पदार्थों के प्रति जो राग होता है वह अप्रशस्तराग कहा गया है। जबकि परमात्मा, गुरू और धर्म विषयक राग प्रशस्त -राग कहलाता है। अप्रशस्त राग से मुक्ति पाने हेतु प्रशस्त राग का अवलबन ग्रहण करना ही पडता है। प्रशस्त-राग के दृढ होने पर अप्रशस्त-राग की शक्ति उत्तरोत्तर क्षीण होती जाती है। प्रशस्त-राग मे पाप-बधन नही होता। अत जिन जिनेश्वर देवन अप्रशस्त राग को हेय बताया है, वे ही जिनेश्वर भगवन ने प्रशस्त राग को उपादेय कहा है। यह सब सापेक्षदृष्टि की देन है।

प्रश्न - माना कि प्रशस्त-राग उपादेय है, लेकिन परमात्म-पूजन मे प्रयोजित जल, पुष्प, धूप, दीपादि पदार्थों के उपयोग से हिंसा जो होती है, तब ऐसी हिंसक-क्रिया का प्रय क्या है? साथ ही हिंसक क्रियाओं से युक्त अनुष्ठान को 'ब्रह्मयज्ञ' कसे मान लें?

समाधान - हालाकि परमात्मा की द्रव्य पूजा मे 'स्वरूपहिंसा' समवित है। लेकिन अनेक आरम्भ-समारम्भ मे रत गृहस्थ के लिए द्रव्य-पूजा

आवश्यक है। स्वरूपहिंसा से सम्पन्न कर्म-बंधन नहीं के बराबर होते हैं। द्रव्य पूजा के कारण उत्पन्न शुभ भावों से वे पापकर्म नष्ट हो जाते हैं। गृहस्थ शुद्ध ज्ञानदशा में रमण नहीं कर सकता है, अतः उसके लिए द्रव्य-क्रिया करना अनिवार्य है। द्रव्य-पूजा के माध्यम से परमात्मा के प्रति जीव का प्रशस्त-राग का अनुबंधन होता है। साथ ही उक्त रागानुबन्धन से प्रेरित हो, परमात्मा की आज्ञा का पालन करने की शक्ति प्राप्त होती है और शक्ति बढने पर, क्रमशः वृद्धि होने पर वह गृहस्थ-जीवन का परित्याग कर मुनि-जीवन का स्वीकार कर लेता है। तब उसके लिए द्रव्य-क्रिया आवश्यक नहीं होती, जिससे स्वरूपहिंसा सम्भव है।

एक प्रवासी! गर्मी का मोसम! मध्याह्न का समय! सतत प्रवास से श्रमित। मारे प्यास के गला सूख रहा है। भीषण आतप से अंग-प्रत्यंग झुलस रहा है! आकुल-व्याकुल हो चारों ओर दृष्टि-पात करता है। नजर पहुँचे वहां तक न कोई पेड़ है, ना ही प्याऊ अथवा कुआँ! मन्थर गति से आगे बढता है। यकायक नदी दिखायी देती है। प्रवासी राहत की सांस लेता है। लेकिन नजदीक जाने पर वह भी सूखी नजर आती है। वह मन ही मन विचार करता है: "थक गया हूँ! पानी का कहीं ठोर-ठिकाना नहीं। प्यास की वेदना सही नहीं जाती! यह नदी भी सूखी है। अगर गड्ढा खोदू तो पानी मिल भी जाए, लेकिन थकावट के कारण इतनी शक्ति नहीं रही। साथ ही गड्ढा खोदते हुए वस्त्र भी गन्दे हो जाएँगे... तब क्या करूँ?" कुछ क्षण वह शून्यमनस्क खड़ा रहा। विचार-तरंगे फिर उठने लगीं। "भले थक गया हूँ, वस्त्र मलिन हो जाएँगे, लेकिन गड्ढा खोदने के पश्चात् जब पानी मिलेगा तब मेरी प्यास बुझ जाएगी, राहत की सांस ले सकूँगा; शान्ति का अनुभव होगा और मलिन वस्त्र स्वच्छ भी कर सकूँगा।" सहसा उसमें अदम्य उत्साह का संचार हुआ! उसने गड्ढा खोदा! थोड़ी-सी मेहनत से ठंडा पानी मिल गया! जी भर कर पानी पिया, अंग-प्रत्यंगपर पानी छिड़क कर राहत की सांस ली, दिल खोल कर नहाया और कपड़े धोये।....

ठीक वैसे ही जिनपूजा करते हुए स्वरूपहिंसा के कारण भले ही

आत्मा तनिक मैली हो जाएँ। लेकिन जिनपूजा के कारण जब शुभ और शुद्ध अध्यवसाय का प्रगटीकरण होगा तब नि सन्देह आत्मा का सब मल धुल जाएगा। भव-भ्रमण का सारा श्रम क्षणार्ध में शान्त हो जाएगा और परमानन्द की प्राप्ति होगी। गृहस्थ को यो ब्रह्मयज्ञ करना है, जबकि ससार-त्यागी अणगार को तो ज्ञान का ही ब्रह्मयज्ञ करना है। उसके लिए जिनपूजा का द्रव्य-अनुष्ठान आवश्यक नही।

भिन्नोद्देशेन विहित कम कर्मक्षयाक्षमम ।
यलृप्तभिन्नाधिकार च पुत्रेष्ट्यादिवदिष्यताम ॥५॥२२१॥

अथ – भिन्न उद्देश्य को लेकर शास्त्र म उल्लेखित अनुष्ठान कर्म-क्षय करने मे असमर्थ है। कल्पित है भिन्न अधिकार जिसका ऐसा पुत्रप्राप्ति के लिये किया जाता यज्ञ वगैरह की तरह मानो।

विवेचन – तुम्हारा उद्देश्य क्या स्पष्ट है? तुम्हारा ध्येय निश्चित है? तुम्हें क्या प्राप्त करना है? क्या बनना है? कहा जाना है? जो तुम्हें प्राप्त करना है और जिसके लिए तुम पुरूषार्थ कर रहे हो क्या वह प्राप्त होगा? जो तुम बनना चाहते हो, वसे क्या तुम्हारी प्रवृत्ति मे बन पाओगे? -जहा तुम्हे जाना है, वहा तुम पहुँच सकोगे क्या?

वास्तव मे देखा जाएँ तो तुम्हारे सारे काय कलाप इच्छित उद्देश्य/ध्येय मे शत-प्रतिशत विपरीत है। तुम्हे सिद्धि प्राप्त करनी है न? परम आनन्द, परम सुख की प्राप्ति हेतु तुच्छ आनन्द और क्षणिक सुख से मुक्ति चाहते हो? तुम्हें परमगति प्राप्त करनी है क्या? तब चार गति के परिभ्रमण से मुक्त होना चाहते हो? तुम्हे सिद्ध-स्वरूपी बनना है? तब निरतर परिवर्तनशील कर्म-जन्य अवस्था मे छूटने का पुरूषार्थ करते हो? तुम्हे शाश्वत्-शान्ति की मजिल पर पहुँचना है न? तब सासारिक अशान्ति, सन्ताप और क्लेश से परिपूर्ण स्थानों का परित्याग करने की तत्परता रखते हो न?

तुम्हारा लक्ष्य है इन्द्रियजन्य विषय-भोगो का, और पुरूषाथ करते हो धर्म का। तुम्हे चार गति मे सतत परिभ्रमण करना है और प्रयत्नशील हो धर्म-ध्यान के लिए। तुम्हें आकठ डूबे रहना है कर्म-जन्य प्रयत्नशील अवस्था मे और मेहनत करते हो धर्म की। उफ् कसी विडम्बना है कथनी और करनी मे? यदि हमारा ध्येय और

पुरूषार्थ परस्परविरोधी होगा तो कार्य-सिद्धि असंभव है ।

कर्मक्षय के पुरूषार्थ और पुण्य-बंधन के पुरूषार्थ मे जमीन-आसमान का अन्तर है । पुण्य-बंधन हेतु आरम्भित पुरुषार्थ से कर्म-क्षय असम्भव है । हालाँकि पुण्य-बंधन के विविध उपाय शास्त्रो मे अवश्य बताये गये हैं । लेकिन उन उपायो से कर्म-क्षय अथवा सिद्धि नही होगी , पुण्य-बन्धन अवश्य होगा!

कोई कहता है: "हिंसक यज्ञ मे भी विविदिषा (ज्ञान) विद्यमान है।" लेकिन यह सत्य नही है। हिंसक यज्ञ का उद्देश्य अभ्युदय है, निःश्रेयस् नही । साथ ही निःश्रेयस के लिए हिंसक यज्ञ नही किया जाता ! पुत्र-प्राप्ति के लिए सम्पन्न यज्ञ मे विविदिषा नही होती, ठीक उसी तरह सिर्फ स्वर्गीय सुखो की कामना से सम्पन्न दानादि क्रियाएँ भी सुख-प्राप्ति हेतु नही होती ।

अलबत्त, दानादि क्रियाओ को यहाँ हेय नहीं बतायी गयी है, परंतु उससे पुण्य-बंधन होता है, यह बताया गया है । यदि तुम्हारा ध्येय कर्मक्षय ही है, तो ज्ञान-यज्ञ करो ! लेकिन ऐसी भूल कदापि न करना की पुण्य-बंधन की क्रियाओ का परित्याग कर पाप-बंधन की क्रियाओ मे सुध-बुध खो बैठो और कर्म-क्षय का उद्देश्य ही भूल जाओ ।

ब्रह्मार्पणमपि ब्रह्मयज्ञान्तर्भावसाधनम् ।
ब्रह्माग्नौ कर्मणो युक्त स्वकृतत्वस्मये हुते ।।६।।२२२।।

अर्थ : ब्रह्म यज्ञ मे अन्तर्भाव का साधन, ब्रह्म को समर्पित करना, लेकिन ब्रह्मरूप अग्नि मे कर्म का और स्व-कर्तृत्व के अभिमान का योग करते हुए भी युक्त है ।

विवेचन : गीता में श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं :

कांक्षतः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मणा ।।
—अध्याय, ४ श्लोक १२

"मानव-लोक मे जो लोग कर्मो की फलसिद्धि को चाहते हुए देवी-देवताओं का पूजन करते हैं, उन्हे कर्म-जन्य फलसिद्धि ही प्राप्त होती है।"

प्राकृत मनुष्य सदैव कम करता रहता ह और फल की इच्छा सजोये निरन्तर दु खी रहता है। इस दुदशा मे से जीवो को मुक्त करने उपदेश दिया जाता है कि कम के कतृत्व का मिथ्याभिमान हमेशा के लिए छोड दो! 'यह मैंने किया है, इसका कता मैं हू!' आदि कत त्व के अहकार को ब्रह्मरूप अग्नि मे स्वाहा कर दो, होम दो। और नित्य प्रति यह भावना जागृत रखो कि 'मैं कुछ भी नही करता।' इसी भावना मे कमक्षय सभव है। यही कमयज्ञ ब्रह्मयज्ञ का मूल साधन है। गीता मे कत त्व के अभिमान को तजने को कहा गया है

ब्रह्मार्पण ब्रह्महविब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्म व तेन ग तव्य ब्रह्मकमसमाधिना॥
—अध्याय, ४, श्लोक २४

"अपण करने की क्रिया ब्रह्म है। होमने की वस्तु ब्रह्म है। ब्रह्म-रूप अग्नि मे ब्रह्मरूप होमनेवाले ने जो होमा है वह भी ब्रह्म है और ब्रह्मरूप कम-समाधि वाले का प्राप्ति स्थान भी ब्रह्म है।"

अर्थात् 'जो कुछ है, वह ब्रह्म है ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नही। न मैं हूँ और ना ही कुछ मेरा है! इस तरह 'अह को भूलने के लिए ही यत्न करना है। जो कुछ भी है, उसे ब्रह्म मे ही होम देना है। 'अह' को भी ब्रह्म मे स्वाहा कर देना है। यही वास्तविक ब्रह्मयज्ञ है। 'अह' रूपी पशु को ब्रह्म मे स्वाहा कर यज्ञ करने का उपदेश दिया गया है।

जो कुछ बुरा हुआ तब 'मै क्या करू भगवान की यही मर्जी थी।' कह कर जीव उसे भगवान को अपण कर देता है, उनके नाम पर थोप देता है। लेकिन जो अच्छा होता है, इच्छानुसार होता है और मन पसद भी, 'यह मैंने किया है मेरे पुण्योदय के कारण हुआ है।' कह कर मिथ्याभिमान का सरेआम ढिंढोरा पिटना निरी मूखता और मूढता है। जब कि भगवान के अस्तित्व के प्रति अटूट श्रद्धाधारक तो प्राय यही कहता है कि 'जो कुछ होता है भगवान की मर्जी से होता है।' उसके हर विचार, हर चितन, और प्रत्येक व्यवहार का सूत्र भगवान के साथ जुडा हुआ है! उसमे अपना कुछ भी नही होता, ना ही

अहकार का नामोनिशान !

'नाहं पुदगलभावानां कर्ता कारयितापि च ।'

"मैं पुद्गलभावो का कर्ता नही हूँ, ना ही प्रेरक भी ।' यह विचार ग्रन्थकार महर्पिने हमे पहले ही बहाल कर दिया है। अत. कर्तृत्व का मिथ्याभिमान ब्रह्म यज्ञ मे नष्ट कर दो–यही इप्ट है, इच्छानीय भी।

ब्रह्मण्यर्पितसर्वस्वो ब्रह्मदृग् ब्रह्मसाधनः ।
ब्रह्मणा जुहूवदब्रह्म ब्रह्मणि ब्रह्मगुप्तिमान् ॥७॥२२३॥
ब्रह्माध्ययननिष्ठावान् परब्रह्मसमाहित. ।
ब्रह्मणो लिप्यते नाघैर्नियागप्रतिपत्तिमान् ॥८॥२२४॥

अर्थ : जिसने अपना सर्वस्व ब्रह्मार्पण किया है, ब्रह्म मे ही जिसकी दृष्टि है और ब्रह्मरूप ज्ञान ही जिस का एकमात्र साधन है-ऐसा (ब्राह्मण) ब्रह्म मे अज्ञान (असयम) को नष्ट करता ब्रह्मचर्य का गुप्ति-धारक, 'ब्रह्माध्ययन' का * मर्यादावान् और पर ब्रह्म मे समाविस्थ भावयज्ञ को स्वीकार करनेवाला निर्ग्रन्थ किसी भी पाप से लिप्त नही होता ।

विवेचन : खुद का कुछ भी नही ! जो कुछ है सब ब्रह्म-समर्पित ! धन-धान्य, ऐश्वर्य-वैभवादि तो अपना नही ही, यहाँ तक कि शरीर भी अपना नही....। अरे, शरीर तो स्थूल है, लेकिन सूक्ष्म ऐसे मन के विचार भी अपने नही ....। किसी विचारविशेष के लिए हठाग्रह नही ! उस की दृष्टि सिर्फ ब्रह्म की ओर ही लगी रहती है। सिवाय ब्रह्म के कुछ दृष्टिगोचर नही होता ! भले ही फिर उसकी ओर अनगिनत नजरे लगी हो....लेकिन उस की निर्निमेष दृष्टि सिर्फ ब्रह्म की ओर ही लगी रहती है ! साथ ही उसके पास जो ज्ञान होता है वह भी ब्रह्म-ज्ञान ही होता है। ब्रह्मज्ञान अर्थात् आत्म-ज्ञान ! उपयोग सिर्फ आत्म-ज्ञान का ही, अर्थात् सदैव मानसिक जागृति के माध्यम से ब्रह्म मे लीनता ही अनुभव करे ।

और जबतक उस के पास अज्ञान के इंधन हो तबतक वह उसे ब्रह्म मे ही स्वाहा करता रहे। जला कर भस्मीभूत कर दें। साथ ही

* परिशिष्ट मे देखिए 'ब्रह्माध्ययन'

ब्रह्म की लीनता मे बाधक ऐसे हर तत्त्व को ब्रह्माग्नि मे स्वाहा करते तनिक भी हिचकिचाहट अनुभव न करें ।

दृढ सकल्प के साथ आचरित ब्रह्मचर्य-व्रत से योगी के आत्मबल म वृद्धि होती है। वह आत्मज्ञान की अग्नि मे कर्मबलि देते जरा भी नहीं थकता । कोई आचार-मर्यादा के पालन मे उसे अपने मन को नियत्रित नही करना पडता, बल्कि वह सहज ही उस का पालन करता रहता है। 'आचारांगसूत्र' के प्रथम श्रुतस्कध के नौ अध्ययनो म उल्लिखित मुनि-जीवन की निष्ठाएँ वह अपने जीवन मे सम्नतापूवक कार्यान्वित करता है। क्योकि परब्रह्म के साथ उस ने एकता की कडी पहले ही जोड ली होती है।

वास्तव मे ऐसा है ब्रह्मयज्ञ और ऐसा है ब्रह्मयज्ञ का कर्ता/करने-वाला ब्राह्मण ! ब्राह्मण भला, क्या पाप लिप्त होगा ? ऐसा ब्राह्मण भला कर्मबधनो म जकड जाएगा क्या ? नहीं, हर्गिज नहीं । किसी ब्राह्मणी की कुक्षी मे उत्पन्न हुआ वह ब्राह्मण ? नहीं नही जो ब्रह्मयज्ञ करे वह ब्राह्मण ! ब्राह्मण बनने के लिए निरे अज्ञानतापूर्ण यज्ञ-कर्म करने से काम नहीं चलता ! पूज्यपाद उपाध्यायजी महाराज ने ब्राह्मण को ही श्रमण, भिक्षु और निर्ग्रन्थ कहा है ! फिर भले ही वह श्रमण हो, भिक्षु हो या निर्ग्रन्थ हो-वह सिर्फ ब्रह्मयज्ञ का कर्ता और करानेवाला होना आवश्यक है ! उस के जीवन मे सिवाय ब्रह्म और कोई तत्त्व न हो, पदार्थ न हो और ना ही कोई वस्तु ! उस की तन्मयता, तल्लीनता, प्रसन्नता जो भी हो वह ब्रह्म हो।

सारांश -भाव-यज्ञ करो !

—निष्काम यज्ञ करो !

—हिंसक यज्ञ वर्ज्य हो ।

—गृहस्थ के लिए वीतराग की पूजा ब्रह्मयज्ञ है ।

—कर्म-क्षय के उद्देश्य से भिन्न आशय को लेकर किया गया पुरुषार्थ कर्म-क्षय नहीं करता ।

—स्व कर्तृत्व के मिथ्याभिमान को ब्रह्मयज्ञ की अग्नि मे स्वाहा कर दो !

—ब्राह्मण का वास्तविक अर्थ समझो !

—ब्रह्म की परिणति वाला ब्राह्मण कहलाता है ।

२९ भावपूजा

मुनिराज ! आतमदेव की आपको पूजा करनी है । स्नान करना है और ललाट-प्रदेश पर तिलक भी लगाना है ! देव के गले में पुष्पमाला आरोपित करनी है और धूप-दीप भी करना है ।

किसी प्रकार के बाह्य द्रव्य की अपेक्षा नहीं, ना ही कोई बाह्य प्रवृत्ति ! यह है मानसिक भूमिका का पूजन-अर्चना। वैसे, ऐसा पूजन-अर्चन करने का अधिकार सिर्फ साधु-श्रमणों को ही है, लेकिन गृहस्थ नहीं कर सकते, ऐसी बात नहीं है। गृहस्थ भी बेशक कर सकते है...। परन्तु वे साधना-आराधना की दृष्टिवाले हों ।

कभी-कभार तो कर लेना ऐसी अद्भूत भावपूजा ! अपूर्व आह्लाद की अनुभूति होगी ।

दयाम्भसा कृतस्नान, सतोषशुभवस्त्रभृत् ।
विवेकतिलकभ्राजी, भावनापावनाशय ।।१।।२२५।।
भक्तिश्रद्धानघुसृणोन्मिश्रपाटीरजद्रवै ।
नवब्रह्माङ्गतो देव, शुद्धमात्मानमर्चय ।।२।।२२६।।

अर्थ दया रूपी जल से स्नात सताप के उज्ज्वल वस्त्र का धारक, विवेक-तिलक से सुशोभित, भावना से पवित्र आशय वाला और भक्ति तथा श्रद्धा-स्वरूप कसरमिश्रित चन्दन से शुद्ध आत्मारूप देव की, नौ प्रकार के ब्रह्मचर्य रूपी नौ अगो का पूजन करें ।

विवेचन पूजन ? तुम्ह किस का पूजन करना है ? पूजन कर क्या प्राप्त करना है ? इस का कभी विचार भी किया है ? नही किया है न ? तुम पूजन करना चाहते हो अरे, तुम किसी का पूजन कर भी रहे हो ! अगणित इच्छाएँ, कामनाएँ और अभिलाषाओ की झोली फैलाकर पूजन का फल माग रहे हो सच है न ? लेकिन यह तो सोचो, तुम स्वय पूजक तो हो ना ? पूजारी हो न ? पूजक अथवा पूजारी बने बिना तुम्हारी पूजा कभी सफल नही होगी, ना ही तुम्हारी मनोकामनायें पूरी होगी। तुम्हारी आकाक्षा और अभिलाषायें सफल नही हो सकेंगी। तभी तो कहता हूँ, सब प्रथम पूजक बनो, पुजारी बनो।

इस के लिये पहला काम स्नानादि से निवृत्त होना है, नहाना है। अरे भाई, स्नान से पाप नही लगेगा। मैं भली भाति जानता हूँ कि तुम मुनि हो और सचित्त जल के प्रयोग से पाप के भागीदार बनोगे, यह भी मेरे ख्याल से बाहर की बात नही है। फिर भी कहता हूँ कि स्नान कर लो। हाँ, तुम्ह ऐसा जल बताऊँगा कि जिस के उपयोग से पाप नही लगेगा !

'दया' के जल से स्नान कर। इस से भी बेहतर है--दया के स्वच्छ, शीतल जलाशय म गोता लगा ले ! याद रख, सरोवर म स्नान करने का निषेध करने वाले ज्ञानी पुरुष भी तुम्हे दयासागर मे गोता लगाने से रोकेंगे नही और ना ही तुम्हारा माग अवरुद्ध करेंगे।

हा, जब तुम स्नान कर दयासागर के किनारे पर आओगे, तब तुम्हारी प्रसन्नता का ठिकाना न रहेगा। क्रूरता का मल पूरी तरह धुल

गया होगा और उस के स्थान पर करुणा का राग भरा आ गया होगा। तुम हर प्रकार से स्वच्छ-पवित्र बन गये होगे।

हे साधक! स्नान के बाद तुम्हें नये वस्त्र धारण करने हैं—सुन्दर और श्वेत वस्त्र! धारण करोगे न? इन वस्त्रों में तुम सुशोभित-आकर्षक लगोगे और तब तुम्हें स्वयं ही एहसास होगा कि, तुम पूजक हो। जानते हो, वस्त्रों का नाम क्या है? वस्त्र का नाम है-'सन्तोष'। सचमुच, कितना प्यारा नाम है! तुम्हें पसन्द आया? पुद्गलभावों की तृष्णा के वस्त्र परिधान कर कोई पूजक नहीं बन सकता। क्योंकि तृष्णा में रति-अरति का द्वन्द्व है और है आनन्द-उद्वेग की अविरत तरंग। ऐसी तृष्णा के रंग-बिरंगे वस्त्र धारण कर तुम पूजक नहीं बन सकते। अतः तुम्हें 'संतोष' के वस्त्र परिधान करने हैं। एक बार इन्हें धारण कर तू पूजक बन जा! यदि पसन्द आ जाएँ, तो दुबारा पहनना। अर्थात् तुम्हें पौद्गलिक पदार्थों की तृष्णा का त्याग करना ही होगा, यदि तुम पूजक बनना चाहो तो।

अरे भाई, कहाँ चल दिये? पूजन करने? जरा रुक जाओ। देव मन्दिर में प्रवेश करने से पूर्व तुम्हें तिलक करना होगा। ललाट-प्रदेश पर तिलक अंकित किये बिना तुम देव-मन्दिर में प्रवेश नहीं पा सकते। तुम्हारी काया दयासागर में स्नान करने से कैसी सुन्दर और लुभावनी हो गयी है! संतोष-वस्त्र परिधान करने से तुम कैसे मोहक, आकर्षक लग रहे हो? अब तुम 'विवेक' का तिलक लगाकर देखो। देवराज इन्द्र भी तुम्हारे सौन्दर्य की स्तुति करते नहीं थकेगा!

'विवेक' का तिलक! विवेक यानी भेद-ज्ञान। जड-चेतन का भेद समझ, चेतन आत्मा की ओर मुडना। जड-पदार्थ यानी शरीर में रही आत्मबुद्धि का परित्याग कर, 'शरीर से मैं (आत्मा) भिन्न हूँ।' इस तरह की श्रद्धा दृढ करना।'शुद्धात्मद्रव्यमेवाहम्,' 'मैं ही शुद्ध-विशुद्ध आत्म-द्रव्य हूँ।' ऐसे ज्ञान से आत्मा को भावित करने का नाम ही विवेक है। ऐसे विवेक का तिलक लगाना पूजक के लिये परमावश्यक है। सदा स्मरण रखना, इस विवेक-तिलक से तुम्हारी शोभा/सुन्दरता के साथ-साथ आत्मविश्वास भी बढेगा और तुम्हे प्रतीत होगा कि तुम पूजक हो।

अब तुम्हें अपने विचारो को पवित्र बनाना है। जिस परम आत्मा का पूजन करने की तुम्हारी उत्कट इच्छा है, उनके(परमात्मा के)गुणो मे तन्मयता साधने की भावनाओ के द्वारा अपने विचारो को पवित्र बनाना है। अर्थात्, शेष सभी भौतिक कामनाओ की अपवित्रता तज कर केवल परमात्मगुणो की ही एक अभिलाषा लेकर तुम्हें परमात्म-मन्दिर के द्वार पर पहुँचना है। जब तक परमात्म-गुणो का ही एक मात्र आकर्षण और ध्यान दृढ न हो जाए, तब तक आशय-पावित्र्य की अपेक्षा करना वृथा है और देवपूजन के लिये आशय-पवित्रता के बिना चल नही सकता।

चलो, अब केशर का सुवर्णपात्र भर लो। अरे भई, यह केशर लो और यह चन्दन। शिला पर घिसना शुरू कर दो। भक्ति का केशर श्रद्धा के चन्दन से खूब घिसो, जी भरकर घिसो। भक्ति का लाल रंग और श्रद्धा की मोहक सौरभ। केशरमिश्रित चन्दन से पूरा सुवर्ण-पात्र भर दो।

परमाराध्य परमात्मा की आराधना के अंग-प्रत्यंग मे अदम्य उत्साह और अपूर्व आनन्द। साथ ही 'यह परमात्मा-आराधना ही परमार्थ है,' ऐसा दृढ विश्वास। अरे, उस प्रेम-दीवानी मीरा का तो तनिक स्मरण करो। कृष्ण के प्रति उसके हृदय मे रही अपूर्व श्रद्धा और भक्ति के कारण वह प्रसिद्ध हो गयी। उसकी दुनिया ही कृष्णमय बन गयी थी।

अब मन्दिर मे चलो।

मंदिर को बाहर कही खोजने की आवश्यकता नही, ना ही दूर-सुदूर उसकी खोज में जाने की आवश्यकता है। तुम अपनी देह को ही स्थिर दृष्टि से, निर्निमेष नजर से निरखो। यही तो वह मन्दिर है। जानते हो, देव इसी देह-मन्दिर मे विराजमान हैं, प्रतिष्ठित है। लो, तुम तो आश्चर्यचकित हो गये? वैसे, आश्चर्य करने जैसी ही बात है। देह के मन्दिर मे ही शुद्ध आत्मदेव प्रतिष्ठित हैं। उनके दर्शनार्थ आँखे मूदनी होगी- आन्तर दृष्टि खोलनी होगी। दिव्य विचारो का आधार लेना होगा।

शुद्ध आत्मा का तुम्हें नवांग-पूजन करना होगा। नवविध ब्रह्मचर्य ही शुद्धात्मा के नौ अंग हैं।

हे पूजारी। तुम शुद्ध आत्म-स्वरूप की ओर अभिमुख हो गये; दया, संतोष, विवेक, भक्ति और श्रद्धा से तरवतर हो गये। अब तो ब्रह्मचर्यपालन तुम्हारे लिए सरल हो गया। अब्रह्म की असह्य दुर्गन्ध तुम सह नही सकोगे। तुम्हारी दृष्टि रूप-पर्याय मे स्थिर होना संभव नही; ना ही शरीर-पर्याय मे लुब्ध। बल्कि तुम्हारी दृष्टि सदा-सर्वदा विशुद्ध आत्म-द्रव्य पर ही स्थिर होगी। फिर भला, नारी-कथायें सुनना और सुनाना, उनके आसन पर बैठना और नर-नारी की काम-कहानियाँ, कान लगाकर सुनने का तुम्हारे जीवन मे हो ही नही सकता। मेवा-मिठाई, छप्पन प्रकार के भोग और रसीले फलो का स्वाद लूटने की महफिले जमाना अथवा मिष्ट भोजन पर अकाल-पीडितो की तरह टूट पड़ना, हाथ मारने का तुम्हारी कल्पना मे हो ही नही सकता। शरीर का श्रृंगार कर या अन्य जीवों को अपनी ओर आकर्षित करने का ख्याल स्वप्न मे भी कहाँ से हो?

हे प्रिय पूजक! पूज्य उपाध्यायजी महाराज ने न जाने हमे कैसा रोमांचकारी पूजन बताया है? यह है भाव-पूजन। यदि हम दीर्घावधि तक सिर्फ द्रव्य-पूजन ही करते रहे और एकाध बार भी भाव-पूजन की ओर ध्यान न दिया, तो क्या हम पूर्णता के शिखर पर पहुँच सकेंगे? अतः हमे यह दिव्य-पूजन नित्य प्रति करना है।

किसी एकान्त, निर्जन भू-प्रदेश पर बैठ, पद्मासन लगा कर और आँखे मूद कर पूजन प्रारंभ करो। फिर भले ही इसमे कितना भी समय व्यतीत हो जाए, तुम इसकी तनिक भी चिन्ता न करो। शुद्ध आत्म-द्रव्य का घटो तक पूजन-अर्चन चलने दो। फलतः तुम्हे अध्यात्म के अपूर्व आनन्द का-पूर्णानन्द का अनुभव होगा। साथ ही तुम साधना-पथ का महत्त्व और मूल्य समझ पाओगे। भाव-पूजा की यह क्रिया कपोलकल्पित नही है, बल्कि रस से भरपूर कल्पनालोक है। विषय-विकारों का निराकरण करने का प्रशस्त पथ है।

स्नान से लगाकर नवांग-पूजन तक का क्रम ठीक से जमा लो।

क्षमापुष्पस्रजं धर्मयुग्मक्षौमद्वयं तथा।
ध्यानाभरणसारं च, तदङ्गे विनिवेशय॥३॥२२७॥

अर्थ :- क्षमा रुपी फूलो की माला, निश्चय और व्यवहार-धर्म रुपी दो वस्त्र

और ध्यानरूप श्रेष्ठ अलंकार आत्मा के अंग पर परिधान करें।

विवेचन – आतमदेव के गले में आरोपण करने की माला गूंथ ली है ? तैयार कर ली है ? वह माला तुम्हें ही गूंथनी है। क्षमा की मृदु सुरभि से युक्त प्रफुल्लित पुष्पों की माला गूंथकर तैयार रखें !

क्षमा के एक-दो पुष्प नहीं, बल्कि पूरी माला ! अर्थात् एकाध बार क्षमा करने से काम नहीं चलेगा, अपितु बार-बार क्षमा की सौरभ फैलानी होगी। क्षमा को सदैव हृदय में बिठाये रखो। क्षमा-पुष्प की मीठी महक ही तुम्हारे अंग-प्रत्यंग से प्रस्फुरित होती रहे ! जिस मनुष्य के गले में गुलाब के पुष्पों की माला हो, उस के पास यदि कोई जाए तो भला किस चीज की सुवास आएगी ? गुलाब की न ? इसी तरह हे साधक ! यदि कोई तुम्हारे निकट आए तो वह क्षमा की सौरभ से तरबतर हो जाना चाहिये। फिर भले ही वह साधु हो या कोई खूंखार डकैत, ज्ञानी हो या अज्ञानी, निर्दोष हो या दोषी !

ध्यान रखना, कहीं क्षमा के पुष्प मुरझा न जाएँ। उन्हें सदैव-तरोताजा पूर्ण विकसित रखना। क्षमा प्रदान करने का प्रसंग भला कब उपस्थित होता है ? जब कोई हमारे साथ वैर-वृत्तियुक्त व्यवहार करता है, हम पर क्रोध करता है और सरेआम हमारी निन्दा अपमान करते नहीं अघाता। ऐसे समय हम किसी पर क्रोध न करें, पलट कर उस पर प्रहार न करें ना ही उसके प्रति जरा भी अरूचि व्यक्त करें ! इसी का नाम क्षमा है। जानते हो न तुम 'क्षमा वीरस्य भूषणम्' क्षमा वीर पुरूष का अनमोल आभूषण है। यही तो रहस्य है-आत्मा के गले मे क्षमा के सुगंधित पुष्पों की माला आरोपित करने का। आत्मा की यह पुष्प-पूजा है। इसी रहस्य के प्रतीकस्वरूप मनुष्य परमात्मा की मूर्ति को पुष्प अर्पित करता है, पुष्पमाला पहनाता है।

निश्चयधर्म और व्यवहारधर्म ये दो सुंदर वस्त्र हैं, जिन्हें हमें आतम देव को परिधान कराना है। कम से कम दो वस्त्र तो शरीर पर होने चाहिए न ? एक अधो वस्त्र और दूसरा उत्तरीय ! और आतम-देव के दो वस्त्र हैं निश्चय और व्यवहार। अकेले निश्चय से भी काम नहीं बनता, ना ही अकेले व्यवहार से। व्यवहार-धर्म आतम देव का अधो-वस्त्र है, जबकि निश्चय धर्म उत्तरीय वस्त्र ! दोनों का होना अत्यावश्यक है।

माला और वस्त्रपरिधान कराने के पश्चात् अलकार पहनाने जरूरी हैं। बिना इनके आतमदेव की शोभा मे चार चाँद नही लग सकते। **अलंकार का नाम है –'ध्यान'**। धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान आतमदेव के अलंकार हैं। अलंकार कीमती होने से धारण करने पर चोर-डकैतों का डर प्राय: बना रहता है। फलस्वरूप हमारा धर्मध्यान कोई चोर-डकैत लूट न ले जाए, इस की सावधानी बरतना निहायत जरूरी है।

कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मा की श्री और शोभा ध्यान से है। धर्म-ध्यान के चार आलंबन :-वाचना, पृच्छना (पृच्छा), परावर्तन और धर्म-कथाओ मे तन्मय रहना है। श्रुतज्ञान में रमणता पाना है। चार प्रकार की अनुप्रेक्षाओं का अनुसरण करना है। अनित्य भावना भाते रहो और अशरण भावना से भावित बनो। एकत्व भावना और संसार भावना का चिन्तन-मनन करो। साथ ही आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और स स्थानविचय का निरतर चिन्तन करो।

ख्याल रहे, हमे आत्मा का पूजन निम्नानुसार करना है-
- क्षमा-पुष्पो की माला आरोपित करना है,
- निश्चय-धर्म और व्यवहार-धर्म रूपि दो वस्त्र परिधान कराना है,
- धर्म-ध्यान और शुक्लध्यान के अलंकारो से सजाना है!

आतमदेव कैसे तो सुशोभित दृष्टिगोचर होगे! उन के दर्शनमात्र से मन-मयूर नृत्य कर उठेगा, झूम उठेगा और तब अन्य किसी के दर्शन करने की इच्छा ही नही होगी!

मदस्थानभिदात्यागैर्लिखाग्रे चाष्टमंगलम्।
ज्ञानाग्नौ शुभसंकल्पकाकतुण्डं च धूपय ।।४।।२२८।।

अर्थ :- आत्मा के आगे मदस्थानक के भेदों का परित्याग करते हुए अष्टमगल (स्वस्तिकादि) का आलेखन कर और ज्ञानरुपी अग्नि मे शुभसकल्प-स्वरुप कृष्णागरु धूप कर!

विवेचन :- वर्तमान मे प्रचलित पूजन-विधि मे अष्टमगल का आलेखन नही किया जाता। लेकिन अष्ट मगल की पट्टी का पूजन किया जाता है।

करना है आलेखन और उद्देश्य है-आठ मदो के त्याग का! एक-एक मगल का आलेखन करते हुए एक-एक मद का त्याग करने की

भावना प्रदर्शित करते रहना ।

- कर्माधीन जीवो का एक गति से दूसरी गति मे निरन्तर आवागमन होता रहता है, तब भला किसकी जाति शाश्वत् रहती है ? अत मैं जाति का अभिमान नही करूँगा ।
- यदि शील अशुद्ध है तो कुलाभिमान किस काम का ? साथ ही अगर मेरे पास गुण-वैभव का भडार है, तो भी कुलाभिमान किस काम का ?
- हड्डी-मास और रुधिर जैसे गदे पदार्थों के भडारसदृश और व्याधि-वृद्धावस्था से ग्रस्त इस शरीर के सौदय का भला गव किसलिये?
- बलशाली क्षणार्ध मे निर्बल बन जाता है और निर्बल बलशाली ! बल अनियत है, शाश्वत् नही है तब उस का गर्व किसलिये ?
- भौतिक पदार्थों की प्राप्ति अप्राप्ति कर्माधीन है तब लाभ मे फलकर कुप्पा क्यो होना ?
- जब मैं पूर्वधर महान आत्माओ के अनत विज्ञान की कल्पना करता हूँ, तब उन की तुलना मे अपनी बुद्धि तुच्छ लगती है। अत बुद्धि का अभिमान किसलिये ?
- और तप का घमड ? अरे बाह्य-आभ्यन्तर तपश्चर्या की घोर और उग्र आराधना करने वाले तपस्वी-महर्षियो का दर्शन करता हूँ,तब अनायास मैं नतमस्तक हो जाता हूँ ।
- ज्ञान का मद हो ही नही सकता । जिस का आधार ग्रहण कर पार उतरना है, भला उसका आलबन लेकर डूबना कौन चाहेगा ? श्री स्थूलिभद्रजी का ज्वलन्त उदाहरण भूलकर भी ज्ञानमद नही करने देगा ।

यह है अष्टमगल का आलेखन ! सुदर, शुभ और सरल! आतम-देव के पूजन मे इस विधि का उपयोग सही अर्थ मे होना चाहिए ।

अब हमे धूप-पूजा करनी है ।

इस के लिए ऐसा वैसा धूप नही चाहिये। कृष्णागरु धूप ही चाहिए।

---

* अष्ट मगल म श्रीवत्स स्वस्तिक नन्दावर्त, मत्स्ययुगल, दर्पण, भद्रासन, शरावला और कुभ का समावेश है।

वह है–शुभ सकल्प । ज्ञानाग्नि मे शुभ संकल्पस्वरूप धूप डालकर आत्म-मन्दिर मे सुगन्ध फैलानी है ।

आत्मा के शुभ स्वरूप का ज्ञान ! सिर्फ आत्म-रमणता ! अशुभ का वहाँ स्थान नहीं और शुभ सकल्प की भी आवश्यकता नहीं । पर-मात्म-पूजन में प्रशस्त अनुराग होता है । परमात्मा के प्रति राग–अनुराग.... पूजन-क्रिया की अभिरुचि यही तो शुभ सकल्प है । इन शुभ सकल्पो का आत्म-रमणता मे विलीनीकरण करने की कृष्णागरु धूप की मीठी महक आत्म-मन्दिर मे फैल जाती है ।

कैसी अद्‌भुत, अनोखी और अभिनव धूप-पूजा बताई है ! परमात्मा के मन्दिर मे जाकर धूप-पूजा करने वाले भाविकजन अगर प्रस्तुत दिव्य धूप-पूजा करने लगे तो ? अरे, मन्दिर की बात तो ठीक, लेकिन आत्ममन्दिर में स्थिर चित्त से धूपपूजा मे मग्न हो जाए तो उक्त साधक के इर्द-गिर्द, चारो ओर कैसी मनभावन सुगंध फैल जाए ?

–आठ प्रकार के मदो के त्याग की भावना ही अष्टमंगल के आलेखन की पूजा है ।

–शुभ सकल्पो का आत्मज्ञान मे विलीनीकरण ही धूपपूजा है ।

न जाने कब ऐसा अपूर्व अवसर आएगा कि ऐसी पूजा कर परमा-नन्द का आस्वादन कर सकेंगे ?

प्राग्धर्मलवणोत्तारं, धर्मसन्यासवह्निना ।
कुर्वन् पूरय सामर्थ्यराजन्नीराजनाविधिम् ।।५।।२२६।।

अर्थ :– धर्मसन्यास रुपी अग्नि द्वारा पूर्ववर्ती क्षायोपशमिक धर्मस्वरुप लवण उतारते (उसका परित्याग करते) सामर्थ्य-योगरूपी आरती की विधि पूरी करो ।

विवेचन :– ☺ धर्म-सन्यास अग्नि है ।

☺ औदयिक धर्म और क्षायोपशमिक धर्म लवण है ।

☺ सामर्थ्य योग सुन्दर, सुशोभित आरती है ।

पूजन-विधि में निम्नांकित दो विधियाँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती हैं–
१. लवण उतारना और, २. आरती उतारना ।

उपर्युक्त दोनो क्रियाओ को यहाँ कैसा तात्त्विक स्वरूप प्रदान

किया गया है। लेकिन इस तरह का पूजन क्षपकश्रेणि पर चढने वाला ही कर सकता है। जब क्षपकश्रेणी मे जीव दूसरा अपूर्वकरण करता है तब तात्त्विक दृष्टि से 'धर्मसन्यास' नामक सामर्थ्ययोग होता है, अर्थात् ऐसे प्रसग पर योगीजन क्षमा, आर्जव और मार्दवादि क्षायोपशमिक धर्म मे पूर्णतया निवृत्त होते हैं।

लेकिन जो क्षपकश्रेणि पर आरूढ नही हो सकते, ऐसे जीवो के लिए भी 'धर्मसन्यास' बताया गया है और वह है– औदयिक धर्मों का सन्यास। सन्यास का अर्थ है–त्याग। अज्ञान, असयम, कषाय और वासनाओ के त्याग को 'धर्म-सन्यास' कहा गया है। ऐसा त्याग करना यानी लवण उतारना। ऐसा धर्म-सन्यास पाँचवें-छठे गुणस्थान पर रहे श्रावक-श्रमणो को होता है जबकि पहले प्रकार का धर्मसन्यास केवल क्षपकश्रेणि मे ही होता है।

धर्म-सन्यास की अग्नि मे क्षायोपशमिक धर्मों को स्वाहा कर नोन (लवण) उतारने के उपरान्त ही कवि का यह कथन सिद्ध होता है

'जिम जिम तड तड लूण ज फूटे,
तिम तिम अशुभ कर्मबन्ध ज टूटे'

लूण उतारने की स्थूल क्रिया, तात्त्विक मार्ग का एक मात्र प्रतीक है।

अब आरती कीजिए। सामर्थ्ययोग की आरती उतारिए। सामर्थ्ययोग क्षपकश्रेणि मे होता है। उसके दो भेद हैं-धर्म-सन्यास और योगसन्यास। धर्म-सन्यास मे लवण उतारने की क्रिया का समन्वय किया, जबकि आरती मे 'योगसन्यास' का समन्वय कीजिए।

योग-सन्यास का अर्थ है-योग का त्याग। यानी कायादि के कार्यों का त्याग। कायोत्सर्गादि क्रियाओ का भी त्याग। अलबत्ता, ऐसा उच्च कोटि का त्याग केवलज्ञानी भगवत ही करते हैं। हम तो सिर्फ उनके कल्पनालोक मे विचरण कर क्षणार्ध के लिए केवलज्ञानियों की अनोखी दुनिया के दर्शन का आस्वाद करते हैं।

आतमदेव की आरती करने के लिए भले ही हम 'सामर्थ्ययोगी' न बन सकें लेकिन 'इच्छायोगी' बन धर्म-सन्यास और योगसन्यास

की मधुरता का लाभ तो अवश्य उठा सकते हैं ।

निःसन्देह यहा आत्मा की उच्चतम अवस्था का प्रतिपादन है । पूजा के माध्यम मे उक्त अवस्था का यहाँ दर्शन कराया गया है । ज्ञानयोगी किस तरह पूजन करते हैं, इसकी झांकी बतायी गयी है । ठीक वैसे ही इस प्रकार का पूजन केवल ज्ञानयोगी ही कर सकते हैं, ना कि सामान्य योगी । विशेषत: प्रस्तुत पूजन-विधि ज्ञानपरायण मुनिश्रेष्ठों के लिए ही प्रदर्शित की गयी है । सायमशील और ज्ञानी महात्मा ही ऐसा अपूर्व पूजन कर अनहद और अद्भुत आनन्द का अनुभव करते हैं ।

स्फुरन्मगलदीपं च, स्थापयानुभवं पुर ।
योगनृत्यपरस्तौर्यत्रिक-संयमवान् भव ।।६।।२३०।।

अर्थ :- अनुभव रुप स्फुरायमान मगलदीप को समक्ष (आत्मा के सामने) प्रस्थापित कर । सयमयोग रुपी नृत्य-पूजा मे तत्पर बन, गीत, नृत्य और वाद्य-इन तीन के समुह जैसा सायमशील बन । (किसी एक विषय मे धारणा, ध्यान और समाधि को सयम कहा जाता है)

विवेचन - अब दीपकपूजा करें ।

आतमदेव के समक्ष दीपक प्रस्थापित करना है । इस दीपक का नाम है-अनुभव । पूज्य उपाध्यायजी महाराज ने 'अनुभव' की अनोखी परिभाषा दी है ।

'सन्ध्येव दिनरात्रिभ्यां, केवलश्रुतयोः पृथक् ।
बुधैरनुभवो दृष्ट· केवलार्कारुणोदयः ।।'

जिस तरह दिन और रात्रि से सन्ध्या अलग है, ठीक उसी तरह 'अनुभव' केवलज्ञान और श्रुतज्ञान से सर्वथा भिन्न, सूर्य के अरुणोदय समान है । ज्ञानी भगवतो ने 'अनुभव' की परिभाषा/व्याख्या इस तरह की है। केवलज्ञान के अत्यन्त समीप की अवस्था । इस 'अनुभव' को लेकर श्री आतमदेव की दीपपूजा करनी है ।

इस दीपक के दिव्य प्रकाश में ही आतमदेव का सत्य स्वरुप देखा जा सकता है। अतीन्द्रिय परमब्रह्म का दर्शन विशुद्ध अनुभव से ही संभव है। शास्त्रों के माध्यम से हमें सिर्फ 'अनुभव' की कल्पना ही

करनी रही ! केवलज्ञान के अरुणोदय की मन को मुग्ध करने वाली लालिमा की कल्पना कैसी तो मोहक और चित्ताकर्षक है!

और अब पूजन करना है-गीत, नृत्य एवं वाद्य से। आतमदेव के समक्ष अनूठी धून छेड़ दो। गीत की ऐसी लहरियाँ विस्फारित हो जाएँ कि जिसमें मन की समस्त वृत्तियाँ केन्द्रीभूत हो जाएँ। गाते-गाते नृत्यारंभ कर दो। हाथ में साज लेकर नृत्य करना और करना भावाभिनय। वाद्य-वादक के मीठे सुर तुम्हारे कंठ-स्वरों को बहका दें और नृत्यकला सोलह कलाओं से निक्रमित हो उठे।

धारणा, ध्यान और समाधि, इन तीनों की एकता-स्वरूप संयम, यह आतमदेव का सर्वश्रेष्ठ पूजन है। एक ही विषय में इन तीनों की एकता होनी चाहिये। हमें अपनी आत्मा में धारणा, ध्यान और समाधि की अपूर्व एकता साधनी है।

संयम का यह उच्चतम, उत्तुंग शिखर है और योग की सर्वोत्कृष्ट भूमिका। इस तरह आत्मा के पूजन का यह अनोखा रहस्य प्रकट कर दिया गया है। जिस तरह मंदिर के रंग-मंडप में कोई स्वर-सम्राट झूम-झूम कर अद्वितीय सुरावलियाँ बहा रहा हो कोई नृत्यांगना अपनी अभिनय कला का प्रदर्शन कर रही हो और इस गीत-नृत्य को साथ देने वाला कोई महान वाद्यवादक अद्भुत वीणावादन कर रहा हो, ऐसे प्रसंग पर जिस तरह सजग तन्मयता-तादात्म्य का वातावरण निर्मित होता है, ठीक उसी तरह धारणा, ध्यान और समाधि के ऐक्य में संयम का अपूर्व वातावरण जम जाता है।

ऐसे समय आतमदेव का मंदिर कैसा पवित्र, प्रसन्न और प्रफुल्लित बन जाता होगा, इस की स्थिर चित्त में कल्पना करें। इस कल्पनालोक में खो जाने पर ही उसकी वास्तविक झांकी संभव है।

स्वरूप में तन्मय होने का यह उपदेश है और स्वभाव अवस्था में गमन करने की प्रेरणा है। आत्मरमणी और ब्रह्म-रमणता की ये अनोखी बातें हैं। यहाँ पर पूज्य उपाध्यायजी महाराज पूजन के स्थूल साधना के माध्यम से मोक्षार्थी का सर्वोत्तम मार्गदर्शन कर रहे हैं।

उन्नतसमनसः सत्यघण्टां वादयतस्तव।
भावपूजारतस्येत्थं, करक्रोडे महोदयः ॥७॥२२१॥

अर्थ – उन्नमित मन वाला सत्य रूपी घंट बजाता और भावपूजा में तल्लीन, ऐसे तेरी हथेली में ही मोक्ष है।

विवेचन – भक्ति और श्रद्धा का केशर घोलकर आतम देव की नवांगी पूजा की, क्षमा की पुष्पमाला गूँथकर उनके अंग सुशोभित किये, निश्चय और व्यवहार के बहुमूल्य, सुन्दर वस्त्र परिधान करवा कर उन्हें सजाया, और ध्यान के अलंकारों से उस देव को देदीप्यमान बनाया।

आठ मद के परित्याग रूप अष्ट मंगल का आलेखन किया। ज्ञानाग्नि में शुभ संकल्पों का कृष्णागरु धूप डाल कर आतमदेव के मन्दिर को मृदु सौरभ से सुगंधित कर दिया...। धर्म-सन्यास की अग्नि से लवण उतारा और सामर्थ्य योग की आरती की। उनके समक्ष अनुभव का मंगलदीप प्रस्थापित कर धारणा, ध्यान और समाधि स्वरुप गीत, नृत्य एवं वाद्य का अनोखा ठाठ जमाया।

मन के उल्लास की अवधि न रही...मानसिक मस्ती ने....मन्दिर में लटकते विराटकाय घंट को बजाया...और सारा मंदिर घंटनाद से गूँज उठा...सारा नगर गूँज उठा। घंटनाद की ध्वनि ने विश्व को विस्मित कर दिया। देवलोक के देव और महेन्द्रों के आसन तक हिल उठे। 'यह क्या है? कैसी ध्वनि है? यह कैसा घंटनाद?' अवधिज्ञान से देखा!

ओहो! यह तो सत्य की ध्वनि! परम सत्य का गुंजारव! अवश्य आतमदेव के मन्दिर में सत्य का साक्षात्कार हुआ है—उसकी यह प्रतिध्वनि है। आतमदेव आतम पर प्रसन्न हो उठे हैं। पूजन—अर्चन का सत्य फल प्राप्त हो गया है। उसकी खुशी का यह घंटनाद है।

चराचर विश्व में सत्य सिर्फ एक ही है और परमार्थ भी एक ही है। और वह है आत्मा। अनंत, असीम और अथाह। एक मात्र परम ब्रह्म। शेष सब मिथ्या है। परम सत्य का विश्व ही मोक्ष है।

पूज्य उपाध्याय श्री यशोविजयजी मोक्ष हथेली मे बताते हैं। भावपूजा में खो जाओ....मोक्ष तुम्हारे बस में है। द्रव्यपूजा के अनन्य प्रतीकों के माध्यम से मोक्षगति तक पहुँचाने के साधनस्वरूप यहां भावपूजा बतायी है। इस तात्त्विक पूजा हेतु शास्त्राध्ययन और शास्त्र-

परिशीलन अत्यावश्यक है। शास्त्र-ग्रंथों में उल्लेखित प्रमिक आत्मविकास के साथ कदम मिलाकर चलना जरूरी है।

आह! आत्मदेव के भावपूजन की कैसी अनोखी दुनिया है! स्थूल दुनिया से एकदम निराली। वहाँ न तो संसार के स्वार्थजन्य प्रलाप हैं और ना ही कषायजन्य कोलाहल। न राग-द्वेष के दवानल हैं ना ही अज्ञान और मोह के आंधी-तूफान। न वहाँ स्थूल व्यवहार की गुत्थियाँ हैं और ना ही चंचलता अस्थिरता के संकल्प-विकल्प।

मोक्षगति की चाहना रखने वाला और साधना-पथ पर गतिशील जीव जब प्रस्तुत भावपूजा में प्रवृत्त होता है तब उसे अपनी चाह पूर्ण होती प्रतीत होती है। वह अनायास हथेली में मोक्ष के दर्शन करता है।

सारा दारमदार भावपूजा पर निर्भर है। तल्लीनता-तन्मयता के लिये लक्ष्य की शुद्धि आवश्यक है। यदि आत्मा की परम विशुद्ध अवस्था के लक्ष्य को लेकर भावपूजा में प्रवृत्ति हो तो तन्मयता का आविर्भाव हुए बिना नहीं रहता। अतः साधक आत्मा का यही एकमेव लक्ष्य हो, और प्रवृत्ति भी। तभी साधना के स्वर्गीय आनन्द का अनुभव संभव है, साथ ही प्रगतिपथ पर अग्रसर हो सकते हैं।

> द्रव्यपूजोचिता भेदोपासना गृहमेधिनाम्।
> भावपूजा तु साधूनां अभेदोपासनात्मिका ॥८॥२९२॥

अर्थ – गृहस्थों के लिये भेदपूर्वक उपासना रूप द्रव्यपूजा योग्य मानी गयी है। अभेद उपासना स्वरूप भावपूजा साधु के लिये योग्य है। [अलबत्ता, गृहस्थों के लिए 'भावोपनीत मानस' नामक भावपूजा होती है।]

विवेचन – पूजा के दो प्रकार हैं– द्रव्यपूजा और भावपूजा। जिसके मन में जो आए, वैसे पूजा नहीं करनी है अपितु योग्यतानुसार पूजा करनी है। आत्मा के विकास के आधार पर पूजा-अर्चन करना है। क्योंकि योग्यता न होने पर भी अगर पूजा की जाए, तो वह हानिकारक है।

घर में रहे हुए और पापस्थानकों का सेवन करने वाले गृहस्थों

के लिए द्रव्य-पूजा ही योग्य है। अतः उन्हें सदैव द्रव्यपूजा करनी चाहिये। द्रव्यपूजा भेदोपासनारूप है।

परमात्मा सदा-सर्वदा पूज्य हैं, आराध्य है। वे अनंतज्ञान, अनंत दर्शन, वीतरागता और अनत वीर्य के एकमेव स्वामी हैं, साथ ही अजर, अमर एव अक्षय गति को प्राप्त हैं। स्व-आत्मा से भिन्न ऐसे परमात्मा का आलंबन ग्रहण करना चाहिए। वे उपास्य है और गृहस्थ उपासक है, वे सेव्य हैं और गृहस्थ सेवक है। वे आराध्य हैं और गृहस्थ आराधक है। वे ध्येय हैं और गृहस्थ ध्याता है।

गृहस्थ उत्तम कोटि के द्रव्यों से परमात्मा की प्रतिमा का भक्ति-भाव से पूजन करे। इस कार्य के लिए यदि उसे जयणायुक्त आरम्भ-समारंभ करने पड़े, तो भी अवश्य करे! परमात्मा के गुणों की प्राप्ति हेतु उनकी अनन्य भक्ति और उत्कट उपासना करें।

प्रश्न : तब क्या गृहस्थ के लिये भावपूजा निषिद्ध है?

उत्तर : नहीं, ऐसी कोई बात नहीं है। वह चाहे तो **भावनोपनित-मानस,** नामक पूजा कर सकता है। अर्थात् परमात्मा का गुणानुवाद गुण-स्मरण और परम-तत्त्व का सम्मान, गृहस्थ कर सकता है। यह एक प्रकार की भावपूजा ही है, लेकिन 'सविकल्प' भावपूजा। वह गीत, संगीत और नृत्य के द्वारा भक्ति में लीन हो सकता है।

अलबत्त, अभेद उपासना रूप भावपूजा तो साधु ही कर सकता है। आत्मा की उच्च विकास-भूमिका पर स्थित निर्ग्रन्थ परमात्मा के साथ अभेदभाव से मिल सकता है। परमात्मा के संग स्व-आत्मा का तादात्म्य, तन्मयता प्राप्त करे, यही है वास्तविक भावपूजा!

द्रव्यपूजा और भावपूज के भेद यहाँ भेदोपासना और अभेदोपासना की दृष्टि से बताये गये हैं। साथ ही अभेदोपासना रूपी भावपूजा के **एकमात्र अधिकारी केवल निर्ग्रन्थ मुनिश्रेष्ठों को ही माना है।**

परमात्म-स्वरूप के साथ आत्मगुणों की एकता की अनुभूति करने वाला मुनि कैसा परमानन्द अनुभव करता है, उसका **वर्णन करने** में शब्द और लेखनी दोनों असमर्थ हैं। वस्तुतः अभेदभाव के मिलन की मधुरता तो संवेदन का ही विषय है, ना कि भाषा का!

प्रस्तुत अष्टक मे पूज्य उपाध्यायजी महाराज ने भावपूजा के सम्बन्ध मे उत्कृष्ट मार्गदर्शन किया है । साथ ही भावपूजा मे प्रयुक्त होने का उपदेश मुनिश्रेष्ठो को दिया है । अभेदभाव से परमात्मस्वरूप की अनन्य उपासना का मार्ग बताया है ।

साथ ही साथ, गृहस्थ वर्ग के लिये भावपूजा का प्रकार बताकर गृहस्थ मात्र को भी भेदोपासना की उच्च कक्षा बतायी है। ताकि वह परमात्मोपासना मे प्रवृत्त हो, आत्महित साध सके । अरे, आत्महितार्थ आत्म-कल्याणार्थ ही जो जीवन व्यतीत कर रहा है-उसे यह द्विविध, उपासना का मार्ग काफी पसन्द आएगा और इस दिशा मे निरन्तर गतिशील होगा ।

३०. ध्यान

मुनि-जीवन में ध्यान का स्थान कैसा महत्त्वपूर्ण है, यह बात प्रस्तुत अष्टक में अवश्य पढो ! ध्याता-ध्येय और ध्यान की एकता में मुनि को दुःख नहीं होता !

परन्तु ध्याता जितेन्द्रिय, धीर-गंभीर प्रशान्त और स्थिर होना आवश्यक है ! आसनसिद्ध और प्राणायाम-प्रवीण होना चाहिए ! ऐसा ध्याता मुनि, चिदानंद की मस्ती का अनुभव करता है और पाता है परम ब्रह्म-आनन्द का असीम, अक्षय सुख !

कल्पना, विकल्प और विचारों के शिकंजे से मुक्त हो जाओ ! विचारों के बोझ से मन को नियंत्रित न करो ! पार्थिव जगत् के झंझावात से अपने मन को बचा लो । निर्बंधन बन, ध्येय के साथ एकाकार हो जाओ । ध्यान-संबंधित प्रस्तुत अध्याय का चिंतन-मनन करते हुए गहराई से अभ्यास करो !

ध्याता ध्येय तथा ध्यान त्रय यस्यैकतां गतम् ।
मुनिरनन्यचित्तस्य तस्य दु ख न विद्यते ।।१।।२३३।।

अर्थ जिस ध्यान करने वाला, ध्यान करने योग्य और ध्यान-तीनों की एकता प्राप्त हुई है (साथ ही) जिनका चित्त अन्यत्र नहीं है, उस मुनिवर को दु ख नहीं होता।

विवेचन मुनिवर्य ! आप का भला दु ख कैसा? आप दु खी हो ही नहीं सकते। आप तो इस विश्व के श्रेष्ठ सुखी मानव हैं।

पाच इन्द्रिया का कोई भी विषय आपको दु खी नहीं कर सकता। आप ने तो वैषयिक सुखों की प्राप्ति के बजाय उसके त्याग म ही सुख माना है न ? वैषयिक सुखो की अप्राप्ति के कारण ही सारी दुनिया दु ख के चित्कार कर रही है। जबकि आप ने तो, अपने जीवन का आदर्श ही सुख त्याग को बना लिया है। इन्द्रियो के आप स्वामी हो आपने पाचो इन्द्रिया का अपने वश म कर लिया है। आप की आज्ञा के बिना उनकी कोई हरकत नहीं! ठीक वैसे ही आपने अपने मन का भी वैषयिक सुखो से निवृत्त कर दिया है।

सासारिक भावो से निवृत्त मन सदा-सर्वदा ध्यान मे लीन रहता है। ध्याता, ध्येय और ध्यान की अपूर्व एकता आपने सिद्ध कर ली है फिर भला दु ख कैसा और किस बात का ?

मुनिराज ! आपकी साधना, वैषयिक सुखो से निवृत्त होने की साधना है। जैसे जैसे आप इन सुखो से निस्पृह बनते जायें वैसे वैसे कषायो से भी निवृत्ति ग्रहण करते जायें। आप यह भलीभांति जानते हैं कि वैषयिक सुखो की स्पृहा ही कषायोत्पत्ति का प्रबल कारण है। *शब्द, रूप, रस, गध, और स्पर्श के सुखो की इच्छा को ही नामशेष* करने के लिए आपकी आराधना है। अत आप अपने मन को एक पवित्र तत्त्व स बाध ल। ध्येय के ध्यान मे आप आकठ डूब जाएँ! साथ ही अपनी मानसिक सृष्टि मे इस महान् ध्येय के अतिरिक्त किसी को घुस पैठ न करने दें।

हा, यदि आप का मन अपने ध्येय स हट गया और किसी अन्य विषय पर स्थिर हो गया तो आप का सुख छिनते देर नहीं लगेगी।

जानते हैं न विश्वामित्र ऋषि का चित्त अपने ध्येय से च्युत हो कर रूपयौवना मेनका पर स्थिर हो गया, होते ही क्या स्थिति हुई ? उन की सुख-शांति और परम ध्येय ही नष्ट हो गया ! नंदिषेण मुनि और आषाढाभूति मुनि के उदाहरण कहां आपसे छिपे हुए है ?

अतः आप सिर्फ एक ही काम कीजिए—भौतिक सुखों की स्पृहा को वहार खदेड़ दीजिए। और भूलकर भी वैषयिक सुखों का कभी विचार न करिए। वैषयिक सुखों की संहारकता का और असारता का भी चिंतन न करिए। अब आप अपने निर्धारित 'ध्येय' में स्थिर होने का प्रयत्न कीजिए। जिस गति से आपकी ध्येय-तल्लीनता बढ़ती जाएगी, ठीक उसी अनुपात से आप के सुख में वृद्धि होती जाएगी ! और तब आप अनुभव करेंगे कि, 'मैं सुखी हूँ, मेरे सुख में निरंतर वृद्धि होती जा रही है।'

आपने जब मुनि-पद प्राप्त कर लिया है तब यह शिकायत नहीं होनी चाहिए कि, 'संकल्पित ध्येय मे मन स्थिर नहीं रहता।' जिस ध्येय-पूर्ति के लिए आपने भरा-पूरा ससार छोड दिया, ऋद्धि-सिद्धियों का परित्याग कर प्रव्रज्या ग्रहण की, उस ध्येय में आपका मन स्थिर न हो यह सरासर असभव बात है। जिस ध्येय का अनुसरण करने हेतु आपने असंख्य वैषयिक सुखो का त्याग कर दिया, उस ध्येय के ध्यान मे आप को आनन्द न मिले, यह असभव बात है।

हाँ, संभव है कि आप अपने ध्येय को ही विस्मरण कर गये हो और ध्येयहीन जीवन व्यतीत करते हो तो आप का मन ध्येय-ध्यान मे स्थिर होना असंभव है। साथ ही, ऐसी स्थिति में आप सुखी भी नहीं रह सकते। आप को अपना मन ही खाता रहता है। फिर भले ही इसके लिए आप 'पापोदय' का बहाना करे अथवा अपनी भवितव्यता को दोष दे।

ध्याता, ध्येय और ध्यान की एकता का समय ही परमानन्द-प्राप्ति की मंगल-वेला है, परम ब्रह्म—मस्ती का सुहाना समय है और है मुनि-जीवन जीने का अपूर्व आह्लाद।

ध्याताऽन्तरात्मा ध्येयस्तु परमात्मा प्रकीर्तितः।
ध्यानं चैकाग्र्यसंवित्तिः समापत्तिस्तदेकता ॥२॥२३४॥

अर्थ : ध्यान-कर्ता अन्तरात्मा है, ध्यान करने योग्य परमात्मा हैं और ध्यान एकाग्रता की बुद्धि है। इन तीनों की एकता ही समापत्ति है।

विवेचन- अन्तरात्मा बने बिना ध्यान असंभव है। बहिरात्मदशा का परित्याग कर अन्तरात्मा बन कर ध्यान करना चाहिए। यदि हम सम्यग् दर्शन से युक्त हैं तो निःसंदिग्धरूप से अन्तरात्मा हैं।

जिस की दृष्टि सम्यग् हो, वही ध्येयरूपी परमात्मा के दर्शन कर सकता है अर्थात् एकता साध सकता है। इसी दृष्टि से सम्यग् दृष्टि जीव को ही ध्यान का अधिकार दिया गया है।

ध्यान करने योग्य यदि कोई है तो सिद्ध परमात्मा। आठ कर्मों के क्षय से जिन आत्माओं का शुद्ध-विशुद्ध स्वरूप प्रकट हुआ है, ऐसी शुद्धात्माएँ ध्येय हैं। अथवा वे आत्माएँ जो कि घाती कर्मों के क्षय से अरिहंत बने हैं व ध्येय हैं। 'प्रवचनसार' ग्रन्थ में ठीक ही कहा है :

> जो जाणदि अरिहंते दव्वत्त-गुणत्त-पज्जवत्तेहिं।
> सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं।।

'जो अरिहंत को द्रव्य-गुण एवं पर्याय रूप में जानता है, वह आत्मा को जानता है, और उसका मोह नष्ट होता है।'

अरिहंत को लक्ष्य बना कर अंतरात्मा ध्यान में लीन होती है। ध्यान का अर्थ है एकाग्रता की बुद्धि, सजातीय ज्ञान की धारा। अंतरात्मा ध्येय रूपी अरिहंत में एकाग्र हो जाए। अरिहंत के द्रव्य, गुण और पर्याय सजातीय ज्ञान हैं। तात्पर्य यह है कि द्रव्य, गुण और पर्याय से अरिहंत का ध्यान धरना चाहिए।

'ध्यानशतक' में ध्यान का स्वरूप दर्शाया है :

> जं थिरमज्झवसाणं तं झाणं चलं तयं चित्तं।
> तं होज्ज भावणा वा अणुप्पेहा वा अहव चिंता।।

'अध्यवसाय यानी मन। और स्थिर मन यही ध्यान है। चंचल मन को चित्त कहा जाता है। ध्यान की वह क्रिया भावना, अनुप्रेक्षा अथवा चिंता स्वरूप होती है।'

हे जीव, तूं अंतरात्मा वन। विभावावस्था से सर्वथा [निवृत्त हो जा। स्वभावावस्था की ओर गमन कर। आत्मा से परे.... आत्मा से भिन्न ऐसे द्रव्यों की ओर दृष्टिपात भी न कर। अर्थात् जड द्रव्य एवं उस के विविध पर्यायों के आधार से राग-द्वेष करना बंद कर। जब तक तुम वहिरात्मदशा में भटकते रहोगे, निःसंदेह तब तक ध्येय रुपी परमात्मा के साथ एकाकार नही हो सकोगे। इसी लिए कहता हूँ कि अन्तरात्मा वन। अतरात्मा ही एकाग्र वन सकती है। परमात्मस्वरुप की एकाग्रता वहिरात्मा के भाग्य मे नही है।

हे आत्मन्। यदि तुम सम्यग्दृष्टि हो तो ध्यान मे लीन-तल्लीन वन सकते हो। लेकिन अगर अतरात्मा नही हो और केवल सम्यग्-दृष्टि होने का ही दावा करते हो तो तुम एकाग्र नही वन सकते। ध्येय का ध्यान नहीं कर सकते। सम्यग्दृष्टि के साथ-साथ अतरात्मदशा होना निहायत आवश्यक है।

अरिहंत के विशुद्ध और परम प्रभावी आत्म-द्रव्य का ध्यान कर। उनके अनत-ज्ञानादि गुणो का चिंतन कर। अष्ट प्रातिहार्य आदि पर्याय का निरतर ध्यान धर। अरिहंत-पुष्प के चारो ओर मधुर गुजारव करता भ्रमर वन जा। सिवाय अरिहंत के, दुनिया की कोई चीज अच्छी न लगे। ना ही अरिहत के सिवाय कोई ध्येय हो। भावार्थ यह कि तुम्हारी मानसिक-सृष्टि मे अरिहंत के अतिरिक्त कुछ भी न हो।

यही है ध्याता, ध्यान, और समाधि की समापत्ति।

मणाविव प्रतिच्छाया समापत्तिः परमात्मनः।
क्षीणवृत्तौ भवेद् ध्यानादन्तरात्मनि निर्मले ॥३॥२३५॥

अर्थ : मणि की भांति क्षीणवृत्तिवाले शुद्ध अंतरात्मा मे ध्यान से परमात्मा का प्रतिविंव दमक उठे, उसे 'समापत्ति' कहा है।

विवेचन : मणि कभी देखा है? उत्तम स्फटिक में कभी प्रतिविंव उभरते देखा है? यदि यह न देखा हो तो भी निःसंदेह, तुमने दर्पण में अपना प्रतिविंव उभरते तो अवश्य देखा होगा?

मणि हो, स्फटिक हो अथवा दर्पण हो-वह गन्दे या अस्वच्छ नही चाहिए, वल्कि निर्मल-स्वच्छ होने चाहिये। तभी उसमें किसी का प्रतिबिंब

उभर सकता है।

यदि आत्मा अस्वच्छ गन्दी और मली हो तो उस मे परमात्मा का प्रतिबिंब क्या उभरेगा ? नाहक हाथ-पाँव मारने मे काम नही चलेगा। यह सही है कि मलीन आत्मा मे कभी परमात्मा का प्रतिबिंब नही उभरेगा। तब प्रश्न यह उठता है कि हमारी आत्मा मे परमात्मा का प्रतिबिंब उभरे-ऐसी क्या हमारी हार्दिक इच्छा है ? तब हमे अपनी आत्मा को उज्ज्वल/दीप्तिमान बनानी चाहिए।

हम क्षीणवृत्ति बन जाएँ। मतलब, वृत्तियो का क्षय कर दें। समग्र इच्छाओ का क्षय ! क्योकि इच्छाएं ही एकाग्रता मे सर्वाधिक अवरोधक हैं। ज्यों ज्यो हम मलीनता-धुमिलता दूर करते जाएँगे त्यो त्या हमारी आत्मा मणि की भाति अपूर्व कातिमय और पारदर्शक होती चली जाएगी, और तब परमात्मा का प्रतिबिंब अवश्य उभर आएगा।

अतरात्मा निर्मल हो और एकाग्रता भी हो तो परमात्मा का प्रतिबिंब अवश्य उभरेगा। यही 'समापत्ति' है।

इस के लिए एक महत्वपूर्ण बात है क्षीणवृत्ति बनने की। समस्त इच्छा-आकाक्षाओ से मुक्ति ! एकाग्रता मे सबसे बडा विघ्न है-ये इच्छाएँ। इच्छा ही परमात्मा-स्वरुप के साक्षात्कार मे अवरोधक है।

> 'मणेरिवाभिजातस्य क्षीणवृत्तेरसशयम्।
> तात्स्थ्यात् तदञ्जनत्वाच्च समापत्ति प्रकीर्तिता ॥'

'सर्वोत्तम मणि की तरह क्षीणवृत्ति आत्मा मे परमात्मा के ससर्गारोप से और परमात्मा के अभेद आरोप से निसशय 'समापत्ति' होती है।'

तात्स्थ्य अतरात्मा म परमात्मगुणो का ससर्गारोप।
तदञ्जनत्व अतरात्मा मे परमात्मा का अभेदारोप।

'ससर्गारोप किसे कहते है ? यही जानना चाहते हो न ? आरोप के दो प्रकार हैं। ससर्ग और अभेद। सिद्ध परमात्मा के अनत गुणो मे अतरात्मा का आरोप यानी ससर्ग-आरोप। परमात्मा के अनत गुणो मे एकाग्रता का प्रादुर्भाव होते ही समाधि प्राप्त होती है। समाधि ही ध्यान का फल है, यही अभेद-आरोप है।

प्रश्न· इसे भला, 'आरोप' की मज्ञा क्यों देते हो ?

उत्तरः इस का यही कारण है कि यह तात्त्विक अभेद नहीं है। परमात्मा का आत्म-द्रव्य और अंतरात्मा का आत्म-द्रव्य, दोनों भिन्न है। इन दोनो के स्वतत्र अस्तित्व का विलीनीकरण असंभव है । दो भिन्न द्रव्य एक नही बन सकते । अतः भावदृष्टि से जब दोनो आत्म-द्रव्यों का सगम होता है, समरस होकर परस्पर विलीन हो जाते है, तब अभेद का आरोप किया जाता है ।

हम अतरात्मा बनें। समस्त इच्छाओ का क्षय करें। परमात्मा का ध्यान धरें। तब मणि सदृश हमारी विशुद्ध आत्मा मे निःसशय परमात्मा का प्रतिबिंब उभरेगा...। न जाने वह क्षण कैसी धन्य होगी। क्षणार्ध के लिए आत्मा अनुभव करती है, जैसे 'मैं परमात्मा हूँ।' 'अहं ब्रह्मास्मि।' यह बात इस भूमिका पर नही होती है।

> आपत्तिश्च तत. पुण्यतीर्थकृत्कर्मबन्धत. ।
> तद्भावाभिमुखत्वेन सपत्तिश्च क्रमाद् भवेत् ।।४।।२३६।।

अर्थ उक्त समापत्ति से पुण्य-प्रकृतिस्वरुप 'तीर्थंकर-नामकर्म' के उपार्जन-रुप फल की प्राप्ति होती है। और तीर्थंकरत्व के अभिमुखत्व से क्रमश आत्मिक सपत्तिरुप फल की निष्पत्ति होती है।

विवेचन. समापत्ति। आपत्ति। संपत्ति।

समापत्ति से आपत्ति और आपत्ति से संपत्ति ।

'आपत्ति' का मतलब आफत नही, कोई दु:ख या कष्ट नहीं! किसी प्रकार की वेदना अथवा व्याधि नही, बल्कि कभी भी नही सुना हो ऐसा अर्थ है। यहाँ 'आपत्ति' शब्द का प्रयोग पारिभाषिक अर्थ मे किया गया है।

'तीर्थंकर-नामकर्म' उपार्जन करना यह आपत्ति है! हाँ, समापत्ति से तीर्थकर नामकर्म का बंधन होता है और वह 'आपत्ति' है। जो आत्मा यह नामकर्म का उपार्जन करती है, वही तीर्थंकर बनती है और धर्मतीर्थ की स्थापना कर विश्व मे धर्म-प्रकाश फैलाती है।

कर्म आठ प्रकार के होते है, जिनमे से एक 'नामकर्म' है। यह नामकर्म १०३ प्रकार का है, जिस मे से एक प्रकार 'तीर्थकर नामकर्म'

है। जो आत्मा इस कर्म का बंधन करती है, वह तीसरे भव में तीर्थंकर बनती है।

तीसरे भव में जब उस का जन्म होता है तब से ही सम्पत्ति! गर्भावस्था में ही तीन ज्ञान से युक्त! स्वाभाविक वैराग्य! यही उन की आत्मिक संपत्ति है। जब कि भौतिक संपत्ति भी विपुल होती है यश, कीर्ति और प्रभाव भी अपूर्व होता है।

इत्य ध्यानफलाद युक्त विंशतिस्थानकाद्यपि।
कष्टमात्रं त्वभव्यानामपि नो दुर्लभं भवेत्॥५॥२२७॥

अर्थ : इस तरह ध्यान के परिणामस्वरूप 'बीस-स्थानक' आदि तप भी योग्य हैं अर्थात् कष्टमात्र रूप [तप] तो अभव्य आत्मा को भी दुर्लभ नहीं है।

विवेचन : शास्त्रों में ऐसा उल्लेख है कि बीस स्थानक तप तीर्थंकर-नामकर्म उपार्जन करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। अर्थात तीर्थंकर भगवान अपने पूर्व के तीसरे भव में इस तप की आराधना-साधना कर तीर्थंकर नामकर्म उपार्जन करते हैं।

'समापत्ति' का फल यदि अप्राप्य हो तो कष्ट रूप तप की आराधना अभव्य भी करते हैं। लेकिन उन्हें समापत्ति का फल नहीं उपलब्ध होता है? क्योंकि तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन सिर्फ कष्टप्रद क्रियाएँ करने से संभव नहीं है। उसके लिए चाहिए समापत्ति!

जिस बीस स्थानक की आराधना करनी होती है वे निम्नानुसार होते हैं :

१ तीर्थंकर २ सिद्ध ३ प्रवचन ४ गुरु ५ स्थविर ६ बहुश्रुत ७ तपस्वी ८ दर्शन ९ विनय १० आवश्यक ११ शील १२ व्रत १३ क्षणलव-समाधि १४ तप-समाधि १५ त्याग (द्रव्य से) १६ त्याग (भावपूर्वक) १७ वैयावच्च १८ अपूर्व ज्ञान-ग्रहण १९ श्रुत-भक्ति २० प्रवचन-प्रभावना

चौबीस तीर्थंकरों में से प्रथम श्री ऋषभदेव एवं अंतिम महावीरदेव ने इन बीस स्थानकों की आराधना अपने पूर्वभवों में की थी, जब कि बाकी के २२ तीर्थंकर भगवंतों में से किसी ने एक, किसी ने तीन इस

तरह अनियमित संख्या मे आराधना की थी। अलबत्त, तमाम आराधना-साधना मे ध्याता, ध्येय और ध्यान की एकतास्वरूप 'समापत्ति' तो थी ही। इस के बिना 'तीर्थंकर नामकर्म' बांध नही सकते।

सिर्फ तपाराधना कर संतोष करने वाले जीवो को अवश्य सोचना चाहिए कि भले ही वे मासक्षमण कर एक-एक स्थानक की आराधना करते हो और नवकारवाली का जाप जपते हो, लेकिन जब तक ध्येय मे लीनता नही, तब तक तप कष्टक्रिया से अधिक कुछ भी नही।

देवाधिदेव महावीर देव चार-चार महीने के उपवास जैसी घोर तपस्या कर दिन-रात ध्यानावस्था में लीन रहते थे। ध्याता, ध्येय और ध्यान की एकता साधते थे....। धन्ना अणगार छठ्ठ तप के पारणे छठ्ठ तप की आराधना करते थे....और राजगृह के वैभारगिरि पर ध्यानस्थ रह, 'समापत्ति' साधते थे।

ऐसा भी देखा गया है कि जिन-जिनो को मोक्षपद प्राप्त करने की मनीषा नही है अथवा जो मोक्षगामी बनने वाले ही नही हैं ऐसे जीव भी बीस स्थानकादि तपों की आराधना तो करते रहते हैं....लेकिन उस मे क्या होता है? क्यो कि समापत्ति का फल जो तीर्थंकर नामकर्म है, उन्हे प्राप्त नही होता। यदि तपस्या की कोई फल-निष्पत्ति न होती हो तो अकारण ही तपश्चर्या का पुरुषार्थ करने से भला क्या लाभ....? तात्पर्य यही है कि तपश्चर्या के साथ-साथ ध्याता, ध्येय और ध्यान की एकता सिद्ध करना नितान्त आवश्यक है। यदि ऐसी एकता का एक-मेव लक्ष्य हो तो एक समय ऐसा आता है जब एकता सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार का लक्ष्य ही न हो तो एकता असंभव ही है।

बीस स्थानक की तपश्चर्या के साथ-साथ उन-उन पदो का जाप और ध्यान धरना आवश्यक है! अर्थात् उन पदो मे लीनता प्राप्त करनी चाहिए। यह तभी संभव है जब इच्छा-आकाक्षाओं से मुक्ति मिल गयी हो। जब तक हमारा मन भौतिक, सासारिक पदार्थों की चाह से किलबिलाता रहेगा तब तक ध्येय-लीनता प्राय. असंभव ही है। अतः 'समापत्ति' अत्यत महत्त्वपूर्ण आराधना है।

जितेन्द्रियस्य धीरस्य प्रशांतस्य स्थिरात्मनः।
सुखासनस्थस्य नासाग्रन्यस्तनेत्रस्य योगिनः ॥६॥२३८॥

रुद्धबाह्यमनोवृत्तेर्धारणाधारया रयात् ।
प्रसन्नस्याप्रमत्तस्य चिदानन्दसुधालिहः ॥७॥२३९॥

साम्राज्यमप्रतिद्वन्द्वमन्तरेव वितन्वतः ।
ध्यानिनो नोपमा लोके सदेवमनुजेऽपि हि ॥८॥२४०॥

अर्थ जो जितेन्द्रिय है, धैर्ययुक्त है और अत्यन्त शान्त है, जिस की आत्मा अस्थिरतारहित है, जो सुखासन पर विराजमान है, जिस ने नासिका के अग्रभाग पर लोचन स्थापित किये हैं और जो योगसहित हैं,

ध्येय में जिसने चित्त की स्थिरतारूप धारा से वेग-पूर्वक बाह्य इन्द्रियों का अनुसरण करने वाली मानसिक-वृत्ति रोक लिया है, जो प्रसन्नचित्त है, प्रमादरहित है और ज्ञानानन्द रूपी अमृतास्वादन करने-वाला है,

जो अन्तःकरण में ही विपक्षरहित चक्रवर्तित्व का विस्तार करता है, ऐसे ध्याता की, देवसहित मनुष्यलोक में भी सचमुच उपमा नहीं है।

विवेचन ये तीनों श्लोक ध्याता-ध्यानी महापुरुष की लक्षण-संहिता की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं।

१ जितेन्द्रिय: ध्यान करने वाला पुरुष जितेन्द्रिय हो। इन्द्रियों का विजेता हो! किसी इन्द्रिय का वह गुलाम न हो। कोई इन्द्रिय उसे हैरान-परेशान न करे। इन्द्रियाँ सदा महात्मा की आज्ञानुवर्ती बन कर रहें। इन्द्रिय-परवशता की दीनता कभी उसे स्पर्श न करे। इन्द्रियों की चपलता से उत्पन्न राग-द्वेष का उन में अभाव हो। ऐसा जितेन्द्रिय महा-पुरुष ध्यान में ध्येय में तल्लीन हो सकता है।

२ धीर: सात्त्विक महापुरुष ही ध्यान की तीक्ष्ण धार पर चल सकता है। सत्त्वशाली ही दीर्घावधि तक ध्यानावस्था में टिक सकता है। ठीक वैसे ही आंतर-बाह्य उपद्रवों का सामना भी सत्त्वशील ही कर सकता है। जानते हो न? महर्षि बने रामचन्द्रजी को सीतेन्द्र ने कैसे उपद्रव किये थे? फिर भी रामचन्द्रजी ध्यानावस्था में विचलित नहीं हुए! कारण? उन के पास सत्त्व था और थी चित्त की स्थिरता! इन्द्रिय-जन्य कोई मोहक विषय आकर्षित न कर सके, उसे सत्त्व कहा गया है! कोई भय,

उपद्रव और उपसर्ग भयभीत न कर सके, उसे वीरता कहते है ! ध्येय के साथ एकाकार होने के लिए धीर बनना ही चाहिए ।

३ प्रशान्त. समता का शीतल कुण्ड ! ध्याता की आत्मा अर्थात् उपशम के कलकल नाद करते झरनो का प्रदेश ! वहाँ सदैव शीतलता होती है । काम, क्रोध और लोभ-मोह का वहाँ नामोनिशान नही । भले ही कषायो की धधकती अग्नि के शोलो की बारिश हो, उपशम के कुण्ड मे गिरते ही शात ! वह दृढप्रहारी महात्मा ..ध्याता, ध्यान और ध्येय की एकता साधने खडे थे न ? क्या नागरिकों ने उन पर अंगार की वृष्टि नही की थी ? लेकिन परम तपस्वी महात्मा को वे अंगारे जला न सके ! भला, ऐसा क्यो हुआ ? कारण साफ है धधकते अंगारे उपशम-रस के कुण्ड मे बुझ जो जाते थे ! जब हम ध्यानी ज्ञानी पुरुषो का पूर्व-इतिहास निहारते हैं, तब उपशम-रस की अद्वितीय महिमा के दर्शन होते हैं । लेकिन ध्यान के समय प्रशांत रहे और तत्पश्चात् कषायो को खेलने की स्वतन्त्रता दे दो, यह अनुचित है । ऐसा मत करना । इस के बजाय जीवन की प्रत्येक पल उपशमरस की गागर बन जानी चाहिए । दिन हो या रात, जगल हो या नगर, रोगी हो या निरोगी किसी भी काल, क्षेत्र और परिस्थिति में ध्यानी पुरुष शात रस का सागर ही होना है ।

४ स्थिर· ध्येय के उपासक मे चचलता न हो ! जिस ध्येय के साथ ध्यान द्वारा एकत्व प्राप्त करना है, आखिर वह ध्येय है क्या ? अनन्तकालीन स्थिरता और निश्चलता ! वहाँ मन-वचन-काया के कोई योग न हो....! फिर भला, ध्याता चंचल, अस्थिर कैसे हो सकता है ? अस्थिरता और चचलता ध्यानमार्ग के अवरोधक तत्त्व हैं ! ध्यान मे ऐसी सहज स्थिरता होनी चाहिए की कभी उसमे विक्षेप न पडे !

५. सुखासनी. ध्यानी महापुरुष प्राय. सुखासन पर बैठे ! मतलब **ध्यानावस्था में उसका आसन (बैठने की पद्धति) ऐसा होना चाहिए कि बार-बार ऊँचा-नीचा होने का प्रसंग न आये । एक ही आसन पर** वह दीर्घावधि तक बैठ सके ।

६. नासाग्रन्यस्तदृष्टि. ध्यानी की दृष्टि इधर-उधर स्वच्छंद बन न भटके ! बल्कि नासिका के अग्रभाग पर उस की दृष्टि स्थिर रहनी

चाहिए। काया की स्थिरता के साथ-साथ दृष्टि की स्थिरता भी होना आवश्यक है। ऐसा न होने पर दुनिया के अन्य तत्त्व मन मे घुसपैठ करने मे बाज नही आएगें और ध्यान-भग होते विलम्ब नही लगेगा। द्रौपदी का पूर्वभव इसका साक्षी है। जब वह साध्वी ध्यान-ध्येय की पूर्ति हेतु नगर बाहर गयी थी, तब उस की दृष्टि सामने वाले भवन मे स्थित वेश्या पर पड़ी। पाच पुरुषो के साथ वह वेश्या रतिक्रीडा मे रत थी। साध्वी की दृष्टि मे यकायक वह दृश्य प्रतिबिंबित हुआ। वह उस मे खो गयी और अपने उद्देश्य का विस्मरण कर गयी। क्षणार्ध के लिए वह मन मे बुदबुदायी "यह कितनी सुखी है? एक नही, दो नही, पाच-पांच प्रेमियो की एक मात्र प्रेमिका!" ध्येय रूप परमात्मा के बजाय वह दृश्य उसे अत्यत प्रिय लगा। फलस्वरूप वही उस का ध्येय बन गया। आगे चल कर द्रौपदी के भव मे वह पांच पाडवो की पत्नी बनी। परमात्मा के साथ तादात्म्य साधने के लिए दृष्टि-सयम अनिवार्य है। दृष्टिसयम न रखने वाला साधक परमात्म-स्वरूप की साधना नहीं कर सकता। अत उसे हमेशा अपनी दृष्टि नासिका के अग्रभाग पर स्थिर करनी चाहिये।

७ मनोवृत्तिनिरोधक मन के विचार इद्रियो का अनुसरण करते हैं। निज चित्त को ध्येय मे स्थिर करनेवाला साधक मनोवृत्तियो का निरोध करता है। तीव्र वेग मे प्रवाहित विचार-प्रवाह मे अवरोध पैदा करता है। लेकिन जहा ध्येय मे चित्त लीन हो गया इद्रियो के पीछे दौडते मन पर प्रतिबध आ जाता है वह भागना बद करता है। आत्मा के साथ उस का सम्बध जुडते ही अनायास इद्रियो के साथ रहे उस के सम्बध टूट जाते हैं। ऐसी परिस्थिति मे 'मै परमात्मा का ध्यान करूँ।' सोचते हुए, राह देखने की जरूरत नहीं। स्वयं परमात्म-स्वरूप मे आपको लीन कर दो। बस, इन्द्रियो के साथ सम्बध-विच्छेद हुआ ही समझो!

८ प्रसन्न न : ध्यानी कैसी अद्वितीय प्रसन्नता कूट कूट कर भरी होती है ध्यानी पुरुष के मन में। परमात्म-स्वरूप में लीन होने का आदर्श, ध्येय रखने वाला ज्ञानी-ध्यानी महापुरुष जब अपनी मजिल पर पहुँचता है और अपने आदर्श को सिद्ध होता अनुभव करता है, तब उसकी प्रसन्नता की अवधि नही रहती। वह एक तरह के दिव्य आनन्द मे डूब

जाता है। उस का राग-रोग निरन्तर दूर होता है। उस का
आनन्दोर्मियों से [illegible] उठता है और मुखमंडल सूर्य की भाँति देदी-
प्यमान नजर आता है। तब उसे विषय-भोग की स्पृहा नहीं होती, न
ही काम-वासनाओं का संताप। अर्थात् आनन्द ही आनन्द का वाता-
वरण छाया रहता है सर्वत्र! 'भिक्षुरेकः सुखी लोके।' यह ऐसा सुख
का सत्य और सनातन मन्त्र है। जो ध्यानी है, वह बिना मूल्य ऐसा
अनिर्वचनीय सुख का अनुभव कर सकता है।

९. अप्रमत्त. प्रमाद! आलस! प्रमाद! इन दुष्प्रवृत्तियों को तो
कोसों दूर रख, वह परमात्म-स्वरूप में सच्चिदानन्द पहुँच जाता है। वह
उन का कभी शिकार नहीं होता, बल्कि उस के अंग-प्रत्यंग से स्फूर्ति
की किरणें प्रस्फुटित होती रहती हैं। निरन्तर मन कार्य-संलग्न उत्साह
से भरा-भरा रहता है। वह आलस्य को तो मानो...स्वच्छ विभूति महा
मानव ही प्रतीत होता है। साथ ही ऐसा भास होता है जैसे वह
परमात्मा की प्रतिकृति न हो? अरे, वैभारगिरि पर ध्यानस्थ धन्ना
अणगार के जब मगधाधिपति श्रेणिक ने दर्शन किये थे, तब वे ऐसी
ही भव्य विभूति लगे थे, सहसा वे उनके समक्ष नतमस्तक हो गये!
उन के हृदय में सहसा भक्ति का प्रवाह प्रकट हो उठा! अप्रमत्त ध्यानी
महात्मा के दर्शन से श्रेणिक गद्‌गद् हो उठे थे! और उसी क्षण
अप्रमाद का अपूर्व प्रताप, मगध-नरेश श्रेणिक के भव-ताप को दूर करने
वाला साबित हुआ। ध्यानी के आगे अभिमानी का अभिमान पानी हो
जाता है और उसकी मौन वाणी प्राणी के प्राणों को नवपल्लवित कर
देती है।

१०. चिदानन्द-अमृत अनुभवी: ध्यानी महापुरुष को सर्वदा एक
ही अभिरुचि होती है ज्ञानानन्द का जी भर रसास्वादन करने की।
सिवाय इस के उसे इस संसार से कोई दिलचस्पी नहीं। ज्ञानानन्द का
अमृत ही उसका पेय होता है। आत्मज्ञान का आस्वाद लेते वह जरा
भी नहीं अघाता।

ऐसे ध्यानी महात्मा अपने अंतरंग-साम्राज्य का विस्तार करते हुए
न जाने कैसा आत्म-तत्त्व बनाते हैं! उस के साम्राज्य का वही एक
मात्र अधिकारी और स्वामी! अन्य कोई भूल कर भी उनकी ईर्ष्या

नही कर सकता । साथ ही उक्त साम्राज्य का ना ही कोई विपक्ष शत्रु पक्ष है !

ऐसे ध्यानी नरपुगव को भला, किस उपमा से अलकृत किया जाए ? उस के लिए देवलोक मे कोई उपमा नहीं है, ना ही मृत्युलोक मे। ऐसी कोई पूर्णोपमा उपलब्ध नही त्रिभुवन म, जिस का उपयोग ध्यानी-ज्ञानी महापुरुष क लिए उपयुक्त हो ।

ध्याता, ध्यान और ध्येय की एकता साधन वाला योगी चमचक्षुओ से दृष्टिगोचर नही होता, ना ही परखा जाता है । ऐसे महान् ध्याता महात्मा, अतरग आनन्द का अनुभव करते हैं । ऐसी उच्चतम श्रेणि प्राप्त करने के लिए जीवात्मा को ऊपर निर्दिष्ट विशेषताओ का सपादन करना आवश्यक है ।

ध्याता बनने के लिए यह एक प्रकार की आचार सहिता ही है। ऐसा ध्याता ही ध्येय प्राप्त करने का सुयोग्य अधिकारी बन सकता है ।

हे आत्मन् ! तू ऐसा सर्वोत्तम ध्याता बन जा ! प्रस्तुत पार्थिव जगत म सदा-सर्वदा के लिए अलिप्त हो जा। ध्येयरूप परमात्म स्वरूप का अनन्य पूजारी, पूजक बन जा ! इतना ही नही, बल्कि इसका ही प्रमी बन जा । अपने जीवन की हर पल का तू इस मे ही लगा दे ! ध्येय में ध्यान स निमग्न हो जा । और अनुभव कर ले इस अपूर्व आनन्द का !

४१. तप

वासनाओं पर कुपित योगी, अपने शरीर पर क्रोध करता है, रोष करता हैं और तपश्चर्या के माध्यम से शरीर पर आक्रमण कर देता है, टूट पडता है !

अरे, आत्मन् ! शरीर पर टूट पडने से क्या लाभ ? क्या तुम नहीं जानते कि शरीर तो धर्म-साधना का एकमेव साधक है ? काम-वासनाएं शैतान हैं, शरीर नहीं ! अत: तपश्चर्या का लक्ष्य शरीर नहीं, बल्कि काम-वासनाएं होना चाहिए । प्रस्तुत प्रकरण में ग्रंथकार ने हमें यही विवेकदृष्टि प्रदान की है । इंद्रियों को नुकसान हो, ऐसी तपश्चर्या नहीं करने की है ।

बाह्य तप की उपयोगिता आभ्यंतर तप की दृष्टि से है और अभ्यंतर तप को आत्मविशुद्धि का अनन्य साधन बताया है ।

हे तपस्वीगण ! तुम्हें इस अध्याय का ध्यान-पूर्वक पठन मनन करना होगा !

ज्ञानमेव बुधा प्राहु कर्मणा तापनात तप ।
तदाभ्यन्तरमेवेष्ट बाह्य तदुपबृहकम् ॥१॥२४१॥

अर्थ पडित का कहना है कि कर्मों का तपाने वाला ज्ञान ही तप ज्ञान ही है। यू अतरंग तप ही इष्ट है, उसे वृद्धिगत करने वाला बाह्य तप भी इष्ट ही है।

विवेचन भला, ऐसा कौन भारतीय होगा, जो 'तप' शब्द से अनभिज्ञ अपरिचित हो? तप करने वाला तो तप से परिचित है ही लेकिन जो तप नही करता है वह भी इस से भलीभाति परिचित है। वैसे आम तौर पर समाज में 'तप' शब्द अमुक प्रकार के बाह्य तप के रूप में ही प्रसिद्ध है। तपश्चर्या क्या की जाए? तप कैसा किया जाय? तपश्चर्या क्व की जाए? आदि कई बातें हैं, जिन पर सोचना प्राय बद हो गया है।

इस ससार मे सुखी लोगो की तरह दु खी लोग भी पाये जाते हैं। उस मे भी सुखी कम, दु खी ज्यादा। वास्तविकता यह भी है कि सुखी सदा के लिये सुखी नही वैसे दु खी सदा के लिए दु खी नही। यहा तो यक्ष-प्रश्न है। भला ऐसा क्यो? तो क्या आत्मा का स्वभाव ही ऐसा है? नही, आत्मा का स्वभाव तो अनत सुख है, शाश्वत सुख है। तब क्या है? शास्त्रकारो का कहना है कि आत्मा पर 'कर्म' का आवरण छाया हुआ है, अत जीव के जिस बाह्य रूप के हमे दर्शन होते हैं, वह कर्मजन्य रूप है। आत्मा के इस रूप-स्वरूप का निर्णय केवलज्ञानी वीतराग ऐसे परमात्मा द्वारा बहुत पहले ही किया गया है।

परम सुख और अक्षय शाति प्राप्त करने के लिए आत्मा को कर्म-बधन से मुक्त करना ही पडता है। यह कर्म-बधन को तोडने का अपूर्व, एकमेव साधन तप है। कर्म-क्षय के लिए तपश्चर्या करनी होती है। कहा गया है 'कर्मणां तापनात तप' अर्थात् कर्मों को जो तपाय, वह तप है। तपाने का अर्थ है नाश करना।

तपस्वी का लक्ष्य हमेशा कर्म क्षय ही होना चाहिए। तप के मुख्य दो भेद हैं बाह्य और अभ्यन्तर।

वैसे कर्मक्षय करनेवाला तप ग्राभ्यन्तर ही होता है । 'प्रशमरति' में भगवान उमास्वातिजी ने कहा है :

"प्रायश्चितध्याने वैयावृत्यविनयावथोत्सर्ग· ।
स्वाध्याय इति तप षट्प्रकारमभ्यंतरं भवति ।।"

प्रायश्चित, ध्यान, वैयावच्च, विनय, कायोत्सर्ग और स्वाध्याय-ग्राभ्यन्तर तप के छह मुख्य भेद है । इन में भी 'स्वाध्याय' को श्रेष्ठ तप कहा गया है ।

'सज्झायसमो तवो नत्थि ।'

स्वाध्याय के समान ग्रन्य कोई तप नही है । यह श्रेष्ठता कर्मक्षय की अपेक्षा से है । स्वाध्याय से विपुल प्रमाण मे कर्मक्षय होता है, जो ग्रन्य तपो से नही होता ।

'तब क्या बाह्य तप महत्त्वपूण नही है ?' है, आभ्यन्तर-तप की प्रगति में सहायक हो-ऐसे बाह्य-तप की नितान्त आवश्यकता है । उपवास करने से यदि स्वाध्याय मे प्रगति होती हो तो उपवास करना ही चाहिए । कम खाने से यदि स्वाध्यायादि क्रियाग्रो मे स्फूर्ति का संचार होता हो तो अवश्य कम खाना चाहिए । भोजन मे कम व्य-जनो-वस्तुओ के उपयोग से, स्वाद का त्याग करने से, काया को कष्ट देने से, और एक स्थान पर स्थिर बैठने से यदि आभ्यन्तर तप मे वेग ग्राता हो ग्रौर सहायता मिलती हो तो नि संदेह ऐसा बाह्य-तप जरूर करना चाहिए । तात्पर्य यह है कि बाह्यतप, आभ्यन्तर तप का पूरक बनना चाहिये ।

हे मानव, केवल तुम ही ग्राभ्यन्तर तप की आराधना कर कर्म-क्षय करने मे सर्वदृष्टि से समर्थ हो । अत. कर्मक्षय कर आत्मा का स्वरूप प्रगट करने हेतु तप करने तत्पर बन जाग्रो । जब तक कर्मक्षय कर आत्म-स्वरुप प्रगट नही करोगे, तब तक तुम्हारे दु:खो का अंत नही ग्रायेगा ।

आनुश्रोतसिकी वृत्तिर्बालानां सुखशीलता !
प्रातिश्रोतसिकी वृत्तिर्ज्ञानिनां परमं तप· ।।२।।२४२।।

अर्थ – लोकप्रवाह का अनुसरण करने की मानवी की वृत्ति, उसकी सुख-शीलता है। जबकि ज्ञानी पुरुषों की, विरुद्ध प्रवाह में चलने रूप वृत्ति उत्कृष्ट तप है।

विवेचन संसार के तीव्र गतिवाले महाप्रवाह !

महाप्रवाह की प्रचंड बाढ मे जो बह गये, उन का इतिहास निहायत रोंगटे खडा कर देनेवाला है। अरे, राव रक तो क्या, अपनी हुँकार से धरती को एक छोर से दूसरे छोर तक कंपानेवाले भयभीत करनेवाले रथी–महारथी, चक्रवर्ती, वासुदेव और प्रतिवासुदेव, राजा-महाराजा इस महाकाल की बाढ मे बह गये। इस के बावजूद भी प्रलयकारी महाप्रवाह थमा कहा है ? आज भी पूर्ववत् बह रहा है और वह भी एक प्रकार का नही, बल्कि अनेक प्रकार का हैं।

'खाना–पीना और मौज मस्ती मारना ! ऐसा ही चलता है और चलता रहेगा ! हम तो ससारी जो ठहरे ! सब चलता है ! अरे भाई अपना मन शुद्ध-साफ रखो, तप करने से और क्या होना है ?' ससार मे ऐसे कई लोकप्रवाह हैं। और उस के बहाव में प्रवाहित होकर तप की उपेक्षा करनेवाले अज्ञानी जीवो की इस दुनिया मे कमी नही है। मानव की सुखशीलता उसे ऐसे बहाव मे खीच ले जाती है और वह हमेशा ऐसी ही प्रवृत्ति का अनुसरण करता हैं, जिसमे अधिक कष्ट न हो, दिमागपच्ची न हो और शरीर को किसी प्रकार की तकलीफ न पड़े।

लेकिन जो विद्वान् है, विचारक हैं और चिंतक हैं, वे प्रचलित लोकप्रवाह के विपरीत चलनेवाले होते है ! उन्होने सुखशीलता का त्याग किया होता है। नानाविध आपत्ति, वेदना, यातनाएँ और कष्टो को हँसते–हँसते झेलने की उन की तैयारी होती है ! वे धर्मबुद्धि और धार्मिकवृत्ति से प्रेरित होकर उत्कृष्ट तपश्चर्या करते हैं। वे मन ही मन चिंतन करते हैं "प्रव्रज्या ग्रहण कर तीर्थंकर स्वयं भी तप करते हैं...अलबत्ता, उन्हें भली-भाँति ज्ञात है कि वे केवलज्ञान के अधिकारी बनेंगे, फिर भी घोर तपश्चर्या का आलम्बन ग्रहण करते हैं ! तब हे जीव ! तुम्हे तो तप करना ही चाहिये।"

यहां मूल श्लोक मे 'वृत्ति' शब्द का प्रयोग किया गया है, जिस का अर्थ 'विचार' होता है, अर्थात् अज्ञानी जीवो की लोकप्रवाह का अनुसरण करने की वृत्ति (विचार) सुखशीलता है। लेकिन ग्रन्थकार ने स्वय ही 'वृत्ति' का अर्थ 'प्रवृत्ति' करते हुए मासक्षमण (एक महिने का उपवास) सदृश उग्र तपश्चर्या की प्रवृत्ति प्रदर्शित की है। मतलब, तपश्चर्या को मात्र विचार रूप नही, वल्कि आचाररूप निर्दिष्ट कर वाह्य तप पर भार दिया है!

'वाह्यं तदुवृंहकम्।' का प्रयोग कर वाह्य तप अतरग तप का सहायक है-ऐसा आभास पैदा किया था कि कर्मक्षय के लिए अतरग तप सर्वथा आवश्यक है! अलवत्ता, वाह्य तप करना हो तो करें। लेकिन तुरत ही दूसरे श्लोक मे अपने कथन का स्पष्टीकरण किया है। लोकप्रवाह...लोकसंज्ञा के अधीन वन अगर तप की ही उपेक्षा करते हो तो यह तुम्हारी सुखशीलता को आभारी है और तुम अज्ञानी हो।

अंतरग तप सुदृढ़ वनने के लिए वाह्यतप नितान्त जरूरी है। अत टीका मे ग्रन्थकार ने तद्भवमोक्षगामी तीर्थकरो का उदाहरण दे कर कहा है कि, 'वे स्वय वाह्य तप का आचरण करते है।' तव हम भला, यह भी नही जानते है कि 'किस भव मे हमारी मुक्ति है! हम मोक्ष-पद के अधिकारी वननेवाले है या नही, तो तप क्यो न करे?

करो, जितना भी सभव है, अवश्य वाह्य तप करो....। शरीर का मोह त्याग कर तपश्चर्या करो। धीर, वीर और उग्र तपश्चर्या कर अपनी अनन्य आत्मशक्ति का इस ससार को परिचय कराओ। लोक-प्रवाह के विपरीत प्रवाह मे तैर कर अपनी धीरता और वीरता का प्रदर्शन कर, आगे वढते रहो। कर्मक्षय का आदर्श अपने सामने रख, तप करते ही रहो।

धनार्थिनां यथा नास्ति शीततापादि दुस्सहम्।
तथा भवविरक्तानां तत्त्वज्ञानार्थिनामपि ॥३॥२४३॥

अर्थ :- जिस तरह धनार्थी को सर्दी-गरमी आदि कष्ट दुस्सह नही हैं, ठीक उसी तरह ससार से विरक्त तत्वज्ञान के चाहक को भी शीत-तापादि कष्ट सहन करने रूपी तप दुस्सह नही हैं।

विवेचन धन–सपत्ति के लालची मनुष्य को दात किटकिटानेवाली तीव्र सर्दी और आग बरसानेवाली गरमी की भरी दोपहरी मे भटकते देखा होगा ? उस मे तनिक प्रश्न करना "अरे भई, इतनी तीव्र सर्दी मे भला तुम क्यो भटक रहे हो ? तन–बदन को ठिठुरन मे भर दें ऐसी कडाके की सर्दी क्यो सहन कर लेते हो ? आग–उगलती तीव्र गरमी के थपेडे क्यो सहते हो ?"

प्रत्युत्तर मे वह कहगा "कष्ट झेले बिना, तकलीफ और यातनाओ को सहे बिना धन–सपत्ति नही मिलती ! जब ढेर सारा धन मिल जाता है तब सारे कष्ट भूल जाते हैं ।"

ना खाने का ठिकाना, ना पीने का ! कपडो का ठाठ-बाठ नहीं! एशो आराम का नाम निशान नही ? धन–सपदा के पीछे दीवाना बन घूमने वाले को कष्ट कष्टरूप नही लगता, ना ही दु ख दु खरूप लगता है ! तब भला, जिसे परम तत्त्व के बिना सब कुछ तुच्छ प्रतीत हो गया, ऐसे भवविरक्त परमत्यागी महात्मा को शीत तापादि कष्टरूप लगेंगे क्या ? पादविहार और केशलुंचन आदि कष्टदायी प्रतीत होगे क्या ?

अरे, परमतत्त्व की प्राप्तिहेतु भवसुखो से विरक्त बन राजगृही की पहाडिया मे प्रस्थान कर, उत्तप्त चट्टान पर नगे वदन सोने वाले धनाजी और शालिभद्र को वे कष्ट कष्टरूप नही लगे थे ! उन के मन वह सब स्वाभाविक था ।

जो मनुष्य भव मे विरक्त नही, सासारिक–सुखो से विरक्त नही, ना ही परमतत्त्व–आत्मस्वरूप प्राप्त करने का हृदय मे भावना जाग्रत हुई ऐसे मनुष्य के गले यह बात नहीं उतरेगी । जिसे भव ससार के सुखो मे ही दिन–रात खोये रहना है, भौतिक सुखो का परित्याग नहीं करना है और परम तत्त्व की अनोखी बातें सुन, उसे प्राप्त करने की चाह रखता है वैसा मनुष्य प्राय ऐसा मार्ग खोजता है कि कष्ट सहे बिना ही आसानी से परम तत्त्व की प्राप्ति हो जाय ।

भव-विरक्ति के बिना परम तत्त्व की प्राप्ति असभव ही है । ठीक वस ही भव विरक्ति और परम तत्त्व की प्राप्ति की तीव्र लालसा के बिना उपसर्ग और परिसह सहना भी असभव है ! इतिहास साक्षी है कि जिन महापुरुषो ने उपसर्ग और परिसह सहन किये थे वे सब भव-विरक्त थे, एव परम तत्त्व की प्राप्ति के चाहक थे !

गजसुकुमाल मुनि, खंधक मुनि आदि मुनिश्रेष्ठ एवं चंद्रावतंसक जैसे राजा-महाराजाओं को याद करो....। परिसह और उपसर्ग उन को उपद्रव रुप नही लगे थे ।

हाँ, सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ध्येय का निर्णय हो जाना चाहिये ! धनसंपदा की भांति ही तुम्हारे मन मे परम तत्त्व की प्राप्ति की भावना उजागर हो जानी जाहिये । जिस तरह धन के बिना धनार्थी को कोई प्रिय नही, ठीक उसी तरह मुमुक्षु को बिना परमतत्त्व के कोई प्रिय नही ! यह सोच कर वह परमतत्त्व की प्राप्ति के लिए तपश्चर्या करे । परिणाम यह होगा कि एकाध-दो उपवास क्या, महिने-दो महिने के उपवास भी उसे सरल लगेंगे ! घंटों तक ध्यानस्थ रहना उसके लिए कष्टप्रद नही होगा ।

जिस तरह इस विश्व में सब से प्रिय वस्तु पैसा है, उसी तरह विवेकशील मुमुक्षु के लिए अत्यधिक प्रिय वस्तु परम तत्त्व ही हैं । उसे पाने के लिए जो कोई कष्ट सहे, एक तरह से वह तप ही है । ऐसा तप उसे सरल, सुगम और उपादेय प्रतीत होता है और वह अदम्य उत्साह के साथ उसकी आराधना करता है !

सदुपायप्रवृत्तानानुपेयमधुरत्वतः ।
ज्ञानिनां नित्यमानन्दवृद्धिरेव तपस्विनाम् ।।४।।२४४

अर्थ :— अच्छे उपाय में प्रवृत्त ज्ञानी ऐसे तपस्वियो को मोक्ष रुपी साध्य की स्वादुता से उसके आनन्द में सदैव अभिवृद्धि होती है ।

विवेचन . जहाँ मीठापन वहाँ आनन्द !

जहाँ मिष्टान्न का भोजन वहाँ आनन्द ! जहाँ मीठे शब्दों की खैरात वहाँ आनन्द ! जहाँ मधुर-मिलन वहाँ आनन्द ! अरे, मीठेपन में ही आनन्द का अनुभव होता है । लेकिन ज्ञानियो को मिष्टान्न आनन्द नही देता ! मृदु शब्दों के श्रवण मे उन्हे रस नही, और ना ही मधुर-मिलन की उन्हे उत्कंठा होती है । तब भला, उन का जीवन कैसा नीरस, आनन्द विहिन उल्लासहीन होगा ?

नही, नही ! उन का जीवन आनन्द से भरपूर होता है ! रसभीना होता है ! उल्लास से परिपूर्ण होता है । जानते हो वे, यह आनन्द कहाँ

से प्राप्त करते हैं ? साध्य की मधुरता में से ! और उनका एकमेव साध्य है मोक्ष ! मोक्ष-प्राप्ति ! शिवरमणी के मधुर मिलन की कल्पना मात्र से माधुर्य बरसता है ! यह माधुर्य तपस्वीगण को आनंद में भर देता है ! शिवरमणी से मिलने का तपस्वीजनों ने एक अच्छा उपाय पकड लिया है तपश्चर्या का, देह-दमन का और वृत्तियों के शमन का ।

तपस्वीजनों के पास ज्ञानदृष्टि जो होती हैं वे इस उपाय से साध्य की निकटता खोज निकालते हैं । जैसे जैसे साध्य सन्निकट होगा, माधुर्य में भी उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है और वे अपूर्व आनन्द का अनुभव करते हैं । क्रमशः वह आनन्द बढता ही जाता है ।

'वैराग्यरति' ग्रंथ में कहा गया है

रतेः समाधावरति क्रियासु
नात्यन्ततीव्रास्वपि योगिनां स्यात् ।
अनाकुला वह्निकणाशनेऽपि
न किं सुधापानगुणाच्चकोरा ॥"

"योगीजनों को समाधि में रति-प्रीति होने से अत्यंत तीव्र क्रिया में भी अरति-अप्रीति कभी नहीं होती ! चकोर पक्षीसुधारसपान करने का चाहक होने से अग्निकण भक्षण करते हुए भी क्या वह व्याकुलता-विरहित नहीं होता ?"

मधुरता के बिना आनन्द नहीं और बिना आनन्द के कठोर धर्मक्रिया दीर्घावधि तक टिकती नहीं ! वसे मधुरता और आनन्द, कठोर धर्माराधना में भी जीव को गतिशील बनाता है प्रगति कराता है ।

यहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि तपस्वी का ज्ञानी होना नितान्त आवश्यक है ! यदि तपस्वी अज्ञानी और गँवार होगा तो उसे कठोर धर्म-क्रिया के प्रति अप्रीति होगी, अरति होगी । भले ही वह धर्म-क्रिया करता होगा, लेकिन वह मधुरता का अनुभव नहीं करेगा । ज्ञान उसे साध्य-मोक्ष के सुख की कल्पना देता है । और वह कल्पना उसे मधुरता प्रदान करती है । उस से वह आनन्दभरपूर बन जाता है ! यही आनन्द उस की कठोर तपश्चर्या का जीवन देता है । ज्ञानयुक्त तपस्वी की जीवनदशा का यहाँ कैसा अपूर्व दर्शन कराया है ! हम ऐसे तपस्वी

बनने का आदर्श रखें । उस के लिए साध्य की कल्पना स्पष्ट करें । वह इतनी स्पष्ट होनी चाहिये कि जिस मे से माधुर्य का स्फुरण होता रहे । इस के लिये तपश्चर्या के एकमेव उपाय का अवलम्बन करें । बस. निरन्तर आनन्द-वृद्धि होती रहेगी और उस आनन्द मे नित्यप्रति क्रिडा करते रहेंगे ।

> इत्यं च दुःखरूपत्वात् तपोव्यर्थमितीच्छताम् ।
> बौद्धानां निहता बुद्धिर्बौद्धानन्दापरिक्षयात् ॥५॥२४५॥

अर्थ :- इस मतव्य के साथ कि 'इस तरह दु खरूप होने के कारण तप निष्फल है,' ऐसा कहनेवाले बौद्धों की बुद्धि कुन्ठित हो गई है । क्यों कि बुद्धिजनित अन्तरंग आनन्द-धारा कभी खंडित नहीं होती ! (तात्पर्य यह कि तपश्चर्या में भी आत्मिक आनन्द की धारा सदैव अखड रहती है)

विवेचन . 'कर्म-क्षय हेतु, दुष्ट वासनाओं के निरोधार्थ तपश्चर्या एक आवश्यक क्रिया है । जो करनी ही चाहिए ।' इस शाश्वत् , सनातन सिद्धान्त पर भारतीय धर्मों में से केवल बौद्ध धर्म ने आक्रमण किया है ! अलबत्त, चार्वाक-दर्शन भी इसी पथ का पथिक है ! परंतु वह आत्मा और परमात्मा के सिद्धान्त में ही विश्वास नही करता । अतः वह तपश्चर्या के सिद्धान्त को स्वीकार न करे-यह समझ में आने जैसी बात है । परंतु आत्मा एवं निर्वाण को मान्यता प्रदान करनेवाला बौद्ध-दर्शन भी तपश्चर्या की अवहेलना करें, अमान्य करे, तब सामान्य जनता मे सदेह उत्पन्न होता है और तपश्चर्या के प्रति अश्रद्धा का प्रादुर्भाव होता है ।

फलतः सामान्य जनता के हितचिंतक और मार्गदर्शक महात्माओं को दुःख होना स्वाभाविक है । तपश्चर्या को लेकर बौद्ध-दर्शन का अपलाप कैसा है, यह जानने जैसी बात है । वह कहता है :

> 'दुःखात्मकं तपः केचिन्मन्यते तन्न युक्तिमत् ।
> कर्मोदयस्वरूपत्वात् बलिवर्दादि-दुःखवत् ॥,

'कित्येक (जैनादि) बैल आदि पशु के दु.ख की तरह अशाता वेदनीय के उदय-स्वरूप होने से तपश्चर्या को दु खप्रद मानते है, जो

युक्तियुक्त नही है । बौद्ध कहते हैं "तप क्यो करना चाहिए ? पशुओ की तरह दुःख सहने से भला क्या लाभ ? वह तो अशाता वेदनीय कर्म के उदय-स्वरुप जो है । हरिभद्रसूरीजी ने कहा है कि

विशिष्टज्ञान–संवेगशमसारमतस्तपः ।
क्षयोपशमिकं ज्ञेयमव्याबाधसुखात्मकम् ।।

'विशिष्टज्ञान-संवेग उपशमगर्भित तप क्षायोपशमिक और अव्याबाध सुखरूप है ।' अर्थात् चारित्रमोहनीय कर्म के क्षयोपशम से सम्पन्न परिणति स्वरुप है, ना कि अशातावेदनीय के उदय स्वरुप है ।

पूज्य उपाध्यायजी महाराज का कथन है कि तपश्चर्या मे अतरग आनद की धारा अखडित रहती है, उसका नाश नही होता । अत तपश्चर्या मात्र कष्टप्रद नही है । पशुपीडा के साथ मानव के तप की तुलना करना कहाँ तक उचित है ? पशु के हृदय मे क्या कभी अतरग आनंद की धारा प्रवाहित होती है ? पशु क्या स्वेच्छया कष्ट सहन करता है ?

क्योकि तपश्चर्या की आराधना मे प्राय स्वेच्छया कष्ट सहने का विधान है । किसी के बन्धन, भय अथवा पराधीनावस्था के कारण नहीं । स्वेच्छया कष्ट सहन करने मे अतरग आनद छलकता है उफनता है । इस आनन्द के प्रवाह को दृष्टिगोचर नही करनेवाले मात्र बाह्य ही तप को दुःखरुप मानते हैं । उन्होने केवल तपस्वी का बाह्य स्वरुप देखने का प्रयत्न किया है। उस के कृश देह को निहार, सोचा कि बेचारा कितना दुःखी है ? ना खाना, ना पीना, सचमुच शरीर कैसा सूखकर काँटा हो गया है ! इस तरह तपश्चर्या के कारण शरीर पर होने वाले प्रभाव को देखकर उसके प्रति घृणा भाव पैदा करना आत्मवादी के लिए कहाँ तक उचित है ? योग्य है ?

घोर तपश्चर्या की, अनन्य एव अद्भुत आत्म-बल से आराधना करनेवाले महापुरुष के आतरिक आनन्द का यथोचित मूल्यांकन करने के लिए, उनका घनिष्ट परिचय होना अत्यावश्यक है । अरे, चपा सदृश सुश्राविका के छह माह के उपवास के बदौलत परधर्मी और हिंसक बादशाह अकबर का आनन–फानन में अहिंसक बना दिया था । लेकिन कब ? जब अकबर ने खुद होकर चपा श्राविका का परिचय प्राप्त किया था । तपस्विनी चपा के आतरिक आनन्द को नजदीक से देखा और

समझा ! तपश्चर्या को कष्टप्रद नही बल्कि सुखप्रद मानने की चंपा श्राविका की महानता को परखा ! फलतः अकबर जैसा बादशाह तपश्चर्या की खिदमत में झुक पडा !

> यत्र ब्रह्म जिनार्चा च कषायाणां तथा हृतिः ।
> सानुबन्धा जिनाज्ञा च तत्तपः शुद्धमिष्यते ॥६॥२४६॥

अर्थ :- जहाँ ब्रह्मचर्य हो, जिनपूजा हो, कषायों का क्षय होता हो और अनुबंधसहित जिन-आज्ञा प्रवर्तित हो, ऐसा तप शुद्ध माना जाता है !

विवेचन : - बिना सोचे-समझे तप करने से नही चलता, ना ही कोई लाभ होता है । यानी उसके परिणाम को जानना चाहिये ! यह परिणाम इसी जीवन मे आना चाहिए । सिर्फ परलोक के रमणीय सुखों को कल्पनालोक मे गूथकर तप करने से कोई लाभ नही ! तनिक ध्यान से सोचो । जैसे-जैसे तुम तपश्चर्या करते जाओ, वैसे-वैसे उसके निम्नांकित चार परिणाम आने चाहिये .

(१) ब्रह्मचर्य मे वृद्धि होती है ?
(२) जिन-पूजा मे प्रगति होती है ?
(३) कषायो मे कटौती होती है ?
(४) सानुबन्ध जिनाज्ञा का पालन होता है ?

तपश्चर्या का आरम्भ करते समय इन चार आदर्श दृष्टि समक्ष रखना परमावश्यक है । जिस तरह तपश्चर्या करते चले उसी तरह इन चार बातो में प्रगति हो रही है या नही-इसका निरीक्षण करते रहें । इसी जीवन मे इन चारो ही बातो मे हमारी विशिष्ट प्रगति होनी चाहिए । यही तो तपश्चर्या का तेज है और अद्भुत प्रभाव !

ज्ञानमूलक तपश्चर्या ब्रह्मचर्य मे दृढता प्रदान करती है ! उस से अब्रह्म.... मैथुन की वासनाएँ मद हो जाती हैं और दिमाग मे भूलकर भी कामभोग के विचार नही आते । मन-वचन-काया मे ब्रह्मचर्य का पालन होता है ! तपस्वी के लिए ब्रह्मचर्य-महाव्रत के पालन मे सुगमता आ जाती है । मैथुन-त्याग तपस्वी के लिए आसान हो जाता है ! तपस्वी का एक ही लक्ष्य होता है : "मुझे ब्रह्मचर्य-पालन मे

निर्मलता, विमलता पवित्रता और दृढता लाना है।"

जिन-पूजा मे निरन्तर प्रगति होती जाती है। जिनेश्वरदेव के प्रति उसके हृदय मे श्रद्धाभाव और भक्ति की अनूठी वृद्धि होती रहती है। शरणागति का भाव दृढतर होता रहता है। समर्पण-भाव मे उत्कटता का आविर्भाव होता है। जिनेश्वरदेव की द्रव्य पूजा और भाव पूजा मे उत्साह की तरगें छलकती रहती हैं।

कषायों का क्षयोपशम होता रहता है। क्रोध मान, माया और लोभ मे क्षीणता आती है। कषायो को उदय मे नहीं आने देता है। साथ ही उदित कषायो को सफल नही होने देता है। तपस्वी के लिए कषाय शोभाजनक नही,' यह उसका मुद्रालेख बन जाता है। क्योंकि कषाय मे खोया तपस्वी, तपश्चर्या की निंदा मे निमित्त होता है। उस मे तपश्चर्या की कीमत कम होती है। अत कषायो का क्षयोपशम, यह तपश्चर्या का मूल हेतु/उद्देश्य होना चाहिए।

सानुबध जिनाज्ञा का पालन। किसी प्रकार की प्रवृत्ति करने के पूर्व 'इसके लिए जिनाज्ञा क्या है? कहीं जिनाज्ञा का भग तो नहीं होता।' आदि विचारो की जागृति जरूरी है।

'आज्ञा की आराधना कल्याणार्थ होती है, जबकि उसकी विराधना ससार के लिए होती है।' जिनाज्ञा की सापेक्षता के लिए तपस्वी सदैव सजग-सावधान रहे। यदि इन चार बातो की सावधानी बरत कर तपश्चर्या की जाय तो तपश्चर्या का कितना उच्च मूल्यांकन हो? ध्येयविहीन दिशाशून्य बनकर परलोक के भौतिक सुखो के लिए शरीर को खपाते रहने म कोई विशेष अर्थ निष्पन्न नही होगा। साथ ही, किसी जन्म मे तो मोक्ष-प्राप्ति होगी ही,' आदि आशय से की गयी कम-ज्यादा तपश्चर्या से आत्मा का उद्धार असभव है। अत चार बातो का होना अत्यत आवश्यक है। ब्रह्मचर्य का पालन, जिनेश्वरदेव का पूजन, कषायो का क्षय और जिनाज्ञा का पारतन्त्र्य। वह भी ऐसा अलौकिक पारतन्त्र्य चाहिए कि भवोभव जिनचरण का आश्रय/शरण प्राप्त हो और भवभ्रमण की श्रृखला टूट जाएँ, छिन्न-भिन्न हो जाएँ।

तदेव हि तप कार्यं दुर्ध्यानं यत्र नो भवेत् ।
येन योगा न हीयन्ते क्षीयन्ते नेन्द्रियाणि च ॥७॥२४७॥

अर्थ वास्तव में जहा दुर्ध्यान हो, जिस मे मन-वचन-काया के योगो को हानि न पहुचे और इन्द्रियो का क्षय न हो (क्रिया करने मे असक्त न बने) ऐसा तप ही करने योग्य है।

विवेचन ऐसी दृढता कि, 'कुछ भी हो जाए, लेकिन यह तप तो करना ही है !' किसे हर्षित नही करेगी ? ऐसी दृढता प्रकट करने वाला मुमुक्षु सभी के आदर का पात्र और अभिनदनीय होता है !

तपस्वी के लिए दृढता आवश्यक है ! नियोजित तप को पूर्ण करने की क्षमता चाहिए । लेकिन सिर्फ तपश्चर्या पूर्ण करने की दृढता से ही उसे वीरता प्राप्त नही होती ! उसके लिए निम्नांकित प्रकार की साव-धानी भी जरुरी है :

— दुर्ध्यान नही होना चाहिए ।

— मनोयोग-वचनयोग-काययोग को किसी प्रकार की हानी नही पहुँचनी चाहिए, अथवा मुनि-जीवन के कर्तव्य-स्वरूप किसी योग को नुकसान न पहुँचे ।

— इन्द्रियो को किसी प्रकार को हानी नहीं पहुँचनी चाहिए ।

दुर्ध्यान के कई प्रकार हैं। कभी-कभी दुर्ध्यान करनेवाले को कल्पना तक नही होती कि वह दुर्ध्यान कर रहा है। दुर्ध्यान का मतलब है दुष्ट विचार, अनुपयुक्त विचार। तपस्वी को कैसे विचार नही करने चाहिए, यह भी कोई कहने की वात है ? 'यदि मैंने यह तप नही किया होता तो अच्छा रहता...मेरी तपश्चर्या की कोई कदर नहीं करता....कब पूर्णाहूति होगी ?' ऐसे विचार हैं, जो दुर्ध्यान कहलाते है ।

यदि तपश्चर्या करते हुए शारीरिक अशक्ति—कमजोरी आ जाए तब कोई सेवा-भक्ति न करे तो दुर्ध्यान होते देर नही लगती । लेकिन यह नही होना चाहिए। हमेशा आर्तध्यान से वचना चाहिए। योगो की किसी प्रकार की हानी न हो। दुर्ध्यान से मन की, कषाय से वचन की और प्रमाद से काया की हानि होती है ।

प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन, स्वाध्याय, गुरुसेवा, ग्लानसेवा, शासनप्रभा-वनादि साधु-जीवन के योग हैं । इन में किसी प्रकार की शिथिलता

पदा नही होनी चाहिए ! ऐसी तपश्चर्या भूल कर भी नही करनी चाहिए कि जिस से योगा की आराधना मे किसी प्रकार की बाधा पहुँचे । प्रात कालीन प्रतिक्रमण के समय साधु को जब तप-चिंतन का कार्योत्सग करना हाता है, तव भी निरतर यह चिंतन मनन करना चाहिए कि, 'आज के मेरे विशिष्ट कतव्यो मे कही यह तप बाधक तो सिद्ध नही होगा ?' 'आज मेरा उपवास है अट्ठम है, अत मुझ से स्वाध्याय नही होगा, मैं ग्लानसेवा गुरुसेवा आदि नही कर पाऊगा !' ऐसा तप किसी काम का नही ।

इन्द्रियो की शक्ति का हनन नही होना चाहिए । जिन इन्द्रिया के माध्यम से सयम की आराधना करनी है, उनका हनन हो जाने पर सयम की आराधना खडित हा जाएगी । आख की ज्योति चली जाए तो ? कान मे सुनना बद हो जाए तो ? शरीर को लकवा मार जाए तो ? क्या हागा ? साधु-जीवन तो स्वाश्रयी जीवन है । खुद के काम खुद ही करने होते हैं ! पादविहार करना, ठीक वैसे ही गोचरी से जीवन निर्वाह करना होता है ! यदि इन्द्रियो को क्षति पहुँचेगी तो नि सदेह साधु के आचारो को भी क्षति पहुँचे बिना नही रहेगी ।

कतव्यपालन आर इन्द्रिय-सुरक्षा का लक्ष्य तपस्वी को चूकना नही चाहिए । दुर्ध्यान स मनको बचाना चाहिए । ऐसी सावधानी विशेष रूप से बाह्य तप की आराधना [अनशन, उणोदरी, वृत्तिसक्षेप, रस-परित्याग, काया-क्लेश और सलीनता] करने वाले को रखनी चाहिए ।

साथ ही, सावधानी के नाम पर कही प्रमाद का पोषण न हो जाए, इसके लिए सावधानी बरतना जरूरी है ।

> **मुलोत्तरगुणश्रेणि - प्राज्यसाम्राज्यसिद्धये ।**
> **बाह्यमाभ्यतर चेत्थ तप कुर्यान्महामुनि ॥८॥२४८॥**

अथ मूलगुण एव उत्तरगुण की श्रेणिस्वरूप विशाल साम्राज्य की सिद्धि क लिए श्रेष्ठ मुनि बाह्य और अतरग तप करते हैं ।

विवेचन मुनीश्वर भी साम्राज्य के चाहक होते ह । राजेश्वर के साम्राज्य से विलक्षण, विशाल एव व्यापक साम्राज्य ! यह साम्राज्य है मूलगुण एव उत्तरगुणा का !

सम्यग्ज्ञान, सम्यग् दर्शन और सम्यक् चारित्र मूल गुण है । मूल गुण है पॉच प्रकार के महाव्रत । प्राणातिपात-विरमण-महाव्रत, मृषावाद विरमण महाव्रत, अदत्तादान-विरमण महाव्रत, मैथुन-विरमण महाव्रत और परिग्रह विरमण महाव्रत ।

और उत्तरगुण है : पाच समिति एव तीन गुप्ति । दस प्रकार का श्रमण-धर्म और वारह प्रकार का तप ! संक्षेप मे यह कहना उपयुक्त होगा कि 'चरणसित्तरी' और 'करणसित्तरी' मुनिराज का साम्राज्य है ।इसी की सिद्धि के लिये वह तपश्चर्या करता है । वाह्य तप और आभ्यंतर तप करता है ।

वह छट्ठ-अट्ठम-अट्ठाई और मासक्षमण जैसा अनशन तप करता है। जव आहार-ग्रहण करे तव क्षुधा (भूख) से कम ग्रहण करे। जहाँ तक सभव हो कम से कम द्रव्यो का उपयोग करे। सरस व्यंजनो का परित्याग करे । काया को कष्ट दे अर्थात् उग्रविहार करे ! ग्रीष्मकाल मे मध्याह्न के समय सूर्य की ओर निर्निमेष दृष्टि लगा कर आतापना करे ! शरदऋतु मे वस्त्रहीन हो कड़ाके की सर्दी मे ध्यानस्थ रहे ! एक ही स्थानपर निश्चल वन घंटो तक वैठ कर ध्यानादि क्रिया करे ! किंचित् भी हलन-चलन न हो, मानो साक्षात् पाषाणमूर्ति !

छोटी या वडी कोई भूल हो जाए, संयम को किसी प्रकार का अतिचार लग जाए कि वह तुरत प्रायश्चित करे ! परमेष्ठि भगवतो का.. ओंकार का ध्यान धरे । कोई गुरुजन हो, वालमुनि हो अथवा ग्लानमुनि हो, उन की सेवा-सुश्रूषा और भक्ति में सदा तत्पर वना रहे। ऐसा कोई सेवा का अवसर हाथ से न जाने दे ! लाख काम हो, विविध प्रकार की व्यस्तता से घिरा हो, फिर भी उसे एक ओर रख, सेवा-वैयावच्च के कार्य मे अविलम्ब जूड जाए । ग्लानमुनि की सेवा को वह परमात्मा की सेवा समझे ! विनय और विवेक तो उस के प्राण हो ! आचार्य-उपाध्यादि का मान-सन्मान करें, उनके प्रति विनीत-भाव अपने हृदय में सजोये रखे । अतिथि से अदव और विनय से पेश आए। उस का समस्त कार्यकलाप विनयभाव से सुशोभित हो । उस मे मृदुता का ऐसा पुट हो कि जिस से मिथ्याभिमान स्पर्श तक न कर सके ।

रात्रि के समय....निद्रा का त्याग कर निरतर कायोत्सर्ग मे निमग्न रहे । ध्यानस्थ मुद्रा मे षड्द्रव्यो का चिंतन करे और दिन-रात के आठ

प्रहर मे पाच प्रहर (२४ घटा मे से १५ घटे) स्वाध्याय मे रत रहे। गुरुदेव के सानिध्य एव मागदशन मे शास्त्राभ्याम करे, उस पर चिनन मनन करे और शका-कुशकाओ का समाधान प्राप्त करे। पठन किया हुआ विस्मरण न हो जाए, अत नियमित रूप से उसकी आवृत्ति करे। साथ ही उस पर अनुप्रेक्षा [चितन-मनन] करता रहे। और चिंतन मनन से स्पष्ट हुए पदार्थों का अन्य जीवा का उपदेश दे। सदव उमका मन स्वाध्याय मे खोया रह।

इस तरह गुणो के विशाल साम्राज्य की प्राप्ति के लिये मुनीश्वर वाह्य-आभ्यन्तर १२ प्रकार के तप की आराधना मे नित्यप्रति उद्यमशील बना रहे। कर्मो के अटूट बधनो का तोडने के लिए कटिवद्ध बना महामुनि अपन जीवन को ही तपश्चर्या के अधीन कर दे। तप के व्यापक स्वरूप की आराधना ही उस का एकमेव जीवन ध्येय बन जाए।

उन्मत्त वृत्तिओ के शमन हेतु आर उत्कृष्ट वत्तिओ का जागृत करने के लिए तप, त्याग एव तितिक्षा का माग ही जीवन का सवश्रेष्ठ माग है। आराधना-उपासना का श्रेष्ठतम माग है।

३२. सर्वनयाश्रय

जब एकाध विद्वान्, किसी एक नय-वाद की डोर पकड, उसे समझाने के लिए, आम जनता के बीच मे आता है, तब किस प्रकार का कोलाहल शोर-गुल और वाद-विवाद का समाँ बंध जाता है ? विश्व के हर क्षेत्र मे एकान्तवाद अभिशाप स्वरूप ही सिद्ध हुआ है।

यहाँ पूज्य उपाध्यायजी महाराज ने अनेकान्तवाद का प्रतिपादन किया है। लोगो को अनेकान्त दृष्टि प्रदान की है। किसी एक व्यक्ति, वस्तु अथवा प्रसग को अने-कान्त दृष्टि से देखने-परखने की अद्भुत कला सिखायी है। इसे प्राप्त कर मन मे उठती सभी शका-कुशकाओ का, प्रश्नो का समाधान ढूढा जाय, तो कैसी अपूर्व शाति मिलेगी !

प्रस्तुत अन्तिम अध्याय अत्यंत महत्व-पूर्ण है। गंभीरता के साथ उस का परि-शीलन करना न चूकना।

धाव तोऽपि नया सर्वे, स्युर्भावे कृतविश्रमा ।
चारित्रगुणलीन स्यादिति सवनयाश्रित ॥१॥२४९॥

अर्थ अपने-अपने अभिप्रायानुसार गतिमान, लेकिन वस्तुस्वभाव में जिसकी स्थिरता है, सभी नय ऐसे होते हैं। चारित्र गुण में आसक्त साधु सब नयों का आश्रय करनेवाला होता है ।

विवेचन नयवाद ।

कोई भी वस्तु अनन्त धर्मात्मक होती है । उसमें से किसी एक धर्म को ही नय मानता है, स्वीकार करता है । वह अन्य धर्मों का स्वीकार नहीं करता । उनका अपलाप करता है । अत नयवाद को मिथ्यावाद की सज्ञा दी गयी है । पूज्य उपाध्यायजी महाराज उसे 'नयाभास' कहते है ।

नय के कुल सात प्रकार है नगम, सग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र शब्द, समभिरूढ और एवभूत ।

प्रत्येक नय का अपना-अपना अभिप्राय होता है । एक का अभिप्राय दूसरे से कदापि मेल नहीं खाता । प्रत्येक नय का हर एक पदार्थ के सबध मे अपना पूर्व निर्धारित ठोस मत होता है । अत सातो नयो का एक-सा अभिप्राय– निर्णय होना असभव होता है । हा, एकाध समदृष्टि चितक महापुरुष ही इनका समन्वय साध सकता है । ऐसा महापुरुष प्रत्येक नय का उनकी भूमिका से ही न्याय देता है ।

ऐसे महामानव चारित्रगुणसपन्न महामुनि ही हो सकते है । जब कभी एकाध नय के मन्तव्य का स्वीकार करते हैं, तब अन्य नय की उपेक्षा नही करते, बल्कि उन्हे ये कहते है कि, 'यथाअवसर तुम्हारा मन्तव्य भी स्वीकार करेंगे, फिलहाल प्रस्तुत नय का ही काम है, उसका ही प्रयोजन है ।' परिणाम स्वरूप वैचारिक टकराहट नही होती, पारस्परिक सघर्ष नही होता । महामुनि की चारित्र सपत्ति लूटे जाने की सभावना पैदा नही होती । वर्ना उत्तेजित आक्रामक नय, चारित्र-सपत्ति को धूल मे मिलाते विलब नहीं करते ।

पृथग्नया मिथ पक्षप्रतिपक्षकदर्थिता ।
समवृत्तिसुखास्वादी, ज्ञानी सवनयाश्रित ॥२॥२५०॥

अर्थ : विविध नय पारस्परिक वाद-विवाद मे विडंबित है। समभाव के सुख का अनुभव करनेवाले महामुनि (ज्ञानी) सर्व नयो के आश्रित है।

विवेचन कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्यजी ने परमात्मा की स्तुति करते हुए कहा है—

'परस्पर और पक्ष-विपक्ष के भाव मे अन्य प्रवाद द्वेष से युक्त हैं। लेकिन सभी नयो को समभाव से चाहने वाला आपका सिद्धान्त पक्षपाती नही है।' वेदान्त मे कहा है—'आत्मा नित्य ही है।' जब कि बौद्ध-दर्शन कहता है : 'आत्मा अनित्य है।'

यह बात हुई पक्ष-विपक्ष की! लेकिन दोनो आपस मे टकराते है, वाग्युद्ध खेलते हैं और निज की समय-शक्ति का सर्वनाश करते हैं। उसमे न तो शान्ति है, ना ही क्षमता! न उसमे मित्रता है और ना ही प्रमोद!

जबकि महामुनि वेदान्त और बौद्ध की मान्यताओ का समन्वय करते हुए कहते है 'आत्मा नित्य भी है और अनित्य भी! द्रव्य दृष्टि के अनुसार नित्य है, जबकि पर्याय दृष्टि से अनित्य है। अत द्रव्य दृष्टि से वेदान्त दर्शन की मान्यता को बौद्ध दर्शन मान्य कर ले और पर्याय-दृष्टि से बौद्ध दर्शन की मान्यता को वेदान्त दर्शन स्वीकार कर ले, तो पक्ष-प्रतिपक्ष का वाद खत्म हो जाए, संघर्ष टल जाए और आपस में मित्रता हो जाय।

इसी तरह ज्ञानवत व्यक्ति, सभी नयो का समुचित आदर कर और उनके प्रति समभाव प्रस्थापित कर सुखानुभव करता है। साथ ही कौन सा नय किस अपेक्षा से तत्त्व का निरुपण करता है, उस अपेक्षा को जानकर यदि सत्य का निर्णय किया जाय, तो समभाव सलामत रह सकता है। अतः आवश्यक है..सर्व नयो के अभिप्रायो का यथार्थ ज्ञान होना। तभी तो कहा है : **'ज्ञानी सर्वनयाश्रितः।'**

नाप्रमाण प्रमाण वा, सर्वमप्यविशेषितम्।
विशेषितं प्रमाणं स्यादिति सर्वनयज्ञता ॥३॥२५१॥

अर्थ : यदि सर्व वचन विशेषरहित हो तो वे सर्वथा अप्रमाण नही है और प्रमाण भी नही हैं। विशेषसहित हो तो प्रमाण है। इस तरह सभी नयो का ज्ञान होता है।

विवेचन विशेपरहित यानी निरपेक्ष ।
विशेपसहित यानी सापेक्ष ।

किसी भी शास्त्रवचन की वास्तविकता— प्रामाणिकता का निणय करन की यह सच्ची पद्धति है। तनिक सोचिये और समझने का प्रयत्न कीजिये। 'यह वचन अपेक्षायुक्त है, अय नया के सापक्ष कहा गया है, तब सच्चा! और यदि अय नया से निरपेक्ष कहा गया है, तो झूठ आर अप्रामाणिक है।'

'उपदेशमाला' मे कहा गया है—

अपरिच्छियसुयनिहसस्स, केवलमभिन्नसुत्तचारिस्स ।
सव्वुज्जमेण वि कय अनाणतवे बहु पडई ॥

"श्रुत-सिद्धात के रहस्य का समझे विना ही केवल सूत्र के अक्षरो का अनुसरण कर जो अपनी प्रवृत्ति रखता है, उस का तीव्र प्रयत्नो से किया गया बहुत भी क्रियानुष्ठान, अज्ञान तप माना गया है।"

जा शास्त्रवचन अपने सामने आता है, वह वचन किस आशय एव अपक्षा से कहा गया है—यह अवगत करना निहायत जरूरी है। *क्याकि अपेक्षा और आशय को समझे विना निरपेक्ष वृत्ति से उसका* अनुसरण करना नितात अप्रमाण है, मिथ्या है।

मव नयो का ज्ञान तभी कहा जाता है, जब वचन की अपेक्षा का ज्ञान हो, तभी साधक आत्मा को अपूव समता का अनुभव होता है। ज्ञानप्रकाश सोलह कलाआ से खिल उठता है।

लोके सवनयज्ञाना, ताटस्थ्य वाऽप्यनुग्रह ।
स्यात् पृथग्नयमूढाना, स्मयार्तिर्वाऽतिविग्रह ॥४॥२५२॥

अथ लोक म सब नया के ज्ञाता को मध्यस्थता अथवा उपकारवुद्धि हाती ह जबकि विभिन नया म माहग्रस्त बने व्यक्ति को अभिमान की पीडा अथवा अत्यत क्लेश हाता ह।

विवेचन मध्यस्थदृष्टि! उपकारवुद्धि!

सभी नया के ज्ञान के ये दो फल हैं। जसे-जसे नया की अपेक्षा का ज्ञान होता जाता है वैसे-वैसे उसकी एकात दृष्टि मद होती चली जाती है। परिणामत मध्यस्थ दृष्टि की किरणे ज्योतिमय हो उठती

है। वह किसी पक्षविशेप की ओर झुकता नही, किसी के मत का दुराग्रही नही बनता। वलिक उसकी दृष्टि समन्वय की हो जाती है।

व्यवहार पक्ष मे वह अपनी मध्यस्थता का परोपकार मे उपयोग करता है। ठीक वैसे ही नयवाद को लेकर जहा वाद-विवादात्मक वाग्युद्ध पूरे जोश से खेला जाता हो, वहा मध्यस्थदृष्टि महात्मा अपनी विवेकदृष्टि से सवन्धित पक्षो को समझाने का प्रयत्न करता है।

विभिन्न नयो के आग्रही वने जीव, मिथ्याभिमान से पीडित होते है, अथवा आत्मिक-क्लेश से निरन्तर दग्ध होते है और उनके लिये यह स्वाभाविक भी होता है। इन्द्रभूति गौतम का जब भगवान महावीर के पास आगमन हुआ था, तब यही परिस्थति थी। वे मिथ्याभिमान के ज्वर से उफन रहे थे। मन मे क्लेश कितना था? क्योकि वे एक ही नय के दृढ आग्रही थे। भगवत ने उन्हे सर्व नयो की समन्वयदृष्टि प्रदान की। उन्हे सभी नयो का आश्रित होना सिखाया।

किसी एक मत .एक ही वाद ...एक ही मन्तव्य के प्रति मोहित न वन, सर्वनयो का आश्रित वनना ही जीवन का एकमेव शान्ति-मार्ग है।

श्रेय सर्वनयज्ञाना विपुल धर्मवादत ।
शुष्कवादात् विवादाच्च परेषां तु विपर्यय. ॥५॥२५३॥

अर्थ सर्व नयो के ज्ञाताओ का धर्मवाद से बहुत कल्याण होता है, जबकि एकान्तदृष्टि वालो का तो शुष्कवाद एव विवाद से विपरीत (अकल्याण) ही होता है।

विवेचन किसी प्रकार का वाद नही चाहिये, ना ही विवाद चाहिए। सवाद ही चाहिये। वाद-विवाद मे अकल्याण है, सवाद मे कल्याण है। ऐसे सवाद का समावेश सिर्फ धर्मवाद मे है।

तत्त्वज्ञान का अर्थी मनुष्य हमेशा धर्मवाद की खोज मे रहता है। तत्त्वज्ञान-विपयक जिज्ञासा व्यक्त करता है। और तत्त्ववेत्ता का कर्तव्य है कि वह उसकी जिज्ञासा का निवारण करे, उसे सतुष्ट करे। यही तो धर्मवाद है। सिर्फ अपना ही मत– अभिप्राय दूसरे पर आरोपित

करने के लिये शुष्क वाद विवाद – वितडावाद करना धमवाद नही कहलाता। निज की विद्वत्ता का मिथ्या प्रदशन करना और अयो को पराजित करने हेतु तत्त्वचर्चा करना धमवाद नही है ।

ऐसे महात्मा, जो सव नयो के ज्ञाता ह, भूलकर भी कभी वितडावाद करते ही नही । वे हमेशा मुमुक्षु ऐसे जिज्ञासु की शका कुशकाओ का निवारण करते ह । इसी मे कल्याण है और परम शान्ति का अनुभव होता है ।

जिनभट्टसूरिजी ने जिज्ञासु हरिभद्र पुरोहित के साथ धमवाद किया था, फलत हरिभद्र पुरोहित हरिभद्र सूरि बन गय आर जन शासन का एक महान् विद्वान, समथ आचाय की प्राप्ति हुई । लेकिन वे ही हरिभद्रसूरिजी बौद्धो के साथ धमचर्चा मे उतरे, तब ? उनमे कितना राप आर सताप व्याप्त था ? फलत याकिनी महत्तरा को गुरुदेव के पास जाना पडा आर गुरुदेव ने उ हे वाद-विवाद से राक दिया ।

धमवाद के सवाद मे से ही कल्याण का पुनीत प्रवाह प्रवाहित होता है । अत सव नया का ज्ञान प्राप्त कर मध्यस्थ वन धमवाद मे सदव प्रवत्त रहना चाहिए ।

> प्रकाशित जिनाना यैमत सर्वनयाश्रितम् ।
> चित्ते परिणत चेद, येषा तेभ्यो नमोनम ॥६॥२५४॥

अथ जिन महापुरपा न सव नया के माध्यम स सामा य जना के लिए आश्रित प्रवचन प्रकाशित किया है और जिनक हृदय म परिणत हआ है उ ह बार बार नमस्कार हो ।

विवेचन पूज्य उपाध्यायजी महाराज उन महापुरुषा पर मुग्ध हा जात हैं, निछावर होते है, जि होन सामा य जना के लिये सव नया स आश्रित एसा अद्वितीय प्रवचन प्रकाशित किया है, साथ ही जि पुण्य पुरपा न उसे माना है, बडे प्यार से उसे (प्रवचन) हृदय म धारण किया है, आर मन ही मन प्यार किया है। उन महात्माओ का वार-वार वन्दन करते हुए पूज्यश्री गद्गद् हा उठते हैं ।

त्रिभुवनपति श्रमण भगवान महावीर का वार-वार नमस्कार हो कि जिन्होंन एसा सवनयाश्रित प्रवचन प्रकाशित– अभिव्यक्त कर जाय

मात्र पर असख्य उपकार किये है। वे सिद्धसेन दिवाकर, जिनभद्र गणि, मल्लवादी, हरिभद्रसूरिजी आदि महान् आचार्यप्रवरो को पुन: पुन: वन्दना हो कि जिन्होने सर्वनयाश्रित धर्मशासन की सुन्दर प्रभावना की साथ ही अपने रोम-रोम मे उसे परिणत कर अद्‌भुत दृष्टि प्राप्त की है।

'भवभावना' ग्रथ मे ऐसे महान् आचार्यो का इसी दृष्टि से गुणानुवाद किया गया है

> भद्दं बहुसुयाणं बहुजणसदेहपुच्छणिज्जाण ।
> उज्जोइअ भुवणाणं झिणंमि वि केवलमयंके ॥

"केवलज्ञान रुपी चन्द्र के अस्त होते ही जिन्होने समस्त भूमडल को प्रकाशित किया है और बहुत लोगो के सदेह जिनको पूछे जा सके, ऐसे बहुश्रुतो का भद्र हो ।"

इस प्रकार बहुश्रुत सर्वनयज्ञ महापुरुषो के प्रति भक्ति-बहुमान प्रदर्शित किया गया है..। उन्हे बार-बार वन्दन किया है । उनका सर्वोपरि महत्व बताया गया है ।

> निश्चये व्यवहारे च, त्यक्त्वा ज्ञाने च कर्मणि ।
> एकपाक्षिक विश्लेषमारुढा शुद्धभूमिकाम् ॥७॥२५५॥
>
> अमूढलक्ष्या सर्वत्र पक्षपातविवर्जिता ।
> जयन्ति परमानन्दमया सर्वनयाश्रया ॥८॥२५६॥

अर्थ निश्चयनय मे, व्यवहारनय मे, ज्ञाननय मे और क्रियानय मे, एक पक्ष मे रहे भ्रान्ति के स्थान को छोडकर शुद्ध भूमिका पर आरुढ कभी लक्ष्य नही चूकते, ऐसी सभी पक्षपातरहित परमानंद-स्वरुप सर्व नयो के आश्रयभूत (ज्ञानीजन) सदा जयवत है ।

विवेचन उनका निश्चय नय के सबध मे पक्षपात न हो और ना ही व्यवहार नय के सम्बन्ध मे ! वह ज्ञान नय का कभी मिथ्या आग्रह न करे और ना ही क्रियानय के विषय मे ।

निश्चयनय प्राय. तात्त्विक अर्थ का स्वीकार करता है, जबकि व्यवहारनय आम जनता मे प्रचलित अर्थ का स्वीकार करता है। निश्चय नय हमेशा सर्वनयो को अभिमत अर्थ का अनुसरण करता है, जबकि व्यवहार नय किसी एक नय के अभिप्राय का अनुसरण करता है।

अत सवनयो के आश्रित ज्ञानी पुरुष को इसमे से किसी एक नय के पचडे मे नही पडना चाहिए, ना ही किसी भ्रम जाल मे फस जाए। वह भूलकर भी कभी निश्चय नय की मान्यता को अपनी गाठ मे बाध न रखे और व्यवहार की मान्यता का हठाग्रही न बने। वह प्रत्येक नय के तर्क अवश्य श्रवण करे, लेकिन किसी एक नय के तर्क को आत्मसात् न करे।

मात्र ज्ञान को प्राधान्य देने वाले ज्ञाननय की भूलभुलैया मे वह अटक न पडे और ना ही क्रिया की महत्ता स्वीकार करने वाले क्रिया-नय का कट्टर समर्थक बन, ज्ञाननय का तिरस्कार करे। दोनो नयो की ओर देखने की उसकी दृष्टि मध्यस्थदृष्टि हो और हर नय की मान्यता का मूल्याकन वह उनकी अपेक्षा से ही करे।

नयो के एकात आग्रह म परे रहे अलिप्त हुए महाज्ञानी, सर्वोच्च आत्मा की विशुद्ध भूमिका पर आरुढ हो, अपने अन्तिम लक्ष्य की ओर निरतर एकाग्र हो अग्रसर होते ह। उनके मन मे किसी के प्रति पक्षपात नही और ना ही कोई दुराग्रह।

मानो साक्षात् परमानन्द की मूर्ति। उनके पावन दर्शन करते ही परम आनन्द की उत्कट अनुभूति होती है। सवनयो के आश्रित ऐसे सर्वोत्कृष्ट परमानन्दी आत्मा सदा जयवत हैं।

जिन सर्वोत्कृष्ट परमानन्दी आत्माओ की हम सोत्साह जयजयकार करते है, उनके पदचिह्नो पर चलने के लिये कृतनिश्चयी बनना चाहिये। एकान्तवाद के लोह-बन्धनो को तोड कर अनेकान्तवाद के सार्वभौम स्वतत्र प्रदेश मे विचरण करने का सौभाग्य प्राप्त करना चाहिए।

वास्तव मे पूर्णानन्दी ही परमानन्दी है। पूर्णानन्दी बनने के लिये जितने सोपान चढने की आवश्यकता है, उतने ही सोपान चढ़ने पर परमानन्दी बन जाते ह। अत जीवन का एकमात्र लक्ष्य पूर्णानन्दी बनने का बना, दिशा-परिवर्तन कर अपने लक्ष्य की ओर गतिमान होना चाहिए। विचारो म सवनयदृष्टि का आविर्भाव हो जाए, बस! परमानन्द की शीतल धारा हमारे आत्म प्रदेश को प्लावित कर देगी और रोग शोक की बजर भूमि हरियाली से लद जाएगी।

'ज्ञानसार' ग्रंथ के ३२ अष्टकों में से प्रस्तुत अन्तिम श्लोकों में ज्ञानसार-एकान्तदृष्टि का परित्याग कर अनेकान्त दृष्टि अपनाने की सीख दी गयी है। किसी प्रकार के वाद-विवाद और वितण्डावाद में प्रमाद से फँसे बिना, संवादी समन्वयवाद का आश्रय ग्रहण करने का उपदेश दिया गया है। परमानन्द का यही परम पथ है। पूर्णानन्दी बनने का यही एकमेव अद्भुत उपाय है। आत्मा को परम शान्ति प्रदान करने का यही एक राजमार्ग है।

परमानन्दी सदा-सर्वदा जयवन्त हो।

विषयक्रम-निर्देश

पूर्णो मग्न स्थिरोऽमोहो ज्ञानी शान्तो जितेन्द्रियः ।
त्यागी क्रियापरस्तृप्तो निर्लेपो निःस्पृहो मुनि ॥१॥

विद्याविवेकसंपन्नो मध्यस्थो भयवर्जितः ।
अनात्मशंसकस्तत्त्वदृष्टिः सर्वसमृद्धिमान् ॥२॥

ध्याता कर्मविपाकानामुद्विग्नो भववारिधेः ।
लोकसंज्ञाविनिर्मुक्त शास्त्रदृग् निष्परिग्रह ॥३॥

शुद्धानुभववान् योगी नियागप्रतिपत्तिमान् ।
भावार्चाध्यानतपसां भूमि सर्वनयाश्रित ॥४॥

अर्थ : ज्ञानादि से परिपूर्ण, ज्ञान मे निमग्न योगी की स्थिरता से युक्त, मोह-विरहित, तत्त्ववेत्ता, उपशमवत, जितेन्द्रिय, त्यागी, क्रिया-तत्पर, आत्म-सतुष्ट, निर्लेप और स्पृहारहित मुनि होता है ।

वह (मुनि) विद्यावान्, विवेकसपन्न, पक्षपात से परे, निर्भय, स्वप्रशसा नही करनेवाला, परमार्थ की दृष्टिवाला और आत्म-सपत्तिवाला होता है ।

वह कर्मफल का विचार करनेवाला, ससार-सागर से भयभीत, लोक-सज्ञा से रहित, शास्त्रदृष्टिवाला और अपरिग्रही होता है ।

शुद्ध अनुभव वाला, योगी, मोक्ष को प्राप्त करनेवाला, भाव-पूजा का आश्रय, ध्यान का आश्रय, तप का आश्रय और सर्व नयो का आश्रय करनेवाला होता है ।

विवेचन : आठ-आठ श्लोकों का एक अष्टक !

— कुल बत्तीस अष्टक और बत्तीस ही विषय !

— विषयो का क्रमशः सयोजन किया गया है। संयोजन मे संकलन है ! सयोजन मे साधना का मार्गदर्शन है। इन चार श्लोको मे बत्तीस विषयो की नामावली दी गयी है ! ग्रथकार ने गुर्जर-टीका [टबा] मे सोद्देश्य क्रम समझाने का प्रयत्न किया है ।

❀ पहला अष्टक है पूर्णता का ।

लक्ष्य बिना की प्रवृत्ति की कोई कीमत नही होती । अत पहले अष्टक मे ही पूर्णता का लक्ष्य प्रदर्शित किया है ! आत्म-गुणो की पूर्णता का लक्ष्य समझाया है । जो जीव इस लक्ष्य से 'मुझे आत्म-गुणों की

पूर्णता हासिल करनी ही है।' ऐसा दृढ संकल्प करे तो वह ज्ञान मे निमग्न हो सकता है, अत

* दूसरा अष्टक है मग्नता का।

ज्ञान मे निमग्न! परब्रह्म मे लीन! आत्मज्ञान मे ही मग्नता! ऐसी परिस्थिति पैदा होने पर ही जीव की चंचलता-अस्थिरता दूर होती है और वह स्थिर बनता है। अत मग्नता के पश्चात

* तीसरा अष्टक है स्थिरता का।

मन वचन-काया की स्थिरता। सबसे पहले मानसिक स्थिरता प्राप्त करना आवश्यक है! तभी क्रिया औषधि का उपयोग है! स्थिरता का रत्न-दीया प्रज्वलित करते ही मोह वासनाएँ क्षीण हो सकती है! इसलिए

* चौथा अष्टक है निर्मोह का!

मोहराजा का एकमेव मन्त्र है 'अहं' और 'मम'! मन्त्र-जाप से चढे मोह के विष को 'नाहं न मम' के प्रतिपक्षी मन्त्र जाप से उतारने का उपदेश दिया गया है। इस तरह मोह का जहर उतरने पर ही ज्ञानी बन सकते है, उसके लिए

* पाचवा अष्टक है ज्ञान का।

ज्ञान की परिणति होना आवश्यक है। ज्ञान प्रकाश प्राप्त होना चाहिए! ज्ञान का अमृत, ज्ञान का ही रसायन और ज्ञान ऐश्वर्य प्राप्त होना चाहिये! तभी जीव शात होता है और कषायो का शमन होता है अत

* छठवाँ अष्टक है शम का।

किसी प्रकार का विकल्प नही और निरतर आत्मा के शुद्ध स्वभाव का आलम्बन! ऐसी आत्मा इन्द्रियविजेता बन सकती है अत

* सातवा अष्टक है इन्द्रिय विजय का।

विषयो के बधनो से आत्मा को सदैव कैद रखती इन्द्रियो के उपर विजय प्राप्त करने वाले महामुनि ही सच्चे त्यागी बन सकते हैं, इसलिये

* आठवाँ अष्टक है त्याग का।

जब स्वजन, धन और इन्द्रियो के विषयो मे मुक्त बना मुनि निर्भय और कलहरहित बनता है और अहंकार तथा ममत्व से नाता तोड देता है, तब उसमे शास्त्रवचन का अनुसरण करने की अदम्य शक्ति प्रस्फुटित होती है, अत.

※ नौवाँ अष्टक है क्रिया का !

प्रीतिपूर्वक क्रिया, जिनाज्ञानुसार एव नि सगता-पूर्वक क्रिया करनेवाला महात्मा परम तृप्ति का अनुभव करता है—इसलिए

※ दसवाँ अष्टक है तृप्ति का !

स्व–गुणो मे तृप्ति ! शान्तरस की तृप्ति ! ध्यानामृत की डकार ! **'भिक्षुरेकः सुखी लोके ज्ञानतृप्तो निरंजन.'** भिक्षु...श्रमण..मुनि ही ज्ञानतृप्त बन, परम सुख का अनुभव करता है ! ऐसी ही आत्मा सदैव निर्लेप रह सकती है, अत

※ ग्यारहवाँ अष्टक है निर्लेपता का !

सारा ससार भले ही पाप-पक का शिकार बन जाए, उसमे लिप्त हो जाए, लेकिन ज्ञानसिद्ध महात्मा उस से सदा अलिप्त– निर्लेप रहता है ! ऐसी ही आत्मा नि स्पृह बन सकती है, अत

※ बारहवाँ अष्टक है नि स्पृहता का ।

नि·स्पृह महात्मा के लिए समस्त ससार तृणसमान होता है ! ना कोई भय, ना ही कोई इच्छा । फिर उसे क्या बोलने का होता है ? सकल्प-विकल्प भी कैसे हो सकता है ! ऐसी आत्मा ही मौन धारण कर सकती है, अत

※ तेरहवाँ अष्टक है मौन का ।

नही बोलनेरुप मौन तो एकेन्द्रिय जीव भी पालता है ! लेकिन यह तो विचारो का मौन ! अशुभ-अपवित्र विचार सम्बधित मौन पालन करना है ! जो आत्मा ऐसा मौन धारण कर सकती है, वही विद्यासपन्न बन सकती है, इसलिए

※ चौदहवाँ अष्टक है विद्या का ।

अविद्या की त्यागी और विद्या की अर्थी आत्मा, आत्मा को ही सदैव अविनाशी रूप मे निहारती है ! ऐसी आत्मा विवेकसंपन्न बनती है, अत

❀ पन्द्रहवा अष्टक है विवेक का ।

दूध और पानी की तरह परस्पर ओत-प्रोत कर्म और जीव को मुनिरूपी राजहंस अलग करता है । ऐसी भेदज्ञानी आत्मा ही मध्यस्थ बन सकती है । अत

❀ सोलहवा अष्टक है मध्यस्थता का ।

कुतर्क और राग-द्वेष का त्याग हुआ और अंतरात्म-भाव मे रमणता शुरू हुई कि आत्मा मध्यस्थ और निर्भय होती है, अत

❀ सत्रहवा अष्टक है निर्भयता का ।

भय की भ्रान्ति नही । जो आत्म स्वभाव के अद्वैत मे लीन हो गया, वह निर्भयता के वास्तविक आनन्द का मजा लूटता है । उसे स्व प्रशंसा करना पसंद नही, तभी तो

❀ अठारहवाँ अष्टक है अनात्मशंसा का ।

जो व्यक्ति स्व गुणो से परिपूर्ण है उसे स्व-प्रशसा पसद ही नही ! अपना गुणानुवाद सुनने की इच्छा तक नही होती, अत ज्ञानानन्द की मस्ती मे परपर्याय का उत्कर्ष क्या साधना ? वह अलौकिक तत्त्वदृष्टि का स्वामी बनता है, अत

❀ उन्नीसवा अष्टक है तत्त्वदृष्टि का ।

तत्त्वदृष्टि प्राय रूपी को नही, बल्कि अरूपी को परिलक्षित करती है । अरूपी को निहार, उस मे ओत-प्रोत हो जाती है, समरस होती है ! ऐसी आत्मा सर्वसमृद्धि का स्वय मे ही अहसास करती है, अत

❀ बीसवा अष्टक है सर्व समृद्धि का ।

इन्द्र, चक्रवर्ती, वासुदेव, शेषनाग, महादेव, कृष्ण आदि सभी विभूतिओ की समृद्धि वैभव ऐश्वर्य का प्रतिबिंब वह स्वय की आत्मा मे ही निहारता है । ऐसा आत्मदर्शन निरंतर टिक सके, अत मुनि प्राय कर्म-विपाक का चिंतन करता है, इसलिए

❀ इक्कीसवाँ अष्टक है कर्म-विपाक का ।

कर्मों के फल का विचार । शुभाशुभ कर्मों के उदय का विचार करनेवाली आत्मा अपनी ही आत्म-समृद्धि मे सतुष्ट होती है ससार महोदधि मे नित्य भयभीत होती है अत

- बाईसवाँ अष्टक है भवोद्वेग का ।

ससार के वास्तविक स्वरुप मे अनभिज्ञ आत्मा चारित्र-क्रिया में एकाग्रचित्त होती है। फलत लोकसज्ञा का उसे स्पर्श तक नही होता, अत

- तेईसवाँ अष्टक है लोकसज्ञा-परित्याग का ।

लोकसज्ञा की महानदी मे मुनि वह न जाए, वल्कि वह तो प्रवाह की विपरीत दिशा मे भी गतिशील महापराक्रमी होता है ! लोकोत्तर मार्ग पर चलता हुआ मुनि शास्त्रदृष्टि मे युक्त होता है, अत.

- चौवीसवाँ अष्टक है शास्त्र का !

उसकी दृष्टि ही शास्त्र है ! 'आगमचक्खु साहू' श्रमण के नेत्र ही शास्त्र है ! ऐसा मुनि भी कही परिग्रही हो सकता है ? वह तो सदा-सर्वदा अपरिग्रही होता है, अत

- पच्चीसवाँ अष्टक है परिग्रहत्याग का ।

वाह्य अतरग परिग्रह के त्यागी महात्मा के चरण मे देवी-देवता तक नतमस्तक हो उठते है। ऐसे मुनिवर ही शुद्ध अनुभव कर सकते है, अत

- छव्वीसवाँ अष्टक है अनुभव का ।

अतीद्रिय परम ब्रह्म का अनुभव करनेवाला महात्मा न जाने कैसा महान् योगी वन जाता है ! अत·

- सत्ताइसवाँ अष्टक है योग का ।

मोक्ष के साथ गठवंधन करानेवाले योगो का आराधक योगी, और स्थान-वर्णादि योग एव प्रीति-भक्ति आदि अनुष्ठानो मे रत योगी, सदैव ज्ञानयज्ञ करने के लिए सुयोग्य होता है, अत

- अट्ठाइसवाँ अष्टक है नियाग का !

ज्ञानयज्ञ मे आसक्ति ! समस्त आधि-व्याधि और उपाधि-रहित शुद्ध ज्ञान ही ब्रह्म-यज्ञ है । ब्रह्म मे ही सर्वस्व समर्पण करनेवाला मुनि भाव-पूजा की सतह को स्पर्श कर सकता है, अत.

उन्तीसवाँ अष्टक है भावपूजा का ।

आतमदेव के नौ अगो को ब्रह्मचर्य की नौ वाडो द्वारा पूजन-अर्चन करनेवाला मुनि अभेद-उपासना रुप भावपूजा मे लीन हो जाता है । ऐसी आत्मा ही ध्यानस्थ वनती है, अतः

८ तीसवा अष्टक है ध्यान का ।

ध्याता, ध्यान, और ध्येय की एकता प्रस्थापित करनेवाला मुनि-श्रेष्ठ कभी दु खी नही होता । निमल अतरात्मा मे परमात्मा का प्रति-बिंब पडता है । फलस्वरूप तीर्थंकर नामकम का उपाजन करता है और तपमाग का पथिक बनता है, अत

॰ इकतीसवा अष्टक है तप का ।

बाह्य और आभ्यन्तर तप की आराधना मे वह सव-कमक्षय रूपी मोक्ष पद की प्राप्ति की दिशा मे गतिमान होता है । उस की सभी दृष्टि से विशुद्धि होती है । ऐसी आत्मा परम प्रशम-परम माध्यस्थ्य भाव का धारण करती है, अत

॰ बत्तीसवाँ अष्टक है सवनयाश्रय का ।

सब नयो का स्वीकार करता है । कोई पक्षपात नहा, ना ही भ्राति । परमानन्द से भरपुर ऐसी सर्वोत्कृष्ट आत्मभूमिका प्राप्त कर वह सदा के लिए कृतकृत्य बन जाता है ।

आत्मा की पूणता प्राप्त करने के लिए यह कैसा अपूव माग है ! अब तो लक्ष्य चाहिये ! हमारे दृढ सकल्प की आवश्यकता है ! आत्मा की ऐसी सर्वोच्च अवस्था प्राप्त करने का भगीरथ पुरुषाथ चाहिये । ३२ विषयो को हृदयस्थ कर और उस पर सतत चितन-मनन कर, उस दिशा मे प्रयाण का सकल्प करना है ।

卐 आत्म-तत्त्व की श्रद्धा, आत्म-तत्त्व की प्रीति और आत्म-तत्त्व के उत्थान की उत्कट भावना क्या सिद्ध नहीं कर सकती ? कायरता अशक्ति और आलस्य का दूर कर अदम्य उत्साह के साथ अपूव स्फूर्ति से सिद्धि के माग पर प्रस्थान कर दो । इसके बिना दु ख, दद क्लेश और सताप का अन्त आनेवाला नही है । ध्यान रखो, जन्ममृत्यु का चक्र रुकनेवाला नही है, वह तो निरतर निर्बाध गति से चलनेवाला ही है और कर्मों की श्रृखलाएँ या सहज मे टूटने वाली नहीं हैं, अत मानव-जीवन का आत्मतत्त्व के उत्थान के लिए ही उपयोग करें ।

卐 तमेवैक जानिथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतु ।

— मुण्डकोपनिषद्

उपसंहार

स्पष्ट निष्टङ्कित तत्वमष्टक प्रतिपन्नवान् ।
मुनिमहोदय ज्ञानसार समधिगच्छति ।।१।।

अथ अष्टका से स्पष्ट और सुनिश्चित ऐसे तत्त्व को प्राप्त मुनि महान् अभ्युदय करनेवाला विशुद्ध चारित्र प्राप्त करता है ।

विवेचन इस ग्रथ मे बताये गये ३२ तत्त्वो से युक्त मुनि, ऐसा विशुद्ध एव पवित्र चारित्र प्राप्त करते है कि जिस से उनका महान् अभ्युदय होता है । क्योकि ज्ञान का सार ही चारित्र है ।

'ज्ञानस्य फल विरति' भगवान उमास्वातिजी का यह सारभूत वचन है । पूज्य उपाध्यायजी महाराज भी कुछ इसी तरह फरमाते है

'नानस्य सार चारित्रम्' ज्ञान का सार चारित्र है । आगे चलकर वह नान का सार मुक्ति बताते है । अर्थात् नान का सार चारित्र और चारित्र का सार मुक्ति है ।

सामाइअमाइअ सुअनाण जाव बिंदुसाराओ ।
तस्स वि सारो चरण सारो चरणस्स निव्वाण ।।

'सामयिक से लेकर चौदहवे पूर्व 'बिंदुसार तक श्रुतज्ञान है । और उसका सार चारित्र है । जब कि चारित्र का सार परिनिर्वाण है ।'

३२ अष्टका को प्राप्त करने का अथ कवल उन का सरसरी निगाह स पठन करना नही है, बल्कि इन अष्टका मे वर्णित विषया को आत्मसात करना है । मन वचन-काया को उन के रग मे रग देना और ज्ञान के सार स्वरूप चारित्र को पाना यानी चारित्रमय बन जाना है ।

यदि निर्वाण के लक्ष्य को लेकर ३२ विषया का चिंतन मनन किया जाय तो आत्मा की अपूर्व उन्नति हो सकती है । कर्म-बधन से आत्मा मुक्ति पा सकता है । आत्म-सुख का अनुभव करने लगता है । और इसी लक्ष्य को निश्चित कर यशोविजयजी महाराज ने उपर्युक्त ३२ विषयो का अनूठा सकलन कर, तत्त्वनिर्णय किया है ।

निर्विकार निराबाध ज्ञानसारमुपेयुषाम् ।
विनिवृत्तपराशानां मोक्षोऽत्रैव महात्मनाम् ।।२।।

अथ विकाररहित और पीडारहित ज्ञानसार को प्राप्त करनेवाले और परायी आशा से निवृत्त हुए आत्माओ की मुक्ति इसी भव मे है ।

विवेचन : ज्ञानसार !

किसी प्रकार का कोई विकार नही, ना हो पीडा है...। ऐसे अद्भुत ज्ञानसार की जिसे प्राप्ति हो गयी है, उसे भला, पर-पदार्थ की आशा-अपेक्षा क्या सभव है ? विकारी और क्लेशयुक्त पर-पदार्थों की इच्छा होना क्या सभव है ?

ज्ञान के सारभूत चारित्र मे निर्विकार अवस्था है, साथ ही निरा-वाध भी । फलत. ऐसे महात्मा कर्म-वधनों से परे होते है । क्योंकि कर्म-वंधन का मूल है विकार । पर-पदार्थो की चाह मे विकारो का जन्म होता है ।

चारित्रवंत आत्मा को कर्म-वधन नही होता है, और इसी का नाम मोक्ष है । पूर्वकर्म का उदय भले ही हो, लेकिन नये कर्म-वधन नही होते । कर्मोदय के समय ज्ञानसार के कारण नये कर्म-वंधन की सभावना नही होती ! नये कर्म-वधन न हो, यही मोक्ष है ।

पर-पदार्थो की स्पृहा के कारण उत्पन्न विकार और विकारो से पैदा होती पीडा, जिस महात्मा को स्पर्श तक न करे, उन्हे इसी भव मे मोक्षसुख का अनुभव होता है, अर्थात् पराशाओ से निवृत्त यह मोक्ष-प्राप्ति के लिए महत्त्वपूर्ण शर्त वन जाती है । और शिवाय आत्मा, सभी पर है !

"अन्योऽहं स्वजनात् परिजनाद् विभवात् शरीरकाच्चेति !
यस्य नियता मतिरिय न बाधते तस्य शोककलि. ।।"

इस अन्यत्व भावना को दृढ करनेवाला महात्मा सदैव निर्विकार, निरावाध चारित्र का पालन करता हुआ मोक्ष-गति पाता है ।

चित्तमार्द्रीकृत ज्ञानसारसारस्वतोर्मिभि. !
नाप्नोति तीव्रमोहाग्निप्लोषशोषकदर्थनाम् ।।३।।

अर्थ : ज्ञानसाररूप सरस्वती की तरगावलि से कोमल वना मन, प्रखर मोह-रूपी अग्नि के दाह से, शोप की पीड़ा मे पीडित नही होता ।

विवेचन : ज्ञानसार की पवित्र-पावन सरयु सरस्वती !

सरस्वती की पवित्र धारा में निष्प्राण हड्डियाँ और राख विसर्जन करने से सद्गति नही मिलती है, स्वर्ग-प्राप्ति नही होती है ! उस के

निमल पवित्र प्रवाह मे हमारे मन को विसर्जित करना होगा ! अत 'ज्ञानसार' की पतीत पावनी सरस्वती मे वार-बार अपने मन को डूबो कर उसे कोमल और कमनीय होने दो ! सरस्वती के पावन स्पश से उसे आद्र और स्निग्ध होन दो !

फिर भले ही मोह-दावानल सपूण शक्ति से प्रज्वलित हो और उसकी लपटे मन को स्पश करें, उस को कोई पीडा नही, ना ही किसी प्रकार की वेदना। अरे, पानी मे भीगे कपडो को कभी आग जला सकी है ? तव फिर सरस्वती की तरगो से प्लावित मन को मोह-दावानल भला कैसे दग्ध कर सकता है ?

तभी ता कहा है 'ज्ञानसार' ग्रथ पवित्र सरस्वती है। 'ज्ञानसार' की वाणी-तरगा से मन को सदैव तर-बतर होने दो ! मोह-वासनाओ का ज्वालामुखी उस को जला नही सकेगा।

माह-दावानल से बचन के लिए पूज्य उपाध्यायजी महाराज न निरतर 'ज्ञानसार' के रसामृत का आस्वाद लेने का उपदेश दिया है। क्या कि समस्त दु ख, दद वेदना, और व्याधिओ का मूल मोह ह। मोह के प्रभाव से मन मुक्त होते ही किसी प्रकार की अशाति, वेदना और यातनाएँ नही रहगी।

> अचिन्त्या काऽपि साधूना ज्ञानसारगरिष्ठता ।
> गतिययोर्ध्वमेव स्याद अध पात कदाऽपि न ॥४॥

अर्थ नानसार का भार मुनिराज के लिए कुछ समझ म नही आय वसा ह। उस स उसकी उर्ध्वगति ही सभव है, अधोगति नही।

विवेचन 'ज्ञानसार' अवश्य भार है ! जो समझ मे न आ सके ऐसा कल्पनातीत भार ह ! इसे वहन करनेवाला भारी बनता ह ! साथ ही 'ज्ञानसार' के बोझ से बोझिल बना महामुनि जब अधोगति मे बजाय उर्ध्वगति करता है तब हर किसी के आश्चय का ठिकाना नहीं रहता !

'भारी मनुष्य उर्ध्वगामी बन सकता है !!' ज्ञानसार का भार इस तरह अचिन्त्य ह, समझ मे न आए ऐसा है ! उपाध्यायजी महाराज ज्ञानसार के प्रभाव की व्याख्या इस तरह सरल भाषा म कभी सुगमता से करते हैं !

'ज्ञानसार से भारी बनो। ज्ञानसार का वजन बढाते रहो। फलत तुम्हारी उर्ध्वगति ही होगी। अध.पतन कभी नही होगा।' ग्रन्थकार ने बडी ही लाक्षणिक शैली में यह उपदेश दिया है। वे दृढता के साथ आश्वस्त करते है कि ज्ञानसारप्राप्त श्रमणश्रेष्ठ की उन्नति ही होती है। अधःपतन कभी सभव नही। अत. ज्ञानसार प्राप्त कर तुम निर्भय बन जाओ, दुर्गति का भय छोड दो, पतन का डर हमेशा के लिए अपने मन से निकाल दो। ज्ञानसार के अचिन्त्य प्रभाव से तुम प्रगति के पथ पर निरंतर बढते ही चले जाओगे।

हालॉकि यह सृष्टि का शाश्वत् नियम है कि भारी वस्तु सदैव नीचे ही जाती है, ऊँची कभी नही जाती। लेकिन यहाँ उस का अद्‌भुत विरोधाभास प्रदर्शित किया गया है 'भारी होने के उपरांत भी आत्मा ऊपर उठती है, ऊँची जाती है!' अत यह विधान करना अतिशयोक्ति नही होगी कि ज्ञानसार की गरिष्ठता से भारी बना मुनि सद्‌गति-मोक्षपद का अधिकारी बनता है।

क्लेशक्षयो हि मण्डूकचूर्णतुल्य. क्रियाकृतः।
दग्धतच्चूर्णसदृशो ज्ञानसारकृत पुन ।।५।।

अर्थ क्रिया द्वारा किया गया क्लेश का नाश मेढक के शरीर के चूर्ण की तरह है। लेकिन 'ज्ञानसार' द्वारा किया गया क्लेश-नाश मेढक के जले हुए चूर्ण की तरह है।

विवेचन जिस तरह मेढक के शरीर का चूर्ण हो जाने के उपरात भी वृष्टि होते ही उस मे से नये मेढको का जन्म होता है, उत्पत्ति होती है, ठीक उसी तरह धार्मिक-क्रियाओ की वजह से जिस क्लेश का—अशुभ कर्मो का क्षय होता है, वे कर्म पुन निमित्त मिलते ही पैदा हो जाते है।

यदि मेढक के शरीर के चूर्ण को जला दिया जाए तो फिर कितनी ही घनघोर बारिश उस पर क्यो न पडे, दुबारा मेंढक पैदा होने का कभी सवाल ही नही उठता! ठीक उसी तरह ज्ञानाग्नि से भस्मीभूत हुए कर्म कभी पैदा नही होते।

तात्पर्य यही है कि ज्ञान के माध्यम से सदा कर्म-क्षय करते रहो। शुद्ध क्षयोपशम-भाव से कर्म-क्षय करो। दुबारा कर्मबंधन का भय नही

रहेगा । ज्ञानसार की यही तो महत्ता है ! नानसार द्वारा किया गया कम-क्षय ही वास्तव मे साथक ह ।

हा, सिर्फ क्रिया काड के माध्यम से कम क्षय करने मे श्रद्धा रखनेवालो के लिए यह तथ्य अवश्य विचारणीय है ! भले ही वे अशुभ कर्मो का क्षय करते हो, लेकिन आश्रवो की वृष्टि होते ही पुन अशुभ कम पनप उठेंगे ! अत ज्ञान के माध्यम से कमक्षय करना सीखो ।

अरे भई, तुम अपने ज्ञानानन्द म सदा-सवदा मग्न रहो ! ज्ञान की मौज-मस्ती मे खोये रहो ! इधर कम क्षय निरन्तर होता ही रहगा । तुम नाहक चिंता न करो कि 'मेरा कर्म-क्षय हो रहा है अथवा नही ?' इस के बजाय निरन्तर निभय होकर ज्ञानानन्द के अथाह जलाशय मे सदा गोते लगाते रहो ।

> ज्ञानपूता परेऽप्याहु क्रिया हेमघटोपमाम् ।
> युक्त तदपि तद्भाव न यद भग्नाऽपि सोज्झति ।।६।।

अथ दूसरे दार्शनिक भी नान स पवित्र क्रिया को सुवण घट कहत है, वह भी योग्य है। क्योंकि खडित क्रिया भी क्रिया भाव का त्याग नही करती ! (सुवण घट के खडित हा जान क भी सुवण ता उस म रहता ही ह।)

विवेचन एक सुवण घट है,

मानो कि वह खडित हो गया, ता भी उस मे साना तो रहता ही है ! सोना कही नही जाता । इस तरह सुवण–घट की उपमा से विद्वान् ग्रन्थकार हमे ज्ञानयुक्त क्रिया का महत्व समझाते हैं ।

ज्ञानयुक्त क्रिया सुवण–घट के समान है । समझ लो कि क्रिया खडित हो गयी, उस मे किसी प्रकार का विक्षेप आ गया, फिर भी सुवर्ण-समान ज्ञान तो शेष रहेगा ही । क्रिया का भाव तो बना रहगा ही, ज्ञानयुक्त क्रिया के माध्यम से जिन कर्मों का क्षय किया, दुबारा उनके उदय होने का प्रश्न ही नही उठता । मतलब, कम-बधन होना असभव है । अत कोडाकोडी सागरोपम मे अधिक स्थितिवाले कर्मो का बधन नही होगा ।

सुवण-घट समान ज्ञानयुक्त क्रिया का महत्व बौद्धदशन आदि भी स्वीकार करते हैं । ज्ञानहीन क्रिया का विधान– समभाव विदव का

कोई दर्शन नहीं करता। अरे भई, ज्ञानविहीन यानी भावशून्य क्रिया से क्या मतलब ?

जो क्रिया की जाए उस के अनुरूप भाव होना नितान्त आवश्यक है। भाव से क्रिया सजीव और प्राणवान बनती है, अमूल्य बनती है। जबकि ज्ञानशून्य क्रिया मिट्टी के घडे जैसी है। एक बार घडा फूट जाए, फिर उसका कोई उपयोग नही, और ना ही उस की कोई कीमत होती है। अत. हे महानुभाव, तुम अपनी धर्म-क्रियाओ को ज्ञानयुक्त बनाओ, भावयुक्त बनाओ। कर्मक्षय का लक्ष्य रख कर प्रत्येक धर्म-क्रिया करते रहो।

क्रियाशून्यं च यज्ज्ञानं ज्ञानशून्या च या क्रिया।
अनयोरन्तरं ज्ञेयं भानुखद्योतयोरिव ॥७॥

अर्थ . जो ज्ञान क्रियारहित है, और जो क्रिया ज्ञानरहित है, इन दोनों मे अन्तर सूर्य और खद्योत (जूगनू) की तरह है।

विवेचन . क्रियाशून्य ज्ञान सूर्य की तरह है !
ज्ञानविहीन क्रिया जूगनु की तरह है।

कहाँ तो सूर्य का प्रकाश और कहाँ जूगनु का प्रकाश ? असंख्य जुगनुओ का समूह भी सूर्य-प्रकाश की तुलना मे नहिवत ही है। इस तरह ज्ञानशून्य क्रियाएँ कितनी भी की जाएँ तो भी सूर्यसदृश तेजस्वी ज्ञान की तुलना में कोई महत्व नही रखती।

जब कि, भले ही क्रियाशून्य ज्ञान हो, [ज्ञानयुक्त क्रिया उसके जीवन मे नही है।] फिर भी ज्ञान का जो अनोखा प्रकाश है, वह तो सदैव बरकरार ही रहेगा। अरे, सूर्य भले ही बादलों से घिरा हो, लेकिन ससार की क्रियाएँ उस के प्रकाश मे चलती ही रहती है। जब कि जूगनु के प्रकाश मे तुम कोई भी कार्य नही कर सकते।

साथ ही क्रियारहित ज्ञान का अर्थ क्रिया-निरपेक्ष ज्ञान न लगाना। अर्थात् क्रिया के प्रति अरुचि अथवा उस की अवहेलना नही, परंतु क्रियाओ की उपायदेयता का स्वीकार करनेवाला ज्ञान ! ज्ञानयुक्त क्रिया करते हुए क्रिया छूट जाए, लेकिन उस का भाव अत तक बर-करार रहे – ऐसा ज्ञान !

ज्ञानविहीन क्रिया के खद्योत बनकर ही संतुष्ट रहनेवाले और आजीवन ज्ञान की उपेक्षा करनेवालों को ग्रन्थकार के इन वचनों पर अवश्य गहरायी से चिंतन-मनन करना चाहिए और ज्ञानोपासक बन कर ज्ञान सूर्य बनने का प्रयत्न करना चाहिये ।

चारित्रं विरतिः पूर्णा ज्ञानस्योत्कर्ष एव हि ।
ज्ञानाद्वैतनये दृष्टिर्देया तद्योगसिद्धये ॥८॥

अर्थ : संपूर्ण विरतिरूप चारित्र वास्तव में ज्ञान का अतिशय ही है । अतः योग सिद्धि के लिए केवल ज्ञान-नय में दृष्टिपात करने जैसा है ।

विवेचन : ज्ञान की सर्वोत्कृष्ट अवस्था यानी चारित्र !
ज्ञान-निमग्नता यानी चारित्र !

पूर्ण विरतिरुप चारित्र क्या है ? वह ज्ञान का ही एक विशिष्ट अतिशय है । ज्ञानाद्वैत में दृष्टि प्रस्थापित करनी चाहिए । अर्थात् ज्ञानाद्वैत में ही लीन हो जाना चाहिए । यदि तुम्हें योग-सिद्धि करना है, आत्मा का परम विशुद्ध स्वरूप प्राप्त करना है तो !

ज्ञान और क्रिया के द्वैत का त्याग करो । क्योंकि द्वैत में अशान्ति है ! जब कि अद्वैत में परम आनन्द है और है असीम शान्ति । ज्ञानाद्वैत का मतलब ही आत्माद्वैत । अतः आत्मा के अद्वैत में अपनी दृष्टि केंद्रित करो । सजग रहो कि दृष्टि कहीं अन्यत्र भटक न जाए ।

ज्ञानसार का उपसंहार करते हुए उपाध्याय श्री यशोविजयजी ज्ञानाद्वैत का शिखर बताते हैं ! ज्ञान-क्रिया के द्वैत में से बाहर निकलने का, मुक्त होने का भारपूर्वक विधान करते हैं ! ज्ञान की सर्वोत्कृष्ट परिणति यही पूर्ण चारित्र है। उक्त चारित्र के सुहाने सपनों का चाहक जीव ज्ञानाद्वैत में तल्लीन हो जाए, तभी पूर्णता प्राप्त कर सकता है ।

निश्चयनय के दिव्य-प्रकाश को चारों दिशाओं में प्रसारित करनेवाले उपाध्यायजी महाराज ने ज्ञान में ही साध्य, साधन और सिद्धि निर्देशित कर ज्ञानमय बन जाने का आदेश दिया है ! साथ ही क्रिया मार्ग की जड़ता को झटककर ज्ञानमार्ग का अनुसरण करने की प्रेरणा दी है।

'ज्ञानाद्वैत में लीनता हो !'

सिद्धिं सिद्धपुरे पुरन्दरपुरस्पर्धावहे लब्धवां-
श्चिद्दीपोऽयमुदारसारमहसा दीपोत्सवे पर्वणि !
एतद् भावनभावपावनमनश्चञ्चच्चमत्कारिणां,
तैस्तैर्दीपशतैः सुनिश्चयमतैर्नित्योऽस्तु दीपोत्सव. !

अर्थ : श्रेष्ठ एव सारभूत परम ज्योतिर्मय प्रस्तुत ज्ञान-दीप, इन्द्र की राजधानी की स्पर्धा करनेवाले सिद्धपुर नगर मे दीपावली पर्व के सुअवसर पर समाप्त हुआ ! यह ग्रथ भावनाओ के रहस्य से परिपूर्ण एव पवित्र हुए मन मे उत्पन्न विविध चमत्कारयुक्त जीवो को, वह वह उत्तम निश्चयमतरुपी शत-शत दीपको से निरतर उनके लिए दीपावली का महोत्सव हो !

विवेचन . यह 'ज्ञानसार' का दीपक दीपावली के पुनित पर्व मे पूर्णरूपेण प्राप्त हुआ । गुर्जर धरा पर स्थित प्राचीन संस्कृति के अनन्य धाम 'सिद्धपुर' नगर मे चातुर्मासार्थ रहे ग्रन्थकार के शुभ हाथो इसकी पूर्णता हुई ।

वास्तव मे ज्ञानदीप का प्रकाश श्रेष्ठ है । सर्व प्रकाशो में प्रस्तुत प्रकाश सारभूत है । जो कोई सज्जन इस ग्रंथ का अध्ययन, मनन एव परिशीलन करेगा उसे नि.सदेह रहस्यभूत ज्ञान की प्राप्ति होगी । रहस्य से मन पवित्र होता है और आश्चर्य से चमत्कृत ! ऐसे जीवो के लिए ग्रन्थकार कहते है

"हे मानव ! तुम नित्य प्रति निश्चयनय के असख्य दीपक प्रज्व-लित करो और सदैव दीपावली-महोत्सव मनाओ ।"

ग्रन्थकार महोदय की यही मनीषा है कि, इस के पठन-पाठन एव चितन से सांसारिक जीव हमेशा आत्मज्ञान के दीप प्रज्ज्वलित कर अपूर्व आनन्द का अनुभव करे । साथ साथ इस के अध्ययन-परिशीलन से मन पवित्र बनेगा और अनुपम प्रसन्नता का अनुभव होगा, इस का विश्वास दिलाते है ।

निश्चयनय के माध्यम से आत्मज्ञान पाने के लिए प्रयत्नशील बनने की प्रेरणा प्राप्त होती है ।

केषांचिद्विषयज्वरातुरमहो चित्तं परेषां विषा-
वेगोदर्कतर्कमूर्च्छितमथान्येषां कुवैराग्यतः ।

लग्नालकमबोधकुपपतित चास्ते परेषामपि,
स्तोकाना तु विकारभाररहित तज्ज्ञानसाराश्रितम् ।।

अथ उफ ! कइया का मन विपयज्वर से पीडित हैं, ता कन्या का मन विप वग जिसका परिणाम ह वस कुतक से मूच्छित हो गया ह अय का मन मिथ्या वराग्य से हडकाया जसा ह जव कि कुछ लोगा का मन अज्ञान के अधेरे कुए म गिरे जसा हैं। फिर कुछ थाड लागा का मन विकार के भार स रहित है, वह ज्ञानसार से आश्रित है।

विवेचन ससार मे विभिन्न वत्ति के जीव वसते ह। उनका मन भिन्न भिन्न प्रकार की वासनाआ से लिप्त ह ! यहा ऐसे जीवो का स्वरुप दशन कराने का ग्रन्थकार ने प्रयास किया है, साथ ही व यह भी बताते ह कि इनम स कितना का मन ज्ञानसार के रग से तर-बतर है

- कइया का मन शब्दादि विपया की स्पृहा एव भागापभाग मे पोडित है।
- कई जीव कुतक आर कुमति के सर्पो म डसे हुए ह। कुतक सर्पो के तीव्र-विष के कारण मूच्छित हा गये ह !
- कई लोग अपने आप को वैरागी के रुप मे बताते ह। लेकिन यह एक प्रकार का हडकवा ही है ! वास्तव मे एकाध पागल कुत्ते जैसी उन की अवस्था है।
- जब कि कितनेक मोह-अज्ञान के अधेरे कूप मे गिरे हुए ह ! उन की दृष्टि कुए के वाहर भला, कहाँ से जा सकती है ?
- हाँ, कुछ लोग, जा सख्या म अल्प हैं, ऐसे अवश्य हैं, जिन के मन पर विकार का बोझ नही है ! ऐसी सर्वोत्तम आत्मा ही ज्ञानसार का आश्रय ग्रहण करती है !

जातोद्रेकविवेकतोरणततौ धावल्यमातन्वति,
हृद्गृहे समयोचित प्रसरति स्फीतश्च गीतध्वनि ।
पूर्णानन्दघनस्य किं सहजया तद्भाग्यभग्याऽभय-
न्नतद् ग्रन्थमिषात् करग्रहमहश्चित्र चरित्रश्रिय ।।

अर्थ : जहा अधिकाधिक प्रमाण मे विवेकरूपी तोरणमाला बाँधी गई है और जहा उज्ज्वलता को विस्तृत करने हृदयरूपी भवन मे समयानुकूल मधुर गीत की उच्च ध्वनि प्रसारित है। वहा पूर्णानन्द से ओतप्रोत आत्मा का, उसके स्वाभाविक सौभाग्य की रचना से प्रस्तुत ग्रथ की रचना के बहाने क्या चारित्ररूप लक्ष्मी के आश्चर्यकारक पाणिग्रहण-महोत्सव का शुभारभ नही हुआ ?

विवेचन . क्या तुमने पूर्णानन्दी आत्मा का चारित्र-लक्ष्मी के साथ लग्नोत्सव कभी देखा है ? यहाँ ग्रन्थकार हमे वह लग्नोत्सव बताते है ! ध्यान से उसका निरीक्षण करो, देखो :

हर जगह, हर गली और हाट-हवेली मे सर्वत्र लगाये तोरणो को देखो । ये सब विवेक से तोरण है, और यह रहा लग्न-मंडप ! यह हृदय का विशाल मंडप है ! यह प्रकाश-पुंज सा देदीप्यमान हो जगमगा रहा है ! यहाँ मधुर कठ और राग-रागिणी से युक्त लग्न-गीतों की चित्ताकर्षक लहरियाँ वातावरण मे व्याप्त है ! उसमे ३२ मगल गीत है, और आतमराम कैसा आनन्दातिरेक से डोल रहा है !

'ज्ञानसार' ग्रन्थ-रचना का तो एक बहाना है । इस के माध्यम से पूर्णानन्दी आत्मा ने चारित्ररुपी लक्ष्मी के साथ लग्न....महोत्सव का सुदर, सुखद आयोजन किया है । देवी-देवता तक इर्ष्या करे ऐसा उसका अद्‌भुत सौभाग्य है !

इस प्रसग पर ग्रन्थकार पूज्य उपाध्यायजी महाराज फरमाते है कि इस ग्रन्थ-रचना के महोत्सव मे मैने चारित्र स्वरुप साक्षात् लक्ष्मी के साथ पाणीग्रहण किया है !'

सचमुच यह महोत्सव, हर किसी को विस्मित और आश्चर्य चकित कर दे, ऐसा अद्‌भुत है !

> **भावस्तोमपवित्रगोमयरसैः लिप्तैव भू. सर्वतः,**
> **संसिक्ता समतोदकैरथ पथि न्यस्ता विवेकस्रजः ।**
> **अध्यात्मामृतपूर्णकामकलशश्चक्रेऽत्र शास्त्रे पुर.**
> **पूर्णानन्दघने पुरे प्रविशति स्वीयं कृतं मंगलम् ।।**

अर्थ . प्रस्तुत शास्त्र मे भाव के समूहस्वरुप गोबर से भूमि पोती हुई ही है और समभावरुपी शीतल जल के छिडकाव से युक्त है। अत्र-तत्र (मार्ग

म) विवेकरूपी पुष्पमालाय सुशोभित है। अग्रभाग म अध्यात्मरूप अमृत से छलकाता काम कुभ रखा हुआ ह। और इस तरह पूर्णानद स भरपूर आत्मा नगर प्रवेश करता है तब अपना स्वय का महा मगल किया है।

विवेचन इस 'ज्ञानसार नगर' मे जिस पूर्णानन्दी आत्मा ने प्रवेश किया, उसका कल्याण हो गया !

इस नगर की भूमि पवित्र भावा के गोबर मे पाती हुई है ! सवत्र समभाव के शीतल जल का छिडकाव किया गया है ! नगर के विशाल राजमाग विवेकरूपी पुष्पमालाएँ, तोरणो से सुशोभित है ! आर महत्वपूण स्थानो पर अध्यात्मामृत से छलकते काम-कुभ रखे गय हैं !

कैसा भव्य और रमणीय नगर है ! आख थकती नही उसका मनोहर और मागलिक स्वरूप देख-देख कर ! ऐसे विलक्षण नगर म हर कोई (जीव) प्रवेश नही कर सकता, बल्कि बहुत थोडे कुछ लाग ही प्रवेश कर सकते हैं ! यदि इन थोडे लोगो मे हमे प्रवेश मिल गया, तो समझ लिजीए कि हमारा तो 'सव मगल मागल्यम' हो गया !

पूर्णानन्दी आत्मा ही 'ज्ञानसार' नगर म प्रवेश पा सकता है ! पूणता के आनन्द-हेतु छटपटाता उद्विग्न जीव ही हमेशा ऐसे नगर की खोज मे रहता है। इस तरह ग्रथकार महर्षि हमे 'ज्ञानसार' नगर का अनूठा दशन कराते ह इस मे प्रवेश कर हम भी कृतकृत्य बनें।

गच्छे श्रीविजयादिदेवसुगुरो स्वच्छे गुणाना गण
प्रौढि प्रौढिमधाम्नि जीतविजयप्राज्ञा परामयर ।
तत्सातीर्थ्यभृता नयादिविजयप्राज्ञोत्तमाना शिशो
श्रीमन्यायविशारदस्य कृतिनामेषा फति प्रीतये ॥

अथ सद्गुरु श्री विजयदेवसूरि के गुणसमूह स पवित्र एव महान गच्छ म जितविजय नामके अत्यत विद्वान् और महिमाशाली पुरुष हुए। उन के गुरुभाई नयविजय पडित क सुशिष्य श्रीमद् न्यायविशारद [यशोविजयजी उपाध्याय] द्वारा रचित यह कृति महाभाग्यशाली पुरुषा की प्रीति के लिए सिद्ध हो।

विवेचन ग्रथकार अपनी गुरु परपरा का वणन करते हैं !

श्री विजयदेवसूरि के गुण-समूह से अलकृत विशाल पवित्र गच्छ में प्रकाड पडित जीतविजयजी नामक अत्यत प्रतिभा के धनी महात्मा पुरुष हुए। उन के गुरु भाई श्री नयविजयजी नामक मुनिश्रेष्ठ थे।

उन्ही श्री नयविजयजी गुरुदेव के, ग्रन्थकार उपाध्याय श्री यशोविजयजी शिष्य थे।

ग्रन्थकार ने अपनी कृति मे स्वय का नाम-निर्देश न करते हुए काशी मे प्राप्त 'न्यायविशारद' उपाधि का उल्लेख किया है। अपनी इस कृति के लिए उन्होने आशा व्यक्त करते हुए कहा है :

'प्रस्तुत कृति महाभाग्यशाली और पुण्यशाली पुरुषो के लिए प्रीतिकारक सिद्ध हो।'' 'ज्ञानसार' के अध्ययन, मनन और चितन से असीम प्रीति और आनन्द प्राप्त करने वाली महा भाग्यवत आत्माएँ है।

'ज्ञानसार' मे से ज्ञानानन्द और पूर्णानन्द प्राप्त करने का सौभाग्य समस्त जीवो को प्राप्त हो।

—संपूर्ण

ज्ञानसार-परिशिष्ट

ज्ञानसार - परिशिष्ट

१ कृष्णपक्ष–शुक्लपक्ष
२ ग्रंथिभेद
३ अध्यात्मादि योग
४ चार प्रकार के सदनुष्ठान
५ ध्यान
६ धर्मसंन्यास–योगसंन्यास
७ समाधि
८ पंचाचार
९ आयोजिका करण, समुद्घात, योगनिरोध
१० चौदह गुणस्थानक
११ सात नय
१२ ग्रहणशिक्षा–प्रत्याख्यानपरिज्ञा
१३ पंचास्तिकाय
१४ कर्मस्वरूप
१५ जिनकल्प–स्थविर कल्प
१६ उपसर्ग–परिसह
१७ पांच शरीर
१८ बीस स्थानक तप
१९ उपशम श्रेणि
२० चौदह पूर्व
२१ पुद्गल परावर्तकाल
२२ कारणवाद
२३ चौदह राजलोक
२४ यतिधर्म
२५ समाचारी
२६ गोचरी ४२ दोष
२७ चार निक्षेप
२८ चार अनुयोग
२९ ब्रह्म अध्ययन
३० ४५ आगम
३१ तेजो लेश्या

१. कृष्ण पक्ष-शुक्ल पक्ष

अनन्तकाल से अनन्त जीव चतुर्गतिमय ससार मे परिभ्रमण कर रहे है। वे जीव दो प्रकार के है . भव्य तथा अभव्य। जिस जीव मे मोक्षावस्था प्राप्त करने की योग्यता होती है उसे 'भव्य' कहा जाता है तथा जिस जीव मे वह योग्यता नही होती उसे 'अभव्य' कहते हैं।

भव्य-जीव का ससारपरिभ्रमणकाल जब एक 'पुद्गल परावर्त' बाकी रहता है, अर्थात् मोक्षदशा प्राप्त करने के लिए एक पुद्गल-परावर्त काल बाकी रहता है तब वह जीव 'चरमावर्त' मे आया हुआ कहा जाता है।

एक पुद्गल-परावर्त का आधे से अधिक काल व्यतीत होने पर, वह जीव 'शुक्लपाक्षिक' कहलाता है। किन्तु जो जीव कालमर्यादा मे नही आया होता है वह 'कृष्णपाक्षिक' कहलाता है, अर्थात् वह जीव कृष्णपक्ष मे अर्थात् मोह····अज्ञानता के प्रगाढ़ अन्धकार मे रहा हुआ होता है।

श्री **जीवाभिगम सूत्र** के टीकाकार महर्षि ने भी उपरोक्त बात का समर्थन किया है :

'इह द्वये जीवाः तद्यथा—कृष्णपाक्षिका शुक्लपाक्षिकाश्च।
तत्र येषां किञ्चदूनार्द्धपुद्गल परावर्तः
संसारस्ते शुक्लपाक्षिकाः इतरे दीर्घसंसारभाजिनः कृष्णपाक्षिकाः।

इसी बात को पूज्य उपाध्यायजी ने '**ज्ञानसार**' के 'टब्बे' में अन्य शास्त्रीय प्रमाणो द्वारा पुष्ट किया है।

जेसिं अवड्ढपुग्गलपरियट्टो सेसओ य संसारो।
ते सुक्कपक्खिया खलु अवरे पुण कण्हपक्खिया ॥

उपरोक्त शास्त्रकारो की मान्यताओ की अपेक्षा श्री "दशाश्रुत-स्कध-सूत्र" के चूर्णीकार की मान्यता भिन्न है। उन्होने इस प्रकार प्रतिपादन किया है

'जो अकिरियावादी सो भवितो अभविउ व नियमा किण्हपक्खिओ, किरियावादी नियमा भव्वओ नियमा सुक्कपक्खिओ। अंतोपुग्गल-परियट्टस्स नियमा सिज्झिहिति। सम्मद्दिट्ठी वा मिच्छादिट्ठी वा होज्ज।'

'जो जीव अक्रियावादी है, भले ही वह भव्य अथवा अभव्य हो, वह अवश्य कृष्णपाक्षिक है। जबकि क्रियावादी भव्य आत्मा निश्चय ही

शुक्लपाक्षिक है और वह एक पुद्गल परावर्तकाल मे अवश्य मोक्ष प्राप्त करता है। वर्तमान मे वह जीव भले ही सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि हो।'

चूर्णीकार की मान्यतानुसार चरमावर्त काल शुक्लपक्ष है, यह मान्यता तक सम्मत भी लगती है। शुक्लपक्ष के प्रारम्भ मे जिस प्रकार अल्पकालीन चन्द्रोदय होता है, उसी तरह चरमावर्तकाल मे आने पर जीव के आत्म आकाश मे कतिपय गुणो का चन्द्रोदय होता है। पूजनीय आचार्यदेव श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराज ने 'योगदृष्टिसमुच्चय' नामक ग्रन्थ मे चरमावर्तकालीन जीव को भद्रमूर्ति महात्मा कहा है। उन्होने इस भद्रमूर्ति महात्मा के तीन विशेष गुण बताए है।

> दुःखितेषु दयात्यन्त–मद्वेषो गुणवत्सु च।
> औचित्यासेवन चैव सर्वत्रैवाविशेषत ॥ ३२ ॥

दुःखी जीवो के प्रति अत्यन्त करुणा, गुणीजीवो के प्रति राग, और सर्वत्र अविशेषरूप मे औचित्य का पालन, इन तीन गुणो से सुशोभित भद्रमूर्ति महात्मा को 'शुक्लपाक्षिक' कहने मे श्री दशाश्रुतस्कंध के चूर्णीकार महापुरुष की मान्यता योग्य लगती प्रतीत होती है। 'तत्त्व तु केवलिनो विदन्ति।' तत्त्व तो केवली भगवान जाने।

'श्री पचाशक' ग्रन्थ मे याकिनीमहत्तरासूनु हरिभद्राचार्य ने शुक्लपाक्षिक श्रावक का वर्णन किया है

> परलोयहिय सम्म जो जिणवयण सुणेइ उवउत्तो।
> अइतिव्वकम्मविगमा सुक्को सो सावगो एत्थ ॥ २ ॥

— प्रथमपचाशक

'सम्यक् प्रकार से उपयोगपूर्वक जो श्रावक परलोक हितकारी जिनवचन का श्रवण करता है और अति तीव्र पाप कर्म जिसके क्षीण हो गये है, वह शुक्लपाक्षिक श्रावक कहलाता है।

२. ग्रन्थि भेद

जिस किसी भी प्रकार से 'तथाभव्यत्व' के परिपाक से जीवात्मा '[1]यथाप्रवृत्तिकरण' द्वारा आयुष्य कर्म के अतिरिक्त ज्ञानावरणीयादि

[1] गुरुगिरिसरित्–प्रवाहवाह्यमानोपलघोलनाकल्पन अध्यवसायविशेषरूपेण अनाभोगनिर्वर्तित यथाप्रवृत्तिकरण। — प्रवचनसारोद्धार

सातों कर्मों की [2]'पृथक् पल्योपम' के सख्याता भाग न्यून एक कोटाकोटि सागरोपम प्रमाण स्थिति कर देता है ।

जब कर्मों की इस प्रकार से मर्यादित कालस्थिति हो जाती है तब जीव के समक्ष एक अभिन्न ग्रंथि आती है । तीव्र राग-द्वेष के परिणामस्वरुप यह ग्रथि होती है । इस ग्रंथि का सर्जन अनादि कर्म-परिणाम द्वारा हुआ होता है ।

अभव्यजीव यथाप्रवृत्तिकरण से ज्ञानावरणीयादि सात कर्मों की दीर्घस्थिति का क्षय करके अनत बार इस 'ग्रंथि' के द्वार पर आते है, परन्तु ग्रथि की भयकरता देखकर ग्रथि को भेदने की कल्पना भी नहीं कर सकते···उसे भेदने का पुरुषार्थ करना तो दूर रहा ! वहीं से वापस लौटता है–पुनः वह सक्लेश मे फंस जाता है ! सक्लेश द्वारा पुनः कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति बाधता है । भवभ्रमण मे चला जाता है ।

भव्य जीव भी अनन्तबार इस प्रकार से ग्रथि प्रदेश के द्वार पर आकर ही घबडाते हुए वापिस लौट जाते है । परन्तु जब इस 'भव्य' महात्मा को 'अपूर्वकरण' की परमसिद्धि प्राप्त हो जाती है, कि जिस अपूर्वकरण की परमविशुद्धि को श्री 'प्रवचनसारोद्धार' ग्रंथ के टीकाकार ने 'निसिताकुण्ठकुठारधारा' की उपमा दी है । वह तीक्ष्ण कुल्हाडी की धारा के समान परम विशुद्धि द्वारा समुल्लसित दुर्निवार वीर्यवाला महात्मा ग्रंथि को भेद कर परमनिवृत्ति के सुख का रसास्वाद कर लेता है।

अब यह महात्मा किस प्रकार से राग-द्वेष की निबिड ग्रथि को भेद डालता है, उसे एक दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते है ।

[3]कुछ पथिक यात्रा के हेतु निकले । एक गहन वन मेसे गुजरते हुए उन्होने दूर से डाकुओं को देखा । डाकुओं के रौद्र स्वरूप को देख कर कुछ पथिक तो वही से पीछे भाग गये । कुछ पथिको को डाकुओ ने पकड़ लिया । जब कि शेष शूरवीर पथिको ने डाकुओ को भूशरण कर आगे प्रयाण किया । वन को पार कर तीर्थस्थान पर जा पहुँचे ।

---

२ आयुर्वर्जानि ज्ञानावरणादिकर्माणि सर्वाण्यपि पृथक्पल्योपमसख्येयभागन्यूनैकसागरोपमकोटीकोटीस्थितिकानि करोति । — प्रवचनसारोद्धारे

३ 'सम्यक्त्वस्तव' प्रकरणे

[४]माहनीय कम की उत्कृष्टस्थिति बाधने वाले वे भागने वाले पथिको जमे हैं । जो डाकुआ द्वारा पकडे गये थे वे ग्रथि देश मे रहे हुए जीव ह । जा डाकुआ को परास्त कर तीथस्थान पर पहुँचे व ग्रथि को भेद कर ममक्ति का प्राप्त करन वाले ह ।

'सम्यक्त्वस्तव' प्रकरणकार इस प्रकार से ग्रथिभेद की प्रक्रिया बताते ह । अधपुदगलपरावत काल जीव का ससारकाल बाकी है, जो जीव भव्य हैं, पर्याप्त सज्ञी पचेंद्रिय है, वे जीव अपूर्वकरणरुपी मुद्गर के प्रहार से ग्रथिभेद करके, अतमुहूर्त मे ही 'अनिवृत्तिकरण' करते है और वहा सम्यक्त्व प्राप्त करते है ।

३ अध्यात्मादि योग

जनदशन का योगमाग कितना स्पष्ट, सचोट, तकसगत तथा काय-साधक है, उसकी सूक्ष्म दृष्टि से तथा गभीर हृदय से शोध करने की आवश्यकता ह । यहा क्रम से अध्यात्मयोग, भावनायोग, ध्यानयोग, समतायोग आर वत्तिसक्षययोग का विवेचन किया जाता है ।

१ अध्यात्मयोग

याग' शब्द की परिभाषा 'मोक्षेण योजनाद् योग ।' इस प्रकार से करने मे आई है । अर्थात जिसके द्वारा जीवात्मा मोक्षदशा प्राप्त करे, वह योग है । इस योग की, साधना की दृष्टि से उत्तरोत्तर विकास की पाच भूमिकाए अनतज्ञानी परमपुरुषो ने देखी हैं । उनमे से प्रथम भूमिका अध्यात्मयोग की है ।

उपाध्यायजी ने 'अध्यात्मसार ग्रथरत्न म 'अध्यात्म' की व्याख्या इस प्रकार की है

[१]"गतमोहाधिकाराणामात्मानमधिकृत्य या ।
प्रवतते क्रिया शुद्धा तदध्यात्म जगुर्जिना ॥

जिन आत्माआ के ऊपर से मोह का अधिकार वचस्व उठ गया है, व आत्माए स्व-पर की आत्मा को अनुलक्षित करके जो विशुद्ध क्रिया

४ माहनीय कम की उत्कृष्ट स्थिति ७० क्राडाक्राडी सागरापम है ।

१ अध्यात्मसार—अध्यात्मस्वरपाधिकार ।

करती है (मन, वचन, काया से) उसे श्री जिनेश्वरदेव ने 'अध्यात्म' कहा है।

जीवात्मा पर से मोह का वर्चस्व टूट जाने पर जीवात्मा का आतरिक एवं वाह्य स्वरुप कैसा वन जाता है, उसका विशद वर्णन, भगवत हरिभद्राचार्य ने 'योगविन्दु' ग्रन्थ मे किया है।

[2]उस जीव का आचरण सर्वत्र औचित्य से उज्ज्वल होता है। स्व-पर के उचित कर्तव्यो को समझकर तदनुसार अपने कर्तव्य का पालन करने वाला वह होता है। उसका एक-एक शब्द औचित्य की सुवास से मघमघायमान होता है।

उसके जीवन मे पाच अणुव्रत या पाच महाव्रत रम गये हुए होते है। व्रतो का प्रतिज्ञावद्ध पालन करता हुआ, यह महामना योगी लोक प्रिय वनता है।

श्री वीतराग सर्वज्ञ भगवतो के द्वारा निर्देशित नवतत्त्वो की निरन्तर पर्यालोचना मैत्री-प्रमोद-करुणा-माध्यस्थ्यमूलक होती है, अर्थात् इसके चितन मे जीवो के प्रति मैत्री की, प्रमोद की, कारूण्य की और माध्यस्थ्य की प्रधानता होती है। इस प्रकार औचित्य, व्रतपालन, और मैत्र्यादि-प्रधान नवतत्त्वो का चितन यह वास्तविक 'अध्यात्म' है।

[3]इस अध्यात्म से ज्ञानावरणीयादि क्लिष्ट पापो का नाश होता है। साधना मे आतरवीर्य उल्लसित होता है। चित्त की निर्मल समाधि प्राप्त होती है, सम्यग्ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होता है, जो कि जात्यरत्न के प्रकाश जैसा अप्रतिहत होता है। अध्यात्म का यह दिव्य अमृत अति दारूण मोह रुपी विप के विकारो का उन्मूलन कर डालता है। इस आध्यात्मिक पुरूप का मोह पर वर्चस्व जम जाता है।

२ भावनायोग

[4]उपर्युक्त औचित्यपालन, व्रतपालन और मैत्र्यादिप्रधान नव तत्त्वो

---

२ औचित्याद् वृत्तयुक्तस्य वचनात्तत्वचितनम्।
मैत्र्यादिसारमत्यन्तमध्यात्म तद्विदो विदु ॥ ३५८ ॥ योगविन्दुः।

३ अत पापक्षय सत्त्व शील ज्ञान च शाश्वतम्।
तथानुभवससिद्धममृत ह्यद एव तु ॥ ३५९ ॥ योगविन्दु।

४ अभ्यासोऽस्यैव विज्ञेय प्रत्यह वृद्धिसगत।
मन समाधिसयुक्त पौन पुन्येन भावना ॥ ३६० ॥ योगविन्दु'।

का प्रतिदिन अनुउतन-अभ्यास करना, उसका नाम भावनायोग है। जैसे-जैसे अभ्यास बढता जाता है वसे-वैसे उनमे समुत्कप होता जाता है और मन की समाधि बढती जाती है।

[5]यह भावनायोग सिद्ध होने पर अशुभ अध्यवसाया (विचारो) से जोव निवत्त होता है। ज्ञान, दशन, चारित्र, तप वगरह शुभ भावो के अभ्यास के लिये अनुकूल भावना की प्राप्ति होती है और चित्त का सम्यक् समुत्वप होता ह।

[6]भावनायोगी के आतरिक क्रोधादिक्पाय मद पड जाते है। इन्द्रिया का उन्माद शान्त हो जाता है। मन-वचन काया के योगा को वह सयमित रखता है। मोक्षदशा प्राप्त करने की अभिलापावाला बनता है और विश्व के जीवो के प्रति वात्सल्य धारण करता है। ऐसी आत्मा निदभ हृदय से जो क्रिया करती है, उससे उसके अध्यात्म-गुणा की वद्धि हाती है।

३ ध्यानयोग

'प्रशस्त किसी एक अथ पर चित्त की स्थिरता होना, उसका नाम 'ध्यान' है। वह ध्यान धमध्यान या शुक्लध्यान हो तो वह ध्यानयोग बनता है। भूमिगृह कि जहा वायु का प्रवेश नही हो सकता, वहा जलते हुए दीपक की ज्योति के समान ध्यान स्थिर हो अर्थात् स्थिर दीपक के जसा हो। चित्त का उपयाग उत्पाद्, व्यय, ध्राव्य वगैरह सूक्ष्म पदार्थो मे होना चाहिए। इस प्रकार 'श्री योगबिंदु' ग्रथ मे प्रतिपादन किया हुआ है।

[7]इस ध्यानयाग से प्रत्येक काय म भावस्तमिरय आत्मस्वाधीन बनता है। पूव कर्मा के बध की परम्परा का विच्छेद हो जाता है।

---

५ निवृत्तिरशुभाभ्यासाच्छुभाभ्यासानुकूलता।
तथा सुचित्तवृद्धिश्च भावनाया फल मतम्॥ ६१॥ यागबिन्दु।

६ दाता दान्त मना गुरुता मोक्षार्थी विश्ववत्सल।
निर्दम्भा या क्रिया कुयात् साध्यात्मगुणवृद्धय॥ ३५॥ अध्यात्मसार।

७ वशिता चव सवत्र भावस्तमित्यमव च।
अनुबन्धव्यवच्छेद उदर्कोऽस्याति तद्विद॥ ३६३॥ यागबिन्दु।

४. समतायोग

अनादिकालीन तथ्यहीन वासनाओं के द्वारा होने वाले संकल्पों से जगत् के जड-चेतन पदार्थों मे जीव इष्ट-अनिष्ट की कल्पना करता है। इष्ट मे सुख मानता है, अनिष्ट मे दुःख मानता है।

समतायोगी महात्मा जगत के जड-चेतन पदार्थों पर एक दिव्य दृष्टि डालता है ! न तो उसको कोई इष्ट लगता है और न अनिष्ट! वह परामर्श करता है

> 'तानेवार्थान् द्विषत तानेवार्थान् प्रलीयमानस्य
> निश्चयतोऽस्यानिष्ट न विद्यते किञ्चिदिष्टं वा ॥
>
> —प्रशमरति

"जिन पदार्थों के प्रति जीव एक बार द्वेष करता है, उन्ही पदार्थों के प्रति वह राग करता है। 'निश्चयनय' मे पदार्थ मे कोई इष्टता नही है, कोई अनिष्टता नही है। वह तो वासनावासित जीव की भ्रमित कल्पना मात्र है।

> 'प्रियाप्रियत्वयोर्यार्थै व्यवहारस्य कल्पना ।'
>
> —अध्यात्मसारे

प्रियाप्रियत्व की कल्पना 'व्यवहार नय' की है। निश्चय से न तो कोई प्रिय है और न कोई अप्रिय !

> 'विकल्पकल्पित तस्माद् द्वयमेतन्न तात्विकम् ।'
>
> —अध्यात्मसारे

विकल्पशिल्पी द्वारा बनाये गये ईष्ट-अनिष्टों के महल तात्त्विक नही, सत्य नही, हकीकत नही।

इस विवेकज्ञान वाला समतायोगी जगत के सर्व पदार्थों मे से इष्टा-निष्ट की कल्पना को दूर कर समतारस मे निमग्न बन जाता है।

समता-शचि का स्वामीनाथ योगीन्द्र····समता-शचि के उत्सग मे रसलीन बनकर ब्रह्मानद का अनुभव करता है। न ही वह अपनी दिव्य शक्ति का उपयोग करता है और न वह इस कारण से समता-रानी के साथ को छोडता है। इस परिस्थिति में उसका एक महान् कार्य सिद्ध होता है। केवलज्ञान, केवलदर्शन, यथाख्यात चारित्र··· आदि को घेर

कर रहे हुए कुकर्मों का क्षय हो जाता है। अपेक्षातन्तुविच्छेद । अपेक्षा तो कर्मबंध का मूल है, वह मूल उखड जाता है।

इस समतायोगी के गले मे कोई भक्त आकर पुष्पमाला या चदन का लेप कर जाय कोई शत्रु आकर कुल्हाडे का घाव कर जाय न तो उस भक्त पर राग और न उस शत्रु पर द्वेप। दोनो पर समान दृष्टि। दोनो के शुद्ध आत्मद्रव्य पर ही दृष्टि।

[8]श्री उपाध्यायजी ने इस 'समता' के मुक्तकठ मे गीत गाये हैं।

५ वृत्तिसक्षय योग

निस्तरग महोदधि समान आत्मा की वृत्तियाँ दो प्रकार से दृष्टिगोचर होती है, (१)विकल्परुप (२)परिस्पदरुप। ये दोनो प्रकार की वृत्तियाँ आत्मा की स्वाभाविक नही है परतु अन्य सयोगजन्य है। तथाविध मनोद्रव्य के सयोग से ■ विकल्परुप वृत्तिया जाग्रत होती हैं। ×शरीर से परिस्पन्दरुप वृत्तिया होती हैं।

जब केवलज्ञान की प्राप्ति होती है तब विकल्परुप वृत्ति का सक्षय हो जाता है। ऐसा क्षय हो जाता है कि पुन अनतकाल के लिए आत्मा के साथ उसका सबध ही न हो। 'अयोगी केवली' अवस्था मे परिस्पदरुप वृत्तियो का भी विनाश हो जाता है।

इसका नाम है वृत्तिसक्षययोग।

इस योग का फल है—केवलज्ञान और मोक्षप्राप्ति।

> अतोऽपि केवलज्ञान शैलेशीसम्परिग्रह ।
> मोक्षप्राप्तिरनाबाधा सदानन्दविधायिनी ।। ६६७ ।।

—योगबिन्दु

४ चतुर्विध सदनुष्ठान

सम्यग्ज्ञान दर्शन और चारित्र के गुणो की वृद्धि जिस क्रिया द्वारा होती है उसे सदनुष्ठान कहा जाता है। सत्क्रिया कहे अथवा सदनुष्ठान कहे, दोनो समान हैं।

---

८ देखो अध्यात्मसार—समताधिकार।

■ मानसिक विचार

× शारीरिक क्रियाएँ

इस सदनुष्ठान के चार प्रकार 'श्री षोडषक' ग्रन्थ मे श्रीमद् हरिभद्रसूरीश्वरजी ने बताये हैं। उसी प्रकार 'योगविंशिका' ग्रन्थ की टीका मे पूज्य उपाध्यायजी ने भी चार अनुष्ठानो का विशद वर्णन किया है।

१. प्रीति अनुष्ठान :

*आत्महितकर अनुष्ठान के प्रति, अनुष्ठान बतानेवाले सद्गुरु के प्रति और सर्वजन्तुवत्सल तारक जिनेश्वरभगवंत के प्रति परम प्रीति उत्पन्न होनी चाहिये। अनुष्ठान विशिष्ट प्रयत्नपूर्वक करने में आवे, अर्थात जिस समय करना हो उसी समय किया जाय। भले ही दूसरे सैकडो काम विगडते हो।

एक वस्तु के प्रति दृढ प्रीति जगने के बाद, फिर उसके लिए जीव क्या नही करता? किसका त्याग नही करता? उपर्युक्त हकीकत 'श्री योगविंशिका' मे दर्शायी गई है। 'यत्रानुष्ठाने १ प्रयत्नातिशयोऽस्ति, २. परमा च प्रीतिरुत्पद्यते, ३ शेषत्यागेन च यत्क्रियते तत्प्रीत्यनुष्ठानम्।'

२. भक्ति अनुष्ठान :

भक्ति-अनुष्ठान मे भी ऊपर की ही तीन वस्तुएँ होती है किन्तु अन्तर आलम्बनीय को लेकर पड़ता है। भक्ति-अनुष्ठान मे आलम्बनीय मे विशिष्ट पूज्यभाव की बुद्धि जाग्रत होती है, उससे प्रवृत्ति विशुद्धतर बनती है।

[1]पूज्य उपाध्यायजी ने प्रीति और भक्ति के भेद को बताते हुए पत्नी और माता का दृष्टान्त दिया है। मनुष्य मे पत्नी के प्रति प्रीति होती है और माता के प्रति भक्ति होती है। दोनो के प्रति कर्तव्य समान होते हुए भी माता के प्रति पूज्यभाव की बुद्धि होने से उसके प्रति का कर्तव्य उच्च माना जाता है।

अर्थात्[2] अनुष्ठान के प्रति विशेष गौरव जाग्रत हो, उसके प्रति

---

*यत्रादरोऽस्ति परम प्रीतिश्च हितोदया भवति कर्त्तु ।
शेषत्यागेन करोति यच्च तत् प्रीत्यनुष्ठानम् ॥ —दशम-षोडषके

१ अत्यन्तवल्लभा खलु पत्नी तद्वद्धिता च जननीति ।
तुल्यमपि कृत्यमनयोर्ज्ञातं स्यात् प्रीतिभक्तिगतम् ॥ —योगविंशिका

२ गौरवविशेषयोगाद् बुद्धिमतो यद् विशुद्धतरयोगम् ।
क्रियेतेतरतुल्यमपि ज्ञेय तद्भक्त्यनुष्ठानम् ॥ —दशम-षोडषके

महान सद्भाव उल्लसित हो तब वह अनुष्ठान भक्तिअनुष्ठान कहा जाता है। महायोगी श्री आनदघनजी ने प्रथम जिनेश्वर की स्तवना—

'ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम माहरो
आर न चाहुँ कत

इस प्रकार की ह। उसे हम प्रीति अनुष्ठान मे गिन सकते ह। कारण कि उसमे योगीराज न अपनी चेतना मे पत्नीपन का आरोप किया है और परमात्मा मे स्वामीपन की कल्पना की है। स्तवना मे प्रीतिरस की प्रचुरता दृष्टिगोचर होती है।

३ वचनानुष्ठान

शास्त्रार्थप्रतिसधानपूर्वा साधो सवत्रोचितप्रवृत्ति ।

— योगविंशिका

पच महाव्रतधारी साधु इस अनुष्ठान की उपासना कर सकता ह। प्रत्यक काल मे आर प्रत्येक क्षेत्र मे साधु मुनि श्रमण शास्त्र की आज्ञाआ के मम को समझकर जो उचित प्रवत्ति करे वह 'वचनानुष्ठान' कहलाता है। श्री 'षोडशक' मे भी इसी प्रकार वचनानुष्ठान बतलाया है।

'वचनात्मिका प्रवत्ति सवत्रौचित्ययोगतो या तु ।
वचनानुष्ठानमिद चारित्रवतो नियोगेन ॥

४ असगानुष्ठान

दीघकालपयन्त जिनवचन के लक्ष से अनुष्ठान करने वाले महात्मा के जीवन म ज्ञान दशन-चारित्र की आराधना ऐसी आत्मसात् हो जाती है, कि पीछे से उस महात्मा को यह विचारना नही पडता कि 'यह क्रिया जिनवचनानुसार है या नही?' जिस प्रकार चदन मे सुवास एकीभूत होती है उसी प्रकार ज्ञानादि की उपासना उस महात्मा मे एकरस बन जाती है, तब वह [1]'असगानुष्ठान' कहलाता है। यह अनुष्ठान 'जिनकल्पी' आदि विशिष्ट महापुरुषों के जीवन मे हो सकता है।

---

१ यत्त्वभ्यासातिशयात् सात्मीभूतमिव चेष्टयते सद्भि ।
तदसङ्गानुष्ठान भवति त्वेतत्तदावधात् ॥

— दशम षोडशके

५. ध्यान

'ध्यान' के विषय मे प्रथम सर्वसाधारण व्याख्या का निरूपण कर के उसके भेद-प्रभेद पर परामर्श करेंगे ।

'ध्यानविचार' ग्रन्थ मे [1]चिन्ता–भावनापूर्वक स्थिर अध्यवसाय को 'ध्यान' कहा है ।

श्री आवश्यकसूत्र-प्रतिक्रमण अध्ययन मे 'ध्यातिर्ध्यानम् कालत अन्तर्मुहुर्तमात्रम्' । इस प्रकार ध्यान का सातत्य अन्तर्मुहुर्त बताया है।

श्री आवश्यक सूत्र-प्रति अ० मे ध्यान के चार भेद बताये गये है। (१)आर्त (२) रौद्र (३) धर्म (४) शुक्ल

'श्री ध्यानविचार' मे इन चारो प्रकारो मे से तीन प्रकारो को दो भागो मे विभाजित किया है, और शुक्लध्यान को 'परमध्यान' कहा है।

'द्रव्यतः आर्तरौद्रे, भावतस्तु आज्ञा-अपाय-विपाक-संस्थानविचयभिदं धर्मध्यानम्' ।

१. आर्तध्यान

[2]शोक, आक्रन्द, विलापादि जिसमे हो वह आर्तध्यान कहलाता है। [3]श्री औपपातिक (उपाग) सूत्र मे आर्तध्यान के चार लक्षण बताए है

(१) कदणया जोरो की आवाज करके रोना ।
(२) सोअणया दीनता करनी ।
(३) तिप्पणया. आख मे से अश्रु निकालना ।
(४) विलवणया बार-बार कठोर शब्द बोलना ।

२. रौद्र ध्यान :

श्री 'ओपपातिक सूत्र' मे रौद्र ध्यान के चार लक्षण बताये गये है

---

१ चिन्ता–भावनापूर्वक स्थिरोऽध्यवसायो ध्यानम् ।

—ध्यानविचारे

२ शोकाक्रन्दनविलपनादिलक्षणमार्तम् ।

आवश्यकसूत्र प्रतिक्रमणाध्ययने

३ अट्टस्स झाणस्स चत्तारि लक्खणा–कदणया–सोअणया–तिप्पणया विलवणया ।

–औपपातिकोपागे ।

(१) ऊसण्णदोसे निरतर हिंसा, असत्य, चोरी आदि करना।

(२) बहुदासे हिंसादि सब पापा मे प्रवत्ति करनी।

(३) अण्णाणदोसे अनान से कुशास्त्रो के सस्कार से हिंसादि पापो मे धमबुद्धि से प्रवृत्त करनी।

(४) आमरणतदोसे आमरणात थोडा सा भी पश्चात्ताप किए बिना [४]कालसौकरादि की तरह हिंसादि म प्रवृत्ति करनी।

इस आत-रौद्र ध्यान के फल का विचार 'श्री आवश्यक सूत्र' के प्रतिक्रमण-अध्ययन मे किया गया है। आतध्यान का फल परलोक मे तिर्यंचगति और रौद्रध्यान का फल नरकगति होता है।

३ धमध्यान

[१]श्री 'हरिभद्री अष्टक' ग्रन्थ मे धमध्यान की यथाथ एव सुदर स्तुति की गई है।

※ सकडा भवो मे उपार्जित किये हुए अनत कर्मो के गहन वन के लिये अग्नि समान है।

※ सवतप के भेदो मे श्रष्ठ है।

※ आतर तप क्रियारुप है।

[२]धमध्यान के चार लक्षण हैं (१) आज्ञारुचि (२) निसगरुचि (३) उपदेशरूचि (४) सूत्ररुचि।

(१) आज्ञारुचि श्री जिनेश्वरदेव के वचन की अनुपमता, कल्याण-कारिता, सब मत्तत्वो की प्रतिपादकता वगरह को देखकर उस पर श्रद्धा करना।

(२) निसगरुचि ज्ञान दशन चारित्रमय आत्मपरिणाम।

(३) उपदेशरुचि जिनवचन के उपदश को श्रवण की भावना।

---

४ कालसौकरिक नाम का कसाई राज ५०० पाडा का वध करता था।

१ भवान्तसमुपर्जितकर्मवनगहनज्वलनकल्पम्।
अखिलतप प्रकारप्रवरम्। आतरतप क्रियारुपम।

२ धम्मस्स ण झाणस्स चत्तारी लक्खणा आणारुई-निसग्गरुई उवएसरुई सुत्तरुई।
—श्री औपपातिक सूत्र।

(४) सूत्ररुचि द्वादशागी का अध्ययन एवं अध्यापन की भावना ।

[1]धर्मध्यान के चार आलवन है ।

(१) वाचना (२) पृच्छना (३) परावर्तना (४) धर्मकथा

अर्थात् सद्गुरु के पास विनयपूर्वक सूत्र का अध्ययन करना । उसमे अगर शका हो तो विधिपूर्वक गुरुमहाराज के पास जाकर पृच्छा करना । नि:शक बने हुए सूत्रार्थ भूल न जाय इसलिए बार बार उसका परावर्तन करना और इस प्रकार आत्मसात् हुए सूत्रार्थ का सुपात्र के सामने उपदेश देना । ऐसा करने से धर्मध्यान मे स्थिरता प्राप्त होती है ।

[2]धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षा है .

(१) अनित्य भावना (२) अशरण भावना (३) एकत्व भावना और (४) ससार भावना ।

इन चार भावनाओ का निरन्तर चिन्तन करने से धर्मध्यान उज्ज-वल बनता है और आत्मसात् हो जाता है ।

श्री उमास्वाती भगवत ने 'प्रशमरति' प्रकरण मे धर्मध्यान की क्रमश: चार चितन धाराए बताई है

आज्ञाविचयमपायविचय च सद्ध्यानयोगमुपसृत्य ।
तस्माद्विपाकविचयमुपयाति संस्थानविचय च ॥ २४७ ॥

१ आज्ञाविचय

[1]'आप्तपुरुष' का वचन ही प्रवचन है । यह है आज्ञा । उस आज्ञा के अर्थ का निर्णय करना विचय है ।

२ अपायविचय

[2]मिथ्यात्वादि आश्रवो मे, स्त्रीकथादि विकथाओ मे, रस-ऋद्धि-शाता गारवो मे, क्रोधादि कषायो मे, परीषहादि नही सहने मे आत्मा की

---

१ धम्मस्स ण झाणस्स चत्तारि आलवणा-वायणा, पुच्छणा, परियट्टणा धम्मकहा ।

२ धम्मस्स ण झाणस्स चत्तारि अणुप्पेहाओ-अनित्यत्वाशरणत्वैकत्वससारानुप्रेक्षा ।

—श्री औपपातिक सूत्रे ।

१ आप्तवचन प्रवचन चाज्ञा, विचयस्तदर्थनिर्णयनम् ।

२ आस्रवविकथागौरवपरीषहाद्येष्वपायस्तु ।

दुदशा है, नुकसान है । उसका चिंतन करके वैसा ही दृढ़ निणय हृदय मे स्थापित करना ।

३ विपाकविचय

[3]अशुभ और शुभ कर्मों के विपाक (परिणाम) का चिंतन करके 'पापकर्म से दु ख तथा पुण्यकम से सुख' ऐसा निणय हृदयस्थ करना ।

४ सस्थानविचय

[4]षड्द्रव्य, ऊर्ध्व अधो-मध्यलोक के क्षेत्र, चोदह राजलोक की आकृति वगैरह का चिंतन करके, विश्व की व्यवस्था का निणय करना, उसे सस्थानविचय कहते ह ।

धमध्यानी

श्री आवश्यक सूत्र मे धमध्यान करने की इच्छुक आत्मा की योग्यता का प्रतिपादन इस प्रकार किया है

'जिणसाहूगुणकित्तणपसंसणाविणयदाणसपण्णो ।
सुअसीलसजमरओ धम्मज्झाणी मुणेयव्वो' ॥

(१) श्री जिनेश्वरदेव के गुणा का कीतन और प्रशसा करने वाला ।
(२) श्री निग्रन्थ मुनिजनो के गुणो का कीतन-प्रशसा करने वाला । उनका विनय करने वाला । उनको वस्त्र-आहारादि का दान देने वाला ।
(३) श्रुतज्ञान की प्राप्ति करने मे निरत । प्राप्त श्रुतज्ञान से आत्मा को भावित करने के लक्षवाला ।
(४) शील-सदाचार के पालन म तत्पर ।
(५) इन्द्रियसयम, मन सयम करने मे लीन ।

ऐसी आत्मा धमध्यानी बन सकती है। श्री प्रशमरति ग्रथ मे बताया गया है कि वास्तविक धमध्यान प्राप्त हुए बाद ही आत्मा वरागी बनती ह अर्थात् उस आत्मा म वैराग्य की ज्योत प्रज्वलित होती ह । 'धमध्यानमुपगतो वैराग्यमाप्नुयाद् योग्यम' ।

---

३ अशुभशुभकमविपाकानचिंतनार्थो विपाकविचय स्यात् ।

४ द्रव्यक्षेत्राकृत्यनुगमन सस्थानविचयस्तु । २४८–२४९ प्रशमरति प्रकरणे ।

वाचिक ध्यान

सामान्यतः आम विचार ऐसा है कि 'ध्यान' मानसिक ही होता है। परन्तु श्री आवश्यक सूत्र मे 'वाचिक ध्यान' भी बताया गया है ।

एवविहा गिरा मे वत्तव्वा एरिसी न वत्तव्वा ।
इय वेयालियवक्कस्स भासओ वाइग झाणं ॥

'मुझे इस प्रकार की वाणी बोलनी चाहिये, ऐसी नही बोलनी चाहिये।' इस प्रकार विचारपूर्वक बोलनेवाला वक्ता 'वाचिक-ध्यानी' है ।

ध्यान–काल

ध्यान के लिए उचित काल भी वह है कि जिस समय मन-वचन-काया के योग स्वस्थ हो । ध्यान के लिए दिवस-रात के समय का नियमन नही है ।

'कालोऽपि स एव ध्यानोचित. यत्र काले मनोयोगादिस्वास्थ्य प्रधान प्राप्नोति, नैव च दिवसनिशावेलादिनियमन ध्यायिनो भणितम् ।'

— श्री हरिभद्रसूरि । आवश्यक सूत्रे ।

४. शुक्लध्यान

शुक्लध्यान के चार प्रकार है । वे 'शुक्लध्यान के चार पाया' के रूप मे प्रसिद्ध है ।

१. पृथक्त्व–वितर्क-सविचार

*पृथक्त्वसहित, वितर्कसहित और विचारसहित प्रथम सुनिर्मल शुक्लध्यान है । यह ध्यान मन-वचन-काया के योग वाले साधु को हो सकता है ।

+पृथक्त्व = अनेकत्वम् । ध्यान को फिरने की विविधता ।

वितर्क = श्रुतचिता । चौदपूर्वगत श्रुतज्ञान का चितन ।

---

*सवितर्क सविचार सपृथक्त्वमुदाहृत ।
त्रियोगयोगिन साधोराद्य शुक्ल सुनिर्मलम् ॥ ६० ॥

+श्रुतचिन्ता वितर्क स्यात् विचार सक्रमो मत ।
पृथक्त्व स्यादनेकत्व भवत्येतत्त्रयात्मकम् ॥ ६१ ॥

—गुणस्थान-क्रमारोहे

विचार = सक्रम । [1]परमाणु, आत्मा आदि पदाथ, इनके [2]वाचक शब्द और [3]कायिकादियोग, इन तीन मे विचरण, सचरण, सक्रमण ।

२ एकत्व-वितर्क-अविचार

शुक्ल ध्यान के दूसरे प्रकार मे

१ एकत्व

२ अविचारता

३ सवितकता होती है ।

अर्थात यहा स्वय के एक आत्मद्रव्य का अथवा पर्याय का या गुण का निश्चल ध्यान होता है । अथ, शब्द और योगो मे विचरण नही होता है और भावश्रुत के आलबन मे शुद्ध-आत्मस्वरूप मे चितन हाता रहता है ।

शुक्लध्यान के ये दो भेद आत्मा को उपशम श्रेणी या क्षपक श्रेणी मे चढाने वाले है अर्थात मुख्य रुप मे श्रेणी मे होते हैं । दूसरे प्रकार के ध्यान के अत म आत्मा वीतरागी बनती है । क्षपकश्रेणीवाली ध्यानी आत्मा ज्ञानावरणीयादि कर्मो को खपाकर केवलज्ञान प्राप्त करके सवज्ञ बनती है ।

३ सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाति

यह ध्यान चितनरूप नही है । सवज्ञ आत्मा को सब आत्म-प्रत्यक्ष होने से, उसे चितनात्मक ध्यान की आवश्यकता रहती ही नही । इस तीसरे प्रकार मे मन वचन-काया के बादर योगो का अवरोध होता है । सूक्ष्म मन-वचन-काया के योगो का अवरुद्ध करने वाला एक मात्र सूक्ष्म काय–

इस ध्यान म तीन विशिष्टता रही हुई ह –

१ स्वशुद्ध आत्मानुभूत भावना के आलम्बन से अन्तर्जल्प करता है ।

२ श्रुतोपयोग एक अथ स दूसरे अथ पर एक शब्द स दूसरे शब्द पर तथा एक योग से दूसरे योग पर विचार करता है ।

३ ध्यान एक द्रव्य से दूसरे द्रव्य पर एक गुण स दूसरे गुण पर और एक पर्याय स दूसरे पर्याय पर सक्रमण करता है ।

योग बाकी रहता है । यह ध्यान आत्मा की एक विशिष्ट प्रकार की अवस्था है, और वह अप्रतिपाती तथा अविनाशी है अर्थात् यह अवस्था अवश्य चौथे प्रकार के ध्यानरूप बन जाती है ।

४. व्युच्छिन्न क्रिया-अनिवृत्ति

यहाँ समग्र योग हमेशा के लिए विराम प्राप्त कर गए होते हैं । विच्छेद प्राप्त कर गये होते हैं । इस अवस्था मे अब कभी भी परिवर्तन नही होता । यह अवस्थाविशेष ही ध्यान है । 'शैलेशी अवस्था' इस ध्यानरूप है ।

छद्मस्थ आत्मा का ध्यान

[1]मन की स्थिरता छद्मस्थ का ध्यान है ।

अन्तर्मुहूर्तकालं यच्चित्तावस्थानमेकस्मिन् वस्तुनि तच्छद्मस्थाना ध्यानम् ।

श्री हरिभद्रसूरि, आवश्यक सूत्रे ।

'अन्तर्मुहूर्त' काल के लिए एक वस्तु मे जो चित्त की एकावस्था, वह छद्मस्थ जीव का ध्यान है ।

जिन का ध्यान

[1]योग निरोध, यह जिन का ध्यान है । दूसरे का नही ।

[2]काया की स्थिरता, केवली का ध्यान है ।

६. धर्मसंन्यास-योगसंन्यास

'सामर्थ्य योग के ये दो भेद है। सामर्थ्ययोग क्षपकश्रेणी मे होता है । यह योग प्रधान फल मोक्ष का निकटतम कारण है ।

---

१ 'छद्मस्थस्य....ध्यानं मनस स्थैर्यमुच्यते' ॥ १०१ ॥

—गुणस्थानक क्रमारोहे ।

१ योगनिरोधो जिनानामेव ध्यान नान्येपाम् ।

—श्री हरिभद्रसूरि, आवश्यक सूत्रे

२ वपुष स्थैर्यं ध्यान केवलिनो भवेत् ॥ १०१ ॥ —गुणस्थानक क्रमारोहे

१ धमसंयास

१ क्षपकश्रेणि में जब जीव द्वितीय अपूर्वकरण करता है, तब तात्त्विक रूप मे यह 'धमसन्यास' नाम का सामर्थ्य योग होता है । यहा क्षायोपशमिक क्षमा-आर्जव मार्दवादि धर्मो से योगी निवृत्त हो जाता है ।

★अतात्त्विक 'धमसन्यास प्रव्रज्याकाल मे (देशविरति सर्वविरति ग्रहण करते हुए) भी होता है । वहा धर्म औदयिक भाव समझने चाहिए । उसका त्याग (संयास) करने मे आता है अर्थात अज्ञान, असंयम, कषाय, वेद, मिथ्यात्वादि धर्मों का त्याग किया जाता है ।

तात्त्विक धमसन्यास में तो क्षायोपशमिक धर्मो का भी संयास (त्याग) कर दिया जाता है अर्थात वहा जीव को क्षायिक गुणो की प्राप्ति होती है । तात्पर्य यह है कि क्षायोपशमिक धर्म ही क्षायिक रूप बन जाते हैं ।

२ योगसंयास

'योग' का अर्थ कायादि के व्यापार (कायोत्सर्गादि) हैं, इनका भी त्याग (संयास) सयोगी केवली भगवत आयोजिकाकरण के बाद करते हैं ।

+सयोगी केवली (१३ वे गुणस्थान पर) समुद्घात करने से पहले 'आयोजिकाकरण' करते हैं । यह आयोजिका सभी केवली भगवत करते हैं ।

७ समाधि

'वेदान्त दर्शन' के अनुसार समाधि दो प्रकार की है

(१) सविकल्प समाधि (२) निर्विकल्प समाधि ।

निर्विकल्प समाधि के आठ अग बताने मे आये हैं और इन आठ अगो को ही सविकल्प समाधि कहा गया है । निर्विकल्प समाधि के चार विघ्न 'वेदान्तसार' ग्रथ मे बताये गये हैं ।

द्वितीयापूर्वकरणे प्रथमस्तात्त्विको भवत्येव ॥ [illegible]

क्षपकश्रेण्यामिति क्षायोपशमिकक्षान्त्यादिधर्मनिवृत्तेः । — योगदृष्टिसमुच्चय

★अतात्त्विकस्तु प्रव्रज्याकालेऽपि भवति । —योगदृष्टिसमुच्चय

+ [illegible]—क्षपकश्रेणि—प्रकरण ।

श्री जैनदर्शन दोनो प्रकार की समाधि का सुचारु पद्धति मे पाच योग द्वारा समन्वय करता है। श्री 'योगविंशिका' मे आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी ने यह समन्वय किया है और उपाध्यायजी ने उसे विशेष स्पष्ट किया है। यहाँ पाँच योगो द्वारा सविकल्प, निर्विकल्प समाधि बताई गई है।

+(१) **स्थान** सकलशास्त्रप्रसिद्ध कायोत्सर्ग-पर्यंकबंध – पद्मासनादि आसन।

(२) **ऊर्ण**. शब्द। क्रियादि मे बोले जानेवाले वर्णस्वरुप।

(३) **अर्थ** शब्दाभिधेय का व्यवसाय।

(४) **आलंबन** बाह्य पतिमादि विषयक ध्यान।

उपरोक्त चार योग 'सविकल्प समाधि' कहे जा सकते है।

(५) **रहित** रुपी द्रव्य के आलंबन से रहित निर्विकल्प चिन्मात्र समाधिरुप।

यह योग निर्विकल्प समाधि स्वरूप है।

पांच योग के अधिकारी

स्थानादियोग निश्चयनय से देशचारित्री एव सर्वचारित्री को ही हो सकते है। क्रियारुप (स्थान--ऊर्ण) और ज्ञानरुप (अर्थ, आलबन

समाधि सविकल्पक निर्विकल्पकश्च। निर्विकल्पस्य अङ्गानि–

(१) यमा अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा।

(२) नियमा शौच-संतोष-तप स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि।

(३) आसनानि करचरणादिसंस्थानविशेषलक्षणानि पद्मस्वस्तिकादीनि।

(४) प्राणायामा रेचकपूरककुम्भकलक्षणा प्राणनिग्रहोपाया।

(५) प्रत्याहार इन्द्रियाणा स्व-स्वविषयेभ्य प्रत्याहरणम्।

(६) धारणा अद्वितीयवस्तुन्यन्तरिन्द्रियधारणम्।

(७) ध्यान अद्वितीयवस्तुनि विच्छिद्य विच्छिद्य अन्तरिन्द्रियवृत्तिप्रवाह।

(८) समाधिस्तु उक्त सविकल्पक एव।

—वेदान्तसार-ग्रन्थे

लय–विक्षेप–कषाय–रसास्वादलक्षणाश्चत्वारो विघ्ना।

—वे० सारे

+(१) स्थानम्-आसनविशेषरूप कायोत्सर्गपर्यङ्कबन्धपद्मासनादि–सकलशास्त्रप्रसिद्धम्।

आर रहित) ये याग चारित्रमाहनीय के क्षयोपशम बिना मभव नही हो सक्ते ।

'जा जीव देशचारित्री या सवचारित्री नही है, उन जीवा मे योग का मात्र बीज हो सकता है ।' किन्तु यह कथन निश्चय नय का है । व्यवहार नय तो योगबीज मे भी योग का उपचार करता है । इससे व्यवहार नय मे अपुनबधकादि जीव भी योग के अधिकारी हो सक्ते ह ।

८. पाच आचार

भाक्षमाग की आराधना क मुख्य पाच मार्गों को 'पचाचार' कहा जाता है । यहा 'श्री प्रवचनसारोद्धार' ग्रन्थ के आधार पर उसका सक्षिप्त विवरण दिया जाता ह ।

१ ज्ञानाचार

१ काल आगमग्रन्था के अध्ययन के लिए शास्त्रकारो न काल निणय किया है, उस समय म ही अध्ययन करना ।

२ विनय ज्ञानी, ज्ञान के साधन आर ज्ञान का विनय करते हुए ज्ञानाजन करना ।

३ बहुमान ज्ञान ज्ञानी के प्रति चित्त म प्रीति धारण करना ।

४ उपधान जिन जिन सूत्रा के अध्ययन हतु शास्त्रकारा न जा तप करने का विधान बनाया है, वह तप करके ही शास्त्र का अध्ययन करना । उससे यथाथ रूप म सूत्र की शीघ्र धारणा हो जाती है ।

५ अनिह्नवन अभिमानादिवश या स्वय की शका म श्रुतगुरु का या श्रुत का अपलाप नही करना ।

६ व्यजन अक्षर-शब्द वाक्य का शुद्ध उच्चारण करना ।

---

(२) उर्ण—शब्द म च क्रियासु उच्चार्यमाणसूत्रवर्णलक्षण ।

(३) अथ — शब्दाभिधेयव्यवसाय ।

(४) आलम्बनम् — बाह्यप्रतिमादिविषयध्यानम् ।

(५) रहित — रूपिद्रव्यालम्बनरहिता निर्विकल्पचिन्मात्रसमाधिरूप ।

— योगविंशिकायाम्

७ अर्थ अक्षरादि से अभिधेय का विचार करना ।

८ उभय व्यंजन-अर्थ मे फेरफार किये बिना तथा सम्यक् उपयोग रखकर पढना ।

२ दर्शनाचार

१ निःशंकित जिनवचन मे संदेह न रखना ।

२ निःकांक्षित अन्य मिथ्यादर्शनो की आकांक्षा नहीं करना ।

३ निर्विचिकित्सा 'साधु मलीन है।' ऐसी जुगुप्सा नही करना।

४ अमूढता तपस्वी विद्यावंत कुतीर्थिक की ऋद्धि देखकर चलित नही होना ।

५ उपबृंहणा साधर्मिक जीवो के दान-शीलादि सद्‌गुणो की प्रशंसा करके, उनके सद्‌गुणो की वृद्धि करना ।

६ स्थिरीकरण धर्म से चलचित्त जीवो को हित–मित–पथ्य वचनो के द्वारा पुनः स्थिर करना ।

७ वात्सल्य साधर्मिको की भोजनवस्त्रादि द्वारा भक्ति व सन्मान करना ।

८ प्रभावना धर्मकथा, वादीविजय, दुष्कर तपादि द्वारा जिन-प्रवचन का उद्योत करना। (यद्यपि जिनप्रवचन स्वयं शाश्वत् जिनभाषित और सुरासुरो से नमस्कृत होने से उद्योतीत ही है, फिर भी स्वयं के दर्शन की निर्मलता हेतु, खुद के किसी विशेष गुण द्वारा लोगो को प्रवचन की ओर आकर्षित करना ।)

३ चारित्राचार

पाँच समिति [ईर्यासमिति, भाषासमिति, ऐषणासमिति, आदान-भंडमत्तनिक्षेपणासमिति और पारिष्ठापनिका समिति] तथा तीन गुप्ति [मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति] द्वारा मन-वचन–काया को भावित रखना ।

४. तपाचार

अनशन, उणोदरी, वृत्तिसंक्षेप, रसत्याग, कायक्लेश और संलीनता, इन छः बाह्य तपो द्वारा आत्मा को तपाना। [यह छः प्रकार का तप

वाह्य इसलिए कहा जाता है कि [१] वाह्य शरीर को तपाने वाला ह। [२] वाह्य लोक मे तपरुप प्रसिद्ध ह। [३] कुतीर्थिको न स्वमत से सेवन किया है ।]

प्रायश्चित्त, विनय, वयावृत्य, स्वाध्याय आर ध्यान, इन छ प्रकार के आभ्यतर तप स आत्मा को विशुद्ध करना ।

५ वीर्याचार

उपरोक्त चार आचारा मे मन वचन-काया का वीय [शक्ति] स्फुरित करके सुदर धमपुरुषाथ करना ।

इस प्रकार पचाचार का निमल रुप स पालन करने वाली आत्मा, मोक्षमाग की तरफ प्रगति करती ह आर अत म मोक्ष प्राप्त करती ह।

६ आयोजिका—करण
समुद्घात
योगनिरोध

'श्री पचसग्रह' ग्रथ के आधार पर आयोजिका-करण, समुद्घात तथा योगनिरोध का स्पष्टीकरण किया जाता ह ।

१ आयोजिका करण

सयोगी केवली गुणस्थान पर यह करण किया जाता है । केवली की दृष्टिरुप मर्यादा मे अत्यन्त प्रशस्त मन वचन-काया के व्यापार का 'आयोजिका करण' कहा जाता है । यह ऐसा विशिष्ट व्यापार होता है कि जिसके बाद म समुदघात तथा योगनिरोध की क्रियाए होती हैं ।

कुछ आचाय इस करण को 'आवर्जितकरण' भी कहते ह । अर्थात तथाभव्यत्वरुप परिणाम द्वारा मोक्षगमन की ओर सन्मुख हुई आत्मा का अत्यन्त प्रशस्त योगव्यापार ।

कुछ दूसरे आचाय इ। 'आवश्यककरण' कहते हैं । अर्थात् सब केवलियो को यह 'करण' करना आवश्यक होता ह । समुदघात की क्रिया सभी केवलियो के लिए आवश्यक नही होती ।

२. समुद्घात

-केवली को वेदनीयादि अघाती कर्म विशेष हो और आयुष्य कम हो तब उन दोनो को बराबर करने के लिए [वेदनीयादि कर्म आयुष्य के साथ ही भोगकर पूर्ण हो जावे उसके लिये] यह समुद्घात की क्रिया की जाती है।

प्रश्न बहुत काल तक भोगने मे आ सके ऐसे वेदनीयादि कर्मो का एकदम नाश करने से 'कृतनाश' दोष नही आता ? **समाधानः** बहुत समय तक फल देने के हेतु निश्चित हुए वेदनीयादि कर्म तथाप्रकार के विशुद्ध अध्यवसायरूप उपक्रम (कर्मक्षय के हेतु) द्वारा जल्दी मे भोग लिये जाते हैं। उसमे 'कृतनाश' दोष नही आता। हां, कर्मो को भोगे बिना ही नाश कर दे तब तो दोष लगे, यहा ये कर्म जल्दी से भोग लिये जाते है। कर्मो का भोग [अनुभव] दो प्रकार से होता है। [१] प्रदेशोदय द्वारा, [२] रसोदय द्वारा। प्रदेशोदय द्वारा सब कर्म भोगे जाते है। रसोदय द्वारा कोई भोगा जाता है और कोई नही भी भोगा जाता है। रसोदय द्वारा भोगने पर ही सब कर्मो का क्षय होता है, अगर ऐसा माना जाय, तो असख्य भवों मे, तथाप्रकार के विचित्र अध्यवसाय द्वारा नरकादि गतियो मे जो कर्म उपार्जित किए हैं, उन सब का मनुष्यादि एक भव मे ही अनुभव [भोग] नही हो सकता। क्योकि जिस-जिस गति योग्य कर्म बांधे हो, उनका विपाकोदय उस गति मे जाने पर ही होता है, तो फिर आत्मा का मोक्ष किस प्रकार हो ?

जब आयुष्य अन्तर्मुहूर्त बाकी हो, तब समुद्घात किया जाता है।

-पहले समय मे अपने शरीर प्रमाण और ऊर्ध्व-अधोलोक प्रमाण अपने आत्मप्रदेशो का दड करे।

दूसरे समय मे आत्मप्रदेशो को पूर्व-पश्चिम अथवा उत्तर-दक्षिण मे कपाट रुप बनाये।

❀ चेदायुष स्थितिर्न्यूना सकाशाद्वेद्यकर्मण ।
तदा तत्तुल्यता कर्तु समुद्घात करोत्यसौ ॥ —गुणस्थान क्रमारोह

❀ दण्ड प्रथमे समये कपाटमथ चोत्तरे तथा समये ।
मन्थानमथ तृतीये लोकव्यापी चतुर्थे तु ॥ २७४॥ — प्रशमरति प्रकरणे

तीसरे समय मे रचैया [मन्थान] रुप वनाय ।

चाथे समय मे आतराओ का पूरित करके सम्पूण १४ राजलाक व्यापी बन जाय ।

*पाँचवे समय मे आंतराआ का सहरण कर ले ।

छट्टे समय मे मन्थान का सहरण कर ले ।

सातवे समय मे कपाट का सहरण कर ले ।

आठवें समय मे दड को भी समेट कर आत्मा शरीरस्थ वन जाय।

३ योगनिरोध

समुद्‌घात से निवत्त केवली भगवान 'यागनिरोध के माग पर चलते ह । याग [मन-वचन-काया] के निमित्त होने वाले बध का नाश करन हतु योगनिराध करने म आता है । यह क्रिया अतमुहूत काल मे करन मे आती हैं ।

सबसे पहले बादर काययोग के बल स बादर वचनयाग का राघे, फिर बादर काययोग के आलम्बन से बादर मनायाग का राघे । उसके बाद उच्छवास–निश्वास का रोधे, तत्पश्चात् सूक्ष्म काययाग स बादर काययोग का राधे । [कारण कि जहा तक बादर याग हा वहाँ तक सूक्ष्म योग रोधे नही जा सकते ।]

उसके बाद सूक्ष्म काययोग से सूक्ष्म वचनयाग का राधे आर पीछे के समय मे सूक्ष्म मनोयोग का राघे । उसके बाद के समय मे काय-योग को रोधे ।

सूक्ष्म काययाग के अवरोघ की क्रिया करती हुई आत्मा 'सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाती' नाम के शुक्ल ध्यान के तीसरे भेद पर आरुढ हा जाय और १३ वें गुणस्थानक के चरम समयपयत जाय ।

सयोगी केवली गुणस्थानक के चरम समय म [१] सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाती ध्यान [२] मव क्रिट्टिया [३] शाता का बघ [४] नाम गोत्र की उदीरणा [५] शुक्ल लेश्या, [६] स्थिति-रस का घात आर [७] योग । इन सातो पदार्थों का एक साथ विनाश हा जाता ह, और आत्मा अयागी केवली बन जाती है ।

---

* सहरति पचम त्वन्तराणि मन्थानमथ पुन षष्ठे ।
सप्तमके तु कपाट सहरति तताऽष्टम दण्डम ॥ —प्रशमरति प्रकरणे

१०. चौदह गुणस्थानक

आत्मगुणो की उत्तरोत्तर विकास-अवस्थाओ को 'गुणस्थानक' कहा जाता है। ये अवस्थाए चौदह है। चौदह अवस्थाओ के अन्त मे आत्मा गुणो मे परिपूर्ण बनती है, अर्थात् अनन्तगुणमय आत्मस्वरूप प्रगट हो जाता है।

गुणविकास की इन अवस्थाओ के नाम भी उस-उस अवस्था के अनुरूप रखे गए है। [१] मिथ्यात्व [२] सास्वादन [३] मिश्र [४] सम्यग्दर्शन [५] देशविरति [६] प्रमत्त श्रमण [७] अप्रमत्त श्रमण [८] अपूर्वकरण [९] अनिवृत्ति [१०] सूक्ष्मलोभ [११] शान्त-मोह [१२] क्षीणमोह [१३] सयोगी [१४] अयोगी।

अब यहा एक-एक गुणस्थानक के स्वरूप का सक्षेप मे विचार करते है।

१ मिथ्यादृष्टि गुणस्थानक

तात्त्विक दृष्टि से जो परमात्मा नही, जो गुरु नही, जो धर्म नही, उसे परमात्मा-गुरु और धर्म मानना, वह मिथ्यात्व कहलाता है। परन्तु यह व्यक्त मिथ्यात्व कहलाता है। मोहरूप अनादि अव्यक्त मिथ्यात्व तो जीव मे हमेशा रहता है। वास्तव मे मिथ्यात्व यह गुण नही है, फिर भी 'गुणस्थानक' व्यक्त मिथ्यात्व की बुद्धि को अनुलक्षित करके कहा गया है।
[1]'व्यक्तमिथ्यात्वधीप्राप्तिर्गुणस्थानतयोच्यते।'

मिथ्यात्व का प्रभाव

मदिरा के नशे मे चकचूर मनुष्य जिस प्रकार हिताहित को नही जानता, उसी प्रकार मिथ्यात्व से मोहित जीव धर्म या अधर्म को नही समझता। विवेक नही कर सकता। धर्म को अधर्म तथा अधर्म को धर्म मान लेता है।

२. सास्वादन-गुणस्थानक

पहले औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त करने के बाद, अनतानुबधी कषायो मे से कीसी एक से जीव फिसलता है परन्तु मिथ्यात्व दशा को प्राप्त करने

ॐ 'गुणस्थानक्रमारोह' प्रकरणे श्लोक २-३-४-५

[1] व्यक्त मिथ्यात्व की प्राप्ति को गुणस्थान कहा जाता है।

मे उसे कुछ देर लगती है । [एक समय मे लेकर छ आवलिका तक] वहाँ तक वह सास्वादन कहा जाता है ।

'सास्वादन' का प्रभाव

यहा अति अल्पकाल म जीव औपशमिक सम्यक्त्व का रहा सहा आस्वादन करता है ।

जिस प्रकार खीर का भोजन करने पर उल्टी हो जाय, किन्तु उसके बाद भी उसकी डकारें आती है, उसी तरह यहा औपशमिक समकित से भ्रष्ट होने पर भी, जहा तक मिथ्यात्व दशा को प्राप्त न करे वहा तक औपशमिक सम्यक्त्व का आस्वादन रहता है ।

३ मिश्र-गुणस्थानक

मिथ्यात्वदशा के बाद ऊपर चढते हुए दूसरी दशा मिश्रगुणस्थानक की होती है । 'सास्वादन–गुणस्थानक' तो नीचे गिरते हुए जीव की एक अवस्था है । 'मिश्र' का अर्थ है सम्यक्त्व और मिथ्यात्व दोनो का मिश्रण, यह मिश्र–अवस्था मात्र एक अतमुहूर्त काल तक रहती है। आत्मा की यह एक विलक्षण अवस्था है । यहा जीव मे धर्म-अधर्म दोनो पर समबुद्धि से श्रद्धा होती है । 'गुणस्थानक–क्रमारोह' प्रकरण म कहा है —

> तथा धर्मद्वये श्रद्धा जायते समबुद्धित ।
> मिश्रोऽसौ भण्यते तस्माद् भावो जात्यतरात्मक ।।१५।।

मिश्रदृष्टि का प्रभाव

यहा आत्मा अतत्त्व का या तत्त्व का पक्षपाती नही होता । इस अवस्था म जीव परभव का आयुष्य नही बाधता है और मरता भी नही है ।

४ अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानक

स्वाभाविकता से या उपदेश से यथार्थ तत्त्वो म जीव की रुचि हो, वह सम्यक्त्व कहलाता है ।

> यथोक्तेषु च तत्त्वेषु रुचिर्जीवस्य जायते ।
> निसर्गादुपदेशाद्वा सम्यक्त्वं हि तदुच्यते ।।
>
> — श्री रत्नशेखरसूरि

'सम्यक्त्व' की महत्ता बताते हुए, उपाध्यायजी यशोविजयजी ने 'अध्यात्मसार' प्रकरण मे कहा है

'कनीनिकेव नेत्रस्य कुसुमस्येव सौरभम् ।
सम्यक्त्वमुच्यते सारः सर्वेषा धर्मकर्मणाम् ।।

'आँख मे जैसे पुतली, पुष्प मे जैसे सुगध, इसी प्रकार सब धर्म-कार्यो मे 'सम्यक्त्व' सारभूत है ।'

आत्मा की इस अवस्था मे अनन्तानुबधी कषायो का उदय नही होता है परन्तु अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय होता है । उसके प्रभाव से आत्मा कोई व्रत–नियम नही ले सकती । हालाकि यथोक्त तत्त्वो की रुचि जरुर होती है ।

सम्यक्त्व का प्रभाव

सम्यक्त्व का गुण आत्मा मे प्रगट होने के बाद प्रशम, सवेग, निर्वेद, अनुकपा और आस्तिक्य, ये पाच गुण आत्मा मे प्रगट हो जाते है ।

कृपा-प्रशम-सवेग-निर्वेदास्तिक्य-लक्षणा ।
गुणा भवन्ति यच्चित्ते, सःस्यात्सम्यक्त्वभूषितः ।।

श्री रत्नशेखरसूरि

यह समकिती आत्मा परमात्मा, सद्गुरु और सघ की सद्भक्ति करता है तथा परमात्मशासन की उन्नति करता है । भले ही उसमे कोई व्रत-नियम न हो । कहा है

देवे गुरौ च सघे च सद्भक्ति शासनोन्नतिम् ।
अव्रतोऽपि करोत्येव स्थितस्तुर्ये गुणालये ।।

५. देशविरति-गुणस्थानक

ॐ'सर्वविरति' गुण का आवारक प्रत्याख्यानावरण कषायो के उदय से यहा आत्मा, सर्व सावद्ययोग से कुछ अश तक विराम पाती है। (देश-अश मे, विरति-विराम प्राप्त करना ।) अर्थात् पापव्यापारो का सर्वथा त्याग नही करती है परन्तु कुछ अश तक त्याग करती है ।

ॐ सर्वविरतिरूप हि प्रत्याख्यानमावृण्वन्ति इति प्रत्याख्यानावरणा ।

— प्रवचनसारोद्धार

देशविरति का प्रभाव

यहा आत्मा अनेक गुणा मे युक्त हा जाती है । जिनेन्द्र-भक्ति, गुरु उपासना, जीवा पर अनुकम्पा, सुपात्रदान, सतशास्त्र-श्रवण, बारह व्रता का पालन, + प्रतिमाधारण वगरह बाह्य तथा अभ्यतर धम आराधना से आत्मा का जीवन शाभायमान होता है ।

६ प्रमत्तसयत गुणस्थानक

यहा अनतानुबधी, अप्रत्याख्यानावरण तथा प्रत्याख्यानावरण कषाया का उदय नही हाता । यहाँ 'सज्वलन' कषायों का उदय हाता है । उससे निद्रा विकथादि प्रमाद का प्रभाव आत्मा पर पडता है । इसलिए इस भूमिका मे रही हुई आत्मा का 'प्रमत्त सयत' कहा जाता है ।

श्री प्रवचन सारोद्धार' ग्रन्थ मे 'प्रमत्त सयत' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है

'सयच्छति स्म सवसावद्ययोगेभ्य सम्यगुपरमति स्मेति सयत । प्रमाद्यति स्म मोहनीयादिकर्मादयप्रभावत सज्वलनकषायनिद्राद्य यतम्-प्रमादयोगत सयमयोगेषु सीदति स्मेति प्रमत्त, स चासौ सयतश्च प्रमत्तसयत ।'

सव सावद्ययोगो स जा विराम पाता है, उसे 'सयत' कहते है । माहनीयादि कर्मों के उदय से तथा निद्रादि प्रमाद के याग स सयम-योगा म अतिचार लगाता है, इसलिये उसे प्रमत्त कहते है ।

सर्वविरति का प्रभाव

आत्मगुणा के विकास की यह एक उच्च भूमिका है । यहा आत्मा क्षमा-आजव-मादव शाच-सयम त्याग सत्य-तप ब्रह्मचय – आकिंचन्य, इन दस यतिधर्मों का पालन करती है । अनित्यादि भावनाओ स भावित हाकर विषयकषाया को वश म रखती है । सव पापा के त्यागरूप पवित्र जीवन जीती है । किसी भी जीव को वह दुःख नही देती है ।

७ अप्रमत्त सयत–गुणस्थानक

यहा सज्वलन कषाया का उदय मद हा जाने से निद्रादि प्रमाद

+ श्रावक की ११ प्रतिमाओ का वणन देखो पचाशक प्रकरण म ।

का प्रभाव रहता नहीं, इससे आत्मा अप्रमादी—अप्रमत्त, महाव्रती बन जाती है ।

प्रमाद का नाश हो जाने से आत्मा व्रत-शील. ..आदि गुणों से अलंकृत और ज्ञान-ध्यान की संपत्ति से शोभायमान बनती है ।

८ अपूर्वकरण गुणस्थानक

अभिनव पाँच पदार्थों के निर्वर्तन को 'अपूर्वकरण' कहा जाता है। ये पाँच पदार्थ इस प्रकार हैं— (१) स्थितिघात (२) रसघात (३) गुणश्रेणि (४) गुणसंक्रम और (५) अपूर्व स्थितिबंध ।

१ स्थितिघात ज्ञानावरणीयादि कर्मों की दीर्घ स्थिति का अपवर्तनाकरण से अल्पीकरण ।

२ रसघात कर्मपरमाणुओं में रही हुई स्निग्धता की प्रचुरता को अपवर्तना—करण से अल्प करना ।

यह स्थितिघात और रसघात पहले के गुणस्थानों में रहा जीव भी करता है। परन्तु उन गुणस्थानों में विशुद्धि अल्प होने से स्थिति-घात तथा रसघात अल्प करता है । यहाँ विशुद्धि का प्रकर्ष होने से अति विशाल-अपूर्व करता है ।

३ गुणश्रेणि ऐसे कर्मदलिकों को कि जिनका क्षय दीर्घकाल में होना है, उन कर्मदलिकों को अपवर्तनाकरण से विशुद्धि के प्रकर्ष द्वारा नीचे लाए, अर्थात् एक अन्तर्मुहूर्त में उदयावलिका के ऊपर, जल्दी क्षय करने के लिये, प्रतिक्षण असंख्य गुणवृद्धि से वह दलिकों की रचना करे ।

४ गुणसंक्रम बंधती हुई शुभ—अशुभ कर्मप्रकृति में अबध्यमान शुभाशुभ कर्मदलिकों को, प्रतिक्षण असंख्य गुणवृद्धि से डालना ।

५. अपूर्व स्थितिबंध अशुद्धिवश जीव पहले कर्मों की दीर्घ स्थिति बाँधता था, अब विशुद्धि द्वारा कर्मों की स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग में हीन-हीनतर-हीनतम बांधता है ।

+ अपूर्व-अभिनव करण-स्थितिघात-गुणश्रेणि-गुणसंक्रम—

स्थितिबंधाना पञ्चाना पदार्थाना निर्वर्तन यस्यासौ अपूर्वकरण ।

— प्रवचनसारोद्धारे

९ अनिवृत्ति बादरसंपराय-गुणस्थानक

एक समय मे अर्थात समान समय मे इस गुणस्थानक पर आये हुए सभी जीवो के अध्यवसाय-स्थान समान होते है। अर्थात आत्मा की यह एक ऐसी अनुपम गुण-अवस्था है कि इस अवस्था मे रहे हुए सभी जीवो के चित्त की एक-समान स्थिति होती है। अध्यवसायो की समानता होती है। परन्तु इस अवस्था का काल मात्र एक अन्तर्मुहूर्त होता है। शब्द व्युत्पत्ति इस प्रकार है बादर का मतलब स्थूल, सपराय का अर्थ कषायोदय। स्थूल कषायोदय निवृत्त नही हुआ हो ऐसी आत्मावस्था का नाम अनिवृत्तिबादरसपराय गुणस्थानक है।

इस गुणस्थान पर प्रथम समय मे आरंभ करके प्रति समय अनंत-गुण विशुद्ध अध्यवसायस्थान होते है, एक अन्तर्मुहूर्त मे जितना समय हो उतने अध्यवसाय के स्थान इस गुणस्थानप्राप्त जीवो के होते है।

इस गुणस्थान पर दो प्रकार के जीव होते हैं (१) क्षपक और (२) उपशमक।

१० सूक्ष्मसंपराय गुणस्थानक

सूक्ष्म लोभकषायोदय का यह गुणस्थानक है। अर्थात् यहा लोभ का उपशम हो जाता है अथवा क्षय कर दिया जाता है।

११ उपशान्तकषाय–वीतराग–छद्मस्थ गुणस्थानक

संक्रमण-उद्वर्तना-अपवर्तना वगैरह करणो द्वारा कषायो का विपाकोदय प्रदेशोदय दोनो के लिए अयोग्य बना दिया जाता है। अर्थात कषायो का ऐसा उपशम कर दिया जाता है कि यहा न तो उनका विपाकोदय आता है और न प्रदेशोदय।

इस गुणस्थान पर जीव के राग और द्वेष ऐसे शान्त हो गए होते हैं कि वह वीतरागी कहलाता है। उपशान्तकषायी वीतराग होता है।

१२ क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थानक

'क्षीणा कषाया यस्य स क्षीणकषाय' आत्मा मे अनादिकाल से रहे हुए कषायो का यहा सर्वथा क्षय हो जाता है।

१३ सयोगी केवली-गुणस्थानक

'केवल ज्ञान दर्शन च विद्यते यस्य सः केवली ।' जिसे केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन हो वह केवली होता है ।

'सह योगेन वर्तन्ते ते सयोगा-मनोवाक्काया. ते यस्य विद्यन्ते सः सयोगी ।' मन-वचन-काया के योगो से सहित हो वह सयोगी कहलाता है ।

केवलज्ञानी को गमनागमन, निमेष-उन्मेषादि काययोग होते है, देशनादि वचनयोग होता है । मन.पर्यायज्ञानी और अनुत्तर-देवलोकवासी देवों द्वारा मन से पूछे गये प्रश्नो का जवाब मन से देनेरूप मनोयोग होता है ।

इस सयोगी-केवली अवस्था का जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल देशोनपूर्वकोटि वर्ष होता है । जब एक अन्तर्मुहूर्त आयुष्य शेष रहता है तब वे 'योगनिरोध' करते है ।

योगनिरोध करने के बाद सूक्ष्मक्रिया-अनिवृत्ति नामका शुक्ल ध्यान ध्याते हुए शैलेशी मे प्रवेश करते है ।

१४ अयोगी केवली–गुणस्थानक

शैलेशीकरण का काल (समय) पाँच ह्रस्व स्वर के उच्चारण काल जितना होता है और यही अयोगी-केवली गुणस्थानक का काल है ।

शैलेशीकरण के चरम समय के पश्चात् भगवन ऊर्ध्वगति प्राप्त करते है । अर्थात् ऋजुश्रेणि मे एक समय मे ही लोकान्त मे चले जाते है ।

आत्मा की पूर्णता प्राप्त करने का यह गुणस्थानकों का यथावस्थित विकासक्रम है । अनत आत्माओ ने इस विकासक्रम से पूर्णता प्राप्त की है और अन्य जीव भी इसी विकासक्रम मे पूर्णता प्राप्त करेगे ।

११. नयविचार

+प्रमाण से परिच्छिन्न अनतधर्मात्मक वस्तु के एक अश को ग्रहण करने वाले (दूसरे अशों का प्रतिक्षेप किए विना) अध्यवसाय विशेष को 'नय' कहा जाता है ।

+ प्रमाणपरिच्छिन्नस्यानन्तधर्मात्मकस्य वस्तुन एकदेशग्राहिणस्तदितरांशाप्रतिक्षेपिणोऽध्यवसायविशेषा नया । — जैन तर्कभाषायाम्

प्रत्येक पदार्थ अनंत धर्मात्मक होता है। 'प्रमाण' एक पदार्थ को अनंत धर्मात्मक सिद्ध करता है। जब कि 'नय' उसी पदार्थ के अनंत धर्मों में से किसी एक धर्म को ग्रहण करता है और सिद्ध करता है। परन्तु एक धर्म का ग्रहण करते हुए अर्थात् प्रतिपादन करते हुए दूसरे धर्मों का खण्डन नहीं करता।

'प्रमाण' और 'नय' में यह भेद है। नय प्रमाण का एक देश (अंश)[1] है। जिस तरह से समुद्र का एक देश [अंश] समुद्र नहीं कहलाता उसी तरह असमुद्र भी नहीं कहलाता। इसी तरह नयों को प्रमाण नहीं कहा जा सकता तथा अप्रमाण भी नहीं कहा जा सकता।

[2]श्री 'आवश्यक सूत्र' की टीका में श्रीयुत मलयगिरिजी ने प्रतिपादन किया है कि 'जो नय नयान्तर सापेक्षता में 'स्यात्' पदयुक्त वस्तु का स्वीकार करता है, वह परमार्थ से परिपूर्ण वस्तु का स्वीकार करता है इसलिए उसका 'प्रमाण' में ही अन्तर्भाव हो जाता है। जो नयान्तर निरपेक्षता में स्वाभिप्रेत धर्म के आग्रह में वस्तु का ग्रहण करने का अभिप्राय धारण करता है वह 'नय' कहलाता है। क्योंकि वह वस्तु के एक अंश का ग्रहण करता है।

'नय' की यह परिभाषा नयवाद का मिथ्यावाद सिद्ध करती है। 'सव्वे नया मिच्छावाइणो' इस आगम की उक्ति में सभी नयों का वाद मिथ्यावाद है।

नयान्तर निरपेक्ष नय को महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज ने 'नयाभास' कहा है।

'श्रीसम्मतितर्क' में सिद्धसेनदिवाकरसूरिजी नयों के मिथ्यात्व तथा सम्यक्त्व का माध्यम इस प्रकार बताते हैं —

[1]यथा हि समुद्रैकदेशो न समुद्रो नाप्यसमुद्रस्तथा नया अपि न प्रमाणं नाप्रमाणमिति।

— [illegible]भाषायाम्

[2]यो नयो नयान्तरसापेक्षतया स्यात्पदलाञ्छितं वस्तु प्रतिपद्यते स परमार्थतः परिपूर्णं वस्तु गृह्णातीति प्रमाण एवान्तर्भवति यस्तु नयवादान्तरनिरपेक्षतया स्वाभिप्रेतेनैव धर्मेण अवधारणपूर्वकं वस्तु परिच्छेत्तुमभिप्रैति स नयः।

— आवश्यकसूत्र टीकायाम्

तम्हा सव्वे पि मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिवद्धा ।
अण्णोण्णणिस्सिया उण हवन्ति सम्मत्तसब्भावा ।। २१ ।।

'स्वपक्षप्रतिवद्ध सभी नय मिथ्यादृष्टि है । अन्योन्य सापेक्ष सभी नय समकित दृष्टि है ।'

दृष्टान्त द्वारा उपरोक्त कथन को समझाते हुए उन्होने कहा है –

जहऽणेयलक्खणगुणा वेरुलियाईमणी विसंजुत्ता ।
रयणावलिववएस न लहंति महग्घमुल्ला वि ।। २२ ।।

तह णिययवायसुविणिच्छिया वि अण्णोण्णपक्खनिरवेक्खा ।
सम्मद्दंसणसद्दं सव्वे वि णया ण पावंति ।। २३ ।।

'जिस प्रकार विविध लक्षणो से युक्त वैडूर्यादि मणि महान् कीमती होने पर भी, अलग-अलग हो वहाँ तक 'रत्नावलि' नाम प्राप्त नही कर सकते, उसी तरह नय भी स्वविषय का प्रतिपादन करने मे सुनिश्चित होने पर भी, जव तक अन्योन्यनिरपेक्ष प्रतिपादन करे वहा तक 'सम्यग्-दर्शन' नाम प्राप्त नही कर सकते, अर्थात् सुनय नही कहलाते ।

द्रव्यार्थिक नय-पर्यायार्थिक नय

प्रत्येक वस्तु के मुख्यरुप से दो अश होते है (१) द्रव्य और (२) पर्याय ।

वस्तु को जो द्रव्यरुप से ही जाने वह द्रव्यार्थिक नय और जो वस्तु को पर्यायरुप से ही जाने वह पर्यायार्थिक नय कहलाता है । मुख्य तो ये दो ही नय है । नैगमादि नय इन दोनो के विकल्प है । भगवंत तीर्थंकरदेव के वचनो के मुख्य प्रवक्ता रुप मे ये दो नय प्रसिद्ध है ।

'सम्मति तर्क' मे कहा है ।

तित्थयरवयणसंगह विसेसपत्थारमूलवागरणी ।
दव्वट्ठिओ य पज्जवणओ य सेसा वियप्पासि ।। ३ ।।

तीर्थंकर वचन के विषयभूत (अभिधेयभूत) द्रव्य-पर्याय है । उनका सग्रहादि नयो द्वारा जो विस्तार किया जाता है, उनके मूल वक्ता द्रव्या-र्थिक और पर्यायार्थिक नय है । नैगमादि नय उनके विकल्प है; भेद है ।

द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक नयो के मन्तव्यो का स्पष्ट प्रतिपादन करते हुए 'सम्मति-तर्क' मे कहा है –

उप्पज्जति वियति य भावा नियमेण पज्जवणयस्स ।
दव्वट्ठियस्स सव्व सया अणुप्पन्नमविणट्ठ ॥२१॥

पर्यायार्थिक नय का मतव्य है कि सब भाव उत्पन्न होते ह और नाश होते हैं अर्थात प्रतिक्षण भाव उत्पाद-विनाश के स्वभाव वाले ह । द्रव्यार्थिक नय कहता है कि सब वस्तुए अनुत्पन्न-अविनिष्ट ह अर्थात प्रत्येक भाव स्थिर स्वभाव वाला है ।

द्रव्यार्थिक नय के तीन भेद हैं– (१) नैगम (२) सग्रह और (३) व्यवहार । पर्यायार्थिक नय के चार भेद हैं (१) ऋजुसूत्र (२) शब्द (३) समभिरूढ (४) एवभूत ।

श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ऋजुसूत्र नय को द्रव्यार्थिक नय का भेद कहते हैं ।

नगम

सामान्य विशेपादि अनेक धर्मो का यह नय मान्यता देता है अर्थात् 'सत्ता' लक्षण महासामान्य, अवान्तर सामान्य द्रव्यत्व गुणत्व-धर्मत्व वगरह तथा समस्त विशेपो को यह नय मानता है ।

'सामान्य विशेपाद्यनेकधर्मोपनयनपरोऽध्यवसाय नगम'
—जन तर्कभाषा

यह नय अपने मन्तव्य को पुष्ट करते हुए कहता है –

'यद्यथाऽवभासते तत्तथाऽभ्युपगन्तव्यम यथा नील नीलतया ।'

जो जसा दिखाई दे उसे वैसा मानना चाहिये । नीले को नीला तथा पीले को पीला ।

धर्मी और धम को एकान्त रूप मे भिन्न मानने पर यह नय मिथ्या-दृष्टि है अर्थात् नगमाभास है । न्याय दर्शन तथा वैशेषिक दर्शन धर्मी-धम को एकान्त भिन्न मानते हैं ।

सग्रह

'सामान्यप्रतिपादनपर सग्रह नय'

यह नय कहता है सामान्य ही तत्व तात्विक है, विशेष नहीं ।

अशेष विशेष का अपलाप करते हुए सामान्यरूप में ही समस्त विश्व को यह नय मानता है।

[1]एकान्त से सत्ता अद्वैत को स्वीकार कर, सकल विशेष का निरसन करने वाला सग्रहाभास है, इस प्रकार महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज कहते हैं। सभी अद्वैतवादी दर्शन और साख्य दर्शन सत्ताअद्वैत को ही मानते हैं।

व्यवहार

विशेषप्रतिपादनपरो व्यवहारनयः। —श्रीमद् मलयगिरि

सामान्य का निरास करते हुए विशेष को ही यह नय मानता है। 'सामान्य' अर्थक्रिया के सामर्थ्य से रहित होने के कारण सकल लोक-व्यवहार के मार्ग मे नही आ सकता। व्यवहार नय कहता है कि 'यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसत्।' वही परमार्थ-दृष्टि से सत् है कि जो अर्थक्रियाकारी है। सामान्य अर्थक्रियाकारी नही है अतएव वह सत् नही है।

यह नय लोकव्यवहार का अनुसरण करता है। जो लोग मानते है उसे यह नय मानता है। जैसे लोग भ्रमर को काला कहते है। वास्तव मे भ्रमर पाच रगो वाला होता है। फिर भी काला वर्ण स्पष्ट रूप से उपलब्ध होता है, इससे लोग भ्रमर को काला कहते है। व्यवहार नय भी भ्रमर को काला कहता है।

स्थूल लोकव्यवहार का अनुसरण करनेवाला यह नय द्रव्य-पर्याय के विभाग को अपरमार्थिक मानता है, तब यह व्यवहाराभास कहलाता है। चार्वाक दर्शन इस व्यवहाराभास मे से ही उत्पन्न हुआ है।

ऋजुसूत्र

प्रत्युत्पन्नग्राही ऋजुसूत्रो नयविधिः। —आचार्य श्री मलयगिरिः

जो अतीत है वह विनष्ट होने से तथा जो अनागत है वह अनुत्पन्न होने से न तो वे दोनो अर्थक्रिया समर्थ है और न प्रमाण के विषय है। जो कुछ है वह वर्तमानकालीन वस्तु ही है। भले ही उस वर्तमानकालीन वस्तु के लिंग और वचन भिन्न हों।

---

[1]सत्ताद्वैत स्वीकुर्वाण सकलविशेषान् निराचक्षाण सग्रहाभास। — जैन तर्कभाषा

जैसे अतीत अनागत वस्तु नही है, उसी तरह जो परकीय वस्तु है वह भी परमार्थ मे असत् है, क्योंकि वह अपने किसी प्रयोजन की नहीं।

ऋजुसूत्र नय निक्षेपो में नाम स्थापना-द्रव्य भाव चारो निक्षेप मानता है।

मात्र वर्तमान पर्याय को माननेवाला और सर्वथा द्रव्य का अपलाप करने वाला 'ऋजुसूत्राभास' नय है। बौद्ध दर्शन ऋजुसूत्राभास में से प्रकट हुआ दर्शन है।

शब्द

इस नय का दूसरा नाम 'साम्प्रत' नय है। यह नय भी ऋजुसूत्र की तरह वर्तमानकालीन वस्तु को ही मानता है। अतीत-अनागत वस्तु को नही मानता। वर्तमानकालीन परकीय वस्तु को भी नही मानता।

निक्षेप मे केवल भावनिक्षेप को ही मानता है। नाम-स्थापना और द्रव्य-इन तीनो निक्षेपो को नहीं मानता।

इसी तरह लिंग और वचन के भेद से वस्तु का भेद मानता है, अर्थात् एकवचन वाच्य 'गुरु' का अर्थ अलग और बहुवचन वाच्य 'गुरव' का अर्थ अलग। इसी तरह पुल्लिग अर्थ नपुसकलिंग मे वाच्य नहीं और स्त्रीलिंग मे भी वाच्य नहीं। नपुसकलिंग-अर्थ पुल्लिग-वाच्य नहीं और स्त्रीलिंगवाच्य भी नही। ऐसा स्त्रीलिंग के लिए भी समझना।

यह नय अभिन्न लिंग-वचनवाले पर्याय शब्दो की एकार्थता मानता है। अर्थात् इन्द्र-शक्र-पुरन्दर वगैरह शब्द जिनके कि लिंग वचन समान है, उन शब्दो की एकार्थता मानता है। उनका अर्थ भिन्न भिन्न नही मानता।

'शब्दाभिधेयार्थप्रतिक्षेपी शब्दनयाभास ।'

शब्दाभिधेय अर्थ का प्रतिक्षेप (अपलाप) करने वाला नय शब्द-नयाभास कहलाता है।

समभिरूढ

शब्दनय तथा समभिरूढ नय मे एक भेद है। शब्दनय अभिन्न लिंग वचनवाले पर्याय शब्दो की एकार्थता मानता है॥ किन्तु समभिरूढ

नय पर्याय शब्दो की भिन्नार्थता मानता है। शब्द के व्युत्पत्ति–अर्थ को ही मानता है।

'पर्यायशब्देषु निरुक्तिभेदेन भिन्नमर्थं समभिरोहन् समभिरूढ.।'

—जैन तर्कभाषा

यह नय पर्यायभेद से अर्थभेद मानता है। पर्याय शब्दो के अर्थ मे रहे हुए अभेद की उपेक्षा करता है। इन्द्र, शक्र, पुरन्दर वगैरह शब्दो का अर्थ भिन्न–भिन्न करता है। उदाहरण

इन्दनादिन्द्रः, शकनाच्छक्र, पूर्दारणात् पुरन्दरः।

[1] एकान्ततः पर्यायि-शब्दो के अर्थ मे रहे हुए अभेद की उपेक्षा करने वाला नय मिथ्यानय, नयाभास कहलाता है।

एवंभूत

'शब्दानां स्वप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाविष्टमर्थं वाच्यत्वेनाभ्युपगच्छन्नेवम्भूतः।'

—जैन तर्कभाषा

किसी भी शब्द के जिस व्युत्पत्ति-अर्थ के अनुसार क्रिया मे परिणत पदार्थ हो वही उस शब्द से वाच्य बनता है।

उदाहरण. गौ' [गाय] शब्द का प्रयोग उस समय ही सत्य कहा जा सकता है जब कि वह गमनक्रिया मे प्रवृत्त हो, क्योंकि गौ शब्द का व्युत्पत्ति अर्थ है–'गच्छतीति गौ'।' गाय खडी हो कि बैठी हो, तब उसके लिये गौ [गाय] शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता, ऐसा यह नय मानता है।

इस प्रकार यह नय क्रिया मे अप्रवृत्त वस्तु को शब्द से अवाच्य मानता होने से मिथ्यादृष्टि है।

'क्रियानाविष्टं वस्तु शब्दवाच्यतया प्रतिक्षिपन्नेवंभूताभासः।'

—जैन तर्कभाषा

'क्रिया मे अप्रवृत्त वस्तु शब्दवाच्य नही है, ऐसा कहने वाला यह नय 'एवभूताभास' है।'

इस प्रकार सात नयो का स्वरूप सक्षेप से प्रस्तुत किया गया है। विशेष जिज्ञासावाले मनुष्य को गुरुगम से जिज्ञासा पूर्ण करनी चाहिये।

---

[1] पर्यायध्वनीनामभिधेयनानात्वमेव कक्षीकुर्वाण समभिरुढाभास। —जैन तर्कभाषा

निश्चयनय–व्यवहारनय

'तात्त्विकार्थाभ्युपगमपरस्तु निश्चय ।'

—जैन तवभापा

निश्चय नय तात्त्विक अथ का स्वीकार करता है। 'भ्रमर' को यह नय पचवण का मानता है । पाच वण के पुद्गलो से उसका शरीर बना हुआ होने से भ्रमर तात्विक दृष्टि से पाच वण वाला है । अथवा तो निश्चय नय की परिभापा इस प्रकार से भी की जाती है 'सवनयमतार्थग्राही निश्चय' सव नयो के अभिमत अथ को ग्रहण करने वाला निश्चय नय है ।

प्रश्न —सवनय अभिमत अथ को ग्रहण करते हुए वह प्रमाण कहलायेगा तो फिर नयत्व का व्याघात नही होगा ?

उत्तर —निश्चय नय सवनय-अभिमत अथ को ग्रहण करता है, फिर भी, उन-उन नयो के अभिमत स्व-अथ की प्रधानता को स्वीकार करता है, इसलिये उसका अ तर्भाव 'प्रमाण' मे नही होता ।

'लोकप्रसिद्धार्थानुवादपरो व्यवहार नय'

लागा म प्रसिद्ध अथ का अनुसरण करने वाला व्यवहार नय ही है। जिस प्रकार लोगो मे 'भ्रमर' काला कहा जाता है, तो व्यवहार नय भी भ्रमर को काला मानता है। अथवा 'एकनयमतार्थग्राही व्यवहार' किसी एक नय के अभिप्राय का अनुसरण करने वाला व्यवहार नय कहा जाता है ।

ज्ञाननय क्रियानय

'ज्ञानमात्रप्राधान्याभ्युपगमपरा ज्ञाननया ।' मात्र ज्ञान की प्रधानता मानने वाला ज्ञाननय कहलाता है ।

'क्रियामात्र-प्राधान्याभ्युपगमपराश्च क्रियानया ।' मात्र क्रिया की प्रधानता का स्वीकार करने वाला क्रियानय कहलाता है। ऋजुसूत्रादि चार नय चारित्ररूप क्रिया की ही प्रधानता मानते ह, क्योंकि क्रिया ही मोक्ष के प्रति अव्यवहित कारण है । 'शलेशी' क्रिया के बाद तुरत ही आत्मा सिद्धिगति को प्राप्त करती है ।

नैगम, संग्रह और व्यवहार, ये तीनों नय यद्यपि ज्ञानादि तीनों को मोक्ष का कारण मानते है, परन्तु तीनों के समुदाय को नहीं, ज्ञानादि को भिन्न-भिन्न रूप से मोक्ष के कारण रूप स्वीकार करते है। ज्ञानादि तीनों से ही मोक्ष होता है, ऐसा नियम ये नय नही मानते। अगर ऐसा माने तो वे नय, नय ही न रहे। नयत्व का व्याघात हो जाय।

यह ज्ञाननय-क्रियानय का संक्षिप्त स्वरूप है।

१२. ज्ञपरिज्ञा-प्रत्याख्यानपरिज्ञा

सम्यग् आचार की पूर्व भूमिका मे सम्यग्ज्ञान की आवश्यकता निश्चित रूप से मानी गई है। सम्यग्ज्ञान के विना आचार मे पवित्रता, विशुद्धि और मार्गानुसारिता नही आ सकती।

'पापो को जानना और परिहरना, मनुष्य का-साधक मनुष्य का यह आदर्श, साधक को पापमुक्त बनाता है। इस आदर्श को श्री 'आचाराग-सूत्र' मे 'ज्ञपरिज्ञा और प्रत्याख्यान परिज्ञा' की परिभाषा मे प्रस्तुत किया गया है। आचाराग सूत्र के प्रथम अध्ययन मे ही चार प्रकार की 'परिज्ञा' बताई गई है। (१) नाम परिज्ञा (२) स्थापना परिज्ञा (३) [1]द्रव्य परिज्ञा (४) भाव परिज्ञा। उसमे द्रव्य तथा भाव परिज्ञा के दो दो भेद बताए गये है . ज्ञपरिज्ञा तथा प्रत्याख्यानपरिज्ञा।

[2]पृथ्वीकायादि षट्काय के आरभ-समारभ को कर्मबध के हेतुरूप मे जानना यह ज्ञपरिज्ञा और उन आरम्भ-समारभ का त्याग करना, उसका नाम प्रत्याख्यानपरिज्ञा है। मुनि इन दोनो परिज्ञाओ से सर्व पाप-आचारो को जाने और उनका त्याग करे।

---

1 दव्व जाणण पच्चक्खाणे दविए उवगरणे।
भावपरिण्णा जाणण पच्चक्खाण च भावेण ॥३७॥
—आचाराग० प्र० अध्य० निर्युक्तिगाथा

2 पृथिवीविषया कर्मसमारम्भा खननकृष्याद्यात्मका कर्मबन्धहेतुत्वेन परिज्ञाता भवन्ति ज्ञपरिज्ञया तथा प्रत्याख्यानपरिज्ञया च परिहृता भवन्ति।
—आचाराग, प्र० अध्य० द्वि० उद्दे० सूत्र १८
शीलाङ्काचार्यटीकायाम्

भावपरिज्ञा का विशेष स्पष्टीकरण करते हुए श्री शीलाकाचार्यजी ने कहा है—

भावपरिज्ञा —'आगम' से ज्ञपरिज्ञा का ज्ञाता और उसमे उपयोग वाला आत्मा स्वयम। 'नो आगम' से ज्ञानक्रिया रूप इस अध्ययन अथवा ज्ञपरिज्ञा का ज्ञाता और अनुपयुक्त। प्रत्याख्यानपरिज्ञा भी इसी प्रकार समझना। विशेष मे, 'नो आगम' से प्राणातिपातनिवृत्ति त्रिविध-त्रिविध समझने की है।

१३. पचास्तिकाय

पाँच द्रव्यो का विश्व है। विश्व का ज्ञान करने के लिए पाच द्रव्यो का ज्ञान करना पडता है। विश्व[1] = पाच द्रव्य[2]।

[3]'द्रव्य' परिभाषा

१ 'सत्तालक्षणम् द्रव्यम्'—सत्ता जिसका लक्षण है, उस द्रव्य कहते हैं। यह परिभाषा द्रव्यार्थिक नय से करने मे आई है।

२ 'उत्पादव्ययध्रौव्यसयुक्त द्रव्यम्'-जो उत्पत्ति, विनाश तथा ध्रुवता से सयुक्त हो वह द्रव्य कहलाता है। यह व्याख्या पर्यायार्थिक नय से करने मे आई है।

३ 'गुणपर्यायवद् द्रव्यम्' गुण पर्याय का जो आधार है वह द्रव्य है। श्री तत्त्वार्थ सूत्र मे भी यह व्याख्या की गई है। (अध्याय ५, सूत्र ३७)

प्रथम व्याख्या के आधार पर बौद्धदर्शन की मान्यता का खडन हो जाता है। दूसरी व तीसरी व्याख्या के आधार पर साख्य व नैयायिक दर्शन का निरसन हो जाता है।

---

[1] 'जगच्छब्देन सकलधर्माधर्माकाशपुद्गलास्तिकायपरिग्रह ।

—श्री नन्दासूत्रटीकायाम्

[2] एते धर्मादयश्चत्वारो जीवाश्च पञ्चद्रव्याणि च भवन्ति ।

—तत्त्वार्थ भाष्य, अ० ५

[3] दव्व सल्लक्खणिय उप्पादव्ययधुवत्तसजुत्त ।
गुणपज्जयासय वा ज त भण्णति सव्वण्हू ॥१०॥

—पञ्चास्तिकाय

अनादिनिधन त्रिकालावस्थायी द्रव्य की उत्पत्ति या विनाश नही होता । उत्पत्ति और विनाश द्रव्य के पर्याय है । जैसे सोने के कड़े को तोडकर उसका हार बनाया जाता है, उसमे सोने का नाश नही होता, परतु सोने का जो कडे के रूप मे पर्याय (अवस्था) है, उसका नाश हो जाता है । उसी तरह सोने की उत्पत्ति नही होती परन्तु हाररूप पर्याय उत्पन्न हो जाता है । सोना (द्रव्य) तो कायम रहता है ।

[1]पर्याय से भिन्न द्रव्य नही और द्रव्य से भिन्न पर्याय नही । दोनो अनन्यभूत है । अर्थात् पर्याय की उत्पत्ति-विनाश, द्रव्य की उत्पत्ति और द्रव्य का नाश कहा जाता है ।

[2]**पंचास्तिकाय**

धर्मास्तिकाय
अधर्मास्तिकाय
आकाशातिकाय
जीवास्तिकाय
पुद्गलास्तिकाय

[3]'अस्ति' अर्थात् प्रदेश और 'काय' यानी समूह—अस्तिकाय है ।

धर्मास्तिकाय

स्वरूप :

धर्मास्तिकाय रस, वर्ण, गध, शब्द और स्पर्श से रहित है । अत. वह अमूर्त है । अवस्थित है, अरूपी है, निष्क्रिय है । असख्यप्रदेशात्मक है । लोकाकाशव्यापी है, अनादि–अनंत रुप से विस्तीर्ण है । धर्मास्तिकाय के प्रदेश सातर नही परन्तु निरन्तर है ।

---

[1] दव्व पज्जवविउय दव्वविउत्ता य पज्जवा णत्थि ।
उप्पायट्ठिइभगा हदि दवियलक्खण एय ॥१२॥ —सम्मति-तर्क
तुलना—पज्जयविजुद दव्व दव्वविजुत्ता य पज्जवा णत्थि ।
दोण्ह अणण्णभूद भाव समणा परूविति ॥ —पचास्तिकाय–प्रकरण

[2] पचास्तिकाया धर्माऽधर्माऽऽकाश–पुद्गलजीवाख्या ।
—तत्वार्थ—टीकाया, सिद्धसेनगणि ।

[3] अस्तय =प्रदेशा तेपा काय =सघातः अस्तिकाय
—अनुयोगद्वारसूत्रे, हेमचन्द्रसूरि

धम्मत्थिकायमरस अवण्णगध असद्दमप्फास ।
लोगागाढ पुट्ठ पिहुलमसखादियपदेस ॥८३॥ —पचास्तिकाय

काय

[1]गतिपरिणत जीव और पुद्गलो की गति मे सहकारी कारण है । जिस प्रकार सरोवर, सरिता, समुद्र मे रहे हुए मत्स्यादि जलचर जतुओ के चलने मे जल निमित्त-कारण बनता है । जलद्रव्य गति मे सहायक है, परन्तु इसका अर्थ यह नही कि मत्स्य को वह बलपूर्वक गति कराता है ।

सिद्ध भगवत उदासीन होने पर भी सिद्धगुण के अनुराग मे परिणत भव्य जीवो की सिद्धि मे सहकारी कारण बनते हैं, उसी तरह धर्मास्तिकाय भी स्वय उदासीन होने पर भी गतिपरिणत जीव-पुद्गल की गति मे सहकारी कारण बनता है ।

जिस प्रकार पानी स्वय गति किये बिना, मत्स्यो की गति मे सहकारी कारण बनता है, उसी तरह धर्मास्तिकाय स्वय गति किए बिना जीव-पुद्गलो की गति मे सहकारी कारण बनता है ।

अधर्मास्तिकाय

[2]जैसा स्वरुप धर्मास्तिकाय का है वैसा ही स्वरुप अधर्मास्तिकाय का है । कार्य मे भेद है । जीव पुद्गलो की स्थिति मे अधर्मास्तिकाय सहायक है । जिस प्रकार छाया पथिको की स्थिरता मे सहायक बनती है । अथवा जिस प्रकार पृथ्वी स्वय स्थिर रही हुई अश्वमनुष्यादि की स्थिरता मे बाह्य सहकारी हेतु बनती है । जीव पुद्गलो की स्थिति का उपादान कारण तो स्वकीय स्वरुप ही है । अधर्मास्तिकाय व्यवहार से निमित्त कारण है ।

आकाशास्तिकाय

[3]लोकालोकव्यापी अनन्त प्रदेशात्मक अमूर्त द्रव्य है । [4]आकाशा-

---

[1]उदय जह मच्छाण गमणाणुग्गहयर हवदि लोए ।
तह जीव पुग्गलाण धम्म दव्व वियाणेहि ॥८५॥ —पञ्चास्तिकाय

[2]जह हवदि धम्मदव्व तह त जाणेह दव्वमधम्मक्ख ।
ठिदिकिरियाजुत्ताण कारणभूद तु पुढवीव ॥ —पञ्चास्तिकाय

[3]लोकालोकव्याप्यनन्तप्रदेशात्मकोऽमूर्तद्रव्यविशेष । —अनुयोगद्वारटीका

[4]जीवा पुग्गलकाया धम्माधम्मा य लोगदोणण्णा ।
तत्तो अणण्णमण्ण आयास अतवदिरित्त ॥९१॥ —पचास्तिकाय

स्तिकाय से व्यतिरिक्त द्रव्य मात्र लोकाकाशव्यापी ही है, जब कि आकाशास्तिकाय लोक-अलोक दोनो मे व्याप्त है ।

धर्मास्तिकायादि चार अस्तिकायो को आकाश अवकाश देता है । अर्थात् धर्मास्तिकायादि चार अस्तिकाय लोकाकाश को अवगाहित करते हुए है ।

'अवगाहिना धर्मपुद्गलजीवानामवगाह आकाशस्योपकार ।'

—तत्त्वार्थभाष्य, अ ५ सू. १८

जीवास्तिकाय

जो जीता है, जियेगा और जिया है, वह जीव कहलाता है । 'जीवति जीविष्यन्ति, जीवितवन्त इति जीवा ' ससारी जीव दस प्राणो से जीता है, जिएगा और जिया है । पाच इन्द्रिय, मन-वचन और काया, आयुष्य और उच्छ्वास, ये दस प्राण है । प्रत्येक जीव असंख्यप्रदेशात्मक होता है । स्वदेहव्यापी होता है । अरूपी और अमूर्त होता है । अनुत्पन्न तथा अविनाशी होता है ।

'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' (तत्वार्थ, अ. ५, सू. २१)—अन्योन्य उपकार करना यह जीवो का कार्य है । हित के प्रतिपादन द्वारा और अहित के निषेध द्वारा जीव एक दूसरे पर उपकार कर सकते है । पुद्गल नही कर सकते ।

जीव का अतरग लक्षण है—उपयोग । 'उपयोगलक्षणो जीव ' ।

पुद्गलास्तिकाय

जिसका पूरण-गलन स्वभाव हो वह पुद्गल है । अर्थात् जिसमे हानि-वृद्धि हो, उसे पुद्गल कहा जाता है । पुद्गल परमाणु से लगाकर अनन्ताणुक स्कध तक होते है । [1]पुद्गल के चार भेद है । स्कध, देश, प्रदेश और परमाणु । पुद्गल रूपी है । जिसमे स्पर्श-रस-गध और वर्ण हो वह पुद्गल कहलाता है । 'स्पर्शरसगन्धवर्णवन्त. पुद्गला ' (तत्त्वार्थ, अ. ५. सू २३) पचास्तिकाय मे श्री कुन्दकुन्दाचार्यजी ने पुद्गल को पहचानने की रीति बताते हुए कहा है—

[1]खधा य खधदेसा खधपदेसा य होंति परमाणु ।
इति ते चदुव्वियप्पा पुग्गलकाया मुणेयव्वा ।।७४।। —पचास्तिकाय—प्रकरणे

उवभोज्जमिंदिए हि य इदिया काया मणो य कम्माणि ।
ज हवन्ति मुत्तमण्ण त सव्व पुग्गल जाणे ॥८२॥

'इन्द्रिया के उपभाग्य विषय, पाच इन्द्रिया, औदारिकादि पाच शरीर, मन और आठ प्रकार के ज्ञानावरणीयादि कम, जो कुछ भी मूत हैं, वह सब पुद्गल समझना' । श्री 'तत्त्वाथ सूत्र मे कहा है –

पञ्चविधानि शरीराण्यौदारिकादीनि वाङमन प्राणापानाविति पुदगलानामुपकार ।

–स्वोपन-भाष्ये, अ० ५, सू० १६

औदारिक, वक्रिय, आहारक, तजस आर कामण-ये पाच शरीर, वाणी, मन और श्वासोच्छ्वास, पुदगलो का उपकार है, अर्थात य पुदगलनिर्मित है ।

इस प्रकार पचास्तिकाय का स्वरूप और उसका काय सक्षेप म बताकर अब पचास्तिकाय की सिद्धि की जाती है ।

■ धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय के बिना जीव और पुद्गला की गति तथा स्थिति नही हो सकती । अगर धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय के बिना भी जीव-पुदगल की गति स्थिति हो सकती हो तो लोक की तरह अलोक मे भी जीव पुद्गल जाने चाहिये । अलोक अनत है । इस लोक म से निकलकर जीव-पुदगल अलोक म चले जायें और इस प्रकार लोक जीवशून्य तथा पुद्गलशून्य बन जाय । पर ऐसा कभी देखा गया है और न देखा ईष्ट है। इसलिये जीव और पुदगल की गति स्थिति की उपपत्ति हेतु धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय का अस्तित्व सिद्ध होता है ।

■ जीवादि पदार्थों का आधार कौन ? अगर आकाशास्तिकाय को नही मानते हैं तो जीवादि पदाथ निराधार बन जायेंगे । धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय जीवादि के आधार नही बन सकते । ये दोनो तो जीव-पुद्गल की गति स्थिति के नियामक हैं और दूसरे म साध्य काय तीसरा नहीं कर सकता । अत जीवादिको के आधार रूप मे आकाशास्तिकाय की सिद्धि होती है ।

■ प्रत्येक प्राणी मे ज्ञानगुण स्वसवेदनसिद्ध है । गुणी के बगर गुण का अस्तित्व कसे हो सकता है ?

प्र० स्वसंवेदनसिद्ध ज्ञानगुण का गुणी शरीर को मानो तो ?

उ० गुण के अनुरुप गुणी होना चाहिये । ज्ञान गुण अमूर्त और चिद्रुप है। सदैव इन्द्रियविषयातीत है। गुणी भी उसके अनुरूप होना चाहिये । वह जीव है, देह नही । जो अनुरूप न हो, अगर उसे भी गुणी माना जाय तो अनवस्था दोष आता है। तो फिर रुप-रसादि गुणो के गुणी के रुप मे आकाश को भी मान लेना चहिये ।

▪ घट. पटादि कार्यो से पुद्गलास्तिकाय का अस्तित्व तो प्रत्यक्ष ही है ।

१४. कर्मस्वरुप

अनादि अनत काल से जीव कर्मो से बधा हुआ है । जीव और कर्म का सबध अनादि है। इसमे जीव मे अज्ञान, मोह, इन्द्रियविकलता, कृपणता, दुर्बलता, चार गतियो मे परिभ्रमण, उच्च-नीचता, शरीरधारिता वगैरह अनत प्रकार की विचित्रता दृष्टिगोचर होती है ।

प्रत्येक जीव के कर्म अलग अलग होते है । अपने कर्म के अनुसार जीव सुख-दु ख और दूसरी विचित्रताओ का अनुभव करते है। जीवो के बीच ज्ञान, शरीर, बुद्धि, आयुष्य, वैभव, यश-कीर्ति वगैरह सैकडो बातो की विषमता का कारण कर्म है। कर्म कोई काल्पनिक वस्तु नही, परन्तु यथार्थ पदार्थ है और उसका पुद्गलास्तिकाय मे एक द्रव्यरूप मे समावेश है ।

[1]कर्म के मुख्य आठ भेद है । श्री प्रशमरतिप्रकरण मे कहा है

स ज्ञानदर्शनावरणवेद्य–मोहायुषा तथा नाम्न ।
गोत्रान्तराययोश्चेति कर्मबन्धोऽष्टधा मौल ॥३४॥

नाम	[2]अवातर–भेद
१–ज्ञानावरणीय	५
२–दर्शनावरणीय	९

[1] आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुष्कनामगोत्रान्तराया । तत्वार्थ अ० ८, सूत्र ५

[2] पञ्चनवद्वयष्टाविंशतिकश्चतु ष्ट्कसप्तगुणभेदा ।
द्विपञ्चभेद इति सप्तनवति भेदास्तथोत्तरत ॥३५॥ —प्रशमरतिप्रकरणे
पञ्चनवद्वयष्टाविंशतिद्विचत्वारिंशदद्विपञ्चभेदा यथाक्रमम् । —तत्वार्थ अ०८, सूत्र ६

३–वेदनीय	२
४–मोहनीय	२८
५–आयुष्य	४
६–नाम	४२
७–गोत्र	२
८–अतराय	५
	९७

प्रत्येक कम का आत्मा पर भिन्न भिन्न प्रभाव होता है ।

आत्मगुण	आवरण	प्रभाव
अनन्त केवलज्ञान	ज्ञानावरण	अज्ञानता
अनन्त दर्शन	दर्शनावरण	अधापन, निद्रा आदि
अनन्त सुख	वेदनीय	सुख दुःख
क्षायिक चारित्र	मोहनीय	क्रोधादि, हास्यादि पुरुषवेदादि, मिथ्यात्व
अक्षय स्थिति	आयुष्य	चारगति मे भ्रमण
अमूतता	नाम	शरीर, यश-अपयशादि तीर्थंकरत्वादि
अगुरुलघुता	गोत्र	उच्च-नीचता
अनन्तवीय	अतराय	कृपणता, दुबलता वगैरह

कमबन्ध

[1]ज्ञानावरणीयादि कम पुद्गलो से आत्मा का बधना अर्थात् परतन्त्रता प्राप्त करना उसे 'बध' कहते हैं । कमबध पुद्गल-परिणाम है । आत्मा का एक एक प्रदेश अनत-अनत पुद्गलो से बधा हुआ है । अर्थात् आत्मप्रदेश और कमपुद्गल अन्योन्य ऐसे मिल गये हैं कि दोनो का एकत्व हो गया है । जिस प्रकार से क्षीर और नीर का एकत्व हो जाता है ।

[1] बध्यते वा यनात्मा अस्वातन्त्र्यमापाद्यते ज्ञानावरणादिना स बध पुद्गल-परिणाम । —तत्त्वार्थ–टीकाया, श्री सिद्धसेनगणि

यह [1]कर्मबंध चार प्रकार से होता है :—(१) प्रकृतिबंध (२) स्थिति-बंध (३) अनुभागबंध (४) प्रदेशबंध ।

(१) कर्मपुद्गलो को ग्रहण कहना, कर्म और आत्मा की एकता 'प्रकृति बंध' कहलाता है। 'पुद्गलादान प्रकृतिबंध कर्मात्मनोरैक्यलक्षणः।' (तत्त्वार्थटीकायाम्)

[2](२) कर्मपुद्गलो का आत्मप्रदेशो मे अवस्थान वह स्थिति । अर्थात् कर्मो का आत्मा मे अवस्थानकाल का निर्णय होना वह 'स्थिति-बंध' कहलाता है। 'कर्मपुद्गलराशे. कर्त्रा परिगृहीतस्यात्मप्रदेशेष्ववस्थान स्थिति ।' (तत्त्वार्थ-टीकायाम्)

(३) शुभाशुभ वेदनीयकर्म के बंध के समय ही रसविशेष बंधता है, जिसका विपाक नामकर्म के गत्यादि स्थानो मे रहा हुआ जीव अनु-भव करता है ।

(४) कर्मस्कंधो को आत्मा के सर्व प्रदेशो से योगविशेष से (मन-वचन-काया के) ग्रहण करना, वह प्रदेशबंध होता है । अर्थात् कर्म-पुद्गलो का द्रव्यपरिणाम प्रदेशबंध मे होता है । 'तस्य कर्तु. स्वप्रदेशेषु कर्मपुद्गलद्रव्यपरिमाणनिरुपण प्रदेशबंध ।' (तत्त्वार्थ-टीकायाम्)

इस प्रकार संक्षेप मे कर्म का स्वरुप और कर्मबंध का स्वरूप बताया गया है । विशेष जिज्ञासु को 'कर्मग्रंथ' 'कर्म प्रकृति' 'तत्त्वार्थ सूत्र' आदि ग्रंथो का अवलोकन करना चाहिए ।

१५. जिनकल्प-स्थविरकल्प

श्री 'बृहत्कल्पसूत्र' आदि ग्रंथो मे विस्तार से जिनकल्प तथा स्थविर-कल्प का वर्णन देखने मे आता है ।

ये दोनो कल्प (आचार) साधु-पुरुषो के लिये है । गृहस्थो के लिये नही । दोनो कल्पो का प्रतिपादन श्री तीर्थंकर परमात्मा ने किया है । अर्थात् जिनकल्प का साधुजीवन और स्थविरकल्प का साधुजीवन

[2] 'प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशास्तद्विधय ।' तत्त्वार्थ, अ. ८, सूत्र ४

[3] इति कर्मण प्रकृतयो मूलाश्च तथोत्तराश्च निर्दिष्टा ।
तासा य स्थितिकालनिबन्ध स्थितिबन्ध उक्त स ॥ —तत्त्वार्थ—टीकायाम्

दोनो प्रकार के जीवन परमात्मा महावीरदेव ने बताए ह। दोना प्रकार के जीवन से मोक्षमाग की आराधना हा सक्ती है। दोना जीवा के बीच का अन्तर मुख्यतया एक है। जिनकल्प का साधुजीवन मात्र उत्सगमाग का अवलबन लेता है। स्थविरकल्प का साधुजीवन उत्सग-माग और अपवादमाग दोनो का अवलबन लेता है। अर्थात् जिनकल्पी मुनि अपवाद माग का अनुसरण नही करते। स्थविरकल्पी मुनि अनु-सरण करते हैं। अपवादमाग का अनुसरण करनेवाले मुनि भी आराधक हैं। तात्पय यह कि मोक्षमाग की आराधना के लिए मुख्य रूप से ये दा प्रकार के ही जीवन है।

प्रस्तुत मे जिनकल्प का स्वरूप श्री वृहत्कल्पसूत्र ग्रथ के आधार पर दिया जाता है

जिनकल्प स्वीकार की पूव तयारी

जिनकल्प स्वीकार करने वाला मुनि अपनी आत्मा को इस प्रकार तयार करे। तयारी म पाच प्रकार की भावनाओ से आत्मा का भावित करे।

(१) तपो भावना
(२) सत्त्व भावना
(३) सूत्र भावना
(४) एकत्व भावना
(५) बल भावना

तप भावना

१ धारण किया हुआ तप जहाँ तक स्वभावभूत न हो जाय वहाँ तक उसका अभ्यास न छोड।

२ एक-एक तप वहाँ तक करे कि जिसमे विहित अनुष्ठान की हानि न हो।

३ शुद्ध प्रासुक आहार नही मिले तो छ महिने तक भूखा रहे, परन्तु दोषित आहार न ले।

ॐ इस प्रकार तप से वह अल्पाहारी वने, इन्द्रियो को स्पर्शादि विपयो से दूर रखे, मधुर आहार मे नि सग वने, इन्द्रियविजेता वने ।

सत्त्व भावना

इस भावना मे मुनि 'पाँच प्रतिमाओ' का पालन करे ।

ॐ जनशून्य....मलिन.. .तथा अन्धकारपूर्ण उपाश्रय मे निद्रा का त्याग कर कायोत्सर्ग-ध्यान मे खडा रहकर भय को जीतकर निर्भय वने । उपाश्रय मे फिरनेवाले चूहे, विल्ली आदि द्वारा होने वाले उपसर्गो से भय प्राप्त न करे, भाग न जाए ।

ॐ उपाश्रय के वाहर रात्रि के समय कायोत्सर्गध्यान मे खडा रह कर चूहे, विल्ली, कुत्ते तथा चोरादि के भय को जीते ।

ॐ जहाँ चार मार्ग मिलते हो, वहाँ जाकर रात्रि के समय ध्यान मे रहे । पशु, चोरादि के भय को जीते ।

ॐ खण्डहर. . शून्यघर मे जाकर रात्रि के समय ध्यान मे स्थिर रहकर उपद्रवो से डरे नही और निर्भय रहे ।

ॐ श्मशान मे जाकर कायोत्सर्ग ध्यान मे खडा रहे और सविशेप भयो को जीते ।

इस प्रकार सत्त्व भावना से अभ्यस्त होने से दिन मे या रात मे, देव-दानव से भी नही डरे और जिनकल्प का निर्भयता से वहन करे ।

सूत्र भावना

काल का प्रमाण जानने के लिये वह ऐसा श्रुताभ्यास करे कि खुद के नाम जैसा अभ्यास हो जाय । सूत्रार्थ के परिशीलन द्वारा, वह अन्य सयमानुष्ठानो के प्रारभकाल तथा समाप्तिकाल को जान ले । दिन और रात के समय को जान ले । कव कौन सा प्रहर और घडी चल रही है, वह जान ले । आवश्यक, भिक्षा, विहार ... आदि का समय छाया नापे विना जान ले ।

सूत्र भावना से चित्त की एकाग्रता, महान् निर्जरा वगैरह अनेक गुणो को वह सिद्ध करता है ।

'सुयभावणाए नाणं दंसण तवसजम च परिणमइ'

—वृहत्कल्प० गाथा १३४४

एकत्व भावना

ससारवास का ममत्व तो मुनि पहले ही छोड देता है, परन्तु साधु-जीवन मे आचार्यादि का ममत्व हो जाता है । अत जिनकल्प की तयारी करने वाला महात्मा आचार्यादि के साथ भी सस्निग्ध अवलोकन, आलाप, परस्पर गोचरीपानी का आदान-प्रदान, सूत्राथ के लिए प्रतिपृच्छा, हास्य, वार्तालाप वगरह त्याग दे । आहार, उपधि और शरीर का ममत्व भी न करे । इस प्रकार एकत्व भावना द्वारा ऐसा निर्मोही बन जाय कि जिनकल्प स्वीकार करने के बाद स्वजनो का वध होता हुआ देखकर भी क्षोभ प्राप्त न करे ।

बल भावना

०मनोबल से स्नेहजनित राग और गुणबहुमानजनित राग, दोनो का त्याग दे ।

०धतिबल से आत्मा को सम्यग्भावित कर ।

इस प्रकार महान सात्विक, धयसपन, आत्सुक्यरहित, निष्प्रकपित बनकर परिषह उपसग को जीतकर वह अपनी प्रतिज्ञा का पूण करता है । 'सर्वं सत्वे प्रतिष्ठितम्'—सब सिद्धि सत्व से मिलती है ।

इस प्रकार पाच भावनाओ से आत्मा को भावित करके जिन-कल्पिक के समान बनकर गच्छ मे ही रहते हुए द्विविध परिकम करे ।

१ आहार परिकम

२ उपधि परिकम

[1]सात पिण्डपणा मे से पहली दो को छोडकर बाकी की पाच पिण्ड-पणा मे भिक्षा ग्रहण करे । उसमे भी विविध प्रकार के अभिग्रह धारण करे । अलेपकृत आहार ग्रहण करे, अन्तप्रान्त और रूक्ष आहार ग्रहण करे ।

उपधिपरिकम मे वस्त्र और पात्र की चार प्रतिमाओ म से प्रथम दो त्याग दे और अतिम दो ग्रहण करे ।

---

[1]सात पिण्डपणा

अमसटठा सगट्ठा उद्दडा अप्पलेवा, उग्गमहिआ, पग्गहिया उज्झियधम्मति ।

—आचारागसूत्रे २ श्रुतस्कधे

'उत्कुटुक' आसन का अभ्यास करे, क्योंकि जिनकल्प में 'औपग्रहिक' उपधि नहीं रखी जाती, इसलिये बैठने का आसन नहीं होता और साधु आसन बिछाये बिना सीधा भूमि-परिभोग नहीं कर सकता, इससे उत्कुटुक (उभडक) आसन से ही जिनकल्पिक रहता है। अत इसका अभ्यास पहले कर लेना चाहिए।

जिनकल्प–स्वीकार

प्रशस्त द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव देखकर, सघ को इकट्ठा कर (अगर वहाँ सघ न हो तो स्व-गण के साधुओं को इकट्ठा कर) क्षमापना करे। परमात्मा तीर्थंकर देव के सान्निध्य मे अथवा तीर्थंकर न हो तो गणधर के सान्निध्य मे क्षमापना करे।

जइ कि चि पमाएण न सुट्ठु मे वट्टिय मइ पुव्वि।
त भे खामेमि अह निस्सल्लो निक्कसाओ अ॥

'निशल्य और निष्कपाय बनकर मै, पूर्व में प्रमाद से जो कोई तुम्हारे प्रति दुष्ट कार्य किया हो, उसकी क्षमा मागता हूँ।'

अन्य साधुओ से आनन्दाश्रु बहाते हुए भूमि पर मस्तक लगाकर क्षमापना करे।

※साधु को दस प्रकार की समाचारी मे से जिनकल्पी को (१) आवश्यिकी (२) नैषेधिकी (३) मिथ्याकार (४) आपृच्छा और (५) गृहस्थविषयक उपसपत्, ये पाँच प्रकार की समाचारी ही होती है।

※जिनकल्प स्वीकार करने वाले साधु को नववे पूर्व की तीसरी वस्तु तक का ज्ञान तो अवश्य होना ही चाहिए। उत्कृष्ट कुछ न्यून दस पूर्व।

※पहला सघयण (वज्रऋषभनाराच) होना चाहिये।

※बिना दीनता के उपसर्ग सहन करे।

※अगर रोग-आतक पैदा हो तो उसको सहन करे। औषधादि चिकित्सा न करावे।

※लोच, आतापना, तपश्चर्या वगैरह की वेदना सहन करे।

※जिनकल्पी अकेले ही रहे और विचरे।

ॐ 'अनापात-असलोक' स्थडिल भूमि पर मलोत्सग करे। जल से शुद्धि न करे। जलशुद्धि की जरूरत ही नही पडती है। मल से वाह्य भाग लिप्त ही नही हाता।

१ जिस स्थान मे रहे वहा चूहे वगैरह का बिल हा तो वद न करे। नमति स्थान का खाते हुए पशुआ को न राके। द्वार के किवाड बद न करे। साकल नही लगावे।

स्थान (उपाश्रयादि) का मालिक अगर किसी प्रकार की शत करके उतरने के लिय स्थान देता हो नो उस स्थान म नहीं रहे। किसी का सूक्ष्म भी अप्रीति हो जाय ता उस स्थान का त्याग कर दे।

जिस स्थान पर वलि चढती हा, दीपक जलाने मे आते हा, अगार-ज्वालादि का प्रकाश पडता हो अथवा उम स्थान का मालिक कोई काम वताता हा, उस स्थान मे जिनकल्पिक न रह।

तीसरी पोरसी मे भिक्षाचर्या करे। अभिग्रह धारण करे।

भिक्षा अलेपकृत ले मूग चन वगरह।

जिस क्षेत्र (गाव) मे रहे, उसके छ विभाग करे। प्रतिदिन एक एक विभाग मे भिक्षा के लिए जावे। उससे आधाकर्मी दोप वगरह नही लगते।

ॐ एक बस्ती मे अधिक से अधिक सात जिनकल्पिक रह। परतु परम्पर सभापण न करें। एक दूसरे की भिक्षा की गली का त्याग करें।

७ जिनकल्प स्वीकार करने वाले का जन्म कमभूमि म हाना चाहिये। देवादि द्वारा सहरण होने पर अकमभूमि मे भी हा सकता है।

७ अवसर्पिणी म तीसरे-चौथे आरे मे जन्मा हो।

सामायिक छेदोपस्थानीय चारित्र मे रहा हुआ मुनि जिनकल्प स्वीकार कर सकता है।

१ महाविदह क्षेत्र म सामायिक चारित्र म रहा हुआ स्वीकार करता है।

२ परमात्मा धर्मतीर्थ की स्थापना करे, उसके वाद ही जिनकल्प स्वीकार करे।

- जिनकल्प स्वीकार करते समय कम से कम उम्र २९ वर्ष की होनी चाहिये। साधुता का पर्याय कम से कम २० वर्ष का होना चाहिये। उत्कृष्टकाल देशोनपूर्वकोटी।

- नया श्रुताभ्यास नही करे। पूर्वोपार्जित श्रुतज्ञान का एकाग्र मन से स्मरण करे।

जिनकल्प पुरुष ही स्वीकार कर सकता है। अथवा कृत्रिम नपुसक लिंगी भी स्वीकार कर सकता है।

- जिनकल्पी का वेश जिनकल्प स्वीकार करते समय साधु का हो। भाव भी साधु के हो। पीछे से बाह्यवेश चोरादि द्वारा ले लिया जाय तो नग्न रहे।

- जिनकल्प स्वीकारते समय तेजो-पद्म-शुक्ल तीन शुभ लेश्या हो। पीछे से छःओं लेश्याए हो सकती है। परन्तु कृष्ण-नील-कापोत लेश्या अति संक्लिष्ट नही होती और अधिक समय नही रहती।

- जिनकल्प स्वीकारते हुए प्रवर्द्धमान धर्मध्यान नही होता। पीछे से आर्त्तध्यान-रौद्रध्यान भी हो सकता है कर्म की विचित्रता से! परन्तु शुभ भावो की प्रवलता होने से आर्त्त-रौद्रध्यान के अनुबंध प्राय. नही पडते।

- एक समय में जिनकल्प स्वीकारने वाले अधिक से अधिक दो सौ से नौ सौ हो सकते है।

- जिनकल्पियो की उत्कृष्ट संख्या दो हजार से नौ हजार तक हो सकती है।

- अल्पकालिक अभिग्रह जिनकल्पी को नही होते। 'जिनकल्प' स्वय ही जिन्दगी का महान् अभिग्रह है।

- जिनकल्पी किसी को दीक्षा नही देता है। अगर उन्हे ज्ञान द्वारा दिखाई पडे कि 'यह दीक्षा लेने वाला है', तो उपदेश दे और सविग्न गीतार्थ साधुओ के पास भेज देवे।

- मन से भी अगर सूक्ष्म अतिचार लग जाय तो प्रायश्चित १२० उपवास आता है।

- ऐसा कोई कारण नही जिससे अपवादपद का सेवन करना पड़ता हो।

- आँख का मल भी दूर नही करे। चिकित्सादि नहीं करावे।

६ तीसरी पारसी म आहार विहार करे । शेपकाल म कायोत्सग ध्यान में रहे ।

. जघाबल क्षीण हो जाय, विहार न कर सके तो भी एक क्षेत्र मे रहते हुए दोप न लगने देवें और अपने कल्प का अनुपालन करें ।

~ स्थविरकल्पी मुनि पुष्टालबन मे अपवाद माग का भी आसेवन करे । स्थविरकल्पी मुनि गुरुकुलवास म रहें आर गच्छवास की मर्यादाओ का पालन करे ।

१६ उपसर्ग-परिसह

उपसग का अथ है कष्ट, आपत्ति ।

जब श्रमण भगवान महावीर देव ने ससारत्याग किया था तब इन्द्र न प्रभु स प्राथना की थी

"प्रभो ! तवोपसर्गा भूयास सन्ति ततो द्वादशवर्षो यावत् वया वृत्यनिमित्त तवान्तिके तिष्ठामि !"

'हे प्रभो ! आपको अनेक उपसग हैं इसलिए बारह वष तक म वैयावृत्त्य (सेवा) के लिए आपके पास रहता हूँ ।

[1]भगवान को उपसग आये अर्थात् कष्ट हुए । ये उपसग तीन वर्गों से आते हैं। १ देव २ मनुष्य ३ तियच। इन तीन की तरफ से दो प्रकार के उपसग होते हैं १ अनुकूल २ प्रतिकूल

(१) भोग-सभोग की प्राथना आदि अनुकूल उपसग हैं ।

(२) मारना, लूटना, तग करना आदि प्रतिकूल उपसग हैं ।

शास्त्रीय भाषा मे अनुकूल उपसग को 'अनुलोम उपसग' कहते हैं आर प्रतिकूल उपसग को 'प्रतिलोम उपसग' कहते हैं ।

जिनको अतरग शत्रु काम क्रोध-लोभ आदि पर विजय प्राप्त करने की साधना करनी हो उन्हे ये उपसग समता भाव स सहन करने चाहिए । भगवान महावीर ऐसे उपसग सहकर ही वीतराग-सवज्ञ बने थे ।

---

1 [illegible]

—कल्पसूत्र [illegible] ११८

परिसह :

मोक्ष मार्ग मे स्थिर होना और कर्मनिर्जरा के लिए सम्यक् सहन करने को परिसह कहते है । परन्तु यह परिसह जीवन की स्वाभाविक परिस्थितियो मे से उत्पन्न हुए कष्ट होते है । परिसह मे कोई देव, मनुष्य या तिर्यच के अनुकूल-प्रतिकूल हमले नही होते हैं। परिसह का उद्भवस्थान मनुष्यो का स्वय का मन होता है । वाह्य निमित्तो को प्राप्त कर मन मे उठता हुआ क्षोभ है । ये परिसह २२ प्रकार के है। 'नवतत्व प्रकरण' आदि ग्रन्थो मे इनका स्पष्ट वर्णन मिलता है ।

(१)	क्षुधा	भूख लगना ।
(२)	पिपासा	प्यास लगना ।
(३)	शीत	सर्दी लगना ।
(४)	ऊष्ण	गर्मी लगना ।
(५)	दश	मच्छरो आदि से तकलीफ ।
(६)	अचेल	जीर्ण वस्त्र पहनना ।
(७)	अरति	सयम मे अरुचि ।
(८)	स्त्री	स्त्री को देखकर विकार होना ।
(९)	चर्या	उग्र विहार ।
(१०)	नैपेधिकी	एकान्त स्थान मे रहना ।
(११)	शय्या	ऊची नीची खड्डे वाली जमीन पर रहना ।
(१२)	आक्रोश	दूसरों का क्रोध या तिरस्कार होना ।
(१३)	वध	प्रहार होना ।
(१४)	याचना	भिक्षा मागना ।
(१५)	अलाभ	इच्छित वस्तु नही मिलना ।
(१६)	रोग	रोग की पीडा होना ।
(१७)	तृणस्पर्श	सथारे पर विछाये हुए घास का स्पर्श ।
(१८)	मल	शरीर पर मैल (कचरा) जमना ।
(१९)	सत्कार	मान-सम्मान मिलना ।
(२०)	प्रज्ञा	बुद्धि का गर्व ।
(२१)	अज्ञान	ज्ञान प्राप्त नही होना ।
(२२)	सम्यक्त्व	जिनोक्त तत्त्व मे सदेह करना ।

[1] इन परिसहो मे विचलित नही होना । सम्यक् भाव से सहन करना । साधुजीवन मे आनवाले इन विघ्ना का समताभाव से सहन करना चाहिए । इससे माक्षमाग मे स्थिरता प्राप्त होती है और कर्मा की निजरा होती है ।

१७. पाच शरीर

इस विश्व मे जीवो का शरीर सिफ एक तरह का ही नही है । चार गतिमय इस विश्व मे पाच प्रकार के शरीर होते हैं। य पाच भेद शरीर के आकार के माध्यम से नही ह परन्तु शरीर जिन पुद्गलो स बनता है, इन पुद्गलो के वण के माध्यम से है ।

यहा शरीर के अगा का विवेचन 'विचारपचाशिका' नामक ग्रथ के आधार से किया गया है ।

शरीर के नाम

(१) औदारिक
(२) वैक्रिय
(३) आहारक
(४) तैजस
(५) कामण

शरीर की बनावट

पांच प्रकार के द्रव्या मे एक द्रव्य है पुद्गलास्तिकाय । ये पुद्गल चादह राजलाक मे व्याप्त हैं । इनकी २६ वगणायें (विभाग) हैं । इसम जावनोपयागी केवल ८ वगणायें हैं। इसमे जा 'औदारिक वगणा' है, उससे औदारिक शरीर बनता है। 'वैक्रिय वगणा' के पुद्गलो मे वैक्रिय शरीर बनता है। 'आहारक वगणा' के पुद्गला से 'आहारक शरीर' बनता है । तजस वगणा के पुद्गला से तैजस शरीर बनता है आर कामण वगणा के पुद्गलो से कामण शरीर बनता है। जस मिट्टी के पुद्गला से

1 मार्गाच्यवननिजराथ परिषाढव्या परिषहा ॥ ८ ॥
क्षुत्पिपासाशीतोष्णदशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याऽऽक्रोशवधयाचना
लाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानि ।

। । तत्त्वार्थसूत्र

मिट्टी के घड़े बनते है, सोने के पुद्‌गलो मे सोने का घड़ा और चादी के पुद्‌गलो से चादी का घड़ा बनता है, उसी तरह इन पुद्‌गलो मे उनके अनुरूप शरीर बनता है ।

किसका कौन सा शरीर होता है :

- तिर्यंच एव मनुष्य का औदारिक शरीर होता है ।
- देव और नारकीय जीव का वैक्रिय शरीर होता है । (वैक्रिय लब्धिवाले तिर्यच और मनुष्य को भी वैक्रिय शरीर होता है ।)
- चौदह पूर्व के ज्ञानी मनुष्यो का आहारक शरीर होता है ।
- सर्व गति के सर्व जीवो का तैजस और कार्मण शरीर होता है ।

शरीरो का प्रयोजन

■ औदारिक शरीर मे सुख-दु:ख का अनुभव करना, चारित्र धर्म का पालन करना और निर्वाण प्राप्त करने का कार्य होता है ।

■ वैक्रिय शरीर वाले जीव अपना स्थूल एव सूक्ष्म अनेक रूप कर सकते है । शरीर लम्बा या छोटा बना सकते है ।

■ आहारक शरीर, चौदह पूर्वधर ज्ञानी पुरुष आवश्यकता होती है तब ही बनाते है । आहारक वर्गणा के पुद्‌गलो को ज्ञानबल से खीचकर यह शरीर बनाते है । वे इस शरीर के माध्यम से महाविदेह क्षेत्र मे जाते है, वहा तीर्थकर भगवंतो से अपने संशयो का निराकरण करते है, फिर शरीर का विसर्जन कर देते है ।

■ तैजस शरीर खाये हुए आहार का परिपाक करता है । इस शरीर के माध्यम से शाप दे सकते है और आशीर्वाद भी दे सकते है ।

■ कार्मण शरीर द्वारा जीव एक भव से दूसरे भव मे जाता है ।

इन पाचो शरीर से आत्मा की मुक्ति हो तब ही आत्मा सिद्ध हुआ, ऐसा कह सकते है । मुक्त होने का पुरुषार्थ औदारिक शरीर से होता है ।

१८. बीस स्थानक तप

'कर्मणा तापनात् तप.' कर्मो को तपावे–नष्ट करे उसे तप कहते है । ऐसे तरह तरह के तप शास्त्रो मे बताये गये है । तीर्थकर नामकर्म बंधाने वाला मुख्य तप बीस स्थानक की आराधना का तप है ।

नीचे के सात स्थानो मे अनुराग, गुण-स्तुति और भक्ति-सेवा, ये आराधना करनी होती है ।

(१) **तीर्थंकर** अष्ट प्रातिहार्य की शोभा के योग्य ।

(२) **सिद्ध** सब कर्मरहित, परम सुखी और कृत-कृत्य ।

(३) **प्रवचन** द्वादशागी और चतुर्विध सघ ।

(४) **गुरु** यथावस्थित शास्त्रार्थ कहने वाले । धर्म-उपदेश आदि देने वाले ।

(५) **स्थविर** वयस्थविर (६० वर्ष से ज्यादा)
श्रुत स्थविर (समवायाग तक के ज्ञाता)
पर्याय स्थविर (२० वर्ष का दीक्षित)

(६) **बहुश्रुत** जो महान ज्ञानी हो ।

(७) **तपस्वी** अनेक प्रकार के तप करने वाले तपस्वी मुनि ।

(८) **निरतर ज्ञानोपयोग** हर समय ज्ञान का उपयोग ।

(९) **दर्शन** सम्यग् दर्शन ।

(१०) **विनय** ज्ञान आदि का विनय ।

(११) **आवश्यक** प्रतिक्रमणादि दैनिक धर्मक्रिया ।

(१२-१३) **शील-व्रत** शील यानी उत्तर गुण, व्रत यानी मूलगुण ।

(१४) **क्षण-लव-समाधि** क्षण, लव आदि काल के नाम है । अमुक समय निरतर सवेगभावित होकर ध्यान करना ।

(१५) **त्याग समाधि** त्याग दो प्रकार के हैं, द्रव्य त्याग और भाव त्याग ।

अयोग्य आहार, उपधि आदि का त्याग और सुयोग्य आहार-उपधि आदि साधुजनो को वितरण । यह द्रव्य त्याग है । क्रोध आदि अशुभ भावो का त्याग और ज्ञान आदि शुभ भावो का साधुजनो को वितरण-यह भावत्याग है । इन दोनो तरह के त्याग मे शक्ति अनुसार निरतर प्रवृत्ति करनी चाहिए ।

(१६) **तप समाधि** बाह्य-आभ्यतर बारह प्रकार के तप मे शक्ति अनुसार प्रवृत्ति करनी चाहिए ।

(१७) **दसविध वैयावच्च** · आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, ग्लान, शैक्षक, कुल, गुण, सघ और सार्धमिक आदि की १३ प्रकार से वैयावच्च करनी चाहिए । (१) भोजन (२) पानी (३) आसन (४) उपकरण-पडिलेहण (५) पाद-प्रमार्जन (६) वस्त्र-प्रदान (७) औपध प्रदान (८) मार्ग मे सहायता (९) दुष्टो से रक्षण (१०) दड (डडा) ग्रहण (११) मात्रक–अर्पण (१२) सज्ञामात्रक अर्पण, और (१३) श्लेष्ममात्रक अर्पण ।

(१८) **अपूर्व ज्ञानग्रहण** नया नया ज्ञान प्राप्त करना ।

(१९) **श्रुतभक्ति** ज्ञानभक्ति ।

(२०) **प्रवचनप्रभावना** जिनोक्त तत्त्वो का उपदेश आदि देना ।

पहले और अतिम तीर्थंकर ने (ऋषभदेव और महावीर स्वामी) इन वीस स्थानको की आराधना की थी । मध्य के २२ तीर्थंकरो मे से किसी ने दो, किसी ने तीन किसी ने सव स्थानको की आराधना की थी । (— प्रवचनसारोद्धार द्वार १० के अनुसार)

वीस स्थानक तप की आराधना की प्रचलित विधि निम्न प्रकार है ।

▪ एक एक स्थानक की एक एक ओली की जाती है । एक ओली २० अट्ठम की होती है । अट्ठम (३ उपवास) करने की शक्ति न हो तो २० छठ्ठ (दो उपवास) करके ओली हो सकती है । अगर यह भी शक्ति न हो तो २० उपवास, २० आयविल या २० एकासणा करके भी ओली हो सकती है ।

▪ एक ओली ६ महिनो मे पूर्ण करनी चाहिए ।

▪ ओली की आराधना के दिन पौषधव्रत करना चाहिए । सब पदो की आराधना मे पौषधव्रत नही कर सकते है तो पहले सात पद की ओली मे तो पौषधव्रत करना ही चाहिए । पौपध की अनुकूलता न हो तो देशावगासिक व्रत (८ सामायिक और प्रतिक्रमण) करे ।

▪ ओली के दिनो मे प्रतिक्रमण, देव वदन, ब्रह्मचर्य पालन, भूमि-शयन आदि नियमो का पालन करना चाहिए । हिंसामय व्यापार का त्याग, असत्य और चोरी का त्याग.. प्रमाद का त्याग करना चाहिए ।

▪ २० स्थानक की २० ओली पूर्ण करने पर महोत्सव कर, प्रभावना करें, उजमणा करके इस महान तप की आराधना पूर्ण होने का आनंद व्यक्त करें।

▪ अगर ६ महिना मे एक ओली न हो तो वापिस ओली चालू करनी पडती है।

▪ हर एक ओली के दिन जिनेश्वर भगवान के समक्ष स्वस्तिक, खमासमण और काउसग्ग करना चाहिए। हर एक पद की २० नवकार-वाली गिननी चाहिए।

▪ ये सब क्रिया करके उन पद के गुणो का स्मरण चिंतन करके आनंदित होना चाहिए।

जाप का पद	स्वस्तिक	खमासमण	काउ लो	नवकार वाली
ॐ नमो अरिहंताण	१२	१२	१२	२०
ॐ नमो सिद्धाण	३१	३१	३१	२०
ॐ नमो पवयणस्स	२७	२७	२७	२०
ॐ नमो आयरियाण	३६	३६	३६	२०
ॐ नमो थेराण	१०	१०	१०	२०
ॐ नमो उवज्झायाण	२५	२५	२५	२०
ॐ नमो लोए सव्वसाहूण	२७	२७	२७	२०
ॐ नमो नाणस्स	५१	५१	५१	२०
ॐ नमो दसणस्स	६७	६७	६७	२०
ॐ नमो विणयसपन्नस्स	५२	५२	५२	२०
ॐ नमो चारित्तस्स	७०	७०	७०	२०
ॐ नमो बभवयधारिण	१८	१८	१८	२०
ॐ नमो किरियाण	२५	२५	२५	२०
ॐ नमो तवस्स	१२	१२	१२	२०
ॐ नमो गोयमस्स	११	११	११	२०
ॐ नमो जिणाण	२०	२०	२०	२०
ॐ नमो सयमस्स	१७	१७	१७	२०
ॐ नमो अभिनवनाणस्स	५१	५१	५१	२०
ॐ नमो सुयस्स	२०	२०	२०	२०
ॐ नमो तित्थस्स	३८	३८	३८	२०

'बीस स्थानक पद पूजा' तथा 'विधिप्रपा' आदि ग्रंथो मे यह विधि-सकलित की गई है।

१९. उपशम श्रेणी

'अप्रमत्तसयत' गुणस्थानक मे रही हुई आत्मा उपशम श्रेणी का प्रारभ करती है। इस श्रेणी मे 'मोहनीय कर्म' की उत्तर प्रकृतियो का क्रमश उपशम होता है, इसलिए इसको 'उपशम श्रेणी' कहा जाता है।

दूसरा मत यह है कि अनतानुबधी कषाय का उपशमन अप्रमत्त-सयत ही नही परतु अविरत, देश-विरत, प्रमत्त-सयत, अप्रमत्त-सयत भी कर सकते है।

परतु दर्शनत्रिक (सम्यक्त्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय, मिथ्यात्व मोहनीय) का उपशमन तो सयत ही कर सकता है, यह सर्वसम्मत नियम है।

अनंतानुबंधी कषाय का उपशमन :

- ४-५-६-७ गुणस्थानको मे से किसी एक गुणस्थानक मे रहता है।
- तेजोलेश्या, पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या मे से किसी एक लेश्यावाला।
- मन, वचन, काया के योगो मे से किसी योग मे वर्तमान।
- साकार उपयोग वाला।
- अन्त कोडाकोडी सागरोपम स्थितिवाला।
- श्रेणी के करण-काल पूर्व भी अन्तर्मुहूर्त काल तक विशुद्ध चित्तवाला।
- परावर्तमान प्रकृतिया (शुभ) बाधनेवाला।

प्रति समय शुभ प्रकृति मे अनुभाग की वृद्धि और अशुभ प्रकृति मे अनुभाग की हानि करता है। पहले कर्मो की जितनी स्थिति बाधता था अब उन कर्मो की पहले के स्थितिबध की अपेक्षा पल्योपम के असख्यातवे भाग न्यून स्थिति बांधता है।

इस तरह अन्तर्मुहूर्त पूर्ण होने के बाद यथाप्रवृत्ति-करण, अपूर्व-करण और अनिवृत्तिकरण करता है। हर एक करण का समय अन्त-र्मुहूर्त होता है। फिर आत्मा उपशमकाल मे प्रवेश करती है।

यथाप्रवृत्तिकरण मे व्यवहार करती आत्मा (प्रति समय उत्तरोत्तर अनतगुण विशुद्ध होने से) शुभ प्रकृतियो के रस मे अनत गुनी वृद्धि

करते है । अशुभ प्रकृति के रस मे हानि करत हैं, पूव स्थितिबध की अपेक्षा स पल्योपम क असख्यात भाग न्यून न्यून स्थितिबध करता है । परतु यहा स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि या गुणसक्रम नही होता है, क्योकि उसके लिए आवश्यक विशुद्धि का अभाव हाता है।

अतमुहूत के बाद अपूवकरण करता है । यहाँ स्थितिघात आदि पाचो होते हैं । अपूवकरणकाल समाप्त होन के बाद अनिवत्तिकरण हाता ह, इसम भी स्थितिघातादि पाचो होते ह । इसका काल भी अन्तमुहूर्त का ही हाता है। इस अनिवत्तिकरण का सख्यात भाग बीतने पर जब एक भाग बाकी रहता है तब अतरकरण करता है। अनतानुबधी कषाय के एक आवलिका प्रमाण निषेको को छोडकर ऊपर के निषेको का अतरकरण करता है । अतरकरण के दलिका को वहाँ से उठा उठा कर बध्यमान अन्य प्रकृतियो मे डालता है, और नीचे की स्थिति जो एक आवलिका प्रमाण हाती है उसके दलिक का भोगी जा रही अन्य प्रकृति मे 'स्तिबुक सक्रम' द्वारा डालकर भोगकर क्षय करता ह ।

अतरकरण के दूसरे समय मे अतरकरण की ऊपर की स्थिति वाले दलिको का उपशम करते हैं । पहले समय मे कुछ दलिका का उपशम करते है, दूसरे समय मे असख्यात गुना, तीसरे समय मे उससे असख्यातगुना । इस प्रकार प्रति समय असख्यातगुना असख्यातगुना दलिका का उपशम करते हैं। अतमुहूत पूण होते ही सपूण अनतानुबधी कषायो का उपशम हाता ह ।

उपशम की व्याख्या

धूल के ऊपर पानी डालकर घन क द्वारा कूटन से जैसे धूल जम जाती है इसी तरह कर्मो पर विशुद्धिरूप जल छीटकर अनिवत्तिकरणरूपी घन द्वारा कूटने से जम जाती है । यही उपशम कहलाता है। उपशम होने के बाद उदय, उदीरणा, निधत्ति, निकाचना आदि करण नही लग सकते हैं अर्थात् उपशम हुए कर्मो का उदय उदीरणा आदि नही होते है।

अन्य मत

कुछ आचाय अनतानुबधी कषाय का उपशमन नही मानते है, परन्तु विसयोजना या क्षपण ही मानते है ।

दर्शनत्रिक का उपशमन :

क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि आत्मा (संयम मे रहते हुए) एक अन्तर्मुहूर्त काल मे दर्शनत्रिक, (समकित मोहनीय, मिश्र मोहनीय, मिथ्यात्व मोहनीय) का उपशमन करते है। उपशमन करते हुए–पूर्वोक्त तीन करण करते हुए बढती विशुद्धि वाला अनिवृत्तिकरण काल के असंख्य भाग के बाद अन्तरकरण करता है। अन्तरकरण मे सम्यक्त्व की प्रथम स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण करता है और मिथ्यात्व—मिश्र की आवलिका प्रमाण स्थिति करता है। इसके बाद तीनो प्रकृति के अन्तर्मुहूर्त प्रमाण अंतरकरण के दलिक को वहाँ से उठा उठा कर सम्यक्त्व की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण प्रथम स्थिति मे डालता है। मिथ्यात्व और मिश्र का एक आवलिका प्रमाण जो प्रथम स्थितिगत दलिक है उसे स्तिबुक संक्रम द्वारा सम्यक्त्व की प्रथम स्थिति मे संक्रमण कराता है। सम्यक्त्व के प्रथम स्थितिगत दलिको को भोगकर क्षय करता है। इस तरह क्रमश दर्शनत्रिक का क्षय होने के उपरान्त उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करता है। दर्शनत्रिक की उपर्युक्त स्थिति मे रहे हुए दलिको का उपशमन करता है। इस प्रकार दर्शनत्रिक का उपशमन करते हुए प्रमत्त–अप्रमत्त गुणस्थानक मे सैकडो बार आवागमन करता हुआ वापिस चारित्र मोहनीय का उपशमन करने के लिए प्रवृत्त होता है।

चारित्र मोहनीय का उपशमन :

चारित्र मोहनीय कर्म का उपशमन करने के लिए पुनः तीन करण करने पड़ते है। उसमे यह विशेष है कि यथाप्रवृत्तिकरण अप्रमत्त गुणस्थानक मे होता है। अपूर्वकरण अपूर्वकरण गुणस्थानक मे होता है। अपूर्वकरण मे स्थितिघातादि पाचो कार्य होने के बाद अनिवृत्तिकरण गुणस्थानक मे अनिवृत्तिकरण करता है। यहाँ भी पूर्वोक्त पाचो कार्य होते है।

अनिवृत्तिकरण– काल के सख्यात भाग बीत जाने के बाद मोहनीय कर्म की २१ प्रकृतियो का अतरकरण करता है। (दर्शन सप्तक के अलावा २१ प्रकृति) वहाँ जो वेद और सज्वलन कषाय का उदय हो उसके उदयकाल प्रमाण प्रथम स्थिति करता है। शेष ११ कषाय और ८ नोकषाय की आवलिका–प्रमाण प्रथम स्थिति करता है।

अंतरकरण करके अंतर्मुहूर्त काल मे नपुसकवेद का उपशमन करता है। उसके बाद अंतर्मुहूर्त काल मे स्त्रीवेद का उपशमन करता है। उसके बाद अंतर्मुहूर्त मे हास्यादि षटक का शमन करता है और उसी समय पुरुषवेद के बंध-उदय और उदीरणा का विच्छेद होता है। इसके उपरांत दो आवलिका काल मे (एक समय कम) सम्पूर्ण पुरुषवेद का विच्छेद करता है।

फिर अन्तर्मुहूर्त काल मे एक साथ ही अप्रत्याख्यानावरण क्रोधकषाय का उपशमन करता है। ये उपशांत होते ही उसी समय सज्वलन क्रोध के बंध-उदय-उदीरणा का विच्छेद होता है। इसके बाद आवलिका (एक समय कम) मे सज्वलन क्रोध का उपशमन करता है। काल के इस क्रम से ही अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरण मान का एक साथ ही उपशमन करता है। फिर सज्वलन मान का उपशमन करता है। (बंध-उदय उदीरणा का विच्छेद करता है।)

इसके उपरांत वह लोभ का वेदक बनता है।

लोभवेदनकाल के तीन विभाग है

(१) अश्वकर्ण-करण काल

(२) किट्टिकरण-काल

(३) किट्टिवेदन-काल

(१) प्रथम विभाग मे सज्वलन लोभ की दूसरी स्थिति से दलिका को ग्रहण कर प्रथम स्थिति बनाता है और वेदन करता है। अश्वकर्ण करण काल मे रहा हुआ जीव प्रथम समय मे ही अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और सज्वलन- इन तीनो लोभ का एक साथ उपशमन प्रारम्भ करता है। विशुद्धि मे चढता हुआ जीव अपूर्व स्पर्धक करता है। इसके बाद सज्वलन माया का समयन्यून दो आवलिका काल मे उपशमन करता है। इस तरह अश्वकर्ण करण समाप्त होता है।

(२) किट्टिकरण-काल मे पूर्व स्पर्धक और अपूर्व स्पर्धको मे से द्वितीय स्थिति मे रहे हुए दलिको को लेकर प्रति समय अनंत किट्टियाँ करता है। किट्टीकरण काल के चरम-समय मे एक साथ अप्रत्याख्याना-

वरण-प्रत्याख्यानावरण लोभ का उपशमन करता है। यह उपशमन होते ही सज्वलन लोभ के वध का विच्छेद होता है और वादर सज्वलन लोभ के उदय-उदीरणा का विच्छेद होता है। इसके उपरान्त जीव सूक्ष्म सपरायवाला वनता है।

(३) किट्टिवेदन-काल दसवे गुणस्थानक का काल है। (अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल है।) यहाँ दूसरी स्थिति से कुछ किट्टिया ग्रहण करके सूक्ष्म सपराय के काल जितनी प्रथम स्थिति वनाता है और वेदन करता है। समयन्यून दो आवलिका मे वधे हुए दलिक का उपगमन करता है। सूक्ष्म सपराय के अन्तिम समय मे सपूर्ण सज्वलन लोभ उपशान्त होता है। आत्मा उपशान्तमोही वनती है।

उपशान्तमोह-गुणस्थानक का जघन्यकाल एक समय का है और उत्कृष्टकाल अन्तर्मुहूर्त का है, इसके वाद वे अवश्य गिरते है।

पतन .

उपशान्तमोही आत्मा का पतन दो तरह से होता है।

(१) आयुष्य पूर्ण होने से मृत्यु होती है और अनुत्तर देवलोक मे अवश्य जाते है। देवलोक मे उन्हे प्रथम समय मे ही चौथा गुणस्थानक प्राप्त होता है।

(२) उपशान्तमोह-गुणस्थानक का काल पूर्ण होने से जो जीव गिरे-वह नीचे किसी भी गुणस्थानक मे पहुँच जाता है। दूसरे सास्वादन गुणस्थानक में होकर पहले मिथ्यात्व गुणस्थानक मे भी जाता है।

उपशम श्रेणी कितनी वार ?

■ एक जीव को समस्त ससारचक्र मे पाच वार उपशम श्रेणी की प्राप्ति होती है।

■ एक जीव एक भव मे ज्यादा से ज्यादा दो वार उपशम श्रेणी प्राप्त कर सकता है। परन्तु जो दो वार उपशम श्रेणी पर चढता है वह इसी भव मे क्षपक श्रेणी प्राप्त नही कर सकता है। यह मतव्य कर्मग्रन्थ के रचयिता आचार्यो का है। आगमग्रन्थो का मत है कि एक भव मे एक ही श्रेणी प्राप्त कर सकता है। उपशम श्रेणी प्राप्त करनेवाला क्षपक श्रेणी उसी भव मे प्राप्त नही कर सकता है।

'मोहोपशमो एकस्मिन् भवे द्वि स्यादसतत ।
यस्मिन् भवे तूपशम क्षयो मोहस्य तत्र न ।।"

वेदोदय और श्रेणी

■ ऊपर जो उपशम श्रेणी का वणन किया गया है वह पुरुषवेद के उदय होने पर श्रेणी प्राप्त करने वाली आत्मा को लेकर किया गया है।

जो आत्मा नपुसक वेद के उदय मे श्रणी माडता है वह सवप्रथम अनतानुवधी और दशनत्रिक का ता उपशमन करता ही ह । परतु स्त्रीवेद या पुरुषवेद के उदय मे श्रणी माँडने वाला आत्मा जहा नपुसक वेद का उपशमन करता है, वहा नपुसक वेद मे श्रेणी माडने वाला आत्मा भी नपुसक वेद का ही उपशमन करता है। इसके वाद स्त्रीवेद और नपुसक्वेद-दोनो का उपशमन करता है। यह उपशमन नपुसक्वेद के उदयकाल के उपान्त्य समय तक होता है। वहा स्त्रीवेद का पूर्णरूपण उपशमन होता है। आगे सिफ नपुसकवेद की एक समय की उदय स्थिति शेष रहती है, वह भी भोगने पर आत्मा अवेदक वनती है। इसके वाद पुरुषवेद वगरह ७ प्रकृति का एक साथ उपशमन करना चालू करता हे।

■ जो आत्मा स्त्रीवेद के उदय मे श्रेणी माडता है वह दशन त्रिक के वाद नपुसकवेद का उपशमन करता है, इसके वाद चरम समय जितनी उदय स्थिति को छोडकर स्त्रीवद के शेष दलिको का उपशमन करता है। चरम समय का दलिक भोगकर क्षय हाने के वाद अवेदी वनता है। अवेदक वनने के वाद पुरुषवेद आदि ७ प्रकृति का उपशमन करता है।

२०. चौदह पूर्व

पूवप दसख्या	विवरण
१ उत्पाद ११ क्रोड पद	जिसमे 'उत्पाद के आधार पर सव द्रव्य और सव पर्याया की प्ररूपणा की गई है।
२ आग्रायणीय ६६ लाख पद	जिसमे सव द्रव्य, सव पर्याय आर जीवो के परिमाण का वणन किया गया है।
३ वीय प्रवाद ७० लाख पद	जिसमे जीव आर अजीवा के वीय का वणन किया गया है। [अग्र परिमाण, अयनम्-परिच्छेद अथात् ज्ञान]

४ अस्ति नास्ति प्रवाद ६० लाख पद	जो खरशृंगादि पदार्थ विश्व मे नही है और जो धर्मास्तिकायादि पदार्थ है, उनका वर्णन इस पूर्व मे है । अथवा हर एक पदार्थ का स्व-रुपेण अस्तित्व और पर-रुपेण नास्तित्व प्रतिपादन किया है ।
५. ज्ञान प्रवाद १ क्रोड पद [एक कम]	इस पूर्व मे पाच ज्ञान के भेद-प्रभेद, उनका स्वरुप आदि का वर्णन किया गया है ।
६ सत्य प्रवाद १ क्रोड ६ पद	सत्य यानी सयम, उसका विस्तृत वर्णन इस पूर्व मे किया गया है ।
७. आत्म प्रवाद २६ क्रोड पद	अनेक नयो द्वारा आत्मा के अस्तित्व का और आत्मा के स्वरुप का इस पूर्व मे वर्णन है ।
८. कर्म प्रवाद १ क्रोड ८० लाख पद	ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मो के बन्ध, उदय, सत्ता आदि का इसमे भेद-प्रभेद के साथ वर्णन है।
९ प्रत्याख्यान प्रवाद ८४ लाख पद	प्रत्याख्यान (पच्चक्खाण) का भेद-प्रभेद के साथ इस पूर्व मे वर्णन किया है ।
१०. विद्या प्रवाद ११ क्रोड १५ हजार पद	विद्याओ की साधना की प्रक्रियाये और उससे होने वाली सिद्धियो का वर्णन इस पूर्व मे है।
११ कल्याण प्रवाद २६ क्रोड पद	ज्ञान, तप आदि शुभ योगो की सफलता और प्रमाद, निद्रा आदि अशुभ योगो के अशुभ फल का वर्णन ।
१२. प्राणायु १ क्रोड ५६ लाख पद	इस पूर्व मे जीव के दस प्राणो का वर्णन और जीवों के आयुष्य का वर्णन किया गया है।
१३, क्रिया विशाल ९ क्रोड पद	इस पूर्व मे कायिकी आदि क्रियाओ का उनके भेद-प्रभेद के साथ वर्णन किया गया है।
१४. लोक बिन्दुसार १२॥ क्रोड पद	जैसे श्रुतलोक मे अक्षर के ऊपर रहा हुआ बिन्दु श्रेष्ठ है उसी तरह 'सर्वाक्षर सन्निपात लब्धि' प्राप्त करने के इच्छुक साधक के लिए यह पूर्व सर्वोत्तम है ।

पूव का अथ क्या ?

यह पूव शब्द शास्त्र, ग्रंथ जैसे अथ मे उपयोग किया गया शब्द है। तीर्थंकर जब धमतीथ की स्थापना करते है तब पूव का उपदेश देते हैं। फिर गणधर इन उपदेशो के आधार पर 'आचाराग' आदि सूत्रा की रचना करते है।

२१ पुद्गलपरावर्त काल

जहा गणित का प्रवेश असभव ह, ऐसे काल को जानने के लिए 'पल्योपम' 'सागरोपम' 'उत्सर्पिणी' अवसर्पिणी' 'काल चक्र' 'पुद्गल परावत' जैसे शब्दा का सजन किया गया है। ऐसे शब्दा की स्पष्ट परिभाषा ग्रथो मे दी गई है। यहा अपन 'प्रवचन सारोद्धार' ग्रथ के आधार पर 'पुद्गल परावत' काल को समझेंगे।

१० काडा कोडी [१० क्राड × १० क्रोड] सागरोपम
= १ उत्सर्पिणी
= १ अवसर्पिणी

[1]ऐसे अनत उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी का समूह हो तब एक पुद्गल परावत कहा जाता है। अतीत काल अनन्त पुद्गलपरावत का होता है।

अतीत काल से अनत गुना ज्यादा भविष्य काल है। अर्थात् अनागत काल मे जो पुद्गल परावत हैं वे अतीत काल से अनन्त गुना ज्यादा हैं।

[2]यह 'पुद्गल परावत' चार तरह का है

(१) द्रव्य पुद्गल परावत

(२) क्षेत्र पुद्गल परावत

(३) काल पुद्गल परावत

(४) भाव पुद्गल परावत

ये चारो पुद्गल परावत २–२ तरह के हैं (१) बादर (२) सूक्ष्म

---

1 'ओसप्पिणी अणता पोग्गल परियट्टओ मुणेयव्वो।
तऽणता तीयद्धा अणागयद्धा अणतगुणा ॥'

2 पाग्गलपरियट्टो इह दव्वाइ चउव्विहा मुणेयव्वा।

—पवचनसारोद्धार

(१) वादर द्रव्य पुद्गलपरावर्त

एक जीव ससारअटवी मे भ्रमण करता हुआ, अनत भवो मे औदारिक–वैक्रिय–तेजस–कार्मण–भापा–श्वासोच्छ्वास और मन रुप सर्व पुद्गलो को (१४ राजलोक मे रहे हुए) ग्रहण कर, भोगकर रख दे. . .इसमे जितना समय लगे उतना काल वादर द्रव्य पुद्गल परावर्त काल कहलाता है। (आहारक शरीर को तो एक जीव मात्र चार वार ही वनाता है। अर्थात् पुद्गलपरावर्त काल मे वह उपयोगी नही होने से उसे नही लिया है ।)

(२) सूक्ष्म द्रव्य पुद्गलपरावर्त

औदारिक आदि शरीरो मे से किसी एक शरीर से एक जीव ससार मे परिभ्रमण करता हुआ सव पुद्गलो को पकड कर, भोगकर छोड दे, उस काल को सूक्ष्म द्रव्य पुद्गल परावर्त कहते है। विवक्षित शरीर के अलावा दूसरे शरीर से जो पुद्गल ग्रहण किये जाते है और भोगे जाते है वे नही गिने जाते है।

(३) वादर क्षेत्र पुद्गलपरावर्त

क्रम मे या उत्क्रम से एक जीव लोकाकाश के सव प्रदेशो को मृत्यु मे स्पर्श करने मे जितना समय लगाता है उस कालविशेष को वादर क्षेत्र पुद्गलपरावर्त कहते है । अर्थात् चौदह राजलोक के असख्य आकाश प्रदेश (आकाश का एक ऐसा भाग कि जिसका और भाग न हो सके) है । इन एक एक आकाशप्रदेश मे उस जीव की मृत्यु होती है। इसमे जो समय लगता है उसे 'वादर क्षेत्र पुद्गल परावर्त' कहते है।

(४) सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गलपरावर्त :

जीव की कम से कम अवगाहना भी असंख्य प्रदेशात्मक है। फिर भी कल्पना करे कि जीव की किसी एक आकाशप्रदेश मे मृत्यु हुई है। इसके वाद इसके पास के आकाशप्रदेश मे मृत्यु होती है । फिर इसके पास के तीसरे आकाशप्रदेश मे मृत्यु होती है । इस तरह क्रमश एक के वाद एक आकाशप्रदेश को मृत्यु से स्पर्श करता है और इस तरह समस्त लोकाकाश को मृत्यु द्वारा स्पर्श किया जाय, तव सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गल-परावर्त काल कहा जाता है ।

परन्तु मान लो कि जीव की पहले आकाश प्रदेश मे मरने के बाद तीसरे या चौथे आकाश प्रदेश मे मृत्यु होती है तो उसकी गणना नही होगी । अगर पहले के बाद दूसरे आकाशप्रदेश मे मृत्यु हो तब ही गणना हो सकती है ।

(५) बादर काल पुद्गलपरावत

उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के जितन समय (परम सूक्ष्म काल विभाग) ह, उन समयो को एक जीव स्वय की मृत्यु द्वारा क्रम से या उत्क्रम से स्पश करे तब बादर काल पुद्गलपरावत कहा जाता है ।

(६) सूक्ष्म काल पुदगलपरावत

उत्सर्पिणी आर अवसर्पिणी के समयो को एक जीव अपनी मृत्यु द्वारा क्रम से ही स्पश करे उसे सूक्ष्म काल पुद्गलपरावत कहते है । जसे कि अवसर्पिणी के प्रथम समय मे किसी जीव की मृत्यु हुई, उसके बाद अवसर्पिणी आर उत्सर्पिणो बीत गई आर वापिस अवसर्पिणी के दूसरे समय म मृत्यु प्राप्त की हो तो वह दूसरे समय का मृत्यु द्वारा स्पश गिना जाएगा ।

(७) बादर भाव पुद्गलपरावत

असख्य लोकाकाश प्रदेशो के जितन अनुभाग बध के अध्यवसाय स्थान हैं, उन अध्यवसायस्थानो को एक जीव मृत्यु द्वारा क्रम से या उत्क्रम से स्पश करने मे जितना समय लगाता है उस काल को बादर भाव पुद्गलपरावत कहते है ।

(८) सूक्ष्म भाव पुद्गलपरावत

[1]क्रमश सब अनुभागबध के अध्यवसाय स्थानो को जितने समय मे मृत्यु द्वारा स्पश किया जाता है, उस कालविशेष को सूक्ष्म भाव पुद्गलपरावत कहते ह ।

---

1 अनुभागबध स्थान का वणन 'प्रवचनसारोद्धार' ग्रथ म इस प्रकार है
तिष्ठति अस्मिन् जीव इति स्थान एकेन काषायिकेणाध्यवसायेन गृहीताना कर्मपुद्गलाना विवक्षितैकसमयबद्धानामसमुदायपरिमाणम् ।
अनुभाग बध स्थानानां निष्पादका य कषायोदयरूपा अध्यवसायविशेषा तेऽप्यनुभागबधस्थानानि ।

हालाकि ऊपर के बादर पुद्गल परावर्त कहीं भी सिद्धात में उपयोगी नहीं है परन्तु बादर समझाने से सूक्ष्म का ज्ञान सरलता से हो सकता है, इसलिए बादर का वर्णन किया गया है। ग्रन्थो मे जहाँ जहाँ 'पुद्गल परावर्त' आता है, वहाँ अधिकतर 'सूक्ष्म–क्षेत्र–पुद्गल परावर्त' समझना चाहिए।

२२. कारणवाद

कारण के बिना कार्य नहीं होता है। जितने कार्य दिखते है उनके कारण होते ही है। ज्ञानियो ने विश्व में ऐसे पांच कारण खोजे है, जो ससार के किसी भी कार्य के पीछे होते ही है।

(१) काल
(२) स्वभाव
(३) भवितव्यता
(४) कर्म
(५) पुरुषार्थ

कोई भी कार्य इन पाच कारणो के बिना नही होता है। अब अपन एक एक कारण को देखते है।

काल :

विश्व मे ऐसे भी कई कार्य दिखते हैं जिसमे काल (समय) ही कार्य करता हुआ दिखता है। परन्तु वहाँ काल को मुख्य कारण समझना चाहिए और शेष ४ कारणो को गोण समझना चाहिए।

(१) स्त्री गर्भवती होती है वह निश्चित समय में ही बच्चे को जन्म देती है। (२) दूध से अमुक समय मे ही दही जमता है। (३) तीर्थंकर भी अपना आयुष्य बढा नही सकते है और निश्चित समय मे उनका भी निर्वाण होता है (४) छः ऋतु अपने अपने समय से आती हैं और बदलती है। इन सब मे काल प्रमुख कारण है।

स्वभाव :

स्त्री के मूछ क्यो नही आती है? यह स्वभाव है। हथेली में बाल क्यो नही उगते? नीम के वृक्ष पर आम क्यो नही आते? मोर के पख ऐसे रगबिरगे और कलायुक्त क्यो होते है? बेर के काँटे ऐसे

नुकीले क्या होते हैं ? फल फूलों के ऐसे विविध रंग क्यों ? पर्वत स्थिर और वायु चंचल क्या ? इन सब प्रश्नों का समाधान एक ही शब्द है स्वभाव ।

भवितव्यता

आम के पेड पर फूल आते हैं और कितने ही झड जाते हैं कई आम मीठे और कई खट्टे ऐसा क्यों ? जिन्हे स्वप्न मे भी आशा न हो वह वस्तु उन्हे मिल जाती है ऐसा क्यों ? एक मनुष्य युद्ध से जीवित आता है और घर मे मर जाता है ऐसा क्यों ? इन सब कार्यों मे मुख्य भाग भवितव्यता का है ।

कर्म

जीव चार गति मे परिभ्रमण करता है। यह कर्म के कारण से ही है । राम को वनवास मे रहना पडा और सती सीता पर कलंक लगा—यह कर्म के कारण ही हुआ। भगवान महावीर के कानो मे कीलें ठोकी गई ऐसा सब कर्म के कारण ही हुआ । भूखा चूहा टोकरी को देखकर काटता है.. उसमे घुसता है अन्दर बैठा हुआ भूखा साँप उस चूहे को निगल जाता है यह कर्म के कारण ही । इन सब कार्यों का मुख्य कारण कर्म है ।

पुरुषार्थ

राम ने पुरुषार्थ से लंका विजय की तिल मे तेल कैसे निकलता है ? लता मकान पर कैसे चढ जाती है ? पुरुषार्थ से ! कहावत है कि, 'बूंद बूंद सरोवर भर जाता है' पुरुषार्थ के बिना विद्या, ज्ञान, धन, वैभव प्राप्त नहीं होता है ।

यहाँ एक बात महत्वपूर्ण है, इन पांच कारणों में से कोई एक कारण कार्य को पैदा नहीं कर सकता है। हां, एक कारण मुख्य होता है और दूसरे चार गौण होते हैं। उपाध्याय श्री विनयविजयजी ने कहा है 'ये पांचो समुदाय मिले बिना कोई भी कार्य पूर्ण नहीं होता है ।'

उदाहरणार्थ—तंतुओं मे कपडा बनता है, यह स्वभाव है । काल-क्रम से तंतु बनते हैं । भवितव्यता हो तो कपडा तैयार हो जाता है

नही तो विघ्न आते है और काम अधूरा रह जाता है । कातने वाले का पुरुषार्थ और भोगने वाले का कर्म चाहिए ।

इसी तरह जीव के विकास मे पाचो कारण काम करते है ।

भवितव्यता के योग मे ही जीव निगोद मे बाहर निकलता है । पुण्यकर्म के उदय से मनुष्यभव प्राप्त करता है । भवस्थिति (काल) परिपक्व होने मे उसका वीर्य (पुरुषार्थ) उल्लसित होता है । और भव्य स्वभाव हो तो वह मोक्ष प्राप्त करता है । श्री विनयविजयजी उपाध्याय सज्झाय मे कहते है :

'नियतिवशे हलु करमी थईने निगोद थकी निकलीयो,
पुण्ये मनुष्य भवादि पामी सद्गुरु ने जई मलियो;
भवस्थितिनो परिपाक थयो तव पडित वीर्य उल्लसीयो ।
भव्य स्वभावे शिवगति पामी शिवपुर जइने वसीयो ।

प्राणी ! समकित–मति मन आणो,
नय एकात न ताणो रे.. ..'

'किसी एक कारण से ही कार्य होता है'–ऐसा मानने वालो मे से अलग अलग मत–अलग अलग दर्शन पैदा हुए है ।

२३. चौदह राजलोक

कोई कहता है, 'यह मैदान ४० मीटर लम्बा है ।' कोई कहता है 'वह घर ५० फुट ऊचा है'–अपन को तुरंत कल्पना हो जाती है । क्योकि 'मीटर', 'फुट' आदि नापो से अपन परिचित है । 'राजलोक' यह भी एक नाप है। सबसे नीचे 'तम.तम प्रभा' नरक से शुरू होकर सबसे ऊपर सिद्धशिला तक विश्व १४ राजलोक ऊचा है ।

[1]यह १४ राजलोक प्रमाण विश्व का आकार कैसा होगा, यह जिज्ञासा स्वाभाविक है । एक मनुष्य अपने दोनों पैर चौड़े करके और दोनो हाथ कमर पर रखकर खडा हो और जो आकार बनता है, ऐसा आकार इस १४ राजलोक प्रमाण विश्व का है ।

विश्व के विषय मे कुछ मूलभूत बाते स्पष्ट करनी चाहिए ।

(१) इस लोक (विश्व) की उत्पत्ति किसी ने नही की थी ।

1. वैशाखस्थानस्थ पुरुष इव कटिस्थकरयुग्म । – प्रशमरति

(२) इस लोक को किसी ने उठाया हुआ नहीं है। अर्थात् यह किसी के सहारे पर ठहरा हुआ नहीं है।

(३) यह लोक अनादि काल से है। और अनंत काल तक रहेगा।

(४) यह विश्व धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय से परिपूर्ण है।

लोक के तीन भाग हैं

(१) ऊर्ध्वलोक।

(२) अधोलोक।

(३) मध्यलोक।

ऊर्ध्वलोक

ऊर्ध्वलोक में वैमानिक देव और सिद्ध आत्मायें रहती हैं।

बारह देवलोक

(१) सौधर्म
(२) ईशान
(३) सनत्कुमार
(४) माहेन्द्र
(५) ब्रह्मलोक
(६) लान्तक
(७) महाशुक्र
(८) सहस्रार
(९) आनत
(१०) प्राणत
(११) आरण
(१२) अच्युत

बारह देवलोक पूरे होने के बाद उनके ऊपर नौ ग्रैवेयक देवलोक हैं। उनके ऊपर अनुत्तर देवलोक हैं।

पांच अनुत्तर-देवलोक

(१) विजय
(२) वैजयन्त

(३) जयत
(४) अपराजित
(५) सर्वार्थसिद्ध

अधोलोक :

अधोलोक मे नारकी, भवनपति देव, व्यतर आदि देव रहते है।

सात नरक
(१) रत्नप्रभा
(२) शर्कराप्रभा
(३) वालुकाप्रभा
(४) पकप्रभा
(५) धूमप्रभा
(६) तम प्रभा
(७) तम:तम प्रभा

क्रमश एक के वाद एक नरक मे ज्यादा-ज्यादा दु:ख-वेदना होती है।

ऊचाई मे सात नरक सात राजलोक प्रमाण है।

सातवी नरक की चौडाई सात राजलोक जितनी है।

मध्यलोक :

मध्यलोक मे मनुष्य, ज्योतिषदेव, तिर्यच जीव रहते है। मध्यलोक मे असख्य द्वीप और समुद्र है। अपन मध्यलोक मे है।

२४. यतिधर्म

यति यानी मुनि-साधु-श्रमण। और इनका जो धर्म है वह यति-धर्म कहलाता है। साधुजीवन की भूमिका में मनुष्य को इन दस प्रकार के धर्म की आराधना करनी पडती है।

(१) क्षान्ति : क्षमाधर्म का पालन करना।
(२) मार्दव : मद का त्याग कर नम्र बनना।
(३) आर्जव : माया का त्याग कर सरल बनना।
(४) मुक्ति . निर्लोभता।

(५) तप इच्छाओ का निरोध ।

(६) सयम इन्द्रियो का निग्रह ।

(७) सत्य सत्य का पालन करना ।

(८) शौच पवित्रता । व्रत मे दोष नही लगने देना ।

(९) आकिंचय बाह्य-आभ्यतर परिग्रह का त्याग ।

(१०) ब्रह्म ब्रह्मचर्य का पालन ।

इन दस प्रकार के धर्म की आराधना मे साधुता है । साधुजीवन के ये दसविध धर्म प्राण है। इनका वर्णन 'नवतत्व प्रकरण', 'प्रशमरति', 'प्रवचन सारोद्धार' 'बृहत्कल्पसूत्र' इत्यादि अनेक प्राचीन ग्रथो मे उपलब्ध होता है ।

२५ सामाचारी

साधुजीवन के परस्पर व्यवहार की आचारसहिता 'दशविध सामाचारी' नाम से प्रसिद्ध है ।

[1](१) **इच्छाकार** साधु को अपना काम दूसरो से कराना हो तो अगर दूसरे की इच्छा हो तो कराना चाहिए, जबरदस्ती नही । इसी तरह दूसरा का काम करने की इच्छा हो तो भी उन्हे पूछकर करना चाहिए। हालाकि निष्प्रयोजन तो दूसरो से अपना काम कराना ही नही चाहिए। परतु अशक्ति, बीमारी, अपगता आदि कारण से दूसरो मे (जो दीक्षा पर्याय मे अपने से छोटे हो उनसे) पूछे 'मेरा यह काम करोगे ?"

इसी तरह सेवाभाव से कर्मनिर्जरा के हेतु से दूसरो का काम स्वय को करना हो तो भी पूछे 'आपका यह काम मैं कर सकता हूँ ?'

(२) **मिथ्याकार** साधुजीवन के व्रतनियमो का पालन करने मे जाग्रत होते हुए भी अगर कोई गलती हो जाये तो उसकी शुद्धि के लिए 'मिच्छामि दुक्कड' कहना चाहिए । उदाहरण के लिए, छीक आई और वस्त्र मुँह के आगे नही रहा, बाद मे ध्यान आने पर तुरत

1 सेव्य क्षान्तिर्मार्दवमार्जव-शौचे च सयमत्यागौ ।
सत्यतपो-ब्रह्माकिञ्चन्यानीत्येष धर्मविधि ॥ —प्रशमरति

'मिच्छामि दुक्कड' कहना चाहिए । परतु जान बूझकर जो दोष करता है और बार बार करता है तो उन दोषों की शुद्धि 'मिच्छामि दुक्कड' से नही होगी ।

(३) तथाकार . स्वय के स्वीकार किये हुए सुगुरु का वचन बिना किसी विकल्प के 'तहत्ति' कहकर स्वीकार कर लेना चाहिए ।

(४) आवश्यकी (आवस्सही) ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना के लिये मकान के बाहर निकलते ही 'आवस्सही' बोलकर निकलना चाहिए। आवश्यक कार्य के लिए बाहर जाना उसे आवश्यकी कहते है।

(५) नैषेधिकी (निस्सीही) आवश्यक कार्य पूर्ण करके साधु मकान में आये तब प्रवेश करते ही 'निस्सीही' बोलकर प्रवेश करे ।

(६) पृच्छा कोई काम करना हो तो गुरुदेव को पूछे—'भगवन् ! यह काम मैं करू ?'

(७) प्रतिपृच्छा : पहले किसी काम के लिए गुरुदेव ने मना कर दिया हो परतु वर्तमान मे वह काम उपस्थित हो गया हो तो गुरुमहाराज को पूछे कि 'भगवन् ! पहले आपने यह काम करने के लिए मना किया था परतु अब इसका प्रयोजन है, अगर आपकी आज्ञा हो तो मै यह कार्य करू ?' गुरु महाराज जैसा कहे वैसा करे ।

'प्रतिपृच्छा' का दूसरा अर्थ यह है कि किसी काम के लिए गुरुमहाराज ने अनुमति दे दी हो तो भी वह कार्य शुरू करते समय पुन गुरुमहाराज को पूछना चाहिए ।

(८) छदणा साधु गोचरी लाकर सहवर्ती साधुओ को कहे, 'मै गोचरी (भिक्षा) लेकर आया हूँ, जिन्हे जो उपयुक्त हो वह इच्छानुसार ग्रहण करे ।'

(९) निमत्रण : गोचरी जाने के समय सहवर्ती साधुओ को पूछे (निमत्रण दे) कि 'मै आपके लिए योग्य गोचरी लाऊँगा ।'

(१०) उपसंपत् विशिष्ट ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना के लिए एक गुरुकुल से दूसरे गुरुकुल मे जाना ।

इन दस प्रकार के व्यवहार को सामाचारी कहते है। साधु-जीवन मे इस व्यवहार का पालन मुख्य कर्तव्य है ।

२६ गोचरी के ४२ दोष

साधु जीवन का निर्वाह भिक्षावृत्ति पर होता है। साधु-साध्वी गृहस्थो के घर से भिक्षा लाते है। परन्तु गोचरी लाने मे सतकता के कुछ नियम हैं। इन नियमो का अनुसरण करके भिक्षा लानी चाहिए। अगर इन नियमो का पालन न करे तो साधु को दोष लगता है, उसका उन्हे प्रायश्चित करना पडता है। महाव्रतो को सुरक्षित रखने के लिए इन दोषो से बचना पड़ता है। ४२ दोषो को टालने के लिए इन दोषो का ज्ञान आवश्यक है। यहा इन दोषो के नाम और उनकी सक्षिप्त जानकारी दी गई है। विस्तृत ज्ञान के जिज्ञासुओ को 'प्रवचन सारोद्धार' 'ओघनियुक्ति' 'पिडनियुक्ति' आदि ग्रथो का अध्ययन करना चाहिए।

(१) आधाकर्म साधु के लिए बनाया हुआ अन्न पानी।

(२) औद्देशिक विचरण करते हुए साधु सन्यासियो के लिए बनाया हुआ।

(३) पूतिकर्म आधाकर्म मे मिश्र।

(४) मिश्रजात ज्यादा बनाये।

(५) स्थापना अलग निकाल कर रखे।

(६) प्राभृतिक लग्न आदि प्रसगो मे साधु के निमित्त देर से या पहले करे। इसी तरह सुबह या शाम को साधु के निमित्त देर से या जल्दी भोजन बनावे।

(७) प्रादुष्करण खिड़की खोले, बत्ती करे।

(८) क्रीत साधु के लिए खरीद कर लाये।

(९) प्रामित्य साधु के लिए उधार लाय।

(१०) परावर्तित अदल बदल करे।

(११) अभ्याहृत साधु के स्थान पर लाकर देना।

(१२) उद्भिन्न सील तोडकर या ढक्कन खोलकर दे।

(१३) मालापहृत छीके म रखा हुआ उतार कर दे।

(१४) आच्छेद्य पुत्र आदि की इच्छा न हो तो भी उनके पास से लेकर दे।

(१५) अनुत्सृष्ट : अनुमति विना (पति पत्नी की, पत्नी पति की) देवे ।

(१६) अध्वपूरक · भोजन पकाने की शुरूआत अपने लिए करे फिर इसमे साधु के लिए और बढा देवे ।

(१७) धात्रीदोष . साधु धाय मां का काम करे ।

(१८) दूतिदोप · सदेश ले जाना और लाना ।

(१९) निमित्त कर्म : ज्योतिष शास्त्र से निमित्त कहे ।

(२०) आजीवक पिड अपने आचार्य का कुल वताना ।

(२१) वनीपक पिड · ब्राह्मण, अतिथि, भिखारी के समान वन कर भिक्षा माँगे ।

(२२) चिकित्सा पिड : दवा वताये या करे ।

(२३) क्रोध पिड . क्रोध से भिक्षा मागे ।

(२४) मान पिड . अभिमान से भिक्षा लाये ।

(२५) माया पिड नये नये वेश करके लाये ।

(२६) लोभ पिड . कोई खास वस्तु लाने की इच्छा से फिरे ।

(२७) सस्तवदोप माता, पिता और ससुराल का परिचय दे ।

(२८) विद्या पिड · विद्या से भिक्षा लाये ।

(२९) मत्र पिड . मत्र से भिक्षा लाये ।

(३०) चूर्ण पिड · चूर्ण से भिक्षा लाये ।

(३१) योग पिड योगशक्ति से भिक्षा प्राप्त करे ।

(३२) मूल कर्म गर्भपात करने के उपाय बताये ।

(३३) शकित दोप की शका हो तो भी भिक्षा ले ।

(३४) भ्रक्षित . काम मे लिया हुआ जूठा द्रव्य ले ।

(३५) पीहित सचित्त या अचित्त से ढकी हुई वस्तु ले ।

(३६) दायक नीचे लिखे लोगो से भिक्षा लेने से यह दोष लगता है ।

(१) वेडी से जकड़ा हुआ (२) जूते पहने हुए (३) बुखारवाला (४) वालक (५) कुवडा (६) वृद्ध (७) अंधा (८) नपुंसक

(९) उन्मत्त (१०) लगडा (११) खाडने वाला (१२) पीसने वाला (१३) धुनकने वाला (१४) कातने वाला (१५) दही विलोने वाला (१६) गर्भवती स्त्री (१७) दूध पीते बच्चे की मा (१८) मालिक की अनुपस्थिति मे नोकर

(३७) उन्मिश्र सचित्त-अचित्त मिला कर देवे वह लेना ।

(३८) अपरिणत पूर्ण अचित्त न हुआ हो वह लेना अथवा दो साधु मे एक को निर्दोष लगे और दूसरे को सदोष लगे वह लेना ।

(३९) लिप्त शहद, दही से लिपा हुआ लेना ।
(४०) छर्दित भूमि पर गिरा हुआ लेना ।
(४१) निक्षिप्त सचित्त के साथ सघट्टा वाला लेना ।
(४२) सहृत एक बर्तन से दूसरे बर्तन मे खाली करके, खाली बर्तन से बोहराना ।

साधु साध्वी का इन ४२ दोषो की जानकारी होनी हा चाहिए। तभी वे भिक्षा लाने के योग्य बन सकते हैं ।

२७. चार निक्षेप

किसी भी शब्द का अर्थ निरुपण करना हो तो वह 'निक्षेप' पूर्वक किया जाय तो स्पष्ट रुप से समझ मे आ,सकता है। 'निक्षेपण निक्षेप' निरुपण करने को निक्षेप कहते ह । यह निक्षेप जघन्य से चार प्रकार का है और उत्कृष्ट म अनेक प्रकार का है । यहा हम चार प्रकार के निक्षेप का विवेचन करेंगे ।

(१) नाम ।
(२) स्थापना ।
(३) द्रव्य ।
(४) भाव ।

नाम निक्षेप

'यद् वस्तुनोऽभिधान स्थितमन्यार्थे तदर्थ निरपेक्षम् ।
पर्यायानभिधेय च नाम यादृच्छिक च तथा ॥

1 अनुयोग द्वार-सूत्र

(१) यथार्थ मे एक नाम सर्वत्र बहुत प्रसिद्ध होता है और वही नाम दूसरे लोग भी रखते है। उदाहरणार्थ 'इन्द्र' यह नाम देवों के अधिपति के रुप मे प्रसिद्ध है और यह नाम ग्वाले के लडके का भी रख देते है ।

(२) 'इन्द्र' शब्द का जो 'परम ऐश्वर्यवान्' अर्थ है वह ग्वाले के लडके के लिए प्रयुक्त नही होगा ।

(३) 'इन्द्र' शब्द के जो पर्याय 'शक्र' 'पुरन्दर' 'शचि-पति' आदि है वे पर्याय ग्वाले के पुत्र इन्द्र के लिये प्रयुक्त नही होगे ।

'यादृच्छिक' प्रकार मे ऐसे नाम आते है कि जिनका व्युत्पत्ति अर्थ नही होता है । इसमे तो स्वेच्छा से ही नाम दिये जाते है ।

ये नाम जीव और अजीव के हो सकते हे ।

स्थापना निक्षेप :

[2]यत्तु तदर्थ वियुक्त तदभिप्रायेण यच्च तत्करणि ।
लेप्यादिकर्म तत्स्थापनेति क्रियतेऽल्पकाल च ॥

■ भाव इन्द्र आदि का अर्थ रहित (परन्तु अर्थ के अभिप्राय से) साकार या निराकार जो किया जाता है उसे स्थापना कहते हैं।

■ भाव-इन्द्रादि के साथ समानता हो उसे साकार स्थापना कहते हैं।

■ भाव-इन्द्रादि के साथ असमानता हो उसे निराकार स्थापना कहते है ।

काष्ठ, पत्थर, हाथीदात की मूर्तियाँ, प्रतिमाये आदि को साकार स्थापना कहते है । ये दो तरह की होती है । (१) शाश्वत् (२) अशाश्वत् । देवलोक आदि मे शाश्वत् जिन प्रतिमाए होती है, जबकि दूसरी प्रतिमाये शाश्वत् नही भी होती है ।

■ शख आदि मे जो स्थापना की जावे उसे निराकार स्थापना कहते है ।

शाश्वत् जिन प्रतिमाओ मे 'स्थापना' शब्द की व्युत्पत्ति 'स्थाप्यते इति स्थापना' चरितार्थ नही होती है। क्योकि वे शाश्वत् है । शाश्वत्

2 अनुयोग द्वार—सूत्र

को कोई स्थापित नही कर सकता है। इसलिए वहा 'अहदादिरुपेण तिष्ठतीति स्थापना, यानी कि 'अरिहत आदि रुप मे रहते है वह स्थापना ऐसा व्युत्पत्ति–अथ करना चाहिए।

नाम निक्षप और स्थापना निक्षेप म इस तरह बहुत अतर हैं। परमात्मा की स्थापना (मूर्ति), देवो की स्थापना, गुरुवरो की स्थापना के दशन–पूजन से इच्छित लाभो की प्राप्ति प्रत्यक्ष दिखती है। इसके अलावा प्रतिमा के दशन से विशिष्ट कोटि के भाव भी जाग्रत होते हैं।

द्रव्य निक्षेप

''भूतस्य भाविनो वा भावस्य हि कारण तु यल्लोके।
तद्द्रव्य तत्वज्ञैं सचेतनाचेतन कथितम् ॥'

जो चेतन–अचेतन द्रव्य भूतकालीन भाव का कारण हो या भविष्य काल के भाव का कारण हो उसे द्रव्य निक्षेप कहते हैं।

उदाहरणाथ भूतकाल मे वकील या डाक्टर हो परन्तु वतमान म वकालत न करते हो या दवाई नही करते हो तो भी जनता उन्हें वकील या डॉक्टर कहती है। यह द्रव्य निक्षेप मे वकील या डाक्टर कहे जाते है। इसी तरह अभी तक वकालात पढ़ रहे हो या मेडिकल कॉलेज मे पढ रहे हो तो भी लोग उन्हें वकील या डॉक्टर कहते है क्योकि वे भविष्य मे वकील या डॉक्टर होने वाले है। इसी तरह भूतकालीन पर्याय का एव भविष्यकालीन पयाय का जो कारण वतमान मे हो उसे द्रव्य-निक्षेप कहते हैं।

द्रव्य निक्षप की दूसरी परिभाषा इस तरह की जाती है–'अणुव ओगो दव्व' अनुपयोग अर्थात भावशून्यता, बोध-शून्यता उपयोग शून्यता। जिस क्रिया मे भाव, बोध उपयोग न हो उस क्रिया को द्रव्य क्रिया कहते हैं।

लोकोत्तर द्रव्य–आवश्यक की चर्चा करते हुए अनुयोग द्वार सूत्र म कहा है कि यदि कोई श्रमण गुणरहित और जिनाज्ञारहित स्वच्छंद, स्वच्छन्दता म विचरण कर, उभयकाल प्रतिक्रमण के लिए खडा हो उस साधु वेषधारी का प्रतिक्रमण वह लोकोत्तर द्रव्य आवश्यक है।

द्रव्य निक्षेप की विस्तृत चर्चा के लिए 'अनुयोग द्वार सूत्र' का अध्ययन करना आवश्यक है।

---

1 अनुयोग द्वार–सूत्र

भावनिक्षेप:

तीर्थंकर भगवन्त को लेकर जहाँ भाव-निक्षेप का विचार किया गया है, वहा कहा है–'समवसरणठ्ठा भाव जिणिदा' समवसरण मे बैठे हुए.....धर्मदेशना देते हुए तीर्थंकर भगवन्त भाव तीर्थंकर है।

'श्री अनुयोग द्वार सूत्र' मे कहा है. 'वक्तृविवक्षित परिणामस्य भवनं भाव:।' वक्ता के कहे हुए परिणाम जाग्रत होने को भाव कहते हैं।

भाव से प्रतिक्रमण आदि क्रियाये दो प्रकार से होती है. (१) आगम से (२) नो आगम से।

■ प्रतिक्रमण के सूत्रों के अर्थ के उपयोग को भाव प्रतिक्रमण कहते है। इसी तरह जो क्रिया की जाती है उस क्रिया के अर्थ के उपयोग हो तो वह क्रिया भाव क्रिया कही जाती है।

■ नो आगम मे भाव क्रिया तीन प्रकार की है: (१) लौकिक (२) कुप्रावचनिक (३) लोकोत्तर

(१) लौकिक· लौकिक शास्त्रों के श्रवण मे उपयोग।

(२) कुप्रावचनिक : होम, जप........योगादि क्रियाओ मे उपयोग।

(३) लोकोत्तरिक : तच्चित्त आदि आठ विशेषताओ से युक्त धर्म-क्रिया (प्रतिक्रमण आदि)

साराश यह है कि प्रस्तुत क्रिया छोड़कर दूसरी तरफ मन-वचन-काया का उपयोग न करते हुए जो क्रिया की जाती है उसे भाव क्रिया कहते है।

२८. चार अनुयोग

[1]राग, द्वेष और मोह से अभिभूत ससारी जीव शारीरिक और मानसिक अनेक दु खो से पीडित है। इन समस्त दु.खो को दूर करने के लिए हेय और उपादेय पदार्थ के परिज्ञान मे यत्न करना चाहिए। यह प्रयत्न विशिष्ट विवेक के बिना नही हो सकता है। विशिष्ट विवेक अनन्त अतिशय युक्त आप्त पुरुष के उपदेश के बिना नही हो सकता है। राग, द्वेष और मोह आदि दोषो का सर्वथा क्षय करने वाले को 'आप्त' कहते है। ऐसे आप्त पुरुष 'अरिहंत' ही हैं।

1 आचाराग सूत्र टीका, श्री शीलांकाचार्यजी।

अरिहंत भगवंत का उपदेश ही राग-द्वेष के बन्ध को तोड़ने मे समथ है। इसलिए इस अहद्वचन की व्याख्या करनी चाहिए। पूर्वाचार्यों ने चार अनुयोगा मे अहद्वचन को विभाजित किया है।

(१) धमकथा-अनुयोग
(२) गणित-अनुयोग
(३) द्रव्य-अनुयोग
(४) चरण-करण-अनुयोग

अनुयोग अर्थात् व्याख्या। धमकथाओ का वणन श्री उत्तराध्ययन आदि मे है। गणित का विषय सूयप्रज्ञप्ति आदि मे वर्णित है। द्रव्यो की चर्चा-विचारणा चौदह पूव मे और सम्मतितक आदि ग्रन्थो मे है। चरण-करण का विवेचन आचाराग सूत्र आदि मे किया गया है।

इस तरह वतमान मे उपलब्ध ४५ आगमो को इन चार अनुयागो मे विभक्त किया गया है।

२६ ब्रह्म-अध्ययन

नियाग-अष्टक' मे कहा है

ब्रह्माध्ययन निष्ठावान् परब्रह्म समाहित ।
ब्राह्मणो लिप्यते नाघै नियागप्रतिपत्तिमान् ॥

इस श्लोक के विवेचन मे 'ब्रह्म-अध्ययन' मे निष्ठा, श्रद्धा, आस्था रखने के लिए कहा है।

श्री आचाराग सूत्र का प्रथम भाग यही ब्रह्म अध्ययन है। हालाकि यह श्रुतस्कध है, परन्तु श्री यशोविजयजी महाराज ने अध्ययन के रुप मे निर्देश किया है। इस प्रथम श्रुतस्कध मे नौ अध्ययन थे परन्तु इनका 'महापरिज्ञा' नामक सातवा अध्ययन करीब हजार वर्षों से लुप्त है।

'सत्थपरिण्णा लोगविजओ य सीओसणिज्ज सम्मत्त ।
तह लोगसारनाम धुय तह महापरिण्णा य ॥
अट्ठएम य विमोक्खो उवहाणसुय च नवमग भणिय ।'

—आचाराग नियुक्ति, ३१-३२

(१) शस्त्र परिज्ञा
(२) लोक विजय
(३) शीतोष्णीय
(४) सम्यक्त्व
(५) लोकसार
(६) धूताध्ययन
(७) महा परिज्ञा
(८) विमोक्ष
(९) उपधानश्रुत

श्री शीलाकाचार्यजी कहते हे "ये नौ अध्ययन सयमी आत्मा को मूल गुण और उत्तर गुणो मे स्थिर करते है, इसलिए कर्म निर्जरा के लिए इन अध्ययनो का परिशीलन करना चाहिए।'

30. पैंतालीस आगम

आज से २५०० वर्ष पहले श्रमण भगवान महावीर स्वामी ने सर्वज्ञता प्राप्त करके धर्मतीर्थ की स्थापना की थी। उन्होने ग्यारह विद्वान् ब्राह्मणो को दीक्षा देकर उन्हे 'गणधर' की पदवी दी। भगवत ने ११ गणधरो को 'त्रिपदी' दी। 'उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा।' इस त्रिपदी के आधार पर गणधरो ने 'द्वादशागो' (बारह शास्त्रो) की रचना की।

पाचवे गणधर सुधर्मा स्वामी ने जो द्वादशागी की रचना की, उनमे से बारहवा अग 'दृष्टिवाद' लुप्त हो गया है। जो ग्यारह अग रहे है उनमे से भी बहुत सा भाग नष्ट हो गया है, फिर भी जो रहा उसको आधार मानकर कालातर मे अन्य आगमो की रचना की गई है।

इस तरह पिछले सैकडो वर्षो से '४५ आगम' प्रसिद्ध है। इन आगमो के ६ विभाग है

११ अग
१२ उपाग
४ मूल सूत्र
६ छेद सूत्र
१० प्रकीर्णक
२ चूलिका सूत्र

इन ४५ आगमो पर जो विवरण लिखे गये है, वे चार प्रकार के है–(१) निर्युक्ति (२) भाष्य (३) चूर्णी (४) टीका। ये विवरण सस्कृत एव प्राकृत भाषा मे लिखे गये है।

११ अंग	१२ उपांग	४ मूल सूत्र	६ छेद सूत्र	१० प्रकीर्णक	२ चूलिका सूत्र
आचार[1]	औपपातिक	आवश्यक	निशीथ	देवेन्द्र स्तव	नन्दी
सूत्रकृत	राज प्रश्नीय	उत्तराध्ययन	दशाश्रुत	तंदुल वचारिक	अनुयोगद्वार
स्थान	जीवाभिगम	दशवैकालिक	बृहत्कल्प	गणि विद्या	
समवाय	प्रज्ञापना	ओघ नियुक्ति	व्यवहार	आतुरप्रत्याख्यान	
व्याख्या प्रज्ञप्ति	सूर्य प्रज्ञप्ति		जीतकल्प	महाप्रत्याख्यान	
ज्ञाता धर्म कथा	चन्द्र प्रज्ञप्ति		महानिशीथ	गच्छाचार	
उपासक दशा	जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति			भक्त परिज्ञा	
अन्तकृद् दशा	निरयावलिका			मरण समाधि	
अनुत्तरोपपातिक दशा	कल्पावतंसिका			संस्तारक	
प्रश्न व्याकरण	पुष्पिका			चतु शरण	
विपाक सूत्र	पुष्प चूलिका				
	वृष्णि दशा				

1 आगम साहित्य की विशद जानकारी के लिए देखिए "आर्हत् आगमो नु अवलोकन" और पैतालीस आगम (लेखक प्रो० हीरालाल र० कापडिया)

३१. तेजोलेश्या[1]

'तेजोलेश्या' शब्द का उपयोग जैन आगम साहित्य मे तीन अर्थों मे किया गया है ।

१ जीव का परिणाम ।

२. तपोलब्धि से प्रकटित शक्ति ।

३ आन्तर आनन्द, आन्तर सुख ।

'ज्ञानसार' मे ग्रन्थकार ने कहा है :

"तेजोलेश्याविवृद्धिर्या साधोः पर्यायवृद्धित ।
भाषिता भगवत्यादौ सेत्थंभूतस्य युज्यते ॥"

तेजोलेश्या को आन्तर सुखरूप समझनी चाहिए। श्री भगवती सूत्र के चौदहवे शतक मे देवो की तेजोलेश्या (सुखानुभव) के साथ श्रमण की तेजोलेश्या की तुलना की गयी है । टीकाकार महर्षि ने तेजोलेश्या का उर्थ **'सुखासिकाम'** किया है । अर्थात् सुखानुभव ।

एक माह के दीक्षा-पर्यायवाला श्रमण वाणव्यंतर देवो की तेजोलेश्या का अतिक्रमण कर जाता है । दो माह के दीक्षा-पर्यायवाला श्रमण भवनपति देवो की तेजोलेश्या का अतिक्रमण कर देता है । तीन माह के दीक्षा-पर्यायवाला असुरकुमार देवो की, चार माह के दीक्षा-पर्यायवाला ज्योतिष देवो की, पाँच माह के दीक्षा-पर्यायवाला सूर्य-चद्र की, छह माह के दीक्षा-पर्यायवाला सौधर्म-इशान देवो की, सात माह के दीक्षा-पर्यायवाला सनत्कुमार-माहेन्द्र की, आठ माह के दीक्षा-पर्यायवाला ब्रह्म और लातकदेवों की, नौ माह के दीक्षा-पर्यायवाला महाशुक्र और सहस्त्रार की, दस माह के दीक्षा-पर्यायवाला आनत, प्राणत, आरण और अच्युत की, ग्यारह माह के दीक्षा-पर्यायवाला ग्रैवेयक-देवो की और बारह माह के दीक्षा-पर्यायवाला अनुत्तरवासी देवो की तेजोलेश्या का अतिक्रमण कर जाता है ।

---

1 द्वितीय अष्टक 'मग्नता' श्लोक ५

श्री विश्वकल्याण प्रकाशन ट्रस्ट मेहसाना के

❀ स्थायी सहयोगी ❀

क्र.	नाम	स्थान
१	श्री सपतराज एस मेहता	भिवडी
२	„ लालचद, मनोहरमल, हुक्मीचद वैंद	सोलापुर
३	„ लक्ष्मीलाल सपतलाल लुकड	„
४	„ मोहनलाल भेरुलाल कोठारी	„
५	„ समीरमल विजयचद निमाणी	„
६	„ केशवजीभाई (फॅशन कॉनर)	„
७	„ मूलचद वेलाजी	,
८	„ चुनीलाल मूलचद सघवी	„
९	„ वाडीलाल जीवन देसाई	„
१०	„ मोतीलाल गुलाबचद शाह	„
११	„ विजयकुमार हरखचन्द एन्ड कपनी	„
१२	„ जनता रेडिमेड कलॉथ स्टोस	„
१३	„ विजय ऑईल मील	„
१४	„ बेबी डॉल ड्रेस मेन्यु कपनी	,
१५	सौ पद्माबेन रमणिकलाल शाह	„
१६	श्री एल शकरलाल एन्ड सस	„
१७	„ कोठारी ब्रदस	„
१८	„ एस कटारिया	„
१९	„ फूटरमल जेठमल शाह	„
२०	„ भोजराज फकीरचद वैंद	„
२१	„ शांतिलालजी सघवी	„
२२	„ मीठालालजी चोधरी	„
२३	„ चान्दमलजी लूणिया	„
२४	„ पूनमालजी कोचर	„
२५	, कैलास होजियरी मार्ट	,
२६	„ पूनमचन्द मियचान शाह	„
२७	„ केशवलाल दामोदरदास पटनी	„
२८	„ अशोककुमार शांतिलाल	,
२९	„ चांदमल जयारमल मुणोत	„

३०	श्री सिरेमल खेमचन्द	सोलापुर
३१	,, महावीर टी सेन्टर	,,
३२	,, रिखबचन्दजी लखमाजी	,,
३३	,, मूलशकर जयशकर वोरा	,,
३४	,, बाफणा ब्रदर्स	,,
३५	,, लालचन्द अम्बालाल	,,
३६	डॉ वासतीवेन एन मुनोत	,,
३७	श्री जगदीश हीरजी राभिया	,,
३८	,, वेवी वेअर (छगनलालजी कवाड़)	,,
३९	,, भीमराज रतनचन्द	,,
४०	,, जैन श्राविका सघ	,,
४१	,, गिरिधर गोपाल सोनी	,,
४२	,, गुमानमलजी दोशी	विलेपारले, बम्बई
४३	श्रीमती विमलादेवी एन. जोटा	बम्बई
४४	श्री पी सी. वरडीया	बम्बई
४५	,, बाबुलालजी चदनमलजी	थाणा [बम्बई]
४६	,, हीराचन्दजी वैद्य	जयपुर
४७	,, मानमलजी लूणिया	डोड़बालापुर
४८	श्रीमती कमलाबाई हीराचन्दजी गुलेच्छा	मद्रास
४९	श्री नागोतरा टेक्सटाईल्स	,,
५०	,, नाकोड़ा टेक्सटाईल्स	,,
५१	,, भीखमचन्दजी वैद्य	,,
५२	,, जैन श्राविका सघ	,,
५३	श्रीमती मूलीबाई आर. जैन	,,
५४	श्रीमती मछीबाई पूनमचन्दजी	,,
५५	श्रीमती मोहिनीबाई जुगराजजी मुथा	,,
५६	श्री निहालचन्दजी रूपराजजी भंडारी	,,
५७	राका मेटल कोर्पोरेशन	,,
५८	श्रीमती कुसुमबहन माणकचन्दजी बेताला	,,
५९	श्री एस देवराजजी जैन	,,
६०	श्री कोचर टेक्सटाईल्स	,,
६१	सुश्री जसकुवर रमणिकलालजी	,,
६२	श्री बच्छराजजी कवराड़ावाले	,,

६३	श्री सी विजयराज जैन	मद्रास
६४	,, बॉम्बे स्टील हाउस	,,
६५	,, मनोहरमल शातिमलजी नाहर	,,
६६	,, जे दीपचन्दजी सचेती	,,
६७	,, रिखबदासजी चिमनाजी (पालडी–सिरोहीवाले)	मद्रास
६८	श्रीमती शकुन्तलाबाई शेषमलजी पड्या	,,
६९	श्री अभयकरणजी तेजराजजी कोठारी	मद्रास
७०	,, रविलालभाई दोशी	मद्रास
७१	लक्ष्मी हॉल	ऊटी
७२	श्री चदनमलजी गालचन्दजी बोथरा	,,
७३	,, फतहमल माहनलाल सियाल	,,
७४	पारस मुथा एन्ड कपनी	बगलोर
७५	श्रीमती पवनबेन छगनलालजी [पामावावाला]	,,
७६	श्री के एम गादिया	,,
७७	,, एस कपूरचन्द एन्ड कपनी	,,
७८	,, मिश्रीमलजी प्रतापमलजी श्रीश्रीमाल	,,
७९	,, जन श्राविका सघ	,,
८०	,, धनराजजी जुगराजजी मेहता	,,
८१	,, मागीलाल धनराज बिदामिया	गदग
८२	,, घेवरचन्दजी बट	ब्यावर
८३	श्रीमती लूणीबाई शकरलालजी वद	फलोदी
८४	स्वदेशी ग्लास हाऊस	कोयम्बतूर
८५	श्री सुखराज चन्नालाल	,,
८६	तारा हेन्डलूम हाऊस	,,
८७	श्री पन्नालालजी चरखावाले (सादडी)	,,
८८	श्रीमती सुन्दरीबाई विजयचन्दजी वैद	,,
८९	मे पेववल प्लायवुडस	,,
९०	श्री रतनमलजी बाफना	,,
९१	श्री सोहनलालजी श्रीश्रीमाल	,,
९२	कु वदना-आरती पूजा C/o प्रकाश फाईनान्स	,,
९३	श्री लक्ष्मी हॉल	,,
९४	,, मेहता केमिकल्स	,,
९५	श्री एम बाबूलालजी मेहता	मद्रास

श्री विश्वकल्याण प्रकाशन ट्रस्ट

कम्बोई नगर के पास, मेहसाना-३८४००२